

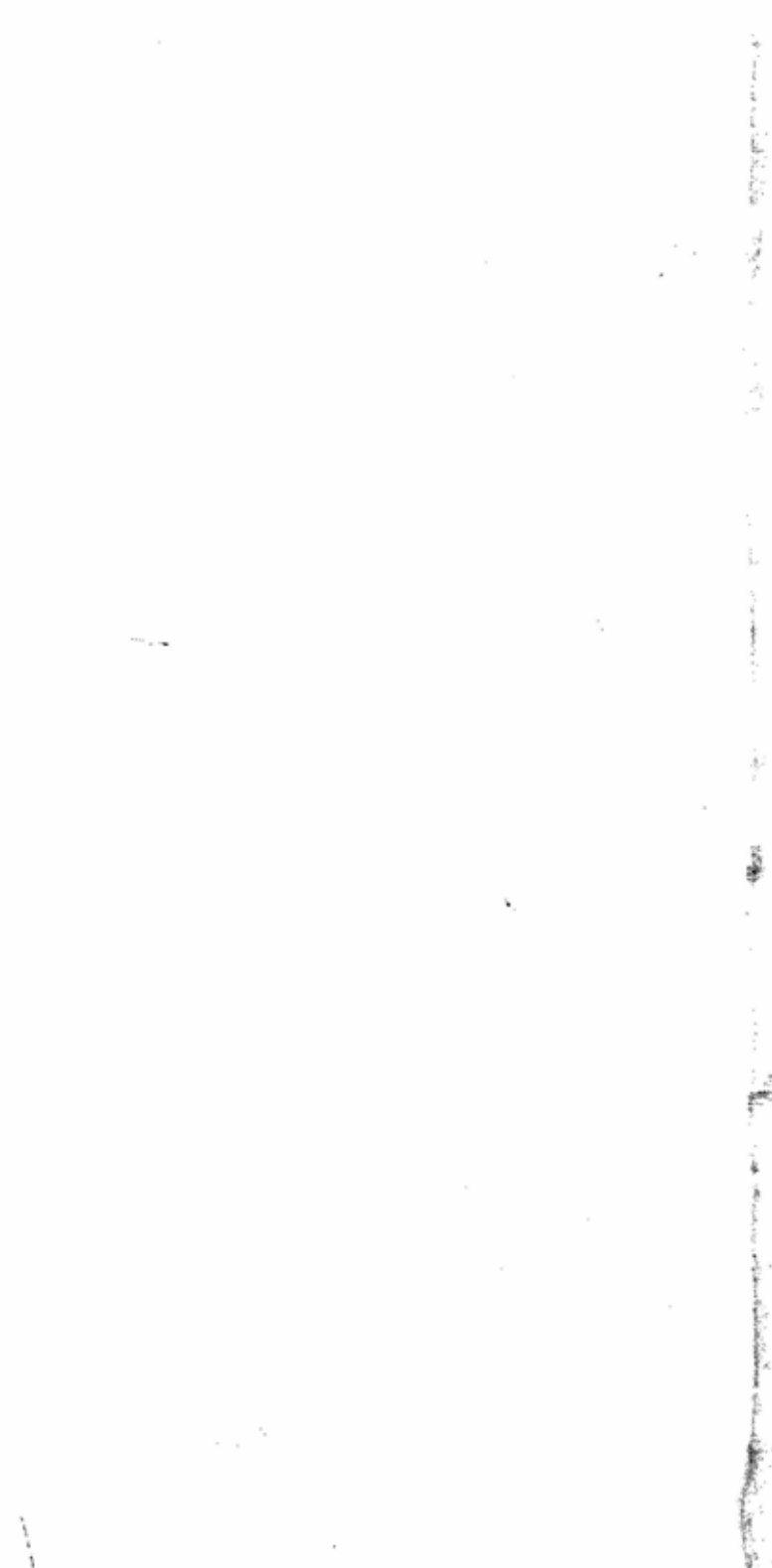
GOVERNMENT OF INDIA
ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 662

CALL No. Sa4A/Tha/D.P.

D.G.A. 79

RECORDED



Acc No
662

KĀVYAMĀLĀ 24.

THE
KĀVYAPRADĪPA
OF

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA

GOVIND. *Thakura*

With the Commentary of Vaidyanātha Tatsat.

Acc. No.

662

EDITED BY

PĀṆDIT DURGĀPRASĀDA

AND

WĀSUDEV LAXMAN S'ĀSTRĪ PAṆS'ĪKAR.

Third Edition.

PUBLISHED BY

PĀṆDURANG JĀWAJĪ,

PROPRIETOR OF THE "NIRṆAYA-SĀGAR" PRESS,

BOMBAY.

1933.

Sal 4A

Tha/D.P.



[All rights reserved by the publisher.]

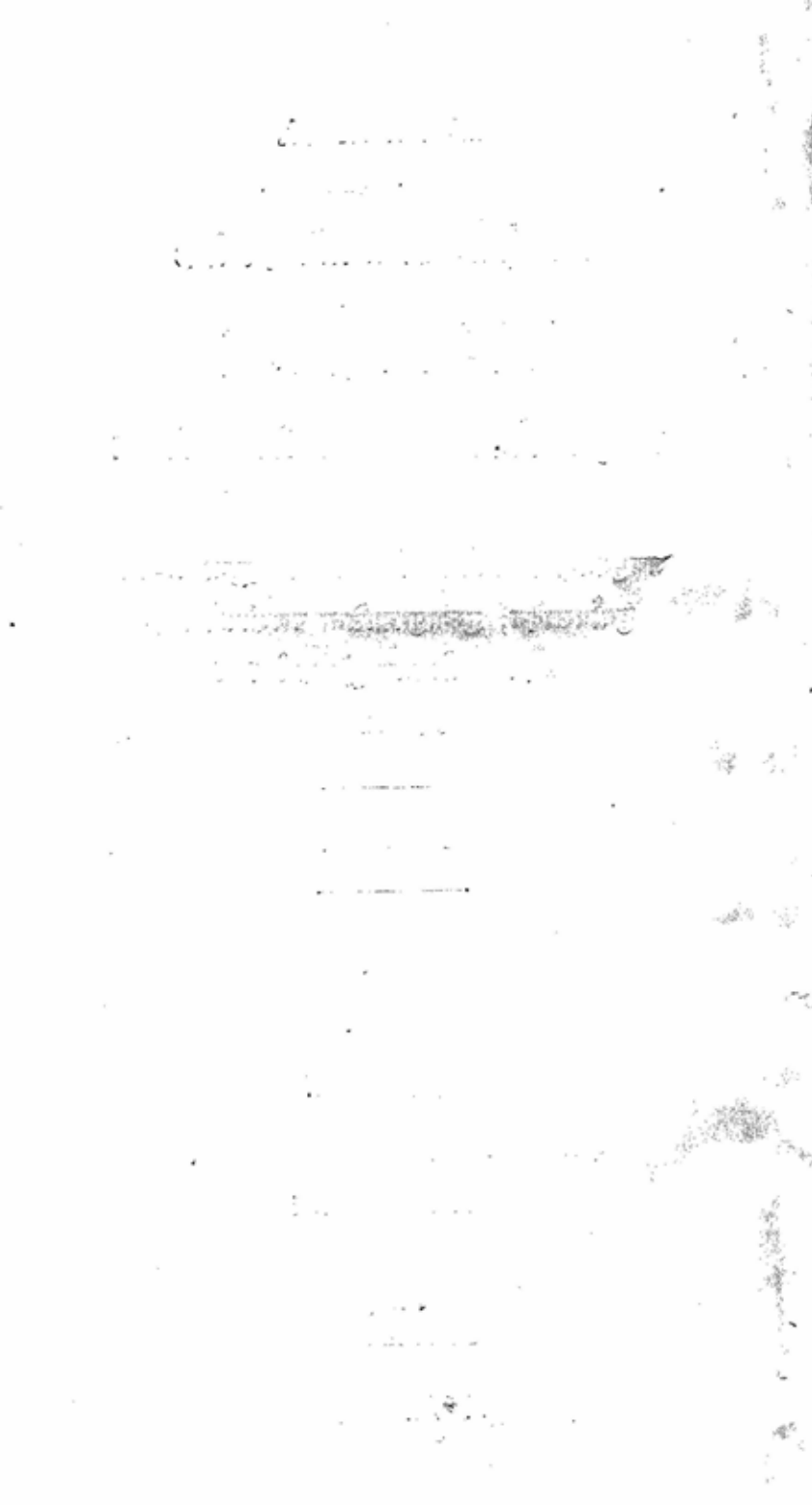
Publisher :-Pandurang Jawaji, } at the 'Nirnaya-Sagar' Press
Printer :-Ramchandra Yesu Shedge, } 26-28, Kolbhat Lane, Bombay

CENTRAL ARCHIVES SECTION
LIBRARY

Exp. No. 662

Date... 28-12-53.....

name ... S.A.A./The/D.P.



महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दः.

अयं ठकुरोपनामको विद्वद्वरश्रीगोविन्दो मिथिलायां श्रीरविकरवंशे जन्म लेभे इति तद्देशप्रसिद्धपञ्जीकारपुस्तकेषु समुपलभ्यते. अधुनापि गोविन्दवशोद्भवा मिथिलान्तर्गत-‘भटसीमरि’ग्रामे निवसन्तीत्यपि तत्पुस्तकेभ्य एव ज्ञायते. सम-
यस्त्वनिश्चित एव. केवलमेतदनुमीयते यत्काव्यप्रकाशव्याख्या नरसिंहमनीषाभिधा-
ताराभक्तिसुधारणवश्चेति ग्रन्थद्वयं नरसिंहठकुरप्रणीतमुपलभ्यते. स च नरसिंह-
ठकुरः १६६८ मिते विक्रमाब्दे निर्णयसिन्धुनिर्मातुः काव्यप्रकाशटीकाकर्तुश्च कम-
लाकरभट्टादर्वाचीन इति तद्वन्थपर्यालोचनया प्रतीयते. एतेन नरसिंहः ख्रिस्ता-
ब्दीयषोडशशतकोत्तरभागसमुद्भूतः स्यादित्यनुमीयते. स च नरसिंहो गोविन्दा-
त्पञ्चम इति गोविन्दोऽपि ख्रिस्ताब्दीयपञ्चदशशतकोत्तरभागसप्तकाले विद्यमान
आसीदिति वक्तुं युज्यते. अथ च कमलाकरभट्टप्रणीतकाव्यप्रकाशटीकायां प्रदीप-
कारस्य नाम समुपलभ्यते. कमलाकरश्च १६१२ मिते ख्रिस्ताब्दे निर्णयसिन्धुं
जग्रन्थेति ख्रिस्ताब्दीयषोडशशतकान्तिमभागतः कथमपि नार्वाचीनः प्रदीपकारो
गोविन्द इति सुव्यक्तमेव.

काव्यप्रदीपस्यास्य टीकाद्वयमुपलभ्यते नागेशभट्टप्रणीता उद्घोताभिधा, तत्सङ्ग-
पाख्यवैद्यनाथभट्टप्रणीता प्रभा चेति. उद्घोतोऽस्माभिरुद्धित एव लब्ध इति केवलं
प्रभैव मुद्रिता. अयं प्रभाप्रणेता वैद्यनाथः स्वकृतोदाहरणचन्द्रिकासमाप्तौ ‘वियद्वेद-
मुनिक्षमाभि(१७४०)मितेऽब्दे कार्तिके सिते । बुधाष्टम्यामिमं ग्रन्थं वैद्यनाथोऽभ्य-
पूरयत् ॥’ इति स्वसमयं स्वयमेव दर्शितवान्.

तत्रास्मन्मुद्रणाधारतां गतानि पुस्तकान्येतानि—

क—जयपुरराजगुरुभट्टलक्ष्मीदत्तसूनुभट्टश्रीदत्तानां प्रायः शुद्धं १७९२ विक्रमाब्दे
केनचन व्रजनाथनाम्ना लिखितं १५० पत्रात्मकं प्रभासमेतत्काव्यप्रदीपपुस्तकम्.

ख—जयपुरराजगुरुपर्वणीकरोपनामकनारायणभट्टानां काव्यप्रदीपमूलं शुद्धं ८४
पत्रात्मकं १७७१ विक्रमाब्दे श्यामभट्टनूजशिवरामेण लिखितम्. प्रभापुस्तकं च
तेषामेवानतिशुद्धं १८५७ संवत्सरे लिखितं १६८ पत्रात्मकम्. एतत्पुस्तकद्वयं समु-
दितं ख-नाम्ना व्यवहृतम्.

ग—जयपुरमहाराजाश्रितगोपीनाथभट्टचार्याणां नातिशुद्धं नवीनं ३०३ पत्रा-
त्मकं मूलमात्रम्.

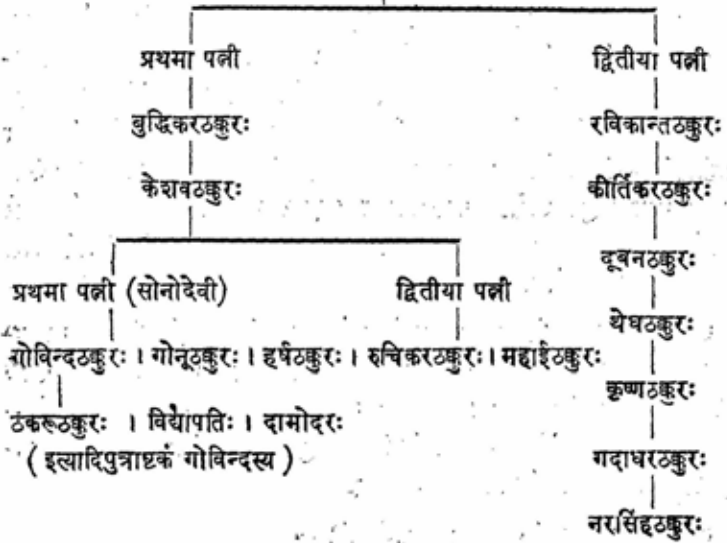
एवमुदाहरणचन्द्रिकापुस्तकान्यपि त्रीणि समासादितानि. तत्रैकं जयपुरमहाराज-
श्रितमिथिलाभिजन-तार्किकवर-श्रीसुन्दरशर्मेणाम्. शुद्धम्.

अपरं जयपुरसंस्कृतपाठशालायां साहित्याध्यापकानां पण्डितगोपीनाथशर्मेणां
शुद्धं प्राचीनं च.

अन्यत् पूर्वोक्तगोपीनाथमहाचार्याणामेव नवीनं नांतिशुद्धं चेति.

पूर्वोक्तार्किकवरश्रीसुन्दरशर्मभिः स्वदेशस्थपञ्जीकारपुस्तकं साक्षाद्विलोक्य गोविन्दठकुरस्य वंशवृक्षः प्रहित इति तेषाम्, कारवारदेशीयसारस्वतभूसुरमज्ञेशराव-
शर्ममिश्र प्रवीपस्य शोधनपत्रमनुक्रमणी च भूयांसं श्रममूरीकृत्य निर्माय प्रहितेति
तेषां चोपकृतिं सप्रश्रयमञ्जीकुर्म इति शिवम्.

रविकरठकुरः,



काव्यप्रदीपस्य सूचीपत्रम् ।

विषयः । प्रथमोल्लासः । पृष्ठम् ।

| | | | |
|---------------------|-----|-----|----|
| मङ्गलाचरणम् | ... | ... | २ |
| काव्यफलानि | ... | ... | ५ |
| काव्योद्भवकारणानि | ... | ... | ६ |
| काव्यलक्षणम् | ... | ... | ८ |
| काव्यभेदाः सलक्षणाः | ... | ... | ११ |
| उत्तमकाव्यलक्षणम् | ... | ... | १२ |
| मध्यमकाव्यलक्षणम् | ... | ... | ११ |
| अवरकाव्यलक्षणम् | ... | ... | १६ |

द्वितीयोल्लासः ।

| | | | |
|-------------------------------------|-----|-----|----|
| शब्दभेदाः | ... | ... | १७ |
| अर्थभेदाः | ... | ... | १७ |
| ज्ञातपर्यायः | ... | ... | १७ |
| अर्थव्यञ्जकता | ... | ... | १८ |
| वाचकशब्दलक्षणम् | ... | ... | २० |
| संकेतनिर्णयः | ... | ... | २३ |
| अभिधालक्षणम् | ... | ... | २५ |
| लक्षणां लक्षणम् | ... | ... | २६ |
| लक्षणाभेदाः | ... | ... | २८ |
| उपादानलक्षणा | ... | ... | २८ |
| लक्षणलक्षणा | ... | ... | २८ |
| सारीषा लक्षणा | ... | ... | ३१ |
| साध्यवसानलक्षणा | ... | ... | ३१ |
| शुद्धा लक्षणा | ... | ... | ३२ |
| गौणी लक्षणा | ... | ... | ३२ |
| लक्षणायाः षड्विधत्वम् | ... | ... | ३५ |
| व्यञ्जनाकृतं लक्षणायास्त्रिविधत्वम् | ... | ... | ३६ |
| लाक्षणिकशब्दलक्षणम् | ... | ... | ३८ |
| व्यञ्जनाभेदाः | ... | ... | ३९ |
| लक्षणां मूलव्यञ्जनालक्षणम् | ... | ... | ३९ |
| अभिधामूलव्यञ्जनालक्षणम् | ... | ... | ४२ |
| अर्थोपस्थापकाः (अभिधानियामकाः) | ... | ... | ४३ |

विषयः । पृष्ठम् ।

| | | | |
|--------------------|-----|-----|----|
| व्यञ्जकशब्दलक्षणम् | ... | ... | ४७ |
| व्यञ्जकोऽर्थः | ... | ... | ४७ |

तृतीयोल्लासः ।

| | | | |
|------------------------------|-----|-----|----|
| अर्थव्यञ्जकतालक्षणम् | ... | ... | ४८ |
| व्यक्ति (व्यञ्जना) लक्षणम् | ... | ... | ४८ |
| व्यक्त्युदाहरणानि | ... | ... | ४९ |
| अर्थव्यञ्जकत्वे शब्दः सहकारी | ... | ... | ५५ |

चतुर्थोल्लासः ।

| | | | |
|------------------------------|-----|-----|----|
| ध्वनिभेदाः | ... | ... | ५६ |
| अविवक्षितवाच्यः | ... | ... | ५७ |
| विवक्षितान्यपरवाच्यः | ... | ... | ५९ |
| अलक्ष्यक्रमव्यञ्जयः | ... | ... | ५९ |
| रसलक्षणम् | ... | ... | ६० |
| रसविषये भरतमतम् | ... | ... | ६३ |
| रसविषये श्रीशङ्कुकमतम् | ... | ... | ६३ |
| रसविषये भट्टलोल्लाटादिमतम् | ... | ... | ६४ |
| रसविषये भट्टनायकमतम् | ... | ... | ६५ |
| रसविषये आचार्याभिनवगुप्तमतम् | ... | ... | ६७ |
| रसभेदाः | ... | ... | ७४ |
| शृङ्गाररसलक्षणम् | ... | ... | ७५ |
| शृङ्गाररसभेदाः सोदाहरणाः | ... | ... | ७५ |
| हास्यरसलक्षणम् | ... | ... | ७७ |
| करुणरसलक्षणम् | ... | ... | ८० |
| रौद्ररसलक्षणम् | ... | ... | ८१ |
| वीररसलक्षणं भेदाच्च | ... | ... | ८२ |
| भयानकरसलक्षणम् | ... | ... | ८३ |
| बीभत्सरसलक्षणम् | ... | ... | ८३ |
| अद्भुतरसलक्षणम् | ... | ... | ८४ |
| स्थायिभावाः | ... | ... | ८५ |
| व्यभिचारिभावभेदाः | ... | ... | ८५ |
| व्यभिचारिभावलक्षणानि | ... | ... | ८५ |

| विषयः । | पृष्ठम् । |
|--|-----------|
| संचारिभावलक्षणम् | ८९ |
| शान्तरसलक्षणम् | ९० |
| रसवद्भावः | ९१ |
| रसाभासः | ९३ |
| भावाभासः | ९४ |
| भावशान्तिः | ९४ |
| भावोदयः | ९५ |
| भावसंधिः | ९५ |
| भावशबलता | ९६ |
| भावशान्त्यादीनामङ्गित्वम् | ९७ |
| संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिप्रभेदाः | ९७ |
| शब्दशक्त्युद्भवध्वनिः | ९८ |
| शब्दशक्त्युद्भवालंकारध्वनिः | ९९ |
| शब्दशक्त्युद्भववस्तुमात्रध्वनिः | १०० |
| अर्थशक्त्युद्भवध्वनिप्रभेदाः | १०१ |
| अर्थशक्त्युद्भवः स्वतःसंभवी सभेदः | १०१ |
| अर्थशक्त्युद्भवः कविप्रौढोक्तिसिद्धः सभेदः | १०५ |
| अर्थशक्त्युद्भवः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति- मात्रसिद्धः सभेदः | १०७ |
| शब्दार्थोभयशक्तिमूलो ध्वनिः | १०९ |
| ध्वनिभेदपरिगणनम् | १०९ |
| वाक्यगतध्वनिः | ११० |
| पदगतध्वनिः | ११० |
| शब्दशक्तिमूलध्वनौ अलंकारादिव्य- क्त्युदाहरणानि | ११४ |
| प्रबन्धगतध्वनिः | १२० |
| रसादीनां पदैकदेशरचनावर्णगतत्वम् | १२२ |
| रसादीनां प्रबन्धगतत्वम् | १३० |
| शुद्धध्वनिभेदसंख्या | १३० |
| ध्वनेः संसृष्टिसंकरौ तयोः संख्या च | १३१ |
| ध्वनिभेदसप्तमिः | १३१ |
| पञ्चमोल्लासः । | |
| गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदाः | १३३ |

| विषयः । | पृष्ठम् । |
|---|-----------|
| अगूढव्यङ्ग्यम् | १३३ |
| अपराङ्गव्यङ्ग्यम् | १३५ |
| वाच्यसिद्ध्यङ्ग्यव्यङ्ग्यम् | १३८ |
| अस्फुटाङ्गव्यङ्ग्यम् | १४३ |
| संदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्यम् | १४३ |
| तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्यम् | १४३ |
| काक्काक्षितव्यङ्ग्यम् | १४४ |
| असुन्दरव्यङ्ग्यम् | १४४ |
| गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिवत्प्रभेदाः | १४५ |
| ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टि- संकरौ | १४५ |
| ध्वनिभेदसंकलनहेतुकं त्रैविध्यम् | १४६ |
| व्यञ्जनाद्युत्तिसंस्थापनम् | १४६ |
| षष्ठोल्लासः । | |
| शब्दचित्रार्थचित्रयोः स्वरूपम् | १६६ |
| शब्दचित्रोदाहरणम् | १६७ |
| अर्थचित्रोदाहरणम् | १६८ |
| सप्तमोल्लासः । | |
| दोषलक्षणम् | १६९ |
| दोषविभागः | १७१ |
| पददोषविभागः | १७१ |
| श्रुतिकटुता | १७१ |
| च्युतसंस्कारः | १७२ |
| अप्रयुक्तत्वम् | १७३ |
| असमर्थत्वम् | १७३ |
| निहतार्थत्वम् | १७४ |
| अनुचितार्थता | १७४ |
| निरर्थकता | १७५ |
| अवाचकता | १७५ |
| अञ्जीलता | १७७ |
| संदिग्धता | १७९ |
| अप्रतीतत्वम् | १७९ |
| ग्राम्यत्वम् | १८० |
| नेयार्थत्वम् | १८० |

| विषयः । | पृष्ठम् । | विषयः । | पृष्ठम् । |
|-----------------------------------|-----------|--------------------------------|-----------|
| क्लिष्टत्वम् | १८१ | अभवन्मतयोगत्वम् | २१५ |
| अविमृष्टविधेयांशता | १८१ | अनभिहितपाच्यत्वम् | २२० |
| विरुद्धमतिकारिता | १८५ | अस्थानस्थपदत्वम् | २२२ |
| समासगतश्रुतिकटुत्वम् | १८६ | अस्थानस्थसमासत्वम् | २२३ |
| पदगतदोषाणां वाक्ये पादशेषपि | | संकीर्णत्वम् | २२४ |
| संभवः | १८६ | गर्भितत्वम् | २२४ |
| वाक्यगतं श्रुतिकटु | १८७ | प्रसिद्धिहृतत्वम् | २२५ |
| वाक्यगतं अप्रयुक्तम् | १८८ | भग्नप्रक्रमत्वम् | २२६ |
| वाक्यगतं निहतार्थम् | १८८ | अक्रमत्वम् | २३० |
| वाक्यगतं अनुचितार्थम् | १८८ | अमतपरार्थत्वम् | २३२ |
| वाक्यगतं अवाचकत्वम् | १८९ | अर्थदोषलक्षणानि | २३२ |
| वाक्यगतं अश्लीलत्वम् | १८९ | अपुष्टत्वम् | २३२ |
| वाक्यगतं जुगुप्सात्वम् | १८९ | कष्टत्वम् | २३४ |
| वाक्यगतं अमङ्गलार्थत्वम् | १९० | व्याहृतत्वम् | २३५ |
| वाक्यगतं संदिग्धत्वम् | १९० | पुनरुक्तत्वम् | २३६ |
| वाक्यगतं अप्रतीतत्वम् | १९० | दुष्कमत्वम् | २३६ |
| वाक्यगतं ग्राम्यत्वम् | १९१ | ग्राम्यत्वम् | २३७ |
| वाक्यगतं नेयार्थत्वम् | १९१ | संदिग्धत्वम् | २३७ |
| वाक्यगतं क्लिष्टत्वम् | १९२ | निर्हेतुत्वम् | २३७ |
| वाक्यगतं अविमृष्टविधेयांशत्वम् | १९२ | प्रसिद्धिविरुद्धत्वम् | २३८ |
| यत्तदोः साकाङ्क्षत्वविचारः | १९४ | धियाविरुद्धत्वम् | २३९ |
| विरुद्धमतिकृत् | १९९ | अर्थशास्त्रविरुद्धत्वम् | २४० |
| पदैकदेशगतदोषाणामुदाहरणानि | २०० | कामशास्त्रविरुद्धत्वम् | २४० |
| वाक्यमात्रदोषलक्षणम् | २०४ | योगशास्त्रविरुद्धत्वम् | २४० |
| प्रतिकूलवर्णनम् | २०४ | अनवीकृतत्वम् | २४१ |
| उपहतलुप्तविसर्गत्वम् | २०६ | सनियमपरिवृत्तत्वम् | २४१ |
| विसंधित्वम् | २०६ | अनियमपरिवृत्तत्वम् | २४३ |
| हृतवृत्तत्वम् | २०८ | विशेषपरिवृत्तत्वम् | २४३ |
| यतिभङ्गः | २०९ | अविशेषपरिवृत्तत्वम् | २४४ |
| न्यूनपदत्वम् | २११ | सामान्यपरिवृत्तत्वम् | २४४ |
| अधिकपदत्वम् | २११ | साकाङ्क्षत्वम् | २४४ |
| कथितपदत्वम् | २१२ | अपदयुक्तत्वम् | २४५ |
| पुस्तप्रकर्षत्वम् | २१३ | सहचरभिज्ञत्वम् | २४६ |
| समासपुनरासत्त्वम् | २१३ | प्रकाशितविरुद्धत्वम् | २४६ |
| अर्धांशैरैकवाचकत्वम् | २१४ | विध्ययुक्तत्वम् | २४७ |

| विषयः । | पृष्ठम् । | विषयः । | पृष्ठम् । |
|---------------------------------------|-----------|---------------------------------|-----------|
| अनुवादायुक्तत्वम् | २४८ | अङ्गिनोऽननुसंधानम् | २६६ |
| त्यक्तपुनःस्वीकृतत्वम् | २४९ | प्रकृतिविपर्ययः | २६६ |
| अश्लीलत्वम् | २४९ | अनङ्गस्याभिधानम् | २६७ |
| पौनरुक्त्यस्य काव्यदोषत्वम् ... | २४९ | संचारिणः स्वपदवाच्यत्वमदोषः | २६७ |
| निर्हेतुत्वस्य प्रसिद्धार्थेऽदोषत्वम् | २५२ | विरुद्धरससंचारिभावादीनां बाध्य- | |
| अनुकरणे सर्वेषामदोषत्वम् ... | २५२ | तयोक्तिगुणः | २६७ |
| वक्राद्यौचित्यादोषस्यापि क्वचिद्गुण- | | विरुद्धयोरपि रसयोरेकत्र निवेश- | |
| त्वम् | २५२ | प्रकारः | २६७ |
| दोषस्य क्वचिददुष्टता | २५३ | अष्टमोल्लासः । | |
| कष्टत्वस्य गुणत्वम् | २५३ | गुणलक्षणम् | २७४ |
| अप्रयुक्तनिहतार्थयोरदुष्टत्वम् ... | २५५ | गुणानां रसधर्मत्वम् | २७५ |
| अश्लीलत्वस्य गुणत्वम् | २५६ | अलंकारलक्षणम् | २७६ |
| संदिग्धत्वस्य गुणत्वम् | २५७ | गुणालंकारयोः प्रमेदः | २७८ |
| अप्रतीतत्वस्य गुणत्वम् | २५७ | परकृतगुणालंकारलक्षणखण्डनम् | २७८ |
| प्राप्त्यत्वस्य गुणत्वम् | २५८ | गुणविभागः | २७९ |
| न्यूनपदत्वस्य गुणत्वम् | २५९ | माधुर्यगुणलक्षणम् | २७९ |
| अधिकपदत्वस्य गुणत्वम् | २६० | ओजोगुणलक्षणम् | २७९ |
| कथितपदत्वस्य गुणत्वम् | २६० | प्रसादगुणलक्षणम् | २८० |
| पतत्प्रकर्षत्वस्य गुणत्वम् | २६१ | वामनाद्युक्तदशगुणमतविचारः | २८२ |
| समाप्तपुनरास्तत्वस्य न गुणत्वं नापि | | माधुर्यव्यञ्जकाः | २८३ |
| दोषत्वम् | २६१ | ओजोव्यञ्जकाः | २८४ |
| अपदस्थसमासत्वस्य गुणत्वम् ... | २६१ | प्रसादव्यञ्जकाः | २८४ |
| गर्भितत्वस्य गुणत्वम् | २६१ | क्वचिद्रचनाया वैपरीत्यम् ... | २८४ |
| रसदोषाः | २६२ | नवमोल्लासः । | |
| व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वम् ... | २६२ | वक्रोक्तिः | २८६ |
| रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम् | २६३ | अनुप्रासः | २८८ |
| स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम् | २६४ | वृत्तिः | २८८ |
| अनुभावस्य कष्टकल्पना | २६४ | छेकानुप्रासः | २८९ |
| विभावस्य कष्टकल्पना | २६४ | वृत्त्यनुप्रासः | २८९ |
| प्रतिकूलविभावादिप्रहः | २६५ | उपनागरिका-रीतिः | २८९ |
| पुनःपुनर्दासिः | २६५ | परुषा रीतिः | २८९ |
| अकाण्डे प्रथनम् | २६६ | कोमला रीतिः | २८९ |
| अकाण्डे छेदः | २६६ | उपनागरिकादीनां यथाक्रमं वैद- | |
| अङ्गस्यातिविस्तृतिः | २६६ | र्भोल्यादिनामानि | २८९ |

विषयः । पृष्ठम् ।

| | |
|----------------------|-----|
| क्याटानुप्रासः सभेदः | २८९ |
| यमकं सविभागम् | २९१ |
| श्लेषः सभेदः | २९३ |
| श्लेषस्य नवमो भेदः | २९३ |
| श्लेषविचारः | २९४ |
| चित्रालंकारः | ३०३ |
| स्वप्नबन्धः | ३०३ |
| मुरजबन्धः | ३०४ |
| पद्मबन्धः | ३०५ |
| सर्वतोभद्रः | ३०५ |
| पुनरुक्तवदाभासः | ३०६ |

दशमोल्लासः ।

| | |
|----------------------------|-----|
| उपमा | ३०८ |
| पूर्णोपमा | ३०९ |
| लुप्तोपमा | ३०९ |
| श्रौती उपमा | ३०९ |
| आर्या उपमा | ३०९ |
| उपमाविचारः | ३०९ |
| धर्मलोपे उपमा | ३१३ |
| उपमानलोपे उपमा | ३१४ |
| इवादिलोपे उपमा | ३१५ |
| धर्मवाद्युभयलोपे उपमा | ३१६ |
| धर्मोपमानलोपे उपमा | ३१६ |
| उपमेये वादिलोपे उपमा | ३१७ |
| धर्मोपमाने वादिलोपे उपमा | ३१७ |
| उपमायाः पञ्चविंशतिविधत्वम् | ३१८ |
| मालोपमा | ३१९ |
| रशनोपमा | ३१९ |
| अनन्वयः | ३२१ |
| उपमेयोपमा | ३२२ |
| उत्प्रेक्षा | ३२३ |
| संदेहः | ३२४ |
| रूपकम् | ३२६ |
| समस्तवस्तुविषयं रूपकम् | ३२७ |

विषयः । पृष्ठम् ।

| | |
|--------------------|-----|
| एकदेशविवर्तिरूपकम् | ३३० |
| साङ्गरूपकम् | ३३४ |
| निरङ्गरूपकम् | ३३८ |
| मालारूपकम् | ३३९ |
| परम्परितरूपकम् | ३३९ |
| रशनारूपकम् | ३३९ |
| अपहृतिः | ३३३ |
| श्लेषः (अर्पणतः) | ३३३ |
| समासोक्तिः | ३३४ |
| निदर्शना | ३३५ |
| अप्रस्तुतप्रशंसा | ३३७ |
| अतिशयोक्तिः | ३४१ |
| प्रतिवस्तूपमा | ३४२ |
| दृष्टान्तः | ३४३ |
| कारकरीपकम् | ३४४ |
| मालादीपकम् | ३४५ |
| तुल्ययोगिता | ३४६ |
| व्यतिरेकः | ३४६ |
| आक्षेपः | ३४७ |
| विभावना | ३५० |
| विशेषोक्तिः | ३५० |
| यथासंख्यम् | ३५१ |
| अर्थान्तरन्यासः | ३५३ |
| विरोधः | ३५३ |
| स्वभावोक्तिः | ३५६ |
| व्याजस्तुतिः | ३५७ |
| सहोक्तिः | ३५७ |
| विनोक्तिः | ३५८ |
| परिवृत्तिः | ३५९ |
| भाविकम् | ३५९ |
| काव्यलिङ्गम् | ३६० |
| पर्यायोक्तम् | ३६१ |
| उदात्तम् | ३६२ |
| समुच्चयः | ३६३ |

| विषयः । | पृष्ठम् । | विषयः । | पृष्ठम् । |
|---------------------------|-----------|---|-----------|
| पर्यायः | ३६६ | अतद्गुणः | ३८७ |
| अनुमानम् | ३६८ | व्याघातः | ३८८ |
| परिकरः | ३६९ | संस्पृष्टिः | ३८८ |
| व्याजीक्तिः | ३६९ | अज्ञातिभावसंकरः | ३८९ |
| परिसंख्या | ३७० | संदेहसंकरः | ३९० |
| कारणमाळा | ३७१ | संदेहसंकरस्थलनिर्णयः | ३९० |
| अन्वयोन्यम् | ३७२ | एकाश्रयानुप्रवेशसंकरः | ३९१ |
| उत्तरम् | ३७३ | अलंकाराणां शब्दार्थगतस्वनियमः | ३९२ |
| सूक्ष्मम् | ३७४ | अलंकारदोषाः पृथग् सन्ति | ३९३ |
| सारः | ३७४ | अनुप्रासदोषाः । तेषामुक्तेष्वन्तर्भावः | ३९४ |
| असंगतिः | ३७५ | यमकदोषः । तस्योक्तेऽन्तर्भावः | ३९५ |
| विरोधादसंगतेर्भेदः | ३७५ | उपमादोषाः । तेषामुक्तेऽन्तर्भावश्च | ३९५ |
| समाधिः | ३७६ | उपमायां क्वचिद्विज्ञवचनादिभे- | |
| समम् | ३७६ | दस्यादुष्टता | ३९६ |
| विषमम् | ३७७ | कालादिभेदे उपमाया दुष्टताव्य- | |
| अधिकम् | ३७८ | वस्थापनम् | ३९७ |
| प्रत्यनीकम् | ३७९ | उपमायामपरो दोषो तयोक्तेऽन्त- | |
| मीलितम् | ३८० | र्भावश्च | ३९८ |
| एकावली | ३८० | उत्प्रेक्षादोषः तस्योक्तेऽन्तर्भावश्च | ४०० |
| स्मरणम् | ३८१ | अर्थान्तरन्यासदोषः | ४०१ |
| आन्तिमान् | ३८२ | समासोक्तिदोषः तस्योक्तेऽन्तर्भावश्च | ४०१ |
| प्रतीपम् | ३८३ | अप्रस्तुतप्रशंसादोषः । तस्योक्तेऽन्त- | |
| सामान्यम् | ३८४ | र्भावश्च | ४०२ |
| विशेषः | ३८५ | ग्रन्थसमाप्तिः | ४०३ |
| तद्गुणः | ३८७ | | |

काव्यमाला ।

महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दप्रणीतः

काव्यप्रदीपः ।

तत्सदुपाख्यवैयनाथविरचितया प्रभया समेतः ।

प्रथम उल्लासः ।

सोनोदेव्याः प्रथमतनयः केशवस्यात्मजन्मा

श्रीगोविन्दो रुचिकरकवेः स्नेहपात्रं कनीयान् ।

श्रीमन्नारायणचरणयोः सम्यगाधाय चित्तं

नत्वा सारस्वतमपि महः काव्यतत्त्वं व्यनक्ति ॥

वचनसंदर्भविशेषरूपस्य ग्रन्थस्य प्रारिप्सितत्वेन स्तोतुमुचितायाः सेव्यमा-

यः सर्वदैवतगणेषु महानुपेन्द्रब्रह्मादिभिः सततपूजितपादपद्मः ।

स स्वर्धुनीविमलवारितरङ्गभङ्गैरस्माकमाशु शमयत्वशुभं महेशः ॥

गुरुपादसरोजानि प्रणम्य च गजाननम् ।

काव्यप्रदीपसद्भाख्यां प्रभाख्यां वितनोम्यहम् ॥

प्रेक्षावत्प्रवृत्तये स्वपित्रादिनामपूर्वकं मङ्गलमाचरणेवाभिधेयं दर्शयति—सोनो-
देव्या इति । रुचिकरकविः सपत्नभ्रातेति ज्ञेयम् । अन्यथा प्रथमतनयः कनीयानिति
च न संगच्छेत् । तस्माद्वैमात्रेयो रुचिकरकविः । अयं तु स्वमातुर्ज्येष्ठ एवेति ज्ञेयम् ।
व्याख्यातृश्रोतृणामनुषङ्गतो मङ्गलाय ग्रन्थादिनिबद्धपथं व्याख्यातुमवतारयन्नेव
तदवतारिकां वृत्तिं ताटस्थेन व्याचष्टे—वचनेत्यादि । उच्यते प्रतिपाद्यतेऽर्थो
यैस्तानि वचनानि वाक्यानि तेषां संदर्भो रचनम् । संदर्भ्यमाणानि वाक्यानीति
यावत् । ‘कृदभिहितः’ इति न्यायात् । विशेषश्चाविवक्षितार्थप्रतिपत्त्यनुकूलत्वे सति
निबद्धत्वम् । इत्थं च यावता संभूय विवक्षितैकार्थप्रतिपादकत्वं तावतामेकग्रन्थत्वम् ।
महाग्रन्थानां च विशिष्टमहावाक्यार्थप्रतिपादकतयैकग्रन्थत्वम्, तत्तदवान्तरपूर्वपक्ष-
सिद्धान्ताद्यर्थमेदेन नानाग्रन्थत्वं चाविरुद्धमिति विभावनीयम् । एकैकस्मिन् वाक्ये
ग्रन्थव्यवहारस्त्वान्निकासंमततया हस्तादौ शरीरादिव्यवहारवद्गौण इति दिक् । ग्रन्थस्य
लक्षणान्तराणि तद्दूषणानि च प्रकृतानुपयोगाद्विस्तरभयाच्च न दर्शितानि । प्रारिप्सि-
तत्वेनेत्यनेन वृत्तौ ग्रन्थारम्भ इत्यनन्तरं चिकीर्षित इति शेषो दर्शितः । समुचित-
त्वस्य क्रियाविशेषापेक्षापूरणाय स्तोतुमिति । वाग्देवताया ग्रन्थारम्भे स्तुत्यर्थत्वं

नायाश्च वाग्देव्या आस्पदभूतां कविभारतीं तदभिन्नत्वेनाध्यवसितां प्रारिप्सित-
प्रतिबन्धकदुरितशान्तये ग्रन्थकृतसंस्तौति—

नियतिकृतनियमरहितां हृद्दैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनेनेति नियतिरसाधारणः पद्मत्वादिरूपो
धर्मोऽदृष्टं वा । हृद्दैकमयीमिति हृद्दैकमयीमेकस्वभावाम् । हृदमात्रस्वभावा-

सुप्रसिद्धम् । एतत्स्फोरणायैवादौ ग्रन्थस्वरूपकथनम् । इष्टेयस्य व्याख्यानं सेव्यमा-
नाया इति । 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इत्यनुशासनाद्यजेः पूजार्थत्वेन 'मति-
बुद्धि-' इत्यनेन वर्तमाने कप्रत्ययादुक्तार्थलाभः । श्लोके कविपदसमभिव्याहृतस्य
भारतीपदस्य काव्ये प्रसिद्धिबाहुल्येन तस्यैव स्तुतिविषयत्वप्रतीतेः कविवाङ्नि-
र्मितिरिति श्लोक्तिविरोधाच्च वृत्तौ देवतामित्ययुक्तमित्याशङ्क्य तदभिन्नत्वेनेत्याद्यु-
क्तम् । केवलं कविभारतीस्तुतेर्मिश्रलाप्रयोजकतया भारतीपदश्लेषापादितवाग्देवता-
मेदवत्त्वेनाध्यवसिताया एव स्तुतौ श्लोकतात्पर्यमिति सूचयितुं देवतामित्युपचारेण
वृत्तिकृतोक्तमित्याशयः । दुरितान्तेन विघ्नस्य रूपमुक्तं वृत्तौ । ग्रन्थकृदिति स्वस्यैव
मम्मदभट्टाख्यस्य कारिकाकर्तुर्निर्देशः । खनामाग्रहणं तु धीरोदात्तस्वभावतया गुण
एव । भरतसंहितायां कासांचित्कारिकाणां दर्शनात्स एव ग्रन्थकृदिति तु न युक्तम् ।
चतुर्थे—'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि-' इत्यादि कारिकार्थे 'तदुक्तं भरतेन'
इति भरतसंमतिप्रदर्शनस्यासंगतित्वापत्तेः । भरतसंहितागतानां कासांचिल्लिखनं
प्रामाणिकत्वथोतनायेति सर्वमनवद्यम् । अनयैव दिशा सर्वमवयवशो वृत्तिव्याख्यान-
मस्माद्ग्रन्थादवगन्तव्यम् । अस्माभिस्तु विस्तरमीतैः कचित्कचिदेव प्रकाशयिष्यते ।
नियम्यन्त इति । स्वाविनाभावित्वेन व्यवस्थाप्यन्त इत्यर्थः । सौरभपदं तद्विशेष-
परम् । आदिपदेनाह्लादकत्वविशेषादिपरिग्रहः । असाधारणः पद्मेतरमुखादिव्यावृत्तः ।
स्वस्यैव साधारण्ये इतरव्यवस्थापकत्वायोगादिदमुक्तम् । तथा च नियतिकृतस्वस्वरू-
पितो यो नियमो व्याप्तिस्तद्रहितामिति श्लोकार्थः । कान्तामुखेऽपि कविप्रतिभानिर्मि-
तसौरभविशेषादेः सत्त्वादिति रुढेर्बलवत्त्वादाह—अदृष्टं वेति । अत्राप्यदृष्टकृतो
नियमः पद्मादावेव सौरभविशेषादिरित्यादिरूप एव । तथामुष्मिकस्वर्गादिजनकादृष्ट-
विशेषकृतश्च नियमः स्वर्गादियोग्यशरीरान्तरोत्पादनद्वारैव स्वर्गोपधायकत्वरूपः ।
तद्वाहित्यं च 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि' इत्यादि कविनिर्मितौ बोध्यम् ।
हृद्दैकशब्दयोः कर्मधारये एकशब्दस्य 'पूर्वकालैक-' इत्यादिना समासे पूर्वनिपाते
एकह्लादैत्यापत्तेरन्यथा व्याचष्टे—ह्लादेनेति । धान्येन धनमयो ग्राम इतिवदमेदे
तृतीया । एकशब्दो मात्रार्थः । स्वार्थे मयद् । ततश्चायं पर्यवसितोऽर्थः इत्याह—
ह्लादमात्रेति । मात्रपदेन दुःखमोहयोर्व्यवच्छेदः । इदं च सुखदुःखमोहस्वभावे-
तिव्यतिरेकप्रदर्शकसांख्यसिद्धान्तानुसारि वृत्तिग्रन्थानुरोधात्कार्यकारणयोरमेदमाश्रि-
त्योक्तम् । ह्लादमात्रप्रचुरामिति तु परमार्थः । कविवर्ण्यमानवियोगशोकादेरप्यलौकि-
कानन्दहेतुत्वात् । यत्तु 'विशेषणविशेष्यभावे कामचारात् ह्लादरूपं यदेकमित्येक-

मिति यावत् । अनन्यपरतन्नामिति । कवेस्तत्प्रतिभायाश्चान्यो य आत्मनः परस्तदायत्तत्वरहिताम् । परतन्त्रशब्द एवायत्तवचन इति कश्चित् । नवरसरुचिरामिति कर्मधारयः । वृत्तौ 'षड्सा न च ह्रैव तैः' इति व्यतिरेकद्वयदर्शनात् । न चैवं 'ह्रैव तैः' इति हेतुपदर्शनवैयर्थ्यम् । तैस्तिकादिसाधारणैः षड्सैरुपलक्षिता यतोऽतो न च ह्रैवेवेति तदर्थत्वात् । अस्तु वा तृतीयातत्पुरुष एव । न चैवं नवरसीति रूपप्रसङ्गः । त्रिगुणसत्त्विव इत्यादिवदुपपत्तेः । न च वृत्तिविरोधः । नवरसरुचिरत्वरूपविशिष्टधर्मव्यतिरेकस्तत्रत्यरसेषु नवत्वाभावेनायोगव्यवच्छेदिहृद्यत्वप्रयोजकत्वविरहेण चेति वृत्तिप्रतिपाद्यत्वात् । निर्मितिमादधतीति तृणोलपन्नायेन सामान्यविशेषभावेनान्वयान्न पुनरुक्तिः । अत्र निर्माणव्यतिरेकमुखेन चतुर्मुखात्कविभारव्याख्यव्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः । तथा

स्यैव विशेष्यत्वात्कर्मधारयेऽपि नैकहादेति प्रयोगः' इति कैश्चिदुक्तं तदयुक्तम् । 'पूर्वकालैक-' इति सूत्रस्य पूर्वनिपातनियमार्थत्वेन तथा प्रयोगापत्तेरनिवार्यत्वात् । नन्वन्यत्वपरत्वयोर्भारतीमात्रनिरूपितत्वविवक्षायामन्यतरपदस्य वैयर्थ्यम्, भारतीभिन्नकवितत्प्रतिभासापेक्षत्वेनासंभवश्चेत्यतो व्याचष्टे—कवेरिति । आत्मनो भारत्याः । यद्यपि शब्दार्थोभयात्मककाव्यरूपायां निर्मितौ शब्दांशे उपादानाद्यधीनत्वमस्येव, तथाप्यनिर्वचनीयार्थांशे तत्रितयातिरिक्तसमवायिकारणाद्यधीनत्वव्यतिरेको विवक्षित इति भावः । 'परतन्त्रः पराधीनः' इति कोषवाक्यात्परायत्तवचनः परतन्त्रशब्दः, नायत्तवचनः । भारतीभिन्नकवितत्प्रतिभाधीनत्वेनासंभवश्चेत्यस्वरसः कश्चिदित्यनेन सूचितः । कर्मधारय इति । नव रसा ग्रन्थां सा नवरसा सा चासौ रुचिरा चेत्येवं बहुव्रीहिगर्भ इत्यर्थः । नवरसै रुचिरेति तृतीयातत्पुरुषत्वाद्येनोक्तकर्मधारयाङ्गीकारे बीजमाह—वृत्ताविति । न चेति चकारेण व्यतिरेकद्वित्वावगतेरित्यर्थः । न चैवमिति । नियतद्वयत्वमात्रव्यतिरेककथने तैरिति व्यर्थम्, प्रत्युत विशिष्टव्यतिरेकबोधकतया विरुद्धान्येकमेवेत्यर्थः । तैरिति न करणे तृतीया । किं तुपलक्षणे । अतो न विशिष्टव्यतिरेके तात्पर्यमिति नोक्तदोष इत्याह—तैरिति । इतीति षष्ठ्यन्तम् । इतीत्यस्य तदर्थत्वादित्यर्थः । एवमपि तैरित्यस्य हेतुगर्भत्वादनुपयोग इत्यस्वरसादाह—अस्तु वेति । एवं द्विगुत्वे सति त्रिगुणेति त्रिष्वन्दस्य व्यवयवकपरत्वेन द्विगुत्वाभावाद्ययारूपप्रसङ्गो नेत्यर्थः । न चेति । व्यतिरेकद्वयप्रदर्शकप्रकाशविरोधश्च नेत्यर्थः । कथं तत्राह—नचेति । विशेषणविशेष्ययोर्व्यतिरेकद्वयस्य प्रदर्शनं विशिष्टव्यतिरेके द्वयोरपि प्रयोजकत्वमस्तीति प्रदर्शयितुमित्यर्थः । उत्तमकाव्यत्वसिद्धये वाच्यातिशयव्यङ्ग्यं दर्शयति—अत्रेति । कविभारतीनिर्माणस्य मुक्तावात्मकचन्द्रादेर्ब्रह्मनिर्माणात्प्रसिद्धे चन्द्रादेर्व्यतिरेक आधिक्यम् । 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः' इति दशमे व्यतिरेकालंकारतया वक्ष्यते । स च विशेषणैरेव स्फुट इति तद्वारा निर्मात्र्या भारत्या ब्रह्मापेक्षया व्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः । श्लिषोत्कर्षेण श्लिपिनोऽपि तत्प्रतीतेः । शक्त्येति । कारणतारूपयेत्यर्थः ।

हि—नियतेः शक्या नियतरूपा सुखदुःखमोहात्मकसत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयात्मकत्वाद्विश्वस्य सुखदुःखमोहस्वभावा, परमाण्वादि यत्समवायिकारणं तदीयश्च यः स्पन्दस्तत्प्रभृतिसहकारिपरतन्त्रा, मधुरादिषड्रसा च, न च मनोरमैव, तैः निर्मितित्वादिसादृश्यवती च ब्रह्मणो निर्मितिरिति सुप्रसिद्धमेव । एतद्विलक्षणनियतिकृतनियमरहितत्वादिधर्मवत्त्वेन तु कविभारती निर्दिष्टेति व्यक्तो व्यतिरेकः । यदेतादृशनिर्मितिशालिनी, अत एव जयत्युत्कर्षेण वर्तते, न तु वर्ततामित्यर्थः । तथा सत्युत्कर्षस्यासिद्धत्वेन नमस्काराक्षेपकत्वानुपपत्तेः । नन्वेतादृशे गुरुकर्मणि प्रेक्षावतामिष्टदेवताप्रणतिरवश्यं दृश्यते युक्तिमती च । तदनेन स्तुतिमात्रमाचरता यन्न कृता तदवलेपादज्ञात्वा । उभयथाप्यनवधेयवचनता प्रसक्ता । अथ कृतैव, तर्हि स्तुतिवन्नोपनिबद्धा विशेषाभावात्सैव वा किं नोपनिबद्धेति चेत्, उच्यते—न खलु नतिमात्रोपनिबन्धे स्तुतिर्निबद्धा भवति । स्तुतिनिबन्धे स्वर्थाच्चतिरपि निबद्धैव । यतो जयत्यर्थेन वक्तुर्विषयस्य च वैशिष्ट्यान्नमस्कार आक्षिप्यते । तेन तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते । यत्तु 'उत्तमकाव्यवसिद्धये व्यङ्ग्यं दर्शयति जयत्यर्थेन चेत्यादि' इति वृत्त्यवतारणं तदयुक्तम् । प्रणामरूपव्यङ्ग्यस्यानतिशयितत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वात् । तदर्थं चातिशयिनो व्यतिरेकालंकारस्यैवोपन्यासौचित्यादिति ॥

इहाभिधेयं ग्रन्थरूपमङ्गिनः काव्यस्य फलेन सफलमिति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं प्रतिपादयितुमाह—

अथवा व्याप्यव्यापकभावरूपयेत्यर्थः । नियतरूपा पद्मत्ववत्यवश्यं सौरभविशेषः पद्मत्ववत्येव च स इति च नियमवती । भारतीनिर्मितौ तु नैवम् । कान्ता-मुखसंनिधौ पद्मे तदभाववर्णनात्, मुखेऽपि तद्वर्णनाच्चेति भावः । विश्वस्येति । एकस्या एव कामिन्याः कंचित्प्रति सुखात्मकसत्त्वसमुद्भूतत्वम्, सपत्नीं प्रति दुःखात्मकरजःसमुद्भूतत्वम्, स्वमलभमानं प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतत्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मकत्वमिति सांख्यमतानुसारेणेदम् । भारतीनिर्मितौ तु रसायभावेऽप्यलंकारकृताह्लाद एवेति भावः । अतएव नवरसरुचिरामित्यनेन न पौनरुक्त्यम् । ब्रह्मनिर्मितेरूपमानसिद्ध्यर्थमाह—सादृश्यवती चेति । कविभारतीनिर्मितिरिति वक्तव्ये कविभारतीत्युक्तिर्भारतीकल्पिताया अनिर्वाच्याया निर्मितेर्भारत्यात्मकत्वमेवेतिभिप्रायेण । काव्यरूपाया भारत्या उत्कर्षस्याशंसनीयतया तात्पर्यविषयत्वन्नमनिरासायाह—नन्विति । वक्तुर्विषयस्य चेति । विषयः प्रतिपाद्यो देवतारूपः । वैशिष्ट्यमुपास्योपासकत्वरूपम् । आक्षिप्यते व्यज्यते । नन्वसदादीन्प्रति तद्व्यजने वक्तुः किमायातमत आह—तेनेति । इति वक्तुर्गतं ज्ञानं श्रोतुर्भिर्यज्जनया गम्यत इत्यर्थः ॥

ननु प्रकृतग्रन्थे प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं सप्रयोजनत्वं वाच्यम्, न तु तदुपेक्ष्य काव्यप्रयोजनकथनं युक्तिमत्याशङ्कामपाकर्तुमाह—इहेति । अभिधेयं 'शक्तिर्निपुणता—'

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

अत्र कृत्-वित्-युज्-शब्दा भावे क्बन्ताः । काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपु-
णस्वरूपस्य कवेरसाधारणं तादृग्वर्णनात्मकं कर्म । तत्कवेस्तावत्कालिदासादी-
नामिव यशः, श्रीहर्षादेरपादानाद्धावकादीनामिव धनम्, मयूरधर्मादीनामि-
वानर्थनिवारणं च करोति । सहृदयस्य तु काव्यश्रवणानन्तरमेव सकलप्रयोजने-
षूत्तमं स्थायिभावास्वादनसमुद्भूतं वेद्यान्तरसंपर्कशून्यं रसास्वादरूपमानन्दम्,
राजादिगतपृथिवीपालनादिसमुच्चिताचारपरिज्ञानम्, रामादिवद्वर्तनमिष्टसाधनं
न तु रावणादिवदित्युपदेशं च निर्मिमीते । काव्यास्वादनकाले कवेरपि सहृद-
यान्तःपातितया रसास्वादः । ननूपदेशार्थं नीतिशास्त्राण्येव सन्ति किं तत्र
काव्येनेत्यत उक्तं कान्तासंमिततयेति । शब्दस्तावन्निधा—प्रभुसंमितः, सुहृ-
त्संमितः, कान्तासंमितश्च । तत्राद्यः शब्दप्रधानो वेदादिः शासनाप्राधान्येन
विधिलक्षणः । स हि प्रभुरिव 'त्वमेवं कुरु' इति समाज्ञापयति । ततश्च नियुक्तः
संध्याबन्धनादौ निष्फलेऽपि प्रवर्तते । द्वितीयस्त्वर्थतात्पर्यवान्सिद्धार्थरूपः

इत्यादि वक्ष्यमाणग्रन्थरूपम् । तथा चाङ्गस्य स्वतन्त्रफलाभावात्प्रधानफलकथनमङ्ग-
भूतग्रन्थस्य फलवत्त्वबोधार्थमेवेति न निष्फलत्वं ग्रन्थस्य, न वा काव्यफलकथनस्येति
भावः । यथाश्रुतेऽभिधेयस्य प्रयोजनमाहेति वाच्ये सप्रयोजनमित्याहेतीति शब्दानर्थ-
क्यमपि बोध्यम् । क्बन्ता इति । तादर्थ्यं चतुर्थं इत्यपि ज्ञेयम् । लोकोत्त-
रेति । चमत्कृतिजनकेत्यर्थः । मुखादेशेन्द्राद्यात्मकत्वेन वर्णनायाश्च शब्दार्थाश्रय-
त्वात्तयोरपि तद्विशिष्टतया कविकर्मत्वमविरुद्धमिति वक्ष्यमाणलक्षणासंगतिः । अस्य
लक्ष्यतावच्छेदकत्वाच्च न तद्वैयर्थ्यमिति बोध्यम् । यश इत्यादेः करोतीत्यनेनान्वयः ।
श्रीहर्षाख्यस्य राज्ञो नाम्ना रत्नावलीनाटिकां कृत्वा धावकाख्यकविर्बहुधनं लेभे इति
प्रसिद्धम् । तथा मयूरकविः सूर्यशतकेन कुष्ठाभिस्तीर्ण इत्यपि । अनर्थः पापं तत्फलं
च शिवेतरपदार्थः । सद्यःपरपदार्थाबाह—अनन्तरमेवेत्यादिः । उत्तमत्वं च
सुखस्य स्वतःपुमर्थत्वात् । अन्येषां तु सुखसाधनत्वादपकृष्टत्वम् । वक्ष्यमाणस्वरूपस्य
रसस्य प्रागसिद्धत्वेनास्वादनरूपत्वेन च तदास्वादनसंभवात्तस्यैव चानन्दत्वेन तत्स-
मुद्भूतत्वासंभवादाह—स्थायीति । तथा च रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसपदं रसादि-
स्थायिभावपरमिति भावः । विभावादीनामप्यास्वादविषयत्वेऽपि प्राधान्यात्स्थायि-
मात्रोपादानम् । आस्वादनं चैषां मुहुर्मुहुर्विभावनम् । रसरूप आस्वादो रसास्वादः ।
संमितशब्दस्तुल्यपर्यायः । शब्दस्तावदिति । उपदेशकशब्द इत्यर्थः । शब्दप्र-
धान इति । विधिरूपशब्दबलादेव प्रवर्तक इति तदनुसारेणैव फलरूपार्थलाभः,
न तु फलवशेन तदन्यथात्वकल्पनेति शब्दप्राधान्यम् । तदाहुः—'न विधौ परः
शब्दार्थः' इति लाक्षणिकोऽर्थ इत्यर्थः । शासनेति । प्रवर्तनारूपशब्दभावनेत्यर्थः ।
निष्फलेऽपीति । स्वर्गादिफलरहितेऽपीत्यर्थः । प्रत्यवायपरिहारस्य तत्रापि फल-

पुराणेतिहासादिः । स हि सुहृदिव 'एवं कृते हृदमिष्टं भवति, एवं च कृते हृदमनिष्टम्' इत्येतावन्मात्रं बोधयति, न त्वाज्ञापयति । तृतीयस्तु ताम्ब्यां विलक्षणो रसप्रधानः काव्यलक्षणः । तत्र हि रसाङ्गभूतो यो व्यापारो विभावादिसंयोजनात्मा व्यञ्जनारूपो वा तन्निष्पाद्यरसादिव्यक्तिनिष्पादकतया शब्दार्थयोर्द्वयोरपि गुणत्वाद्दसस्यैव प्राधान्यम् । स च कान्तासंमितत्वेनोपदेशं करोति । तेनैतदुक्तं भवति—ये सुकुमारमतयोऽतिसुखिस्वभावा राजकुमारादयो नीरसे नीतिशास्त्रे प्रवर्तयितुमशक्यास्तान्काव्यं कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्योपदेशं ग्राहयति—गुडजिह्विकया शिशूनिवौषधम् । यदाहुः—

‘स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते ।

प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥’

यत एतावदिष्टविशिष्टं काव्यम्, अतः सर्वथा तद्वेतरुपादेयः ॥

नन्वेवमप्यभिधेये किमायातम्, किं च हेतुमज्ञात्वा तदुपादानं कथं स्यादित्यपेक्षायां काव्यज्ञशिक्षारूपतया काव्याङ्गत्वं ग्रन्थस्य प्रतिपादयन्नेव कारणान्तरमप्याह—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्याज्ञशिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

शक्तिः कवित्वबीजभूतो देवताप्रसादादिजन्मा संस्कारविशेषः प्रतिभाव्यपदेश्यः । तस्याः कारणतायां किं मानमिति चेत्, निपुणतादिकारणान्तरसद्भावेऽप्यनुपहसनीयकाव्यप्रसरस्य कार्यस्य व्यतिरेकः । स च विशेष्यस्य काव्य-

त्वोपगमात् । अर्थस्तात्पर्यवानिष्टानिष्टार्थबोधनमात्रपरः । सिद्धो विधेयोऽर्थो यस्य तद्रूप इत्यर्थः । रसप्रधानो रसप्रतीत्युद्देशकः । विभावादीनां संयोजनं समूहालम्बनम् । अथवा प्रभुसंमिते शब्दप्राधान्याच्छब्दार्थपरत्वम् । पुराणादावर्थवादरूपतया लाक्षणिकार्थपरत्वम् । काव्ये तु रसरूपव्यञ्ज्यप्राधान्याद्व्यञ्जनैव रसाङ्गभूतव्यापारो ग्राह्य इत्याह—व्यञ्जनारूपो वेति । शब्दार्थयोर्व्यञ्जनास्वरूपनिष्पादकत्वाभावाद् व्यञ्जनाफलोपकार्याङ्गत्वं तयोरित्याह—तन्निष्पाद्येति । कान्तासाम्यमाह—सरसतेति । कान्तारसो लौकिकशृङ्गारः । काव्ये त्वलौकिको मुख्यः । अभिमुखीकृत्य आस्वादाने सादरीकृत्य । कान्तोपदेशस्तु स्वसमीहितवसनालंकारादिसंपादनरूपः । काव्योपदेशस्तु रामादिवदिति प्रागेवोक्तः । कारिकातात्पर्यार्थमाह—यत इति ॥

अभिधेये प्रकृतग्रन्थे । संस्कारोऽहं तद्विशेषः । विशेषमेवाह—प्रतिमेति । काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा । तथा कार्येण विशेषतो व्यवहार्यः । तद्वेत्तुभूत इति यावत् । तस्या इति । शक्तेरित्यर्थः । व्युत्पत्त्यभासाप्रतिभोत्पत्त्या काव्यसंभवादिति भावः । समाधत्ते—निपुणतादीति । तथा च निपुणतादिजन्यप्रतिभायामप्यनुपहसनीयत्वविशिष्टकाव्यानुत्पत्तेस्तदवच्छिन्ने शक्तेरेव हेतुत्वमित्यर्थः । एवं च शक्तिजन्यतावच्छेदकं प्रतिभागतं वैजात्यं विजातीयकाव्यजन-

प्रसरस्य, विशेषणस्यानुपहसनीयत्वस्य वा व्यतिरेकात्सर्वत्राविशिष्टः । न चैवं कारणान्तरं किञ्चिदायातु न तु शक्तिरिति वाच्यम् । प्रसिद्धातिरेकिण्येव तद्वेतौ शक्तिव्यपदेशात् । लोकः स्थावरजङ्गमात्मकलोकस्य वृत्तम् । योगादुपचाराद्वा । धर्ममात्रपरामर्शस्य व्युत्पत्त्यनाधायकत्वात् । शास्त्रं छन्दःशास्त्रादि । काव्यं महाकविप्रणीतं रघुवंशादि । आदिग्रहणादितिहासादि । तेषां विमर्शनाद्बहुवृत्तिर्निपुणता । काव्यज्ञशिक्षा काव्यं कर्तुं रसानुगुणतया प्रबन्धादौ घटयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशः । तया करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरभ्यासः । इतिशब्दो मिलितोपस्थापनाय । अन्यथा तद्वैयर्थ्यमेव स्यात् । तथा च काव्यस्योद्भव उत्कृष्टोत्पत्तिः । तथा कार्येण मिलितानामुपधानम् । दण्डचक्रादीनामिव घटेन । न तु मिलितत्वेन कारणतैवेति भ्रमः कार्यः ॥

कतावच्छेदकमिति न व्यभिचारः । यां विनेति । प्रकाशस्याप्यनुपहसनीयत्वविशिष्टकाव्ये शक्तेर्व्यतिरेकव्यभिचाराभावप्रतिपादने तात्पर्यमनेनोक्तम् । कारणान्तरं विजातीयव्युत्पत्तिरूपम् । न तु शक्तिरिति । उक्तादृष्टरूपेत्यर्थः । प्रसिद्धेति । तथा च तदेव शक्तिपदार्थोऽस्त्वित्यर्थः । शक्नोत्यनया काव्यं कर्तुमिति व्युत्पत्तेः । वस्तुतस्तदवच्छिन्ने उक्तादृष्टमेव हेतुरिति तन्निराकर्तुं शक्यमिति भावः । रसादिविषयकवासनाविशेषस्तु निपुणतैवेति न सा शक्तिपदार्थ इति ज्ञेयम् । केचिच्च यां विनेति ग्रन्थं शक्तिद्वयाभिप्रायेण व्याचक्षते—यां निर्माणशक्तिं विना काव्यं न प्रसरेन्न भवेत् । यां च बोद्धशक्तिं विना निर्माणशक्त्या प्रसृतमप्यनुपहसनीयं स्यात् । चमत्कृतेरसंपत्तेरिति । तदयुक्तम् । अस्येति प्रकृतकाव्यपरामर्शात्कारणशक्तेरेव वक्तव्यतया बोद्धशक्तिरन्यस्यासंगतत्वात् शक्तिद्वयपरत्वे शब्दस्वारस्यभङ्गाच्च । समुल्लासे चेलनेनानुपहसनीयत्वस्यैव कथनादिति । योगाल्लोक्यत इति लोकव्युत्पत्तेः । रूढिप्रावल्यादाह—उपचाराद्वेति । उपचारो लक्षणा । छन्दःशास्त्रादीति । आदिना प्रकाशोक्तव्याकरणादिपरिग्रहः । इतिहासादीति । आदिना पुराणवृद्धत्वादिसंग्रहः । विमर्शनात्पुनःपुनः श्रवणात् । व्युत्पत्तिस्तत्तदर्थरसादियोचरसंस्कारः । रसानुगुणतयेति । यो रसः प्रकान्तस्तदानुगुण्येन वर्णनात्मकं काव्यं तत्प्रक्रमे निवेशनीयम्, न तद्विरोधि । अन्यथा रसव्याघातापत्तेरित्यर्थः । इदं च योजनाज्ञानं दोषाभावादिवैविध्यप्रयोजकतया काव्यहेतुः । मिलितेति । शक्त्यादिसमुदितेत्यर्थः । वैयर्थ्यमुपलक्षणम् । हेतुरित्येकवचनानुपपत्तेः । तथा च समुदायाभिप्रायमेकवचनम् । हेतुत्वं च फलोपधायकत्वरूपं त्रिवेकरूपमित्यभिप्राय इत्याह—तथेत्यादि । उपधानं प्रयोजकत्वरूपः संबन्धः । दण्डेत्यादिदृष्टान्तैव तृणारण्यादिवद्वैकल्पिकहेतुत्वनिरासः । तेषामन्योन्यनिरपेक्षतया कार्योत्पत्तिप्रयोजकत्वेन समुदायस्य तथात्वविरहादिति । कारणतैव स्वरूपयोग्यतैव । मानाभावाद्दण्डादिष्वपि तथात्वापत्तेश्चेति भावः ॥

एवं कारणमुक्त्वा काव्यस्य लक्षणमाह—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि ।

निर्दोषत्वादिविशेषणविशिष्टौ शब्दार्थौ तत्काव्यमिति व्यवहर्तव्यौ । गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम् । न त्वलंकारेऽतिव्याप्तिः । सालंकारत्व-विशेषणानुपादानादिति न वाच्यम् । यतः कापीत्यनेनैतदुक्तम्—यत्सर्वत्र सालं-कारौ शब्दार्थौ काव्यम्, क्वचित्स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः, नञो-ऽलपार्थत्वात् । अल्पत्वस्य चात्रास्फुटत्व एव विश्रामात् । नीरसेऽप्यस्फुटालंकारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः । वयं तु पश्यामः—नीरसे स्फुटालंकारविर-हिणि न काव्यत्वम् । यतो रसादिरलंकाराश्च द्वयं चमत्कारहेतुः । तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालंकारापेक्षा, अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—
“अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलंकारविरहेऽपि छायातिशयं पुष्पाति ।
यथा—

‘मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभवः ।

येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥’

लक्षणमिति । लक्ष्यते इतरव्यावृत्ततया ज्ञायतेऽनेन लक्ष्यपदार्थ इति लक्षणम् । अनेन स्वं रूप्यतेऽनेनेति स्वरूपपदं प्रकाशस्थं व्याख्यातम् । तथा हि चमत्कृतिजन-कीभूतं वर्णनं काव्यमित्युक्ते चमत्कृतिजनकतावच्छेदकरूपस्येष्टतावच्छेदकस्याज्ञानम् । तत्र प्रवृत्त्ययोगात् । तत्कथनं काव्यशिक्षारूपे ग्रन्थे क्रियत इत्यर्थः । प्रागुक्तस्य वर्णनात्मकलक्ष्यतावच्छेदकस्य शब्दार्थोभयाश्रितत्वात् । कविप्रौढोक्तिकल्पितत्वस्य चार्थ एव सद्भावात् । अर्थचित्रस्याभ्यर्हितत्वाच्च अर्थविशिष्टशब्दस्यैव तत्त्वानौचि-त्यादुभयोपादानम् । तत्र च ‘नामरूपे’ इत्यादौ वेदे, ‘वागर्थोविब’ इत्यादौ लौकिके प्रयोगे शब्दप्राथम्यात् शब्दोद्भवत्वाच्चार्थस्य शब्दप्राथम्यम् । तत्र शब्दप्रयोजनावै-चित्र्ये शब्दः काव्यम् । अर्थप्रयोजनावैचित्र्येऽर्थः । उभयवैचित्र्ये द्वयमपि । न तु काव्यत्वमुभयपर्याप्तम् । योनिरूपस्यालंकारादिवैशिष्ट्यरूपस्य वा व्यासज्यवृत्तित्वा-योगात् । ‘एको न द्वौ’ इतिवलोकेवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तेश्च । उभयवै-चित्र्ये काव्यद्वयमिति व्यवहारः स्यादिति चेन्न । विजातीयैकचमत्कृतिजनकत्वेनैकत्व-स्यैव व्यवहारात् । ‘काव्यमुच्चैः पठ्यते’, ‘काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः’ इत्यादि व्यवहा-रश्च शब्दांशे नोपपन्न एव । अर्थमात्रवैचित्र्ये तु काव्यशब्दस्य शब्दमात्रपरतयो-पपन्नः । ‘काव्यं बुद्धम्’ इत्यादिव्यवहारश्चार्थस्य काव्यत्वसाधको ज्ञेय इत्यलं विस्त-रेण । गुणस्येति । जातावेकवचनम् । ‘ये रसस्याङ्गिनो धर्माः’ इत्यष्टमे रसनिष्ठत्वं गुणानां वक्ष्यते । तद्व्यञ्जकेति । ‘मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः’ इत्यादि वक्ष्यमाणवर्णयोज-नापरमित्यर्थः । अतो नासंभवः, नापि नीरसेऽव्याप्तिरिति भावः । ऋजुरिति । चमत्कृतिजनकत्वाभावात्काव्यत्वमयुक्तमित्यस्वरसोऽत्र सूचितः । ‘अत एव’ इत्या-

इत्यादौ । अत्र झङ्गुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्पाति ।” इति । नीरसे तु यदि न स्फुटोऽलंकारः स्यात्तत्किंकृतश्चमत्कारः स्यात् । चमत्कारसारं च काव्यमित्यवश्यं स्फुटालंकारापेक्षा । अनलंकृती पुनः क्वापीत्यनेनाप्यस्फुटालंकारस्य क्वचिदेव काव्यत्वम्, यत्र रसादिः स्फुटः । न तु सर्वत्रेत्येतदेव प्रतिपाद्यते । तस्मात्सालंकारत्वमात्रं न विशेषणम् । किं तु स्फुटालंकाररसान्यतरवत्त्वम् । न चैवमपि रसवत्यनलंकारे काव्यत्वप्रसङ्गो दोषाय, इष्टापत्तेः । यथोदाहृते ‘मुनिर्जयति’ इत्यादौ । यदि श्रद्धाजाल्ब्येन तत्रापि न काव्यत्वक्षमा, तदा सालंकारत्वे सतीत्यपि पूरणीयमिति ।

स्फुटालंकारविरहे काव्यत्वं यथा—

‘यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवासि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥’

अत्र रूपकादीनामसंभव एव । अस्मीत्यस्य विभक्तिविपरिणामादस्तु दीप-

रभ्य ‘मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्पाति’ इत्यन्तो ध्वनिग्रन्थः । छाया कान्तिः । चमत्कृतिरिति यावत् । एतदेवेति । अन्यथा हि सालंकारावित्येव ब्रूयादिति भावः । उदाहरणं वृत्तौ तदर्थश्चोदाहरणचन्द्रिकायामस्मत्कृतायां सविस्तरं द्रष्टव्यः ।

१. ‘इति’ ख-पुस्तके नास्ति. २. ‘स्वाधीनपतिका काचिदसंकुदुपमुक्तेष्वपि वरोप-
करणादिषूक्तण्डोत्पत्त्या तेषामत्यन्तोपादेयतां सूचयन्ती सखीमाह—यः कौमारेति । अत्र
दिशब्दस्य यद्यपीत्यर्थकतया अस्तिक्रियाध्याहारेण च यः कौमारहरो वरः स एव यद्यप्यस्ति,
चैत्रक्षपास्ता एव यद्यपि सन्ति, उन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलास्ते च यद्यपि
सन्ति, असि च सैव यद्यप्यसि, तथापि तत्र रेवारोधसि तत्र वेतसीतरुतले तत्र सुरत-
व्यापारलीलाविधौ चेतः समुत्कण्ठत इत्यन्वयः । कौमारं बाल्यं परमरसिकतया तदवस्था-
यामपि संभोगेच्छोत्पादनेन हृतबांश्चोरितवानिति कौमारहरः । ततश्चाकृत्रिमप्रेमपात्रताप्रक-
टनेनानुरागदार्ढ्यध्वननम् । त्रियते प्रियत्वेन स्वयमस्वीक्रियत इति वरः । तेनोभयानुरा-
गलाभः । स एव । उपमुक्तान्यो नेत्यर्थः । चैत्रस्य क्षपा रात्रयस्ता एवेति पूर्ववत् ।
उन्मीलिता विकसिता या मालती तथा सुरभयः शोभनगन्धाः । मालती च वासन्तीलता ।
न तु जातिः, चैत्रे तस्या असंभवात् । प्रौढा रत्युदीपनादिप्रागल्भ्यशालिनः । अतो मन्द-
त्वेऽप्यविरोधः । कदम्बस्य धूलीकदम्बाल्यपुष्पविशेषस्य संबन्धिनः, सर्वदिक्संचारित्वेन
कदम्बाकारा वा अनिला वायवः । वसन्ते कदम्बान्तरस्यासंभवात् । चोऽवधारणे । अत
एवेत्यर्थः । अत्र च प्रौढा इति छिष्टविशेषणबलान्मालत्यनिलयोनायिकानायकत्वप्रतीतिः ।
चकारोऽप्यर्थो भिन्नक्रमः । अस्मीत्यहमर्थकमव्ययम् । अन्यथा सैवेत्यसोद्देश्यलाभात् ।
सैवेत्यस्योत्कण्ठाहेत्ववस्थान्तरं न प्राप्तेत्यर्थः । तथापि एतेषामसंकुदुपभोगेऽपि । तत्रेत्युपमुक्त-
इत्यर्थकं सप्तम्यन्तं त्रितयेऽप्यन्वेति । तेन सुरतलीलाविधिरपि नान्यादृशो येन क्रीडास्था-
नैक्येऽप्युत्कण्ठा स्यादिति व्यज्यते । रेवाया नर्मदाया रोधसि तीरे । वेतसीलता विशालतया

कसिति चेन्न । अस्मीत्यस्याहमर्थकाव्ययत्वात् । अत्रास्मि करोमीतिवत्क्रिया-
वदत्वेऽपि न दीपकत्वम् । तदन्वयिनां सर्वेषामेव प्राकरणिकत्वात् । दीपकस्य
तु प्राकरणिकाप्राकरणिकविषयत्वात् । सादृश्याप्रतीतेश्च न तुल्ययोसिता । समु-
च्चयोऽपि वक्ष्यमाणलक्षणो न संभवत्येव । अतादृशश्च न चारुत्वहेतुः । विशेषो-
क्तिविभावेन विद्यमाने अपि न स्फुटे । कथमिति चेत्, इत्थम्—विशेषोक्ति-
स्त्वावत्कारणसत्त्वेऽपि कार्याभाववचनम् । अत्र चानुत्कण्ठाकारणं वरोपकरणयो-
रुपभुक्तता । तत्सत्त्वे यद्यप्यनुत्कण्ठाभाव उत्कण्ठारूपो निर्दिष्ट एव, तथापि
नानुत्कण्ठाभावत्वेन, किं तुत्कण्ठात्वेनैव । तस्मादस्फुटत्वमस्याः । यदि चेतो-
ऽनुत्कण्ठितं नेत्यभिधीयेत तदा स्फुटत्वं भवेत् । एवं कारणाभावेऽपि कार्योत्प-
त्तिवचनं विभावना । अत्र चोत्कण्ठाकारणं वरोपकरणयोरतत्ता । तदभावश्च
यद्यप्युक्त एव तथापि नातत्ताविरहत्वेन, किं तु तत्तारूपेणैव । अभावाभावस्य
तत्त्वात् । अतोऽस्या अस्फुटत्वमेव । न च स एवेत्येवकारेणातत्ताभावप्रतीतेरत-
त्ताभावत्वेन प्रतीतौ कथमस्फुटत्वमिति वाच्यम् । विशेषणसंगतेनैवकारेण
विशेष्ये विशेषणायोगस्य व्यवच्छेदो हि प्रत्याख्यते, न तु विशेषणाभावाभाव
एवाहृत्य । पर्यवसानं तु तत्रेत्यस्फुटत्वमेव । एवं विशेष्यसंगतेनाप्येवकारेण
विशेष्यभिन्ने विशेषणाभाव एव नाहृत्य प्रत्याख्यते, किं तु विशेषणयोगाभाव

इवाद्यभावेनोपमाया असंभवः स्पष्ट इति रूपकादीनामित्युक्तम् । अत्रास्मीति ।
अन्यत्र 'युयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः' इति वक्ष्यमाणोदाहरणवदि-
त्यर्थः । सादृश्येति । तद्वमकतयैव तस्याश्वमत्कारित्वेनालंकारत्वादित्यर्थः । वक्ष्य-
माणेति । एकस्मिन्कार्येऽनेककारणोक्तिरित्येके । गुणक्रियायौगपथात्मा चापरो
वक्ष्यते । स तु नात्रेत्यर्थः । अतत्तानुपभुक्तता । विशेषणायोगस्य विशेषणसंबन्धा-
भावस्य । एवं विशेष्येति । वस्तुतस्तु ततैवात्र विशेषणमिति प्रसङ्गाद्विशेष्यसंग-

लतान्तराश्रयत्वेन च तरुः । तद्वेष्टितो वान्यस्तरुः । तस्य तलमधोदेशस्तस्मिन् । सुरतानु-
कूलव्यापाररूपा या लीला कुसुमाभरणादिप्रसाधनादिरूपा स्मितालेषचुम्बनादिरूपा वा
तस्या विधौ संपादने चेतोऽन्तःकरणं समुत्कण्ठत उत्सुकं भवतीत्यर्थः । अत्र वरोपकरणा-
दीनामनुपभुक्तत्वस्य प्रसिद्धस्य कारणस्याभावेऽपि तत्कार्यस्योत्कण्ठारूपस्योत्पत्तिकथनरूपा-
विभावनालंकारः । वरोपकरणादीनामत्यन्तोपादेयत्वस्याप्रसिद्धस्य कारणस्य विभावनात् ।
अस्फुटत्वं चानुपभुक्तत्वाभावेनाकथनात् । एवमसकृदुपभुक्तत्वरूपकारणसत्त्वेऽप्यनुत्कण्ठारू-
पकार्यस्याभावकथनाद्विशेषोक्तिरप्यलंकारः । पूर्वत्रानुपभुक्तत्वरूपकारणाभावत्वेनाकथनादि-
हाप्यनुत्कण्ठारूपकार्याभावेनाकथनादस्फुटालंकारोदाहरणत्वम् । पार्थन्तिकास्वादहेतुश्चात्र
विप्रलम्भः । स्वाधीनपतिकाया अपि क्रीडास्यानाप्राप्त्यादिना सुरतप्रतिबन्धे तत्संभवात् ।
सविसर्गगुरुरेफानुप्राप्तौ विप्रलम्बीयमाधुर्यान्ननुगुणत्वादचमत्कारित्वेनास्फुटः । एवं चैत्रक्षपाः
प्रौढा इत्येतन्मध्यगतत्वाद्गुन्मीलितमालतीत्यस्याप्यस्फुटतेति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

एवाहत् । पर्यवसानं तु तत्रैत्यस्फुटत्वमेव । एवं विशेष्यसंगतेनाप्येवकारेण विशेष्यभिन्ने विशेषणभाव एव नाहत् प्रत्याच्यते, किं तु विशेषणयोगाभावे इति द्रष्टव्यम् । अत एव 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यादौ 'नापाण्डुरः', 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादौ च 'नान्यो धनुर्धरः' इत्यादिः कदाचित्स्फुटत्वार्थं प्रयुज्यते । दण्ड्यप्याह—'त्वन्मुखं त्वन्मुखेनैव तुल्यं नान्येन केनचित्' इति । अन्यथा पुनरुक्तिस्तत्र स्यादिति । अनयोरस्फुटत्वे च संदेहरूपसंकरोऽप्यनयोरस्फुट इति विभावनीयम् । शृङ्गाररूपरसस्य स्फुटत्वादसवदलंकारः स्फुट इति चेन्न । रसस्यात्र प्राधान्यात् । अप्राधान्य एव तस्यालंकारत्वोपगमात् ।

अर्वाचीनास्तु—“यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात् । दोषाणां दुर्वारत्वात् । तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति तल्लक्षणम् । तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव । परं त्वपकर्षमात्रम् । तदुक्तम्—

‘कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।

दुष्टेऽपि मत्ता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥’ इति ।

एवं चालंकारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रम् । नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौणः” इत्याहुः ॥

अथास्य भेदांस्तल्लक्षणानि चाह—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्धनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

तैवकारार्थप्रदर्शनं बोध्यम् । संदेहेति । वरोपकरणादेरत्यन्तरमणीयताया रसोद्धो-
धजनिकाया उभयथापि सिद्धिरिति भावः । रसवदलंकार इति । वस्त्वलंकार-
रसरूपस्य त्रिविधस्यापि व्यङ्ग्यस्य वाच्योपस्कारकतयालंकारत्वमेवेति भावोद्धो-
धमृतिचिरंतनालंकारिकमतेनेयं शङ्का । अर्वाचीना इत्यखरससूचनम् । तद्वीजं तु—
वस्त्वलंकारप्रधानेषु काव्येषूक्तलक्षणस्याव्याप्तिः । न चेष्टापत्तिः । महाकविप्रदाय-
भक्तप्रसङ्गात् । लक्ष्यानुसारेण हि लक्षणव्यवस्था, न तु वैपरीत्येन । वर्णितानि च
महाकविभिर्जलप्रवाहवेगादीनि कपिबालादिचरितानि चेति । यत्तु दोषरहितं काव्यं
दुर्लभमिति 'न्यकारो खयं' इत्यादौ, 'तथाभूतां दृष्ट्वा' इत्यादौ काव्यत्वं सर्वानुभवसिद्धं
नोपपद्यत इति, तत्रोच्यते—दोषत्वं शुद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम् । तन्नानुभवबला-
त्तत्त्वव्यङ्ग्यवाच्यवैचित्र्यप्रतीतिविरहविशिष्टदोषस्य तद्वानस्य चेति 'न्यकारः' इत्यादौ
विशिष्टाभावसंभवान्न काव्यत्वक्षतिः । यस्य च न व्यङ्ग्यवैचित्र्यप्रतीतिस्तं प्रति दुष्ट-
त्वाभिप्रायेण तदुदाहरणम् । अत एव 'वक्त्रायौचिल्यवशादोषोऽपि गुणः कवित्वं'
इति वक्ष्यते । तथा अप्रतीतत्वं तच्छास्त्रज्ञं प्रत्यदोषः, अन्यं प्रति तु दोष इति
'कीटानुविद्धः' इत्यस्यापि रसादिवैचित्र्ये दुष्टस्यापि काव्यत्वम् । विशिष्टदोषविरहा-
दिति तात्पर्यमिति दिक् ॥

अथेति । सामान्ये ज्ञाते विशेषजिज्ञासोदयादिति भावः । प्रकाशे भेदपदं भाव-

इदं काव्यं वाच्यादतिशयिन्यधिकचमत्कारकारिणि व्यङ्ग्ये उत्तमम् । पटा-
दिभिः पदैः स्फोटरूपं शब्दब्रह्म व्यज्यते । तस्मादभिव्यक्तार्थप्रत्ययः । तादृशस्य
स्फोटव्यञ्जकस्य पटादिशब्दस्य ध्वनिरिति संज्ञेति वैयाकरणानां सिद्धान्तसरणिः ।
अतः प्रधानीभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वसाधर्म्याद्गुणीभूतवाच्यं यद्व्यञ्ज्यं तद्व्यञ्जनक्ष-
मस्य शब्दार्थयुगलरूपस्योत्तमकाव्यस्य बुधैर्ध्वनिपण्डितैर्ध्वनिरिति संज्ञा कृता ।
यथा—

‘निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो

नेत्रे दूरमनजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे

वार्पीं ज्ञातुमिहो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥’

करणव्युत्पत्तिभ्यां विभागविशेषलक्षणोभयपरं व्याख्यातम् । उत्तमस्य ध्वनिसंज्ञायां
हेतुमाह—पटादिभिरिति । पटशब्देन पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसहकृतोऽन्त्यवर्ण एवो-
च्यते । पद्यतेऽजनेति व्युत्पत्तेः । स्फोटेति । स्फुटयत्यर्थमिति स्फोटः । स च ताव-
द्गोपाध्यनुगतब्रह्मरूप इत्यर्थः । तदभिव्यक्तिश्च तद्विषयाज्ञाननिवृत्तिः । मुख्यार्थ-

१. ‘युगलस्योत्तम’ ख-ग. २. ‘नायकानयनाय प्रेषितां तं संभुज्यागतां दूतीं प्रति
विदग्धोत्तमनायिका ज्ञानकार्यत्वप्रतिपादनमुखेन संभोगचिह्नान्युद्धाटयितुमाह—निःशेषेति ।
अवि मिथ्यावादिनि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे दूति, इतो वार्पीं ज्ञातुं गतासि न पुनस्तस्या-
धमस्यान्तिकम् । यतस्तव स्तनतटं निःशेषच्युतचन्दनमित्याध्वनयः । मिथ्यावादिनि मया
गत्वा बहुधा प्रसादितोऽपि नागत इति मिथ्याभाषणशीले । बान्धवजनस्य मद्रपस्याज्ञातः
स्वार्थपरायणतयानाकलितः पीडाया आगम आगमनं यया तथाविधे । दूति, न तु सखि ।
तेन मिथ्याभाषणशीलत्वस्य योग्यता व्यज्यते । इतो ममान्तिकाद्वार्पीं प्रति ज्ञानाय
गतासि । ज्ञानकालानतिक्रमलोभात् । पुनरिति पुनरेवायं । नैवेत्यर्थः । तस्य बहुधा कृता-
पराधस्य । अत एवाधमस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखप्रयोजककर्मशीलस्य । अन्तिकं समीपं
गतासीत्यनुषङ्गः । उक्तार्थे साधकमाह—निःशेषेत्यादि । तवेत्यस्य स्तनतटादिभिः सर्वै-
रन्वयः । यतस्तव स्तनयोस्तटं प्रान्तसमदेशः । निःशेषं च्युतं स्खलितं चन्दनं यस्मात्तथा-
भूतम् । न तु स्तनसंघादि । वार्पीगतबहुलयुवजनत्रपापारवशार्दसद्रयलगाप्रस्वस्तिकाकृ-
तिभुजलतायुगलेन तटस्यैवोन्नततया मुहुः परामर्शात् । अत एव च्युतमित्युक्तम्, न तु
क्षालितमिति । युवजनसंमर्देन तत्राप्यनवकाशात् । व्यङ्ग्यपक्षे तु—मर्दनाधिक्यात्तटमेव
तथाभूतमिति व्यक्तमेव । एवमधरो निर्मृष्टरागः निःशेषं मृष्टो रागो यस्य स तथा । उक्ता-
नत्वेन बहुलजलसंबन्धात् । न तूत्तरोष्ठः । न्युञ्जतया तत्सर्वबन्धमान्धात् । व्यङ्ग्यपक्षे तु—
चुम्बनकृतं तथात्वमिति । किं च, नेत्रे दूरमुपरिभाग एवानजनेऽज्जरहिते । ज्ञानकाले
मुद्रणान्मध्ये जलसंसर्गाभावात् । व्यङ्ग्यपक्षेऽपि प्रान्त एव चुम्बनविधानादनजनत्वम् ।
तथा इयं तव तनुस्तन्वी कृशा । अत एव शीतवशात्पुलकिता पुलका रोमोद्गमाः संजाता
अस्याः सा तथाभूता । व्यङ्ग्यपक्षे तु—सुरतरससरणात्पुलकोद्गमः । एवं विदग्धाया गूढ-

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते । नन्वत्र मुख्यार्थबाधाद्विपरीतलक्षणया तदन्तिकमेव गतासीति लक्ष्यमेव युज्यते, न तु व्यङ्ग्यम् । अन्यथा 'साहेन्ती' इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणाभूतव्यङ्ग्यज्ञानोदाहरणेऽपि विपरीतलक्षणा न स्यात् । विशेषाभावादिति । अत्र केचित्—'सत्यमत्र विपरीतलक्षणा । वृत्तिग्रन्थस्तु तदन्तिकमेव गतासीत्यत्र लक्ष्यत इति शेषकल्पनया योजनीयः । व्यज्यत इति रन्तुमित्यनेनैवान्वीयते' इत्याहुः । परमार्थतस्तु न खलु मुख्यान्वयायोग्यत्वं स्वरूपसल्लक्षणायां बीजम्, किं तु ज्ञातम् । तथा च यत्र सख्यादेः प्रसाध्य(ष) कामुकासंभोगः प्रमाणान्तरेण श्रोतुः प्रतीतिमुपगतस्तत्र मुख्यार्थबाधादस्तु लक्षणा । तदभिप्रायेणैव 'साहेन्ती सहि सुहर्ष', 'उपकृतं बहु नाम' इत्युदाहृतम् । यत्र तु प्रमाणान्तरं न तज्ज्ञापकमवतरति तद्वाक्यजनितप्रत्ययमहिम्नैव तु तत्प्रत्ययस्तत्र कथं लक्षणा । बाधाभावात् । उत्पन्नेऽपि वाक्यार्थबोधे भवन्नपि बाधोऽकिञ्चित्कर एव । तदभिप्रायेण वार्पी-स्नातु-मित्युदाहृतम् । अत एवोक्तं 'अधमपदेन व्यज्यते' इति । अत एव च यत्र सख्यादेस्तादृशत्वं न प्रमाणान्तरेणावगतं तत्र न 'साहेन्ती' इत्यादौ विपरीतलक्षणा, व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्वा । वार्पी स्नातुमित्यादौ तु बाधानवतारेऽप्यधमपदार्थपर्यालोचनाया यथोक्तव्यङ्ग्यं प्रतीयत एव । इत्येव प्राधान्यमधमपदस्य ।

बाधादिति । वापीस्नानगमनरूपवाच्यार्थबाधादित्यर्थः । अध्याहारोऽन्वयकेशो व्यङ्ग्यस्य लक्षणाभूतत्वादधमपदेनेत्युक्तेरसामञ्जस्यं चेत्तरुचिः केचिदित्यत्र बोध्या । प्रसाध्यो(यो) नायिकाभिमुखीकार्यः । तज्ज्ञापकं बाधकज्ञापकम् । **बाधाभावादिति ।** वाक्यार्थबोधात्प्रागित्यादिः । अत एव एवमभिप्रायादेव । अन्यथा लक्षणयैव प्रयोजनीभूतव्यङ्ग्यप्रतीतेरिति भावः । अत एव ज्ञातस्यैव बाधस्य लक्षणाबीजत्वादेव । तादृशत्वं कामुकोपभुक्तत्वम् । इत्येव प्राधान्यं इतरनिरपेक्षनियतव्यङ्ग्यकत्वरूपम् ।

तात्पर्यवाचोयुक्त्या साधारणेष्वेतेषु वाक्यार्थेष्ववगतेषु विदग्धोत्तमनायिकात्वादुशीलत्वादिरूपवक्तृबोद्धव्यवैशिष्टयबलादधमपदार्थो दुःखप्रयोजककर्मशीलत्वरूपः साधारणो वाच्यतादशायां तादृशकर्मन्तरशीलत्वरूपेणावस्थितो व्यङ्ग्यतया दूतीसंभोगरूपतादृशकर्मशीलत्वाकारेण पर्यवस्यति । अत एव इदिति व्यङ्ग्यबोधकत्वादधमपदस्य प्राधान्यम् । वक्तृबोद्धव्यवैशिष्टयबलेन विशेषाकारेण पर्यवसाने विलम्बाभावात् । चन्दनच्यवनादीनां तु स्नानकार्यतया निबद्धानां योग्यतया संभोगाङ्गभूतालेपचुम्बनादिकार्यताप्रतिसंधाने सति तद्व्यङ्ग्यद्वारा संभोगमकत्वमिति विशेषः । अत्र च त्वय्यकृतज्ञायां यद्वाग्धवबुद्ध्या विश्वसिमि, यच्च तत्रैवंविधे दृढमनुरक्तासि तद्वक्तमेव ममैवंविधविधिवञ्जनाजनितपरितापपात्रत्वमितीत्याहेतुकविप्रलम्भसंचारिनिर्वेदध्वनिः । तदनुगुणश्च दूतीसंभोगः । चन्दनच्यवनादीनां च वाच्यानां व्यङ्ग्यानां च परिरम्भचुम्बनाद्यनुभावानां संभोगोत्कर्षद्वारेण्योत्तेजकानां निर्वेदोत्कर्षत्वमिति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तस्मात् 'साहेन्ती' इत्यादौ यदि व्यञ्जना तदा लक्षणामूलैव । वापीं ज्ञातुमि-
त्यादौ तु न नियमः ॥

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि अतिशयितचमत्कारानाधायके व्यङ्ग्ये मध्यमं
काव्यम् । तद्गुणीभूतव्यङ्ग्यम् । कथितमित्यनुषज्यते । अत्र व्यङ्ग्ये स्फुटव्यङ्ग्य
इत्यर्थः । तेन नाधमकाव्यातिव्याप्तिरिति केषांचिन्मतमयुक्तम् । 'अगूढमपरस्याङ्गं'
इत्यादिना गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदत्वेन प्रतिपिपादयिष्यमाणस्यास्फुटव्यङ्ग्यस्यासंग्र-
हापत्तेः । किं त्वस्फुटतरातिरिक्तव्यङ्ग्यपरं व्यङ्ग्यपदम् । गुणीभूतव्यङ्ग्ये चोस्फुट-
मात्रं व्यङ्ग्यम् । अधमकाव्ये त्वस्फुटतरम्, तद्विरह एव वेति न काचिदनुप-
पत्तिः । उदाहरणम्—

‘ग्रामतैरुणं तरुण्या नववज्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥’

अत्र वज्जुललतागृहे दत्तसंकेता तरुणी न गतेति व्यङ्ग्यम् । तच्च गुणीभू-
तम् । तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् । यतः पश्यन्त्या नितरां मुखच्छाया
मलिना भवतीत्यनेन दर्शनकाल एव तत्कार्यं मालिन्यं तस्यातिशयः संतन्यमा-
नता चेति वाच्यं प्रतीयत इति ।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

एतेन प्राधान्येनेत्यधमपदेनान्वितमिति दर्शितम् । लक्षणामूलैवेति । गमकान्त-
राभावादित्यर्थः । न नियम इति । लक्षणानवतारेऽप्यधमपदेनैव व्यञ्जनसंभवा-
दिति भावः ॥

वाच्यस्यैवेति । व्यङ्ग्यं तु न तत्सिद्ध्यङ्गम् । वाच्यमेव तु विप्रलम्भपोषकतया
चमत्कारे प्रधानमिति भावः । संतन्यमानता चिरकालानुवृत्तिः । सा च भवतीति

१. 'चास्फुटव्यङ्ग्यमात्रं व्यङ्ग्यम्' ख. २. 'ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्यास्तरुण्या मुख-
च्छाया नितरां मलिना भवतीत्यन्वयः । ग्रामे एकं तरुणम् । तेन दुर्लभत्वसूचनम् ।
मुहुर्वारंवारम् । जनताभयेन दर्शने सातत्यासंभवात् पश्यन्त्या भवतीति वर्तमाननिर्देशाभ्यां
दर्शनमलिनीभावयोरविरामः सूच्यते । जनकीभूतदर्शनसमकालतया कार्यस्य मुखच्छाया-
मालिन्यस्य कथनादतिशयोक्तिरलंकारः । तरुण्या इति द्वयोस्तरुणत्वोक्त्या परस्परानुरागो-
त्कर्षो व्यज्यते । छाया कान्तिः । नितरामतिशयेन । नवेल्यादि मलिनीभावोपपादकं तरुण-
विशेषणम् । नवा नूतना वज्जुलस्याशोकस्य मञ्जरी तथा सनाथो युक्तः करो यस्य तथा-
भूतम् । एवं च संकेतनिकेतनच्छिह्नस्तनायकदर्शनकृतमालिन्यं विषादरूपव्यभिचारिभावो-
त्कर्षव्यञ्जनमुखेन विप्रलम्भाभासं पुष्पातीति तदेवातिशयम्, न तु तद्व्यङ्ग्यं संकेतस्थानाग-
मनमिति गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणत्वम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र चित्रमित्यध्याहार्यम् । तेनाव्यङ्ग्यं काव्यमवरमधमम् । तच्चित्रमिति कथितमित्यर्थः । अव्यङ्ग्यं अस्फुटरातिरिक्तव्यङ्ग्यरहितम् । तादृशं चास्फुटर व्यङ्ग्यसद्भावे व्यङ्ग्यमात्राभावे वा चित्रं गुणालंकारयोगि । शब्दचित्रं यथा—

‘स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरेच्छातेतराम्बुच्छटा-

मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्वाय वः ।

भिन्द्यादुद्यदुदारदुर्दुरदरी दीर्घादरिद्रदुम-

द्रोहोद्रेकमयोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥’

वृत्त्यनुप्रासोऽत्र शब्दालंकारः । ननु कथमेतदव्यङ्ग्यमुच्यते । मन्दाकिनीविषयायाः प्रीतेरभिव्यक्तेः । किं च नास्येव स काव्यार्थो यस्य न व्यञ्जकत्वम् । अन्ततो विभावत्वेनापीति चेत्, सत्यम् । किं तु तदव्यङ्ग्यमस्फुटरम् ।

वर्तमाननिर्देशात्, सुहुर्मलिना भवतीत्यन्वयाच्चेति ज्ञेयम् । अध्याहार्यमिति । चित्रसामान्योक्त्यनन्तरमेव तद्विभागकथनं चित्वादिति भावः । वृत्तीति । ‘छेक-वृत्तिगतो द्विधा’ इति नवमेऽनुप्रासद्वैविध्योक्तेरयं वृत्त्यनुप्रास उच्यत इत्यर्थः । विभावत्वेनापीति । चमत्कारनैयत्येनाद्भुतस्यालम्बनत्वे तद्व्यञ्जकत्वस्यावश्यंभावादित्यर्थः । अस्फुटरमिति । उद्भटानुप्रासचमत्कारेण पुरःस्फूर्तिकेन व्यङ्ग्यस्या-

२. ‘मन्दाकिनी वो मन्दतामहाय भिन्द्यादिति योजना । मन्दाकिनी स्वर्गज्ञा । मन्दस्य भावो मन्दताज्ञानम् । पापमित्यन्ये । पापेनापकृष्टतामित्यपरे । अह्वाय झटिति भिन्द्यात्राशयत्वित्याशीः । सजातीयान्तरादुत्कर्षप्रतिपादकं मन्दाकिनीविशेषणमाह—स्वच्छन्देत्यादि । स्वच्छन्दमुच्छलदच्छं कच्छकुहरे छातेतरघदम्बु तस्य च्छटया मूर्च्छन्मोहो येषां तैर्महर्षिभिर्हर्षेण विहिते स्नानाह्निके यस्यामिति विग्रहः । स्वच्छन्दं स्ववशम् । न तु वातादिपरतन्त्रम् । तेन जलबाहुल्याद्वाग्मीर्याभिव्यक्तिः । स्वस्य च्छन्दोऽभिप्राय इच्छा यत्र तथोच्छलदिति क्रियाविशेषणं वा । स्वस्य छन्देनोच्छलदिति वा । अच्छं निर्मलम् । कच्छस्य जलप्रायदेशस्य कुहरे तरङ्गकृते विले छाताहुर्बलादितरत् । वेगातिशयेन बलवदित्यर्थः । इतरान्तमनुच्छटाविशेषणम् । अम्बुनदच्छटा परम्परा । मूर्च्छन्नदम्बोदोऽज्ञानम् । अत एव हर्षः । स्नातस्य प्राधान्यात्पृथगुपन्यासः । यद्वाह्निकवह्निर्भूतस्यापि स्नानस्य लाभाय सः । एवं महर्षिसेवितत्वेन तीर्थान्तराद्यतिरेकं प्रतिपाद्य नष्टान्तरादुत्कर्षं स्वभावकृतं प्रतिपादयितुं पुनर्विशिनष्टि—उद्यदित्यादिना । उद्यन्तः प्रकाशमाना उदारा महान्तो दुर्दुरा मेका यासु एवंविधा दर्यः कंदरा यस्यां सा तथाभूता । तरङ्गाभिधातैरुपरिभागभङ्गेन तासां प्रकाशनात् । तथा दीर्घा आयता अदरिद्राः शाखादिबाहुल्येनाकृशये द्रुमास्तेषां मदन्वो दीर्घ इति द्वेषाद्द्रोहः पातनं तेनोद्रेकं आधिक्यं तन्मयास्तपृक्ता ऊर्मयस्तरङ्गास्त एव मेदुरो निमिषो मदो गर्वो यस्याः सा तथा । ‘महोर्मि’ इति पाठे तेनोद्रेको येषामेवंविधा ये महोर्मय इति व्याख्येयम् । अनुप्रासोऽत्र शब्दालंकारः काव्यजीवातुः । अत एव शब्दचित्रोदाहरणम् । सतोऽपि व्यङ्ग्यस्य मन्दाकिनीविषयप्रतिभावस्य सुखतश्चमत्कारित्वाभावेनास्फुटत्वात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘तराम्बुच्छटा’ ग.

यद्वा तत्र न कवेस्तात्पर्यम् । अनुप्रासमात्र एव तस्य संरम्भात् । तात्पर्यविषयी-
भूतव्यङ्ग्यविरहवस्त्वमेवाव्यङ्ग्यपदेन विवक्षितम् । यदुक्तं ध्वनिकृता—

‘रसभावादिषिषयविवक्षाविरहे सति ।

अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥’ इति ।

अत्र पक्षे मध्यमकाव्यलक्षणे व्यङ्ग्यपदं विवक्षितव्यङ्ग्यपरं द्रष्टव्यम् । अर्थ-
चित्रं यथा—

‘विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।

ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितागैला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥’

अत्रोत्प्रेक्षार्थालंकारः । परं तु रसादौ कथं तात्पर्यविरहोऽस्फुटतरत्वं वा तत्र
ज्ञायते । हयग्रीवस्य वर्णनीयतया तत्प्रभावस्य स्फुटं प्रतीतेः । मदीयं तु पद्य-
मुदाहरणीयम्—

‘मध्येव्योम स्फुरति सुमनोधन्विनः शाणचक्रं

मन्दाकिन्या विपुलपुलिनाभ्यागतो राजहंसः ।

अहश्छेदे स्वरितचरणन्यासमाकाशलक्ष्म्याः

संसर्पन्त्याः श्रवणपतितं पुण्डरीकं मृगाङ्गः ॥’

अत्र रूपकमर्थालंकारः । तन्मात्रे तात्पर्यम्, न तु रसादौ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे काव्यलक्षणनिर्णयः प्रथम उल्लासः ।

च्छादनादिति भावः । विवदमानं प्रति परिहारान्तरमाह—यद्वेति । चमत्कारि-
त्वेन न तात्पर्यमित्यर्थः । संरम्भ उद्यमः । वस्तुतस्तु चमत्कृतेऽपि व्यङ्ग्ये कदाचि-
त्कवेरतात्पर्यसंभवादतिप्रसङ्ग इति प्रथम एव पक्षः साधुरिति बोध्यम् । रसादा-
विति । हयग्रीवगते वीररसे तद्विषयस्तुतौ वेल्यर्थः । वीररसस्य हयग्रीव आलम्बन-
मिति केषांचिदुक्तेरभिप्रायं न विद्यः । इन्द्राद्यालम्बनो हि हयग्रीवगतो वीररस इति
वक्तुमुचितम् । मध्य इति । व्योममध्य इत्यर्थः । शाणचक्रं शस्त्रतैक्ष्ण्यजनकपाषाण-
चक्रम् । पुलिने तीरेऽभ्यागत इत्यर्थः । छेदे समाप्तौ । रूपकं मालारूपकम् ॥
इति श्रीमत्तत्सदुपाख्यरामचन्द्रभट्टसूरिवरसूनुवैद्यनाथभट्टकृतार्था प्रदीपप्रभायां प्रथम
उल्लासः ॥

१. ‘हयग्रीवाख्यो दैत्यो विष्णुना हत इति कथाश्रिते हयग्रीववधे नाटके (काश्मीरक-
मेण्ठकविप्रणीते महाकाव्ये) हयग्रीववर्णनप्रस्तावे पद्यमेतत् । यं प्रकृतं हयग्रीवं शत्रूणां मानं
घति खण्डयति, मित्राणां ददातीति मानदस्तथाभूतम् । आत्मनो मन्दिरादृहात्, न तु
नगरात् । यदृच्छया स्वेच्छयापि, न तु युयुत्सया । विनिर्गतं निःसृतम्, न तु प्रस्यितम् ।
उपश्रुत्य कर्णाकर्णिकया श्रुत्वा, न तु दूतमुखात् । ससंभ्रमेण सभयेनेन्द्रेण अव्याहृतैश्वर्येण
दीवारिकाह्वानविलम्बासहतया स्वयमेव द्रुतं शीघ्रं पातिता यथाकथंचिन्निक्षिप्ता, न तु
विस्रम्भं निहित्वा अर्गला द्वारपिधानकाष्ठं यस्यां सा तथाविधा भमरावती भिया निमीलिते
संकुचिते अक्षिणी यया सा तथाभूतेव भवतीत्यन्वयः । उपश्रुत्येति पातनक्रियया समान-

द्वितीय उल्लासः ।

अथ काव्यलक्षणपदार्थेषु स्वरूपलक्षणादिभिर्विवेकभ्येषु शब्दार्थयोः प्राधान्यात्प्रथमं तयोः स्वरूपं निरूपयिष्यन्विभागमाह—

स्याद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

शास्त्रे व्यञ्जकः शब्दो न प्रसिद्ध इत्यत उक्तमत्रेति । अत्रेति काव्ये ।

शब्दस्वरूपमप्रतिपाद्यैव लाघवादर्थं विभजते—

वाच्यादयस्तदार्थाः स्युस्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ १ ॥

वाच्यादयो वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः क्रमेण तेषां वाचकादीनामर्थाः स्युः । केषु-
चिन्ध्यायादिनयेषु । न तु मीमांसकादिमतेष्वपि । लाघवात्पदानां पदार्थमात्रे
शक्तिः, न त्वन्वयांशोऽपि । गौरवादन्वयलभ्यत्वाच्च । तदंशो हि तात्पर्यार्थो
वाच्याद्यर्थविलक्षणशरीर भाकाङ्गुयोग्यतासत्तिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते । न
चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः । स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य नियामकत्वात् । इत्य-
भिहितान्वयवादिनां मतम् ।

अन्वयरूपे वाक्यार्थेऽपि पदार्थानां शक्तिः । व्यवहारेणान्वितस्यैवोपस्थापना-
त्तत्रैव शक्तिप्रहात् । किं चान्वयभागस्याशक्यत्वेऽनुभवविषयत्वं न स्यात् ।
तद्विषये शक्यत्वस्य प्रयोजकत्वात् । अशक्यस्याप्यनुभवप्रवेशोऽतिप्रसङ्गात् ।
इत्यन्विताभिधानवादिनां मतम् ।

अथेति । काव्यलक्षणतद्विशेषकयनानन्तरमित्यर्थः । पदार्थेषु दोषाभावादिषु ।
स्वरूपं विभागः । आदिना दोषगुणादिव्यवस्थादिसंग्रहः । प्राधान्याद्विशेष्यत्वरूपात् ।
स्वं रूप्यतेऽनेनेति स्वरूपं लक्षणम् । विभागोत्तरं लक्षणाभिधानस्य सांप्रदायिकत्वा-
दिति भावः । **लाघवादिति ।** विभागप्रकरणैक्ये लाघवादित्यर्थः । **न्याया-
दीति ।** आदिना वैशेषिकभाट्टनयसंग्रहः । मीमांसकाः प्राभाकरा अभिमताः ।
तात्पर्यार्थं निरूपयति—**लाघवादित्यादिना ।** अन्यलभ्यत्वमेव दर्शयति—
तदंशो हीति । तात्पर्यस्यार्थो विषयः । वाच्यादर्थविलक्षणं संसर्गत्वरूपं शरीरं
यस्य सः । **अतिप्रसङ्ग इति ।** पदवृत्त्यविषयस्यापि शान्दबोधविषयत्वे कथंचिदु-
पस्थितस्य गगनादेरपि तद्विषयत्वाप्रतिरित्यर्थः । **शक्यान्वयत्वस्येति ।** वृत्ति-
विषयान्वयस्येत्यर्थः । नियामकत्वात् वृत्त्यविषयस्य शान्दबोधविषयतायां प्रयोजक-
त्वात् । तथा चाकाशादेरतथात्वाच्च शान्दधीविषयत्वमित्यर्थः । नन्वन्वितस्योपस्थि-
तावप्यन्वयस्यान्यलभ्यत्वात्केवलपदार्थ एव शक्तिप्रहः स्यादत आह—**किं चेति ।**
शक्यत्वस्येति वृत्तिविषयत्वोपलक्षणम् । तथा च तच्छान्दत्वावच्छिन्नं प्रति वृत्त्या

कर्तृकत्वमाश्रित्य बोध्यम् । अत्रामरावतीति स्त्रीप्रत्ययकृतस्त्रीत्वाध्यवसायमूलोत्प्रेक्षार्थलंकार-
श्रमत्कारविश्रामभूमिरित्यर्थचित्रोदाहरणत्वम् । वीररसस्य तु मुखतश्चमत्कारित्वाभावाच्ची-
रसत्वम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. 'शक्तिव्यवहारेण' क.

व्यञ्जकत्वं न केवलं शब्दस्य, किं तु तदर्थस्यापि । तत्रापि नैकतरस्य, किं तु सर्वस्यापीत्यभिधादिवैधर्म्यसिद्धये प्रतिपादयति—

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।

अत्र वाच्यस्य यथा—

‘भाणु घोरोवभरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए ।

ता भण किं करणिज्जं एमे अ ण वासरो ठाई ॥’

अत्र वाच्येनैवार्थेन वक्तृवैशिष्ट्यात्स्वरविहारार्थित्वम्, गृहोपकरणत्वादिना चावश्यविधेयत्वादिकं व्यज्यते ।

तृतीयपदज्ञानत्वेन हेतुत्वात्संसर्गेऽपि शक्तिरावश्यकत्वार्थः । अत्र प्रकारताविशेष्य-
तान्यतरसंबन्धेन शाब्दबोधे वृत्तिविषयत्वम् । संसर्गतया तस्मिन्नाकाङ्क्षादिसहकृत-
तात्पर्यमात्रं प्रयोजकमित्येतावतानतिप्रसङ्गादन्यलभ्ये संसर्गे न शक्तिकल्पनं युक्त-
मित्यस्तरसः । स च ‘वादिनः’ इत्येकवचनेन प्रकाशे ध्वनित इति ज्ञेयम् । यत्तु पदे-
नैवान्वयग्रहे वाक्यवैफल्यम्, अगृहीतग्राहित्वरूपप्रामाण्यायोगश्चेति दूषणं तदलम्-
कम् । इतरान्वितत्वेन पदादुपस्थितावपि घटाद्यन्वितत्वादिना बोधस्य वाक्यलभ्य-
त्वात्तद्वैयर्थ्याप्रसक्तेः प्रामाण्योपपत्तेश्चेति दिक् । अर्थस्यापीति । अनेन व्यञ्जकत्व-
मपीति कारिकास्थोऽपिशब्दोऽर्थानामपीति योजितः । वैधर्म्येति । अभिधालक्ष-
णयोः शब्दमात्रगतत्वात्, लक्षणाया अर्थगतत्वनयेऽपि व्यङ्ग्यगतत्वाभावादिति
भावः । इदमुपलक्षणम् । अर्थगतव्यञ्जकत्वानुक्तौ न्यूनतापत्तेः । अग्रे—‘अर्थव्यञ्ज-
कतोच्यते’ इत्यादिना तन्निरूपणस्यासङ्गतत्वापत्तेश्चेत्यपि ज्ञेयम् । यद्यप्यर्थव्यञ्जकत्वं
शब्दव्यञ्जकतोदाहरणानन्तरमुदाहरिष्यते तथाप्यत्रासंभावनापरिहाराय संक्षेपत
उदाहरणं द्रष्टव्यम् । माए इति । ‘मातर्यहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं
त्वया । तद्गण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥’ इति संस्कृतम् । वाच्ये-
नैवेति । यथाश्रुतवाक्यार्थेनेत्यर्थः । गुरुमते तस्यापि वाच्यत्वान्मतान्तरे तात्प-

१. ‘काचिदुपनायकसंगमार्थिनी शाकेन्धनाद्यानयनव्याजेन बहिर्गन्तुं मातरं प्रत्याह—
माए इति । भो मातः, गृहसंबन्धुपकरणम् । उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणमन्नेन्धनशाकादि-
सामग्री । अथ खलु निश्चितं नास्तीति त्वया साधितं प्रतिपादितम् । तस्मात्किं करणीयं
कर्तव्यं भण वद । आशापयेति यावत् । यतो वासरो दिवस एवमेव अधुना इष्टयमाना-
वस्थ एव स्थायी स्थिरो नेति वाक्यार्थः । अत्र मातरित्यनेनालङ्घनीयाश्वत्वम् । गृहेत्यने-
नावश्यकत्वम् । उपकरणमित्यनेनान्यथासिद्धिपरिहारः । सकलस्य प्रतिवेशिगृहादपि लाभा-
संभवात् । अद्येत्यनेनाद्यैव संपाद्यत्वम् । साधितमित्यनेन सत्त्वशङ्काराहित्यम् । त्वयेत्यनेन
स्वकल्पनाविरहः । तच्छब्देन हेतुर्थेनावश्यकत्वव्यक्तत्वम् । भणेत्यनेन स्वप्रेरणम् । एवमेवे-
त्यनेन दिवसावसाने त्वप्रेरणयापि कुलाङ्गनया मया न गन्तव्यमिति, त्वरया प्रेरयेति वा
द्योत्यते । वाक्यार्थेन तु वक्तृवैशिष्ट्यादुपपत्तिसमागमार्थित्वमिति वाक्यार्थस्य व्यञ्जकत्व उदा-
हरणम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

लक्ष्यस्य यथा—

‘साहेन्ती सहि सुदृढं खेणे खणे दूमीभासि मज्जकए ।

संभावणेहकरणिजसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥’

अत्रापकारिण्यां बाधावतारान्मुख्यार्थः श्रोत्रा प्रत्येतुं न शक्यत इति सद्भाव-
वस्त्रेहकरणीयविसदृशं मत्प्रियरमणेन शत्रुत्वाचरणरूपं विरचितमिति मुख्यविप-
रीतं लक्ष्यते । तेन च कामुकविषयसापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

व्यङ्ग्यस्य यथा—

‘उअ णिच्चलणिप्फन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाभा ।

णिम्मलमरगअभाभणपरिट्ठिआ सङ्गमुत्ति व्व ॥’

र्यार्थत्वेऽपि वाच्यघटितत्वेन वाच्यस्यापि व्यञ्जकत्वानपायात् । एवं च तात्पर्यार्थस्य
व्यञ्जकत्वमप्युदाहृतमेवेति न न्यूनत्वशङ्कापि । वस्तुतस्त्वन्वयस्यावाच्यत्वेऽप्यन्वितस्य
वाच्यत्वान्न विरोधः । वक्त्री कामिनी । तस्या वैशिष्ट्यमवस्थाविशेषः । केवलवाच्य-
स्यापि व्यञ्जकत्वमिहैव दर्शयति—गृहेति । आदिपदेनाद्येत्यादिपदार्थसंग्रहः ।
साहेन्तीति । ‘साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते । सद्भावस्त्रेह-
करणीयसदृशं तावद्विरचितं त्वया ॥’ इति संस्कृतम् । अत्रेति । सद्भावस्त्रेहाभ्यां
यत्करणीयं तद्विसदृशत्वेन लक्षणा । तत्स्वरूपं मत्प्रियेत्यादिपर्यवसितं दर्शितम् ।
न तु तेन रूपेण बोध इति ज्ञेयम् । तेन लक्ष्येण । सापराधत्वं च दूतीरमणकर्तृ-
त्वमेव । अथवा दूतीरमणं लक्ष्यान्तर्गतमेव । व्यङ्ग्यं तु कामुकः सापराध इति
नायिकाया ज्ञानं रोषमूलं सहृदयान्प्रति । त्वया सदृशमेवाचरितमिति भङ्ग्या दूत्या-
स्तव नापराधः, किं तु नायकस्यैवेति वा । ‘पश्य निश्चलनिःस्पन्दा विसिनीपत्रे
राजते बलका । निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥’ इति । निश्चलद्वयं

१. ‘प्रियानुनयार्थं प्रहितां तमुपभुज्यागतां सखीं प्रति नायिकाया इयमुक्तिः । हे सखि,
मत्कृते मर्दयं सुभगं सुन्दरं नायकं साधयन्ती आत्मवशं कुर्वती अनुनयन्ती वा । ‘साह-
यन्ती’ इति पाठेऽपि साधयन्तीत्येवार्थः । क्षणे क्षणे दूनासि खिन्नासि । त्वया तावत् त्वया
तु सद्भावः साधुत्वं विश्वासो वा । स्नेहः प्रसिद्धः । ताभ्यां करणीयं कार्यं तत्सदृशं ताभ्यां
यादृशं कार्यं तादृशं विरचितम् । फलं तु दैवायत्तमिति मुख्यार्थः । अत्र शातापकारायां
मुख्यार्थबाधप्रतिसंधानात्सदृशपदेन विसदृशं लक्ष्यते । तच्च मत्प्रियरमणेन शत्रुत्वाचरण-
रूपम् । एवं च मत्कृते इत्यस्य स्वकृते इति, दूनासीत्यस्य च दृष्टासीत्यर्थः । अथ वा
मत्कृते क्षणमपि न दूनासीत्यर्थः । तेन च नायकः सापराध इति रोषमूलं नायिकाया
ज्ञानं सामाजिकान्प्रति व्यज्यत इति लक्ष्यार्थस्य व्यञ्जकत्वे उदाहरणम् । इत्युदाहरणच-
न्द्रिकासंक्षेपः’ २. ‘खने’ क-ग. ३. ‘सद्भाव’ क-ग. ४. ‘उअ’ इत्यव्ययं
पश्येत्यर्थः । कान्चिदुपनायकं प्रति वदति । विसिनी कमलिनी । तस्याः पत्रे बलका
प्रसिद्धः पक्षिविशेषः शोभते त्वं पश्येति वाक्यार्थस्य कर्मत्वानन्वयः । समीहितसूचनार्थ
विशिष्टनिष्ठि—निश्चलेत्यादि । निश्चला चासौ निःस्पन्देति कर्मधारयः । चलनं शरी-

अत्र निःस्पन्दत्वेनाश्वस्तत्वम्, तेन निर्जनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित्कंचिरसंकेतस्थानाभिलाषिणं प्रति व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते । अथवा निःस्पन्दत्वेनाश्वस्तत्वम्, तेन जनागमनाभावः, अतो न त्वमत्रागत इति मिथ्यावदसीति कयाचिदुत्तसंकेता एवं नागता अहं त्वागत इति वादिनं प्रति व्यज्यते—

एवमर्थं विभज्य वाचकादीनां स्वरूपं क्रमेणाह—

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ २ ॥

अभिधत्ते प्रतिपादयतीत्यर्थः । अतो न विशेषणान्तरवैयर्थ्यम् । संकेतितं गृहीतसंकेतम् । इदं चेष्टायां साक्षादर्थप्रतिपादिकायामतिव्याप्तिवारणाय, माधुर्यादिव्यञ्जकस्पर्शादिवर्णैः सतिव्याप्तिवारणाय वा । न च साक्षादित्यधिकम् । 'यन्नामा यत्र चैत्यादिविषयोऽपि स तादृशः' इत्यादिव्यवहितसंकेतसत्त्वेऽपि चैत्रादिनामकचैत्यादियोगिनि विषये प्रतिपाद्ये चैत्रादिपदेऽतिव्याप्तिवारकत्वात् तत्र शक्यसंकेतव्यवहितसंकेतत्वात् । न च तत्र शक्तिरेवेति सम्यक् । तद्योगिनि तत्पदप्रयोगस्य लक्षणवैवोपपत्तेः । न च साक्षात्संकेतवान्वाचक इत्येतावतैव स्वस्थत्वे अभिधत्ते इत्यस्य वैयर्थ्यम् । संयोगादिनाभिधायां नियमितायां वाच्यार्थव्यञ्जकतादशायामतिव्याप्तेर्वारणीयत्वात् । न च तथापि तत्रातिव्याप्ति-

दर्शयति—अत्रेत्यादिना । विशेषणान्तरेति । अभिधया प्रतिपादयतीत्युक्तौ साक्षात्संकेतितमित्यस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । इदं चेति । यद्यप्यनया चेष्टयायमर्थो बोद्धव्य इति संकेतस्तत्राप्यस्ति तथाप्यस्मान्छब्दादिलेवंशब्दघटितसंकेतस्यात्र निवेशाच्च दोषः । ननु प्रकृतत्वादेव शब्दत्वरूपविशेषणलाभाच्च चेष्टायामतिव्याप्तिरत आह—माधुर्यादीति । 'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः' इत्यादिना वर्णविशेषाणां माधुर्यादिगुणव्यञ्जकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । यन्नामेति । वटादिनाम प्रधानवृक्षो यत्र स विषयो देशोऽपि तन्नामेत्यर्थः । तत्रेति । चैत्यादियोगिनि देश इत्यर्थः । न चेति । चैत्रादिपदाद्भ्रामविशेषत्वेन प्रतीतेः । अन्यथा तद्वृक्षनाशे तत्प्रतीत्यनापत्तेरित्याशयः । भूतपूर्वशक्यसंबन्धेनापि प्रतीत्युत्पत्तेर्न शक्तिकल्पनेत्याह—तद्योगिनीति । चैत्रादिनामकचैत्यादियोगिनीत्यर्थः । वाच्येति । वाच्यार्थान्तरेत्यर्थः ।

रक्रिया स्थानान्तरप्रापिका । स्पन्दस्त्ववयवक्रिया तदप्रापिका । 'स्पदि किञ्चिच्चलने' इति धात्वनुसारात् । निर्मले स्वच्छे मरकतस्य नीलमणेर्भाजने स्थिता शङ्खस्य शुक्तिः शङ्खघटितं शुक्तिसदृशं चन्दनादिनिधानपात्रम् । न तु मुक्ताशुक्तिः । तस्या बलाकावर्णसदृशवर्णत्वाभावात् । शङ्खशुक्तिपदस्य तत्रासामर्थ्याच्च । एवं चाचेतनोपमयात्यन्त-क्रक्षोभाभावः सूच्यते । पार्यन्तिकचमत्कारस्थानं तु संभोगविप्रलम्भमेदेन व्यङ्ग्यद्वयं प्रकाशे व्यक्तम् 'व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकत्वेनोदाहरणम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'निष्पन्द' क-ख. २. 'निष्पन्द' क-ख. ३. 'संकेतितम्' क. ४. 'चैत्यादिनामक' ख-ग. ५. 'चैत्यादिपदे' ख-ग.

रेवेति वाच्यम् । यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहितसंकेतग्रहो यदर्थग्रह उपयुज्यते स तदर्थवाचक इति हि लक्षणार्थः । अथ संकेतग्रहस्य शब्दसहकारितायां किं मानमिति चेत्, अगृहीतसंकेतस्य शब्दादर्थप्रत्ययाभावः । इदं च 'यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते' इत्यादि वृत्तिदर्शनासंकेतविशेषणतया साक्षात्पदं व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु संयोगादिनाभिधायी नियमितायां यत्र शक्यान्तरध्वननं तत्र वाचकत्वं मा प्रसाह्यदित्यभिधानक्रियाविशेषणं साक्षादिति । तत्र तु वाक्यार्थप्रतीतिव्यवधानेन तत्प्रतीतिरित्यप्रसङ्गः । न च संकेतितपदवैयर्थ्यम् । लक्ष्यप्रतीतावपि वाच्यप्रतीतिव्यवधानाभावात् । स्पर्शादिवर्णानां साक्षादेव माधुर्यादिव्यञ्जकत्वाच्च ।

भास्करस्तु—“लक्ष्यस्याप्यन्विताभिधाननये संकेतितत्वात्तत्रातिव्याप्तिवारणाय साक्षादिति विशेषणम् । तदनभ्युपगमे तु 'साक्षादभिधत्ते', 'संकेतितमभिधत्ते' इति लक्षणद्वयम् । न चाद्यस्य चेष्टायामतिव्याप्तिः । शब्दत्वस्य प्रकरणादेव लाभात्” इत्याह । तत्तु 'साक्षात्संकेतो गृह्यते' इत्यादि वृत्तौ साक्षात्त्वस्य संकेतितविशेषणतया व्याख्यानेन विरोधादुपेक्षणीयम् । किंच प्रथमे माधुर्यादिव्यञ्जकस्पर्शादिवर्णेष्वतिव्याप्तिः । तेषां साक्षादेव शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वात् । द्वितीयं तु वाच्य एव व्यञ्ज्यतादशायामतिव्याप्तम् । न च तत्रेष्टापत्तिः । संकेतवान्वाचक इत्यस्यैव तदा सम्यक्त्वेन शेषवैयर्थ्यात् ॥

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

नन्वयं विभागोऽनुपपन्नः । जात्यादेरसंकेतितत्वात् । आद्यसंकेतग्रहस्य व्यवहारमात्राधीनतया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्यायां व्यक्तावेव तदौचित्यादिति । मैवम् । किं हि व्यक्तिषु सर्वासु संकेतग्रहो व्यवहाराङ्गम्, उत यस्यां कस्यांचित् ।

यत्र यस्मिन्काले । एवं तत्रेत्यत्रापि । ननु साक्षादिति व्यर्थम् । यन्नामेत्यादिवाक्यस्य पूर्वपूर्वप्रयोगाधीननिरुद्धलक्षणाबोधकत्वेन संकेताग्राहकत्वात् । तस्यानादिवृद्धपरम्परयैवावगमाच्छास्त्राधीनत्वात् संबन्धस्याशास्त्रहेतुत्वादिति न्यायात् । अत एव कचिदपभ्रष्टशब्दे संकेतस्यानादित्वाभावाच्च तत्रातिव्याप्तिः । न चैवं प्राकृतकाव्यविलोपः । तत्र मूलशब्दानुसारेणैव तत्त्वात् । पूर्वपूर्वसंकेतस्य तत्रापि सत्त्वाद्वा । इत्थं चानादिसंकेतस्यैव सहकारित्वाच्च काप्यतिप्रसङ्ग इत्यरुचेराह—इदं चेति । संकेतितमिति तु माधुर्यादिव्यञ्जकवर्णातिव्याप्तिवारणायेत्युक्तमेव । अन्विताभिधानेति । इतरान्वितत्वेन संकेतग्रहे इतरत्वेन लक्ष्यस्यापि विषयत्वादिति भावः । शृङ्गारादीति । शृङ्गारशब्दो माधुर्यादिगुणपरः । प्रवृत्तीति । दीहनादीष्टसाधनत्वं हि प्रवृत्तियोग्यत्वम्, शृङ्गाघाताद्यनिष्टसाधनत्वं च निवृत्तियोग्यत्वं गोव्यक्तावेव, न तु जातावित्यर्थः । जात्यादिरित्यादिपदेन गुणक्रियासंज्ञानां संग्रहः । सर्वास्विति । सर्वासु गोव्यक्तिष्वित्यर्थः । व्यवहाराङ्गं गोपदजन्यशब्दबोधाङ्गम् ।

नाथः । आनन्त्यात् । नान्त्यः । व्यभिचारप्रसङ्गात् । यतोऽगृहीतसंकेतगोपिण्ड
इव घटादेरपि गोपदात्प्रतीतिः प्रसक्ता । अगृहीतसंकेतत्वस्य तुल्यत्वात् । किं
च न यत्र संकेतग्रहस्तस्यापि प्रतीतिरिति व्यभिचारान्न व्यक्तौ संकेतः । अपि
च व्यक्तिसंकेतपक्षे 'गौः' 'शुक्लः' 'चलः' 'डित्थः' इत्यादिशब्दानामर्थभेदो न
प्राप्नोति । किमेवमनिष्टमिति चेत्, सहप्रयोगानुपपत्तिः । तस्मादुपाधावेव
संकेतः । स च द्विविधः—स्वभावतो वस्तुवृत्तिघटत्वादिः, वक्तुर्यदृच्छया संनि-
वेशितो नामरूपः । तत्राद्यो द्विविधः—सिद्धः, साध्यश्चेति । सिद्धोऽपि द्वेधा—
पदार्थस्य प्राणप्रदः, विशेषाधानहेतुश्च । प्राणप्रदत्वं च यावत्स्थितिसंबन्धि-
त्वम् । यद्यपि शुक्लत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव संबन्धित्वम्,
तथापि तस्य संबन्धः कदाचिदपैत्यपि, न तु गोत्वादेरिति विशेषः । तत्र प्राण-
प्रदो जातिः । उक्तं हि वाक्यपदीये—'नहि गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौः ।
गोत्वाभिसंबन्धात्तु गौः' इति । अस्यार्थः—'गौः स्वरूपेण न गोव्यवहारस्य,
नाप्यगोव्यवहारस्य विषयः । गोत्वाभिसंबन्धात्तु गोव्यवहारस्य विषयः' इति ।
तथा च प्राणप्रदत्वमस्य सिद्धमिति । विशेषाधानहेतुस्तु गुणः । गोत्वादिना

यस्यांकस्यांचिदिति । संकेतग्रहो व्यवहाराज्जमित्यनुषज्यते । आनन्त्यादिति ।
गवादिव्यक्तीनामनन्तत्वेनोपस्थापकाभावात्सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तौ च मानाभावा-
च्चायपक्षसंभव इत्यर्थः । व्यभिचारेति । 'संकेतितस्यैव शाब्दबोध इति नियमा-
भावप्रसङ्गादित्यर्थः । इष्टापत्तिमाशङ्क्य निरस्यति—यत इति । गोपदजन्यशा-
ब्दबुद्धौ यत्किञ्चिद्रोव्यक्तिसंकेतग्रहो हेतुरिति नोक्तदोष इत्यत आह—किं चेति ।
संकेताविषयगोपिण्डस्यापि प्रतीतेर्व्यभिचार इत्यर्थः । एवं च 'व्यभिचाराच्च'
इति प्रकाशग्रन्थः प्रकारद्वयेन व्याख्यात इति बोध्यम् । ननु गोत्वादिप्रकारकसंके-
तग्रहस्तत्प्रकारकशाब्दबोधे हेतुरित्युक्तौ न कोऽपि दोष इत्यत आह—अपि चेति ।
व्यक्तिसंकेतपक्षे व्यक्तिमात्रसंकेतपक्षे । न प्राप्नोति न संभवति । तर्हि जातिविशिष्ट-
व्यक्तौ शक्तिरस्त्वित्याशङ्क्याह—तस्मादिति । नागृहीतविशेषणान्यायादिति भावः ।
यदृच्छया स्वेच्छया संकेतरूपया संनिवेशितः कल्पितो डित्थादिनामरूपः । यावत्स्थि-
तीति । पदार्थस्य स्थितिव्यवहारयोग्यता । तावत्पर्यन्तं तत्प्रयोजकतया संबन्धि-
त्वमित्यर्थः । यथाश्रुतार्थस्य वाक्यपदीयग्रन्थानुक्तत्वेन 'उक्तं हि' इत्याद्यसंगतेः ।
शुक्लत्वादेरिति । शुक्लादिगुणस्येत्यर्थः । गुणिपरशुक्लपदान्नावप्रत्ययात् । कदा-
चित्पाकाद्यवस्थायाम् । गौर्न गौरिति यथाश्रुतासंगतेस्तदर्थमाह—अस्यार्थ इति ।
स्वरूपेण व्यक्तिमात्रेण । नापीति । एतच्च दृष्टान्तत्वेनोक्तम् । यथानमिव्यक्तस्व-
रूपमात्रे वैधर्म्याग्रहाद्गौरिति न व्यवहारः, तथा गौरित्यपीत्यर्थः । अन्यथा गवि
अगोव्यवहारस्य गोत्वसंबन्धाप्रयुक्तत्वेनासंगतेः । विशेषाधानमितरव्यावृत्तिबोधः ।
लब्धसत्ताकं प्राप्तव्यवहारयोग्यताकम् । 'विशिष्यते इतरेभ्यो व्यावर्त्यते । अनेन

लब्धसत्ताकं हि वस्तु शुक्लत्वादिना विशिष्यते । साध्यस्तु पूर्वापरीभूतैकदेश-
त्वेन विवक्षितः क्रियारूपशब्देनादिः । यदुक्तम्—

‘यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते ।

आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते ॥’ इति ॥

वक्तृयदृच्छासंनिवेशितस्तु शब्दरूपः । द्विधादिशब्दानां प्रथमवर्णप्रतीत्या
किञ्चित्प्रकाशितमन्यवर्णबुद्ध्या निःशेषतो ग्राह्यं नानावर्णात्मकघटादिपदवर्ण-
क्रमशून्यं स्फोटारूपं शब्दस्वरूपं द्विधादिष्वर्थेपुपाधित्वेन वक्त्रा यदृच्छया
कल्प्यत इति संज्ञारूपयदृच्छात्मको द्विधादिशब्दः ।

प्रकाशगतस्य ‘शुक्लादिना’ इत्यस्य विशिष्यत इत्यनेनान्वयो दर्शितः । पूर्वेति ।
पूर्वापरीभूता एकदेशाः कुठारोद्यमननिपतनादिव्यापारा यस्य तत्त्वेन विवक्षितः ।
द्वैधीभवनफलकोद्यमनादिव्यापारसमूहो हि च्छिदिधातुवाच्यः कल्प्यत इति तद्वटक-
व्यापाराणां तदेकदेशत्वं काल्पनिकमेवेत्यर्थः । यावदिति । वाक्यपदीयकारिके-
यम् । सिद्धं तथा असिद्धं भावि वा यावद्व्यापारवृन्दं साध्यत्वेनाकारेण पचतीत्या-
ख्यातात्प्रतीयते सा क्रियेत्यन्वयः । सिद्धमसिद्धं वेत्यत्र हेतुः—आश्रितेति ।
आश्रितं क्रमरूपं येन तत्त्वादित्यर्थः । प्रथमेति । पूर्वपूर्ववर्णप्रतीत्या किञ्चित्किञ्चि-
त्प्रकाशितमित्यर्थः । अन्त्यवर्णेति । पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसचिवयेत्यर्थः ।
न च स्फोटस्य निरवयवत्वात्किञ्चिदित्यनुपपन्नमिति वाच्यम् । किञ्चित्त्वस्याभिव्यक्ति-
गतस्योपपत्तेः । आलोकतारतम्येन घटाभिव्यक्तितारतम्यवत् । बहुमिर्दर्शने रत्न-
तत्त्वामिव्यक्तिवच्च । तदुक्तम्—‘सामस्त्येन तु तद्यक्तिः सर्वान्ते मणितत्त्ववत्’
इति । नानेति व्यतिरेकदृष्टान्तेनाखण्डत्वमुक्तम् । तदाहुः—‘एकैकवर्णासामर्थ्या-
न्मेलकानुपपत्तितः । एकबुद्धेर्नदीदीनसाम्यात्स्फोटः स च द्विधा ॥’ इति । एकैक-
वर्णस्यार्थप्रलायनासामर्थ्यात् नानावर्णात्मकपदस्य चोत्तरोत्तरवर्णग्रहे पूर्वपूर्ववर्ण-
नाशेन प्रत्यक्षयोगादनेकपुरुषोच्चारितानां समूहालम्बनस्य च वर्णक्रमाविषयत्वेन
जरा राजेत्युभयसाम्यात्स्फोटः स्वीक्रियते । स च पदवाक्यभेदाद्विविध इत्यर्थः ।
शब्दस्वरूपमिति । वर्णातिरिक्तपदरूपम् । एकपदमिति प्रतीतेर्विषयः । अवय-
वातिरिक्तपटाद्यवयविवदित्यर्थः । तथा चाखण्डपदशक्तिरेव तादृशपदविशिष्टशब्द-
धीहेतुर्जालादिशक्तिवदिति भावः । यदृच्छात्मकत्वं च यदृच्छाकल्पितत्वाद्बोध्यम् ।
एवं मीमांसकमते स्वशब्दस्य द्रव्यत्वाद्द्रव्यशब्दत्वमपीति । स्वलक्षणं शुद्धं वस्तु ।
बुद्ध्येति । यस्य बुद्ध्या निःशेषतो ग्राह्यं तद्विधादीनां स्वरूपमित्यन्वयः । उपाधेः
कस्याप्यग्रहणादिति भावः । अत एव जातिप्रतीत्यनन्तरमाक्षेपादिना व्यक्तिप्रती-
तिरिति गवादिपदे यः क्रमस्तच्छून्यम् । नन्वत्र जालादिबहिर्ह संज्ञाया एवोपाधि-
त्वात्कथमेतदत आह—उपाधित्वेनेति । तथा च पदार्थविशेषणत्वरूपमुपाधि-
त्वेन संज्ञाया इत्यर्थः । तदाह—उपाध्यन्तरमिति । व्याख्यातादन्यदित्यर्थः ।

चण्डीदासस्तु—‘अन्त्यं स्वलक्षणं बुद्ध्या निःशेषतो ग्राह्यं यस्य तत् जाति-
प्रसीत्यनन्तरं व्यक्तिप्रतीतिरिति क्रमशून्यं च डिस्थादीनां शब्दानां स्वरूपं
डिस्थादिष्वर्थेषुपाधित्वेन पदार्थोपस्थित्यनुकूलतया संकेत्यते । उपाध्यन्तरं तेषां
नास्ति । किं तु धर्मिमात्रं ततः प्रतीयते’ इति वृत्त्यर्थमाह । तच्च भाष्यविरु-
द्धम् । तत्र शब्दस्यैवोपाधित्वेन व्यवस्थापनात् । डिस्थादिशब्दाडिस्थादिनामाय-
मिति प्रतीतेः । एवं हि ‘गौः’ ‘शुक्रः’ ‘चलः’ ‘डिस्थः’ इत्यादौ चतुष्टयी
शब्दानां प्रवृत्तिः’ इति महाभाष्यकारः । नन्वेवं परमाण्वादिशब्दानां जाति-
शब्दत्वं स्यात्, न गुणशब्दत्वम् । परमाण्वादीनां प्राणप्रदत्वेन जातित्वादिति
चेत्, सत्यम् । जातिशब्दा एव ते । वैशेषिकनयानुसारेण च तत्र गुणशब्दव्य-
वहारः । ननु पटादिनिष्ठानां शुक्लादिगुणानाम्, गुडतण्डुलादिनिष्ठानां पाकादि-
क्रियाणां च भेदस्य प्रत्यक्षतः सिद्धौ व्यक्ति-संकेतपक्षोक्तदोषः समान इति चेत्,
न गुणादीनां स्वरूपत एक-रूपाणामाश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते । यथैकस्यैव
मुखस्य खड्गमुकुराद्यालम्बनभेदात् ।

अपरे तु—‘हिमपयःशङ्कादिषु शुक्लादिगुणः परमार्थतो भिन्न एव । पाका-
च्छुक्लं रूपं नष्टं इयाममुत्पन्नमिति प्रतीतेः । न चेयं भ्रान्तिः । बाधकाभावात् ।
न चोत्पादविनाशौ समवायस्य प्रतीयेते इति युक्तम् । तदनुल्लेखात् । तथा
चानुगतप्रत्ययानुरोधेन तत्रापि शुक्लादिजातिः । लाघवाच्च तत्रैव संकेत इत्य-
भ्युपेयम् । एवं गुडतण्डुलपाकादिष्वपि पाकत्वादिकम् । तथा तारत्वादिविरुद्ध-
धर्माध्यासाद्बालवृद्धाद्युदीरितडिस्थादिशब्देष्विव डिस्थाद्यर्थेष्वपि बालाद्यवस्था-
परिणतनानापरिमाणरूपविरुद्धधर्माध्यासान्निध्ये डिस्थत्वादिकं जातिः । सैव च
डिस्थादिपदशक्या । एकत्वात् । इत्यङ्गीकर्तव्यम् । एतेन बालवृद्धशुक्लाद्युदी-
रितेषु डिस्थादिशब्देषु च, प्रतिक्षणं भिद्यमाने डिस्थाद्यर्थे वा डिस्थादिस्वमस्ति

उक्तरूपोपाधित्वाङ्गीकाराच्च विरोध इत्याशङ्क्याह—डिस्थादीति । एवंविधोपा-
धित्वस्य भाष्याभिमतत्वे मानमाह—एवं हीति । एवंविधोपाध्यभिप्रायेण हि
भाष्यकार इत्युच्ये इत्यध्याहारः । तथा च चतुर्विधप्रवृत्तिनिमित्तभूतोपाधिभिर्गवा-
दीनां विषयविभागवचनं भाष्यकारस्य तादृशोपाधित्वे संज्ञाशब्दस्य मानमिति
भावः । परमाण्वादिशब्दानामित्यत्रादिशब्देन परममहच्छब्दादिपरिग्रहः । परमा-
ण्वादीनामणुपरिमाणादीनाम् । अत्रादिपदात्परममहत्परिमाणादिग्रहः । अस्म-
दुक्तजातित्वस्य वैशेषिकाभिमतगुणत्वेन न विरोध इत्याह—सत्यमिति । उक्तदोष
आनन्त्यव्यभिचाररूपः । एकरूपेति । लाघवसहकृतप्रत्यभिज्ञावशेनाभेदसिद्धिरिति
भावः । आलम्बनं प्रतिबिम्बाश्रयः । तदनुल्लेखादिति । नाशप्रतियोगित्वेन
समवायस्याविषयीकरणादित्यर्थः । एतच्च शुक्रतरं शुक्रतममिति तारतम्यप्रतीतेरप्यु-
पलक्षणम् । अनुगतप्रत्ययेति । अनुगतशब्दरूपामिधानस्य प्रत्ययद्वारैवार्थानु-
गमसाधकत्वात्पृथगनुक्तिः । एवमनुगतप्रत्ययेन पाकत्वादिकमित्यस्य जातिरित्यप्रत-

इति व्याख्यातम् । इदार्थेन वाशब्देन च शब्दस्य स्थानविनिमयात् । यद्वा सर्वे-
ष्वेव वाक्येषु सामान्यमस्तीत्यत्र तद्व्याख्यातात्पर्यम् । अथवा भाष्यकारमते दित्या-
दिशब्द एवोपाधिरिति तन्मतेऽपि शब्दस्य नानात्वात्तन्निष्ठा जातिरेव शक्या-
ङ्गीकार्येति तत्तात्पर्यम् । तस्मात्सर्वशब्दानां जातिरेव संकेतविषयः' इत्याहुः ।
येषां मते संज्ञाशब्दानां शब्दो नोपाधिस्तेषां मते आकाशादिशब्दानां कथं
जातौ संकेत इति चिन्त्यम् ।

नैयायिकादयस्तु—'न व्यक्तिमात्रं शक्यम्, न वा जातिमात्रम् । आद्ये
आनन्त्याद्यभिचाराच्च । अन्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । न चाक्षेपा-
व्यक्तिप्रतीतिः । तस्माद्विशिष्ट एव संकेतः । न चानन्त्यादशक्यता व्यभिचारो
वा । गोत्वादिसामान्यलक्षणया सर्वव्यक्तीनामुपस्थितौ सर्वत्र संकेतग्रहसौकर्यात्'
इत्यादिष्टन्ते ।

सौगतास्तु—'व्यक्तावानन्त्यादिदोषान्नावस्य च देशकालानुगमाभावात्तदनु-
गतायामतद्व्यावृत्तौ संकेतः' इत्यादिमतानि प्रकृतानुपयोगाच्च सूत्रकृता दर्शितानि ।

ननु वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः पदार्था इति विभागोऽनुपपन्नः । मुख्यत्वेन प्रसिद्धस्य
तुरीयस्यापि भावादित्यत आह—

स मुख्योऽर्थः

साक्षात्संकेतित एवार्थो मुख्यत्वेन प्रसिद्ध इत्यर्थः ।

नेनान्वयः । दित्यादिपदशक्येत्यत्रादिपदेन चैत्रादिपदसंग्रहः । व्याख्यातमिति ।
साक्षादर्थगतजातिं विहाय शब्दगतजातौ शक्तिकल्पनानौचित्येन यथाश्रुतासंगते-
रिति भावः । वाशब्दस्येवार्थत्वस्य स्थानविनिमयस्य च क्लिष्टा कल्पनेत्यरुचेराह—
यद्वेति । 'वाच्येषु' इति पाठः । दित्यशब्दं शृणोमीत्यादौ शब्दस्यैव वाच्यत्वात्त-
द्रतैव जातिस्तदर्थ इति भावः । अत्रापि संदर्भास्वारस्यादाह—अथवेति । येषा-
मिति । चण्डीदासादीनामित्यर्थः । आनन्त्यव्यभिचाराभावादि संज्ञाशब्दस्योपा-
धित्वं तेनाङ्गीकृतम् । तत एव हेतोरिहाप्युपाध्यभावे किंगता जातिः स्यात् ।
आकाशस्यैकत्वादुपाधेश्चानङ्गीकारात् । तथा च सर्वेषामित्यसंगतं स्यादिति भावः ।
व्यक्तिमात्रे शक्तिरिति पक्षे सर्वत्र व्यक्तौ, कचिद्वा । आद्ये आनन्त्यात् । अन्ये
व्यभिचारादिति । न चेति । अनुमानस्यार्थापत्तेर्वा आक्षेपपदार्थस्यानवतारोऽपि
व्यक्तिप्रतीतेः, आक्षेपनियमेऽपि वृत्त्यनुपस्थितत्वेन शाब्दप्रतीत्ययोगाच्चेति भावः ।
विशिष्टशक्तिपक्षेऽपि सर्वत्र, कचिद्वेति विकल्पाभिप्रायेण दोषद्वयमाशङ्क्याद्यपक्षाङ्गी-
कारेण समाधत्ते—सामान्येति । सर्वत्र व्यक्तौ । सौकर्यात् संकेतग्रहसौकर्यात् ।
भावस्य जालादिरूपस्य । देशेति । भावमात्रस्य क्षणिकत्वादिति भावः । अतद्व्या-
वृत्तौ अघटव्यावृत्तौ । प्रकृतेति । प्रामाणिकोक्तमतानुसारेणैव प्रकृतार्थविभागसिद्धौ

कथमसौ तथेत्यत आह—

तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ ३ ॥

अस्य शब्दस्य तत्रार्थं योऽभिधारूपो व्यापारः स मुख्यो यत उच्यते इत्यर्थः । यद्वा अभिधाव्यवहारस्य नाभिधा समयाभावादित्यादौ दर्शनात्तां लक्षयति— तत्र मुख्य इत्यादि । तत्र यो व्यापारः सोऽभिधेत्युच्यत इत्यर्थः । मुख्यत्वोत्कीर्तनं च वक्ष्यमाणस्य लक्षणायास्तद्वाधपुरःसरत्वस्योपपत्तये ।

यत्तु—‘मुख्यार्थबाधे तद्योग इत्यादि कारिकोपयुक्ततया वाच्यस्य संज्ञान्तरं करोति, स मुख्य इत्यादि’ इति सूत्रावतारणं तदयुक्तम् । वाच्यार्थबाधे तद्योग इत्येवमेव तत्रोपपत्तौ तदर्थं संज्ञान्तरकरणस्य गौरवेणानौचित्यात् ।

वाचकं निरूप्य लाक्षणिकं लक्षयितुं लक्षणां लक्षयति—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ ४ ॥

रूढिः प्रसिद्धिः । प्रयोजनं व्यञ्ज्यार्थप्रतिपादनरूपम् । क्रिया व्यापारः । अत्रान्योऽर्थो यल्लक्ष्यते सा लक्षणेति लक्षणम् । लक्ष्यते प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । अतो नात्माश्रयः । मुख्यार्थबाधः शक्यसंबन्धो रूढिप्रयोजनान्यतरचेति हेतुत्रयवचनम् । व्यञ्जनायां शक्तिस्मृतौ चातिव्याप्तिवारणाय तद्योग इति लक्षणेऽपि प्रवेशनीयम् । योगस्य च हेतुत्वं विवक्षितम् । अतो न मुख्यार्थसंबन्धि-

मतान्तरकथनानुपयोगादिति भावः । उपयोगे सति ग्रन्थगौरवस्यादोषत्वात्तदुपेक्षणम् । अभिधारूप इति । साक्षात्संकेतितार्थप्रतीयनुकूलः शब्दव्यापारोऽभिधा । स च पदज्ञानम्, तद्गोचरः संस्कारो वा । तदुक्तं न्यायरत्नमालायां पार्थसारथिमिश्रैः—‘कस्तर्ह्यस्य व्यापारः । खज्ञानमेव, तज्जनिता वा संस्कारः तद्योगी शब्दोऽर्थप्रतीतिं जनयति’ इति । अभिधेति । शब्दस्य व्यापारो य उक्तः स क इति प्रश्नः । तदुत्तरं खज्ञानमेवेत्यादि । मुख्यः प्रथमप्रत्यायकः । प्रथमं प्रतीयमानत्वेनैवार्थस्य मुख्यत्वोपपत्तेर्यत इत्यध्याहारकेशाच पक्षान्तरमाह—यद्वेति । तत्र साक्षात्संकेतिते । तद्वाधेति । मुख्यासंभवे हि तदन्याङ्गीकार इति न्यायादिति भावः । हेतुत्रयेति । ‘लक्षणान्तर्गतत्वे हि हेत्वभावाच्च लक्षणा’ इत्यत्र लक्षणाहेतुत्वं वक्ष्यमाणमसंगतं स्यादिति भावः । अन्यतरचेत्यनेनाथशब्दोऽथवेत्यर्थको दर्शितः । प्रयोजनस्यापि स्वेच्छाद्वारा साधनप्रयोजकत्वादेतुत्वम् । व्यञ्जनायामिति । ‘उपकृतं—’ इत्यादि व्यञ्ज्यापकारातिशयादिबोध इत्यर्थः । अतिशयादेरुपकारादिमुख्यार्थसंबन्धाच्चातिव्याप्तिः । मुख्यार्थसंबन्धीति । गज्ञादिसंबन्धिपावनत्वादिबोध इत्यर्थः । अपिशब्देन शक्तिस्मृतिसमुच्चयः । शक्तेर्मुख्यार्थसंबन्धित्वेऽपि तत्स्मृतेर्मुख्यार्थसंबन्धज्ञानजन्यत्वात् । न च तात्पर्यविरहाच्चातिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तात्पर्यग्रहेऽप्युक्तोपस्थितिरूपवृत्त्यभावे घटः कर्मत्वमित्यादित इव शब्दबो-

व्यञ्जनायामप्यतिव्याप्तिः । मुख्यस्याप्यभिधारूपमुख्यार्थसंबन्धेन प्रतिपादनं संभवतीति तद्वारणायान्य इत्युक्तम् । अन्योऽमुख्यः । यदिति गुणीभूतलक्षणक्रियामात्रपरामर्शः । तेन 'शक्यसंबन्धेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा' इति प्राचीनमतेनैतल्लक्षणम् । 'तद्धेतुः शक्यसंबन्धो लक्षणा' इति परमार्थः । प्रतिपत्तिहेतुर्हि वृत्तिः, न तु प्रतिपत्तिरेव । यत्तु यदित्यस्य यत इत्यर्थकतया संबन्धपरतयैव सूत्रव्याख्यानं तदयुक्तम् । 'नाभिधा समयाभावादेत्वभावाच्च लक्षणा' इत्यत्र 'मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः' इति व्याख्यानविरोधात् । नहि संबन्धरूपत्वे लक्षणायाः संबन्धो हेतुर्घटते । ननु प्रतिपादनं चेन्नल्लक्षणा तर्हि शब्दधर्मः । गङ्गादिशब्दानां नीरादिकमुपस्थाप्य विरामे नीराद्यर्थेनैव संबन्धेन तीराद्यर्थप्रतिपादनादित्यत आह—आरोपिता क्रियेति । शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वाच्छब्दे आरोपित एव स व्यापारः । वस्तुतोऽर्थनिष्ठ एवेत्यर्थः । तदेतदुक्तम्—'सान्तरार्थनिष्ठः' इति । रूढितो यथा—'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ । अत्र दर्भ-

धानुदयात् वृत्तेस्तात्पर्यनिर्वाहकत्वात् । मुख्यार्थबोधश्च शब्दतावच्छेदकरूपेण तात्पर्यविषयान्वयबाधः । तेन 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ न व्यभिचारः । न च तदभावेऽपि गङ्गादिपदात्तीराद्युपस्थितिः । मुख्यार्थोपस्थितेरेव गङ्गापदस्योपक्षीणतया विरम्य व्यापारायोगात् तत्र तीराद्युपस्थितेः पदव्यापारकल्पनात् । अतो न व्यभिचारः । एवं रूढिप्रयोजनयोरभावस्थलेऽप्यशक्योपस्थितेः शब्दवृत्तित्वाकल्पनाच्च व्यभिचारः । तथाभूतोपस्थितावेव तद्धेतुत्वोपगमादिति दिक् । लक्षणं निष्कृष्य दर्शयति—तेनेति । प्रतिपत्तिरित्यनन्तरं शब्दव्यापार इत्यप्याहार्यम् । वक्ष्यमाणस्वरसादाह—तद्धेतुरिति । अशक्यप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः । एवं चैतन्मतेऽशक्यप्रतिपत्त्यनुकूलत्वेन शक्यसंबन्धग्रहे मुख्यार्थबाधादेः प्रयोजकत्वाल्लक्षणाधीनत्वप्रसिद्धिरिति ज्ञेयम् । प्राचीनमतेऽस्वरसवीजमाह—प्रतिपत्तिहेतुर्हीति । वस्तुतस्तु संकेतग्राह्यमर्थप्रतिपादकत्वमभिधावृत्तिः, न तु संकेत एव । नाभिधा समयाभावादिति वक्ष्यमाणत्वम् । एवं च यथापूर्वगृहीतमर्थप्रतिपादकत्वमुत्तरोत्तरार्थप्रतिपत्तिहेतुः, तथा शक्यसंबन्धेनाशक्यार्थप्रतिपादकत्वमपि लाघवन्यायादिगृहीतं तत्प्रतिपत्तिहेतुरिति न कश्चिदोषः । तदुक्तं वृत्तिवार्तिकेऽप्यप्यधीक्षितैः—'मुख्यार्थसंबन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वं लक्षणा' इत्यलं विस्तरेण । नन्विति । प्रतिपादनमशक्यार्थप्रतिपादकत्वम् । संबन्धेन स्वसंबन्धेन सामीप्यादिना । तथा च शब्दस्य मुख्यार्थोपस्थानेनोपक्षीणत्वादर्थ एव लक्षक इत्यर्थः । सत्यम् । मुख्यार्थगतमेवाशक्यार्थप्रतिपादकत्वम् । परंतु मुख्यार्थबाधेन शब्दस्य तद्विषयत्वायोगात्तद्वारा लक्ष्यार्थपरत्वात्तन्निर्वाहार्थं शब्दव्यापारत्वं तस्य कल्प्यते । अन्यथा लक्ष्यस्य शब्दानुपस्थितस्य शब्दबोधविषयत्वानुपपत्तिरित्याशयेन समाधत्ते—शक्यव्यवहितेति । इदमेव सान्तरेत्यनेनोक्तमित्याह—तदेतदुक्तमिति । सान्तरः शक्यव्यवहितो योऽर्थो लक्ष्यार्थस्तन्निष्ठः । तद्विषय इत्यर्थः । 'सर्वं वाक्यं कार्यनिष्ठं' इति गुरुक्तिवत् । तथा च शब्दस्य लक्ष्यार्थविषयत्वं लक्षणाधीनमित्यतः शब्दे लक्षणारोप इति भावः । एवं च स्वप्रयोजकशक्तिमत्त्वरूपपरम्परासंबन्धेन शब्दवृत्तित्वादारोपितत्वोक्तिरिति ज्ञेयम् । कर्मणीति ।

अङ्गणायोर्यत्वान्मुख्यार्थबाधः । विवेचकत्वं च संबन्धः । एवमन्यत्राप्युदात्तम् । तथा च तैलङ्गादिजनपदशब्दा जने, स्वकशब्दस्त्वग्निन्द्रिये । प्रयोजनाद्यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ । अत्र हि गङ्गातीरे घोष इति मुख्यशब्दात्तादृशं पावनत्वं प्रतीयते यादृशं 'गङ्गायां घोषः' इति लाक्षणिकात् ।

लक्षणा तावद्विविधा—शुद्धा, गौणी च । तत्राद्या द्विविधा—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा च । ते अपि प्रत्येकं सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधे इति शुद्धाभेदाश्चत्वारः । गौणी तु द्वेधा—सारोपा, साध्यवसाना च । इति षड्विधत्वं लक्षणायाः कारिकात्रयेण प्रतिपादयति—

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम् ।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ ५ ॥

स्वसिद्धये स्वार्थस्वान्वयप्रवेशसिद्धये । पराक्षेपः परलक्षणम् । स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानमित्यर्थः । अतः 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यस्य न तृतीयभेदत्वम् । एवं परार्थं स्वसमर्पणं परस्वान्वयप्रवेशसिद्धये स्वसमर्पणं । स्वार्थसमर्पणं स्वार्थपरित्यागः । स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणं लक्षणमित्यर्थः । एताभ्यामुपाधिभ्यां शुद्धैव द्विविधोक्ता, न तु गौण्यपीत्यर्थः । एते एवान्यत्र जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे इत्युच्येते । ननु शुद्धैवेत्यनुपपन्नम् । गौण्या अपि तथात्वसंभवात् । तथा हि—'गौर्वाहीकः' इत्यादौ लक्षणलक्षणा तावत्स्फुटैव । उपादानलक्षणा तु गोवाहीकोभयविषये गाव एते समानीयन्तामित्यादाविति चेत्,

चित्रकर्मणीत्यर्थः । न च मुख्यार्थबोधाप्रतिसंधानेऽपि झटिति तक्षबोधात्तत्र शक्तिरेव । अन्यथा मण्डपपदस्यापि गृहादौ शक्यभावप्रसङ्ग इति वाच्यम् । कृतक्यवशक्तिकस्यान्यत्र लक्षणयैवोपपत्तावतिरिक्तशक्तिकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । मण्डपादिपदस्यापि गृहादौ निरुद्धलक्षणाङ्गीकारात् । न चैवं पङ्कजादिष्वप्येवमापत्तौ योगरूढिविलोपापत्तिः । तत्र योगार्थविशिष्टरूप्यस्यैव नियतोपस्थित्या रूढिकल्पनेन वैषम्यात् । मुख्यार्थबाधप्रतिसंधानमपि व्युत्पन्नानामस्त्येव । कदाचिच्छक्तिभ्रमाद्बोधे तदभावेऽपि न क्षतिः । तैलङ्गादीति । न च विनिगमकाभावः । जनेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्यैकस्यासंभवात् । एवमिन्द्रियमजानतोऽपि त्वचि त्वक्पदप्रयोगात्तत्रैव शक्तिरिति दिक् । तादृशं साक्षाद्रङ्गागतम् । 'लक्षणा तेन षड्विधा' इति वक्ष्यमाणषड्विधत्वस्य प्रकारं कारिकाखरसिद्धं विशदीकृत्य दर्शयितुमाह—लक्षणेति । ते अपि उपादानलक्षणलक्षणलक्षणे अपि । अन्वयप्रवेशसिद्धये समभिव्याहृतपदार्थान्वयबोधविषयत्वसिद्धये । स्वार्थापरित्यागेन स्वार्थसाहित्येन । स्वार्थपरित्यागेन स्वार्थस्य समभिव्याहृतपदार्थान्वयत्वात् । परार्थलक्षणं परार्थोपस्थापनम् । एवं च समभिव्याहृतपदार्थान्वयित्वेन स्वार्थविवक्षया तत्साहित्येनाधिकार्योपस्थापनमुपादानम् । तत्त्वेन स्वार्थत्यागेनेतरार्थोपस्थापनं लक्षणमिति फलितम् । अन्यत्रेति । शास्त्र इत्यर्थः । स्फुटैवेति । गोवाहीकोभयानुगतजाज्यमान्यादिविशिष्टलक्षणया जडो वाहीक इत्यन्वये

मैवम् । अत्रोपचारवीजं संबन्धः सादृश्यमन्यो वा । आद्ये शक्यासादृश्यस्य शक्यावृत्तितया कथं शक्यस्यापि लक्ष्यता । येनोपादानलक्षणा स्यात् । अन्ये कथं गौणी । सादृश्यसंबन्धप्रयुक्तलक्षणाया एव गौणीत्वात् । तत्रोपादानलक्षणा यथा—‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ ‘यष्टीः प्रवेशय’ इत्यादौ । अत्र कुन्तादयः स्वतोऽसंभवप्रवेशास्तत्सिद्धये स्वसंयोगिपुरुषांलक्षयन्ति । यथा च ‘काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ इत्यादि संप्रहस्तथोक्तम् । अन्ये पुनर्जातिपदार्थवादिन उपादानलक्षणामन्यामुदाहरन्ति यथा—‘गौरनुबन्धः’ इति श्रुत्या प्रतिपादितमनुबन्धनं गोपदार्थस्य जातेर्मम कथं स्यादिति जात्या अवच्छेदकतया कथंचित्त्वान्वयसिद्धये व्यक्तिर्लक्ष्यते । ननु व्यक्तिरभिधेयैव, न तु लक्ष्येति चेत्, न । व्यक्तौ केवलायामेवाभिधा, जातिविशिष्टायां वा । आद्ये आनन्त्यव्यभिचारौ । अन्ये नागृहीतविशेषणान्यायेन जातावेवाभिधा । व्यक्तिप्रतीतेराक्षेपादेव संभवात् । तदुक्तम्—‘विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे’ इति । तदेतदपेशलम् । प्रयोजनस्य रूढेर्वा तृतीयलक्षणाहेतोरभावात् । जातिव्यक्तिपदार्थोदासीन्येन हि लोकप्रसिद्धिमाश्रित्य रूढिविचारः । कथं तर्हि भट्टमते व्यक्तिप्र-

गोरप्रवेशादिति भावः । अशक्ये शब्दप्रयोग उपचारः । शक्यावृत्तितयेति । सादृश्यस्य भेदगर्भत्वादिति भावः । अन्य इति । साहित्यादिसंबन्धेन गोयुक्तलक्षणे गवामप्यानयनान्वयादुपादानसत्त्वेऽपि गौणीत्वं नेत्यर्थः । न च सादृश्यसंबन्धेनैव गोसदृशत्वेन वाहीकलक्षणायां सादृश्यप्रतियोगितया गोरप्युपादानमस्तीति शङ्क्यम् । एवमपि वाहीकपदार्थेनान्वयाभावेन निरुक्तोपादानत्वविरहात् । अत एव ‘कुन्तायुधानानय’ ‘कुन्तान्मोजय’ इत्यादौ नोपादानत्वमिति बोध्यम् । स्वत इति । इतरविशेषणत्वं विनेत्यर्थः । असंभवदिति । असंभवात्तात्पर्यविषयप्रवेशान्वया इत्यर्थः । अन्यथा पुरुषमात्रोपलक्षणत्वे तु लक्षणत्वमेवेति ज्ञेयम् । अत्र च प्रयोजनं कुन्तबाहुत्यप्रतीतिः । कुन्तगततैक्ष्ण्यस्य वा पुरुषेषु प्रतीतिः । ‘क्षेतो धावति’ इति निरुक्तोपादानलक्षणा ज्ञेया । इयमेव विशेष्यवाचकसमानाधिकरणपुरुषादिपदार्थोसारोपा । तदनुपादाने तु साध्यवसानेति द्रष्टव्यम् । लक्षणलक्षणा तु सारोपा साध्यवसाना च ‘आयुर्धृतम्’ इत्याद्युदाहरणेषु वक्ष्यते । आक्षेपादेवेति । आक्षेपश्च शक्यसंबन्धेनोपस्थितिरलक्षणात्मिकैव विवक्षिता । ‘स्वसिद्धये पसाक्षेपः’ इतिवत् । ननु प्रयोजनाभावेऽपि रूढिः कुतो नेत्याशङ्क्यम्—जातीति । औदासीन्येन परित्यागेन । गवादिपदानामुत्सर्गतो व्यक्तिसाहित्येनैव जातिबोधकत्वेन तत्र लोकप्रसिद्धेरनपेक्षणात् । कादाचित्कबोध एव हि रूढिवशेन लाक्षणिक उच्यते । यथा त्वगादिपदैरिन्द्रियादिबोध इति भावः । आक्षेपादिति । अर्यापत्तेरनुमानाद्वेत्यर्थः । एवं आक्षेपसहकृताद्रोपदाद्रोत्वविशिष्टबोधः । नियतोपस्थितेराक्षेपलभ्यतया वृत्त्यभावेऽपि क्षतिविरहात् । न चाप्रकृत्यर्थतया प्रत्ययार्थान्वयानुपपत्तिः । प्रकृतितात्पर्यविषय एव

तीतिः । जात्या आक्षेपात् । व्यक्तिं विना तस्या भभावात् । यथा क्रियता-
मित्यत्र क्रियया कर्तुः, कुर्वित्यत्र कर्मणः ।

अपरे तु—“पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते” इति वाक्यमभोजी पीन इति-
वत्पीनत्वान्वयप्रयोजकस्य भोजित्वस्याप्रतीत्या योग्यतामलभमानमन्वयं बोध-
यति । तेन तत्सिद्धये रात्रिभोजनं लक्ष्यते । तथा च दिवा न भुङ्क्ते इति मुख्य-
मर्थमादायैव तल्लक्षणेत्थुपादानलक्षणेयम्” इत्याहुः । तदप्यसम्यक् । शब्दा-
ध्याहारनये श्रुतार्थापत्तेः, अर्थाध्याहारनयेऽर्थापत्तेरेव रात्रिभोजनप्रत्ययेन लक्ष-
णानङ्गीकारात् । लक्षणलक्षणा तु ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादौ । अत्र तटादेर्घोषा-
धिकरणत्वसिद्धये गङ्गादिशब्दाः स्वार्थमर्पयन्ति । स्वार्थं परित्यज्य तत्रैव वर्तन्ते ।
उभयरूपा चेयमुदाहृता शुद्धा, न गौणी । उपचारमिश्रा हि गौणीत्युच्यते ।
उपचारश्च सादृश्यसंबन्धेन प्रवृत्तिः । सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नताप्रतीति-
स्थगनं वा । न चोक्तयोस्तत्संभवः ।

केचित्पुनराचक्षते—“उपचारामिश्रत्वं न शुद्धाया मिश्रातो भेदकम्, किं
तु तटस्थत्वम् । तच्च लक्षकस्य मुख्यार्थस्य लक्ष्यस्य च भेदाप्रतीतिः । तथाहि
‘गौर्वाहीकः’ ‘गौरयम्’ इत्यादौ भेदेऽपि शक्यलक्ष्ययोरभेदः प्रतीयते, न तु
‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादौ । तत्र भेदमात्रप्रतीतिः” इति ।

अन्ये तु—“गङ्गायां घोषः’ ‘यष्टीः प्रवेशय’ इत्यनयोरेव परस्परभेदहेतु-
स्तटस्थत्वम् । गङ्गायामित्यत्र तत्सत्त्वात् । यष्टीरित्यत्र तदभावात्” इति मन्यन्ते ।

तदङ्गीकारात् । यत्र तु नाविनाभावस्तत्रोपस्थित्यर्थं लक्षणाङ्गीकार इत्याशयः । अत
एव प्रकाशकृद्वक्ष्यति ‘अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेः’ इति । अविनाभावेनाक्षेपे
दृष्टान्तमाह—यथेति । ‘प्रविश पिण्डीम्’ इति शब्दाध्याहारस्य विषय इति वैष-
म्यान्नोपन्यस्तम् । प्रकाशे त्वाक्षेपसामान्यमात्रेणोक्तमिति ज्ञेयम् । तत्सिद्धय
इति । अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वरूपयोग्यताज्ञानायेत्यर्थः । शब्देति । भट्टादिमत
इत्यर्थः । श्रुतार्थापत्तिः श्रुतार्थकल्पनम् । तच्च न शब्दाध्याहारं विनेति तत्सिद्धिः ।
अर्थमात्राध्याहार इति गुरुनये त्वर्थकल्पनमात्रमित्यर्थः । न च देवदत्तादिपदस्यैव
रात्रिभोजनविशिष्टत्वाय लक्षणास्तु, न तु शब्दकल्पनेति वाच्यम् । नियमतो मुख्या-
र्थबोधैप्रतिबंधानाभावेऽपि द्वारमित्यादौ शब्दाध्याहारस्यार्थाध्याहारस्य च क्लृप्त-
त्वेन वारयितुमशक्यत्वादिति संक्षेपः । शुद्धैवेति व्याचष्टे—उभयरूपा चेति ।
ननु ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ इत्यादौ सादृश्यसंबन्धेन कुन्तधरोपस्थित्या कुन्तधरान्व-
यबुद्धिसंभवात्तत्र गौणीत्वं स्यादत आह—सादृश्यातिशयेति । एवं च यत्र
साधारणगुणप्रकारिकोपस्थितिस्तत्रैव भेदप्रतीतिस्थगनाङ्गीणत्वम्, नान्यत्रेति नोक्त-
दोष इति भावः । अनयोरिति प्रकाशग्रन्थस्य प्रकारान्तरेण व्याख्यानमनुस्यूताह—

१. गौणीत्वसादनन्तरं ‘उपचारामिश्रणात्’ इति ख-ग-पुस्तकयोरधिकमस्ति. २. ‘महिम्ना
भिन्नयोर्भेदप्रतीति’ ख-ग. ३. ‘शुद्धायां क. ४. ‘भेदप्रतीतिः’ क. ५. ‘वाच’ ग.

तदुभयमप्यसत् । अस्ति हि गङ्गादिपदैस्तीरादिप्रतिपादने गङ्गादिनिष्ठपावनत्वा-
दिरूपप्रतिपिपादायिषितप्रयोजनप्रत्ययः । तत्र गङ्गात्वादितितीरे एव बीजम्,
न तु तीरत्वादिप्रतीतिरेव । 'तीरे घोषः' इत्यत्रापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । अथ
गङ्गाशब्देन तदप्रतिपादने गङ्गासंबन्धस्तत्र प्रतीयते । तदेव च तद्बीजमिति
चेत्, न । एवं हि 'गङ्गातटे घोषः' इति मुख्यशब्दप्रयोगेऽपि तत्प्रतीतिः स्यात् ।
तत्संबन्धप्रतीतौ विशेषाभावात् । अथ बाधे जागरूकः कथं गङ्गाशब्दादिभि-
र्गङ्गात्वादिकं तीरे बोध्यत इति चेत्, उच्यते । शब्देन लक्ष्येऽर्थे प्रतिपादिते
तत्र मुख्याभेदो व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते । तदेतदुक्तम्—'तटादीनां गङ्गादिशब्दैः
प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ प्रतिपिपादायिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः' इति । अत्र प्रति-
पादने इति सतिसप्तम्या प्रत्ययस्यानन्तर्यं बोध्यते । न च व्यञ्जने बोधः प्रति-
बन्धक इति काव्यविदां पन्थाः । वक्ष्यति हि—'सारोपसाध्यवसानयोगौण-
भेदयोर्भेदेऽप्यभेदावगमः सर्वथैवाभेदप्रतीतिश्च फलम्' इति । किं बहुना
बाधित एव पावनत्वादिविशेषस्तटादौ प्रतीयते । यत्सूत्रयिष्यति—'योगः फलेन
नो' इति । नन्वेवं कथं गौण्याभेदाभेदप्रत्ययं प्रयोजनं वक्ष्यति, शुद्धभेदयोस्तु
प्रयोजनान्तरमिति चेत्, न । गौण्यां तन्मात्रस्य प्रयोजनत्वात् । शुद्धभेदयोस्तु
मुख्यस्य प्रयोजनान्तरस्यापि भावात् । न तु शुद्धायाम् । अभेदप्रत्ययस्याभावा-
दिति संक्षेपः ।

गौणीभेदौ लक्ष्यन्नेव विभजते—

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

अन्या अर्थादौणी आरोपाध्यवसानाभ्यां भिद्यते, न तूपादानलक्षणाभ्यामिति
तुशब्दार्थः । विषयी आरोप्यमाणो गवादिः, विषय आरोपस्य बाहीकादिश्च
यत्र तथा अनपहृतभेदौ सामानाधिकरण्येनोक्तौ शब्दप्रतिपाद्यौ सा लक्षणा
सारोपा । विषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासस्यात्रारोपपदार्थत्वात् ।

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥ ६ ॥

अन्ये त्विति । अथेति । प्रतिपादन इत्यनन्तरं कर्तव्य इति शेषः । लक्षणायाः
शक्यसंबन्धात्मकत्वादिति भावः । तदेवेत्यस्य विधेयबीजविशेषणत्वाच्च लिङ्गानु-
पपत्तिः । एवं हीति । मुख्यशब्दप्रयोगाद्यत्र प्रतीयते तदनन्यलभ्यत्वाल्लक्षणा-
प्रयोजनम्, नान्यदिति भावः । वैयाकरणिकबोधे न बाधो विरोधीत्यत्र संमतिमाह—
वक्ष्यति हीति । प्रकाशकृदिति शेषः । सूत्रसंमतिमपि दर्शयितुमाह—किं बहु-
नेति । पावनत्वादिविशेषो गङ्गागतपावनत्वादिरूपः । मुख्यस्येति । उद्देश्यतया
चमत्कारितया च प्रधानस्येत्यर्थः । अर्थादिति । पूर्वं शुद्धाभिधानसामर्थ्यादि-
त्यर्थः । यत्र यादृशलक्षणास्थले । अतीतत्वाविवक्षां दर्शयति—शब्दप्रतिपाद्या-
विति । ननु सारोपेत्यस्यारोपशुक्लेत्यर्थः । न च स्वमते बाहीके गोरारोपो लक्ष-
णाविषयः । बाधात् । अन्यथा लक्षणाया एवासंभवात् । नापि लक्षणाफलीभूता-

विषयिणा आरोप्यमाणेनान्यस्मिन् आरोपविषयेऽन्तः कृते विगीर्णे । भेदेना-
नुपस्थित इति यावत् । विषयिमात्रं यत्र निर्दिश्यते, न तु विषयोऽपि सा
साध्यवसाना । विषयिणा विषयतिरोभावकस्यात्राध्यवसानपदार्थत्वात् ।

एतौ भेदौ शुद्धभेदेऽपि भवत इति प्रतिपादयन्नेव शुद्धाया गौण्याश्च
लक्षणमाह—

भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा ।

गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ

इमावारोपाध्यवसानरूपौ भेदौ । तौ यदि सादृश्यसंबन्धात्तदा गौणौ । अथ
संबन्धान्तरात्तदा शुद्धौ । तत्र सादृश्याद्यथा—‘गौर्वाहीकः’ इति सारोपः ।
‘गौरयम्’ इति साध्यवसानः । यद्यपि वाहीकस्य वाहीकत्वेन, इदंतया वोप-
स्थितौ सारोपत्वमेवोचितम्, तथापीदं त्वस्यारोप्यविशेषणतया तदुदाहरणं द्रष्ट-
व्यम् । अतएव वक्ष्यते अनिश्चयरूपसंकरावसरे—“नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्ब-
मेतत्प्रसीदति’ इत्यत्रैतदिति बिम्बविशेषणतया किमियमिति शयोक्तिः, किं वैत-
दिति वक्तुं निर्दिश्य बिम्बमित्यारोपाद्रूपकम्” इति ॥

अत्र केचित्—‘गोशब्दस्य मुख्यतो गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम्, लक्षणया तु
गोशब्दार्थगतं जाड्यमान्यादि तथा भवतीति गोशब्देन जडत्वेन रूपेण वाहीक
उच्यते ।’ इति । तदयुक्तम् । अशक्यस्याशक्यवृत्तेश्च धर्मस्याप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।
शक्यत्वे शक्यवृत्तित्वे स्वभिन्नशक्यानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् ॥

रोषसाहित्यमर्थः । ‘आयुर्वृत्तम्’ इत्यादिशुद्धसारोपायां तदसंभवादित्याशङ्क्याह—
विषयेति । तथा चारोपपदार्थस्य मुख्यस्याभावेऽपि न क्षतिरिति भावः । विष-
यिवाचकपदेनैव विषयप्रतिपादनं विषयीकृतस्तिरस्कारोऽध्यवसानमिति निष्क-
ष्याह—विषयिणेत्यादिना । अत्र गौणसारोपोदाहरणे ॥ मुख्यतः शक्या
तथा प्रवृत्तिनिमित्तम् । न च तस्य वाहीकावृत्तित्वात्कथं तद्विधिष्ठतया वाहीकबोध
इति वाच्यम् । आरोपेण प्रवृत्तिनिमित्तत्वाङ्गीकारात् । अतएव सारोपत्वमप्युपप-
न्नमिति भावः । तथा च जाड्यवदभिन्नो वाहीक इति शक्तिलक्षणाभ्यां बोध इति ।
अशक्यवृत्तेर्गोपदशक्यत्वाभिमतवाहीकवृत्तिभिन्नस्य । एतदेव प्रवृत्तिनिमित्तत्वलक्षणासं-
भवेनोपपादयितुं तल्लक्षणमाह—शक्यत्व इत्यादि । द्वे अपि सतिसप्तम्यौ ।
भवति हि गोत्वं गोपदशक्यम् । गोपदशक्यगोवृत्तिस्वभिन्नगोपदशक्यमानधिकरणं
चेति लक्षणसमन्वयः । स्वपदं प्रवृत्तिनिमित्तत्वाभिमतपरम् । गयानघटादिपदेषु
शब्दाश्रयत्वद्रव्यत्वादिवाश्याश्रयम् । गवादिपदेष्ववयवसंयोगविशेषवृत्तित्वं रूपा-
कृतेः, पश्वादिपदेषु लोमत्वादेश्च वस्त्रणाय द्वितीयम् । तदर्थश्च शक्यतावच्छेदक-
त्वानियामकसाक्षात्संबन्धेन शक्तिमुख्यविशेष्यवृत्तित्वम् । तेनाकृतिनिष्ठजातिविशे-
षस्य लोमत्वादेश्च निरासः । आकृतेर्लोमादेश्च मुख्यविशेष्यत्वाभावात् । आकृते-
रपि स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन गवादिवृत्तित्वात्तद्वारणाय साक्षादिति । कालि-

अपरे तु—‘न गवादिशब्देन वाहीकादिः प्रतिपाद्यते । किं तु गवादिगतस्य जाड्यादिगुणस्याभिन्नतया वाहिकादिगता जाड्यादयो गुणा एव लक्ष्यन्ते’ इत्याहुः । तदप्यसम्यक् ।

इदं पुनरत्र तत्त्वम्—साधारणं जाड्यमान्द्यादि लक्ष्यतावच्छेदकमाश्रित्य वाहीकादिलक्ष्यत इति । तेन ‘जडो वाहीकः’ इत्यादि वाक्यार्थो भवति । तदुक्तमन्यत्र—

‘मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्दृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥’ इति ।

लक्ष्यमाणगुणैरिति लक्ष्यमाणा ये गुणा जाड्यादयस्तैरेव यदि योगः शक्य-
संबन्धस्तदा गौणी वृत्तिरिति । अविनाभावश्चात्र संबन्धमात्रमभिमतम् । न तु

कादिना तद्वृत्तित्वाच्छक्यतावच्छेदकता नियामिकेति दध्यादिपदे दधिवारणाय तृतीयम् । दध्नः स्वभिन्नदधिपदशक्यदधित्वाधिकरणत्वात् । ज्ञानविषयवाचिवस्तु-
पदशक्यतावच्छेदकज्ञानविषयत्वस्य स्वात्मकशक्याधिकरणत्वात्स्वभिन्नेति । न चैव-
मपि स्वभिन्नवाच्यत्वाद्यधिकरणत्वादव्याप्तिरिति वाच्यम् । शक्यपदेन शक्तिजन्य-
बोधप्रकारविवक्षात् । वाच्यत्वादेर्वस्तुपदशक्तिजन्यबोधप्रकारत्वाभावात् । अधि-
करणत्वं च शक्यवृत्तिताघटकपूर्वोक्तसंबन्धेनेति न पशुपदप्रवृत्तिनिमित्तलङ्घ्यस्य
तादृशलोमाद्यधिकरणत्वेऽपि क्षतिः । शक्यतावच्छेदकतानियामकसमवेतत्वसंब-
न्धेन लङ्घ्यस्य लोमानधिकरणत्वात् संयोगस्य चातयात्वात् । न चैवमपि सदा-
दिपदे स्वातिरिक्तशक्योपस्थितिप्रकाराप्रसिद्ध्या तदनधिकरणत्वाप्रसिद्धिः । स्वत्वस्य
प्रतियोगिकोटिनिवेशेन स्वभिन्नशक्योपस्थितिप्रकारीभूताधिकरणं यद्यत्तत्तद्भेदकूटनि-
वेशेनाप्रसिद्धेरभावात् । एवं च शक्यत्वे सति शक्यतावच्छेदकताघटकसाक्षात्सं-
बन्धेन शक्तिमुख्यविशेष्यवृत्तित्वे च सति स्वभिन्नशक्योपस्थितिप्रकारीभूताधिकरणं
यद्यत्तत्तद्भेदकूटवत्त्वमिति लक्षणं पर्यवसन्नमित्यलमतिविस्तरेण । अत्र च वाहीके
गोपदशकौ संकेताद्यभावाच्च किञ्चित्प्रमाणमिति दूषणं स्फुटत्वाच्चोक्तमिति हेम्म् ।
अभिन्नतयेति । सजातीयतयेत्यर्थः । बाधितार्थस्य लक्ष्यत्वायोगात् । तथा च
गोजाड्यसजातीयजाड्यवान्वाहीक इति बोध इति भावः । सामानाधिकरण्येति ।
एकधर्मबोधकत्वाभावादिति भावः । एवं नामार्थयोर्भेदेनान्वयानुपपत्तिरप्यूह्या ।
तृतीयमतस्य सिद्धान्तत्वबोधनायाह—तत्त्वमिति । साधारणं जाड्यमान्द्यात्वाद्यव-
च्छिन्नम् । अत्र संमतिमाह—तदुक्तमिति । अन्यत्र भट्टवार्तिके । गुणैर्योगात्सं-
बन्धाया वृत्तिर्गोशब्दस्य वाहीकार्थोपस्थापकता तस्या गौणतेरेत्यर्थः । प्रथमतः
गुणयोगाभावः मध्यमे गुण एव वृत्तिः, न तु तद्योगाद्वाहीक इति तयोर्नाभिमतत्वम् ।
लक्ष्यतावच्छेदकीभूतगुणरूपसंबन्धाद्वृत्तिर्गौणीति व्याचष्टे—लक्ष्यमाणा ये इति ।

अत्र वदन्ति—‘गौर्वाहीकः’ ‘मुखं चन्द्रः’ इत्यादिषु कृताकाङ्क्षावशादभेदान्वयेनोपपत्तौ न लक्षणा युक्ता । बाधनिश्चयस्याहार्यज्ञान इव शब्देऽप्यविरोधात् । अत एव ‘अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि’ इति प्राचां प्रवादः । न चैवं ‘बह्निना सिञ्चेत्’ इत्यतोऽपि बोधापत्तिरिति वाच्यम् । योग्यताज्ञानाभावात् । ‘मुखं चन्द्रः’ इत्यादौ त्विष्टचमत्कृतिप्रयोजकताज्ञानादिच्छेत्याहार्ययोग्यताज्ञानसंपत्तिः । अतएव शब्दे योग्यताज्ञानस्य हेतुत्वमपि संगतम् । अस्तु बान्वयबोध एवाहार्यः । बाधप्रतिवध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशे शब्दे योग्यताज्ञानहेतुत्वकल्पने च गौरवप्रसङ्गस्यापरिहारात् । किञ्च लक्षणापक्षे ‘राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्’ ‘पादाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः’ इत्यादौ क्रमेणोपमारूपकयोरुपमितविशेषणसमासाधीनयोः स्वीकारे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जीरशिञ्जितयोरन्वयानुपपत्तिर्व्यवस्थापिका रूपकोपमयोः प्राचीनोक्ता न संगच्छते । आद्यपथे उपमायामिव रूपकेऽपि सदृशलक्षणया नारायणसदृशप्रतीतौ लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनानुपपत्तिसाम्येन रूपकनिर्णायकत्वानुपपत्तेः । द्वितीयपथेऽपि रूपकेऽपि बाधकाभावेन तज्जिवर्तकताया असंभवात् । अपि च लक्षणा किं समानधर्मत्वेन, आह्लादकत्वादिना वाङ्गीक्रियते । आद्ये सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वादुपमानत्वापत्तिः । नहि सादृश्यस्य वाच्यतायामेवोपमा । ‘कमलमुहंमुखम्’ इत्यादावपि तस्याः सर्वसंमतत्वात् । अन्ये ‘आह्लादयति मुखेन्दुः’ इत्यादौ पौनरुक्त्यापत्तिः । चात्राह्लादकत्वातिरिक्तधर्म एव लक्ष्यतावच्छेदक इति वाच्यम् । तदस्फुरणेऽपि सदृशदानां चमत्कारोदयादनुभवविरोधाच्च । न चायमुपमितसमास एवेति वाच्यम् । सामान्यधर्माप्रयोग एव तदनुशासनात् । तस्मात् ‘चन्द्रमिजं मुखम्’ इत्याद्याकारक एव तत्र बोध इति न लक्षणाप्रसङ्ग इति । अत्रेदमाकृतम्—अस्ति तावच्चमत्कारिसमानधर्मोपस्थितावेव रूपकप्रतीतिश्चमत्कारश्चेति सदृशदयासाक्षिकम् । तत्र मुखचन्द्रादौ समानधर्मः प्रसिद्ध इति स एव लक्षणया प्रतीयते, न पृथङ्नियमेन शब्देनोपादीयते । ‘भारतं नाकमण्डलम्’ इत्यादौ तु तदप्रसिद्धेः । ‘सुपर्वालंकृतं’ इत्यादिशब्दोपादानापेक्ष एव रूपकप्रत्यय इत्येतावान्विशेष इति चन्द्रसमानधर्मत्वेन सादृश्यविशिष्टे लक्षणैव । आहार्याभेदबोधस्तु समानधर्मास्फुरणेऽपि संभवतीति चमत्कारानुपपत्तिः । न च तस्यां बुद्धौ तज्जन्यचमत्कारे वा साधर्म्यज्ञानं हेतुरिति वाच्यम् । तेन विनापि तदुत्पत्तेर्व्यभिचारात् । साधर्म्यज्ञानादेव चमत्कारसंभवेनाभेदबोधस्याप्रयोजकत्वाच्च । अथ ‘नायं सिंहसदृशः किं तु सिंहः’ इत्यस्यानुपपत्तिरिति न सादृश्यबोधो रूपके चेत्, न । भेदघटितसादृश्यनिषेधेन तादृष्यप्रतीत्यर्थं तदघटितसादृश्यलक्षणया तथा प्रयोगोपपत्तेः । अत एव रूपकस्योपमात्वापादनमपि प्रत्युक्तम् । उपमाया भेदघटितत्वात् । वक्ष्यति हि दशमे—‘सादृश्यमुपमा भेदे’ इति । तथा—‘उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते’ इति चान्यैरुक्तम् । राजनारायणमित्युत्तरपदार्थप्रधानविशेषणसमासे राजाभिन्ननारायणसदृशस्य लक्षणया व्यञ्जनया च नारायणत्वेन बोधाल्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनोपपत्तिः । उपमितसमासेन नारायणसदृशराजप्रतीतौ तु राजत्वेनावगतेन तदुपपत्तिरिति व्यवस्थासंगतिः । कथं तर्हि ‘जडो वाहीकः’ इत्या-

व्याप्तिः । 'मन्त्राः क्रोशन्ति' इत्यादावभावात् । दशावैश्विशिष्टस्य तत्रापि सास्येवेति चेत्, तर्हि आक्षेपादेव व्यापकप्रतीतिरस्तु किं लक्षणयेत्युक्तं 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यत्र । संबन्धान्तरास्सारोपो यथा—'आयुर्धृतम्' इति । साध्यवसानो यथा—'आयुरेवेदम्' इति । एवमादौ सादृश्यादन्यो यः कार्यकारणभावादिः संबन्धस्तत्पूर्वके आरोपाध्यवसाने अत्र गौणभेदे सारोपे भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः । साध्यवसाने सर्वथैवाभेदावगमः प्रयोजनम् । शुद्धभेदे सारोपे अन्यवैलक्ष्येन कार्यकारित्वादेः । साध्यवसाने त्वव्यभिचारेण कार्यकारित्वादेः प्रतीतिः फलम् । तदुभयं चाभेदप्रतीतिपूर्वकमित्युक्तम् । क्वचित्प्रयोजनकत्वेनोपचारः । यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः । क्वचित्स्वत्वामिभावात् । यथा राजकीयः पुरुषो राजा । क्वचिदवयवावयविभावात् । यथा कर्मधारये अग्रहस्त इत्यत्रावयवैऽग्रमात्रे हस्तोपचारः । क्वचित्तदीयकर्मशालित्वात् । यथा अतक्षा तक्षा ।

लक्षणा तेन पञ्चिधा ॥ ७ ॥

कारकबोधकथनमिति चेत्, पौनरुक्त्याप्रसङ्गेन विशेषरूपेण लक्षणया बाधकाभावादिति ज्ञेयम् । दर्शयति । क्रोशनकालीनस्य मन्त्रादेरित्यर्थः । तत्रापि मन्त्राः क्रोशन्तीत्यादावपि । व्यापकैति । तादात्म्येन क्रोशनकालीनमन्त्रानां व्यापका ये पुरुषास्तत्प्रतीतिरित्यर्थः । कारिकायामभिधेयमविनाभूतं यस्येति बहुव्रीहिर्बोध्यः । सारोप इति । लक्षणाभेद इति शेषः । आयुर्जीवनम् । तेन तज्जनकत्वविशिष्टं लक्ष्यते । तेनायुर्जनकाभिन्नं घृतमिति बोधः । मुख्यायस्य घृतपदार्थान्वयविरहाल्लक्षणेयं सारोपा । आयुरेवेदमित्यपि इदंत्वस्य विधेयविशेषणतया साध्यवसाना च । उपादानलक्षणा तु शुद्धा, कुन्ता इत्यादौ सारोपा साध्यवसाना च पूर्वं दर्शितेति । उक्तोदाहरणेषु क्रमेण लक्षणाप्रयोजनान्याह—अत्रेति । एषूदाहरणेषु मध्य इत्यर्थः । भेदेऽपि वाहीकादिपदप्रयोगाद्भेदे भासमानेऽपि । ताद्रूप्यं तादात्म्यम् । सर्वथैव वाहीकादिपदानुपादानेन भेदामिश्रितः । अन्यवैलक्ष्येनेति । जनकान्तरवैलक्ष्येन नियतकार्योपधायकतारूपेणेत्यर्थः । उपलक्षणे तृतीया । उक्तप्रयोजनयोरनन्यलभ्यत्वमाह—तदुभयं चेति । अमेदप्रतीतौ हि कारणसत्तायां कार्यसत्त्वावगतेः कार्योपधानावगतिः । साध्यवसाने तु भेदस्यात्यन्ततिरोधानाद्यभिचारसंदेहोऽपि नैवेत्यव्यभिचारेण जनकत्वावगतिरिति भावः । उक्तमिति । गङ्गायामित्यादौ तटे गङ्गात्वप्रतीत्यनन्तरमेव शैत्यादिप्रत्यय इत्येतत्कथनावसरे शङ्कापूर्वकमुक्तमित्यर्थः । अत्र च तदर्थवाचकपदस्यानन्यत्र प्रयोगस्तद्धर्मप्रतिपत्त्यर्थं इत्युत्सर्ग एव बीजम् । तत्प्रयोजनकत्वेनेति । तदिन्द्रादि प्रयोजनं यस्य स्थूणादेरित्यर्थः । इन्द्रस्य च तत्र ध्येयतया पूज्यतया च प्रयोजनत्वम् । उपचारा लक्षणया सामानाधिकरण्येन प्रयोगः । षष्ठीसमासे हस्ताग्रमित्यापत्तेराह—कर्मधारय इति । तस्मैति जातिविशेषविशिष्टवाचकम् । तेन लक्षणोपपत्तिः । क्रमेण नमस्यत्वानतिक्रमणीयत्वकार्यसमर्थत्वकर्मावैगुण्यप्रयोजनानि ज्ञेयानि । अत्र

उपादानलक्षणरूपशुद्धभेदाभ्यां सह । रूढिप्रयोजनाभ्यां भेदे संभवत्यपि न ते विभाजकत्वेनोक्ते, किं तु हेतुत्वेनेति न तत्कृतो भेदो गणितः । अत एव च पश्चात् ‘व्यङ्ग्येन रहिता’ इत्यादिना तत्कृतं भेदं दर्शयिष्यति । अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । एवं च यथोक्तव्याख्यानेन पञ्चिधत्वे निव्यूढे यत् ‘पञ्चिधेति । रूढिप्रयोजनोपादानलक्षणारोपाध्यवसानरूपैः षडभिरुपाधिभिः कल्पिता विधाः प्रकारा यस्यामिति पञ्चिधा’ इति चण्डीदासव्याख्यानं तत् ‘शुद्धैव सा द्विधा । सारोपान्या तु’ इति एवमुक्तद्वयोरनालोचनविजृम्भितत्वादनादेयम् ।

एवमारोपादिकृतं प्रकारषट्कं प्रतिपाद्य व्यञ्जनकृतं प्रकारत्रयमाह—

व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता च प्रयोजने ।

लक्षणेत्यनुवर्तते । ननु प्रयोजनस्थले कथं व्यङ्ग्यसाहित्यनियम इति चेत्, प्रयोजनस्य व्यञ्जनामात्रगम्यत्वात्, तदिदमुक्तम्—‘प्रयोजनं हि व्यञ्जनाव्यापार-गम्यमेव’ इति ।

यत्तु—‘ननु लक्ष्यप्रयोजनयोर्द्वयोरपि लक्षणयैव प्रतीतौ किमत्र व्यञ्जनयेत्यत आह—प्रयोजनं हीति ।’ इति तत्कृत्तिकावतारणं तदज्ञानविजृम्भितम् । अत्र व्यञ्जनस्थापनस्याप्रस्तुतत्वात्, तत्प्रकरणे च ‘व्यञ्जनात्रापराक्रिया’ इति सूत्रेणैव प्रतिपादनात् ।

तच्च गूढमगूढं वा

तदिति व्यङ्ग्यम् । लक्षणाभेदप्रयोजक आरोपादिर्यथा भिद्यते तथा तत्प्रयो-जकं व्यङ्ग्यमपीति चैस्यार्थः । वाशब्दः समुच्चये । काव्यभावनापरिपक्वबुद्धिः सहृदयः । तन्मात्रवेद्यं गूढम् । तदितरवेद्यमगूढम् । तत्र गूढं यथा—

‘मुखं विकसितस्मितं वक्षितवक्त्रिम प्रेक्षितं

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।

चण्डीदासेन सारोपसाध्यवसानयोरिवोपादानलक्षणयोरपि शुद्धगौणभेदेन चतुर्विधत्वात्प-ञ्चिधेत्यसंगतमित्यभिप्रेत्य षडभिरुपाधिभिः कल्पिता विधाः प्रकारा यस्यामिति व्याख्यातं तदूषयति—एवमुक्तद्वयोरिति । एवं चोपादानलक्षणभेदयोश्चातुर्वि-ध्याभावाच्च षडधिकभेदापत्तिरिति यथाश्रुतमेव साध्विलयर्थः । रूढिप्रयोजनाभ्यां भेदाधिक्यं तु न दोषाय । तत्कृतभेदस्येहानुक्तेः । अत्र एव च वक्ष्यमाणत्वादित्युक्तमे-वेति । व्यञ्जनकृतमिति । व्यङ्ग्यराहित्येऽपि प्रतियोगिनिरूप्यतया व्यञ्जनप्रयुक्तत्वं बोध्यम् । चशब्दवाशब्दयोरुभयोरानर्थक्यमतो व्याचष्टे—लक्षणाभेदेति । तथा च अप्यर्थश्चकार इत्यर्थः । अव्यवस्थितविकल्पायोगादाह—वाशब्द इति । मुख-मिति । अंससंबन्धी बन्धः सुरतबन्धविशेषः । तत्र समर्थमित्यर्थः । शेषमु-

१. ‘तस्यार्थः’ क. २. ‘इन्दुवदनायास्तनौ शरीरे तरुणिन्न उद्गम आविर्भावो मोदते स्वकार्यजननेऽनियन्त्रितोऽस्तीत्यर्थः । प्रकृत्यैवेयमिन्दुवदना । तत्राप्येवंविधं यौवनविजृम्भ-णमिति कष्टमापतितं विदग्धयुवजनस्यैव खेदो बतेत्यनेन प्रतिपाद्यते । अहो रमणीयताति-

उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्गुरं

बतेन्दुबदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥'

अत्र विकासः पुष्पधर्मः क्षितेऽनुपपन्न इति प्रसृतत्वं लक्षयता विकसित-
पदेन लोकोत्तरमणीयतातिशयो व्यज्यते । स च गूढः । एवं वक्षितसमुच्छ-
लितापास्तसंस्थामुकुलितोद्गुरमोदैतेशब्दैरायतत्वोल्लसितत्वानेकविषयसंचारित्वो-
द्भिन्नत्वयोग्यत्वानियञ्जितत्वानि लक्षयन्निर्युक्तानुरागित्वसकलवशीकारित्वानुरा-
गातिशयालिङ्गनयोग्यत्वरमणीयत्वस्पृहणीयत्वानि गूढानि व्यज्यन्ते ।

शय इति विसयो वा । भाग्येन परमोत्सवस्थानमुपसंपन्नं युवजननयनानामिति इर्थो वा ।
'वतामन्नणसंतोषखेदानुक्रोशविसये' इति नानार्थकोषाद् । कथमित्यपेक्षायामाह—मुख-
मिति । यतो मुखं विकसितं प्रसृतं सितं 'ईषद्विकासिनयनं सितं स्यात्स्पन्दिताधरम्'
इत्युक्तलक्षणहास्यविशेषरूपं यत्र तथाभूतम् । एवं प्रेक्षितं प्रेक्षणम् । भावे क्तः । वक्षितो
वशीकृतः स्वायत्तीकृतः । स्वसंबद्ध इति यावत् । वक्रिमा वक्रत्वं येन तथाभूतम् ।
तथा गतिर्गमनं समुच्छलिता धारारूपेण प्रादुर्भूता विभ्रमा विलासा यस्यां सा तथा-
भूता । मतिर्बुद्धिः अपास्ता त्यक्ता संस्था परिमितविषयस्त्वं यया । अनेकविषयसंचा-
रिणीति यावत् । उरो वक्षःस्थलं मुकुलितौ मुकलाकारावुद्भिन्नौ वा स्तनौ यत्र तथा-
विधम् । एवं जघनमंसस्य बन्धो विभक्ततासंपादनं तेनोद्गुरमुत्कृष्टम् । पीनमिति यावत् ।
अंससंबन्धी बन्धः सुरतविशेषस्तत्र समर्थमिति वा । तथा चासाधारणसिताङ्गमेव
स्फुटमेव यौवनमोदमवगमयतीति भावः । अत्र च विकासस्य पुष्पधर्मस्य क्षिते, वशी-
करणस्य चेतनधर्मस्य वक्रिमणि, समुच्छलनस्य मूर्तधर्मस्य विभ्रमे, संस्थाया मर्यादाया-
स्त्यागस्य चेतनधर्मस्य मतौ, मुकुलितत्वस्य पुष्पधर्मस्य स्तनयोः, उद्गुरत्वस्योन्मुखत्वस्य
चेतनधर्मस्य जघने, मोदस्य इर्षस्य चाचेतने यौवनोद्गमे बाधितत्वादिकसितत्वादिपदैः
स्ववाच्यसंबन्धाश्रयणेनोपदर्शितपदार्था लक्ष्यन्ते । तत्र विकासस्य पुष्पप्रसृतत्वस्य प्रसृ-
तत्वमात्रेण सामान्यविशेषभावः संबन्धः । मनोहारित्वं व्यङ्ग्यम् । एवं वक्षितस्य
संबन्धत्वेन सामानाधिकरण्यं संबन्धः । पूर्वं मौग्ध्यात्सर्वत्र वक्रता प्रेक्षितस्यासीत् ।
इदानीं त्वमिमत् एवेति युक्तानुरागित्वं व्यङ्ग्यम् । समुच्छलनस्य प्रादुर्भूतत्वेन सामा-
नाधिकरण्यं संबन्धः । सकलवशीकारित्वं व्यङ्ग्यम् । तथा मर्यादात्यागस्याप्यपरिमित-
विषयत्वेनैकाधिकरण्यं संबन्धः । अनुरागातिशयो व्यङ्ग्यः । तस्य तादृशमतिप्रयोजक-
त्वात् । मुकुलितत्वस्य पुष्पसंस्थानस्य तादृशसंस्थानमात्रेण सामान्यविशेषभावः संबन्धः ।
उद्भिन्नत्वेन तु सामानाधिकरण्यम् । आलिङ्गनयोग्यत्वं व्यङ्ग्यम् । एवमुन्मुखत्व-
रूपस्योद्गुरत्वस्योत्कृष्टत्वेन कार्यकारणभावः संबन्धः । उत्कर्षस्योन्मुखत्वहेतुत्वात् ।
रमणीयत्वं व्यङ्ग्यम् । एवं मोदस्यानियञ्जितत्वेन समं हेतुहेतुमद्भावः संबन्धः ।
मोदस्यानियञ्जितत्वे हेतुत्वात् । स्पृहणीयत्वं च व्यङ्ग्यमिति । एतानि च काव्यभावना-
परिपक्वबुद्धेः सहृदयस्यैव प्रकाशन्ते ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. 'मोदनशब्दै' क.

अथ व्यञ्जकशब्दलक्षणाय व्यञ्जना निरूपणीया । सा च द्वेधा—शब्दनिष्ठा, अर्थनिष्ठा च । तत्रान्त्या शब्दलक्षणेऽनुपयुक्त्यग्रे विवेचनीया । आद्या तु द्वेधा—अभिधामूला, लक्षणामूला च । तत्र यद्यप्यभिधायाः प्राथम्यादुपजी-
व्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमं निरूपयितुमुचिता । तथापि सुप्रसिद्धत्वाल्लक्षणायाः प्रकृतत्वाच्च तन्मूलामेव प्रथमं निरूपयति—

तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

तत्र लाक्षणिकशब्दे । व्यापारो व्यञ्ज्यप्रकाशानुकूलः ।

लक्षणादिनैव तत्प्रतीतौ किं तथेत्यत आह—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ ९ ॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनाभापरा क्रिया ।

यस्य पावनत्वादेः फलस्य प्रतीयते लक्षणाश्रयशब्दप्रयोगस्तत्फलं तस्मादेव शब्दाद्गम्यते, न तु प्रमाणान्तरात् । व्याप्तिस्मृत्यादेरनपेक्षणात् । न च तत्र शब्दस्य व्यञ्जनं विना अन्या क्रिया व्यापारः । तथा हि ।

नाभिधा समयाभावात्

पावनत्वादौ फले संकेतग्रहाभावात् । अभिधा हि संकेतग्रहसहायैवोप-
युज्यते, न तु स्वरूपसतीति वक्ष्यते ।

हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १० ॥

मुख्यार्थबाधस्तद्योगो रूढिप्रयोजनान्यतरदिति त्रयं लक्षणाहेतुः ।

तदभावमेवोपपादयति—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।

न प्रयोजनमेतस्मिन्

यथा गङ्गाशब्दस्य तीरं मुख्योऽर्थः । तत्र च बाधः । तीरे च तरसंबन्धः । तीरस्य च लक्षणयोपस्थापनम्, मुख्यशब्देन प्रतिपादयितुमशक्यस्य पावनत्वादेः प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति गङ्गाशब्देन तटं लक्ष्यते । तद्वद्यदि तटमपि मुख्यं स्यात्तत्र च बाधो भवेत्, प्रयोजनस्य च गङ्गादिगतपावनत्वादिविशेषस्य तटेन संबन्धः स्यात्, लक्षणया प्रयोजनप्रतिपादनस्य च प्रयोजनान्तरं संभवेत्, तदा गङ्गाशब्दः प्रयोजनं लक्षयेत् । न चैतदेकमप्यत्रैतत्पर्यः ।

भिनवसंबन्धः । ललितं 'सुकुमारतयाज्ञानां विन्यासो ललितं भवेत्' इत्युक्तलक्षण-
हावविशेषः । सुप्रसिद्धत्वादिति । लक्षणाप्रयोजननिर्वाहकतया सुबोधत्वा-
दित्यर्थः । ननु गङ्गात्वरूपव्याप्यज्ञानात्पावनत्वादेरनुमितस्य तटे समारोपोऽस्त्वित्यत
आह—व्याप्तीत्यादि । आदिना संनिकर्षपरिग्रहः । ननु बोध्यार्थतात्पर्यविषया-
नुपपत्त्यात्मको हेतुरस्त्येवेत्यत उक्तं प्रयोजनस्य चेति कथंचित्परम्परासंबन्धसत्त्वा-

न केवलं मुख्यार्थबाधादीनामभावमात्रम्, किं तु तेषामपेक्षापि नेत्याह—

न च शब्दः स्वलङ्घितः ॥ ११ ॥

मुख्यार्थबाधादित्रयमपेक्ष्य बोधकत्वं स्वलङ्घितत्वम् । एवं 'नापि गङ्गाशब्द-
स्तस्मिन् प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः' इत्यादिवृत्तौ 'बाधादिकमनपेक्ष्य' इति
शेषो द्रष्टव्यः । 'समर्थः' इति पाठे तु 'बाधादित्रयमपेक्ष्यैव' इति शेषः ।

नन्वस्ति प्रयोजनेऽपि लक्ष्ये प्रयोजनान्तरमिति किं व्यञ्जनयेति चेद्वैयाख्या-
द्यादि ब्रूयात्तत्राह—

एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षयकारिणी ।

मूलं प्रकृतार्थप्रतीतिः ।

ननु पावनत्वादिविशिष्टमेव तीरं लक्ष्यतामिति किं व्यञ्जनया । न चैवं
प्रयोजनस्यापि लक्ष्यकोटौ प्रवेशाल्लक्षणाप्रयोजनं नास्तीति वाच्यम् । 'गङ्गातटे
घोषः' इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतेरेव प्रयोजनत्वादित्यत आह—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १२ ॥

कुत इत्याकाङ्क्षायामाह—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

ननु विषयफलयोर्भेद इति सूत्रार्थः स चायुक्तः । फलत्वं हि जन्यत्वं वा
जन्यप्रतीतिविषयत्वं वा । आद्ये पावनत्वादौ तदभावः । तज्ज्ञाने विषयाद्भेद
एव । अन्ये 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषयः । फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा' इति
वृत्तिविरोधः । प्रकटताज्ञानस्य प्रत्यक्षजन्यत्वाभावात् । न च जन्यज्ञाप्यसाधा-

दाह—लक्षणयेति । वैयाख्यात् धार्ष्ट्यात् । प्रकृतार्थेति । सप्रयोजनलक्षणायाः
प्रयोजनलक्षणाधीनत्वात्तत्परम्परायां विषयान्तरसंचारेण यत्र विच्छेदस्तत्र तत्पूर्व-
लक्षणानिवृत्त्या मूलभूतलक्षणिकार्यप्रतीतिक्षतिरित्यर्थः । आद्य इति । स्वजन्य-
स्वविषययोर्भेद इत्यर्थपर्यवसाने पावनत्वस्य स्वजन्यत्वाभावात्तज्ज्ञानमेव तथा तस्य
च विषयाद्भेदोऽस्त्येवेति । न पावनत्वविशिष्टलक्षणानुपपत्तिरित्यर्थः । एवं च मृद्धो-
पादानमिति प्रत्यक्षजन्ये घटे तद्विषयमेदाभावाद्ब्रह्मविचारोऽपि ज्ञेयः । अन्य इति ।
स्वजन्यप्रतीतिविषयस्य स्वविषयाद्भिन्नत्वनियम इत्यर्थः । एवं च लक्षणादन्यज्ञान-
विषयत्वेन तत्फलस्य शैत्यपावनत्वादेर्लक्षणाविषयत्वं न युक्तमित्यर्थः । प्रकटता
ज्ञानजन्या ज्ञाततापरनामधेया भाट्टमते । संवित्तिरनुव्यवसायो न्यायमते । अज्ञाना-
वरणभङ्गाख्याभिव्यक्तिर्वेदान्तिनये । विरोध इति । प्रकटतायाः फलत्वाभिधान-
विरोध इत्यर्थः । तदाह—प्रकटतेति । विशेषणज्ञानजन्यविशिष्टप्रतीतिविषये
विशेषणे फले विशेषणज्ञानविषयत्वसत्त्वाद्ब्रह्मविचारश्चेत्यपि बोध्यम् । ननु क्वचिजन्यं
क्वचित्तु ज्ञाप्यं फलपदेनोच्यत इति नानुपपत्तिरत आह—न चेति । उभयानुगतै-

रणमेकं साध्यत्वमस्तीति । अत्र ब्रूमः—ज्ञानस्य जनकीभूतो विषयो यथा ज्ञानादन्यस्तथा फलमपि तस्य स्वतो भिन्नम् । कारणस्येव कार्यस्यापि भिन्न-
कालत्वनियमात् । शैत्यादौ तु कचित्फलपदमौपचारिकं दृश्यते । तथा च
लक्ष्यज्ञानमेव यदि शैत्यज्ञानं तदा प्रयोजनं न स्यादित्यर्थः । ननु लक्ष्यप्रतीतेर्न
शैत्यप्रतीतिः फलम्, किं तु शक्यसंबन्धरूपलक्षणायाः । तथा च न किञ्चिद्दूष-
णमिति । अत्राहुः—

अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादकं तावदेव विषयी-
करोति, न त्वनुपपादकमपीति कथं तटे पावनत्वमपि विषयीकुर्यात् । नन्व-
न्वयानुपपत्त्या कल्प्यमानापि सानुद्देश्यमपि शैत्यं विषयीकरोति । यथा तापो-
पशमायोपादीयमानं चन्दनं शैत्यमपि जनयतीति चेत्, न । चन्दनस्य संनिधि-
मात्रेण शैत्यजनकत्वम् । लक्षणायास्त्वनुपपत्तिप्रसारितयेति वैषम्यात् ।

यत्तुक्तं यथाश्रुते चण्डीदासेन—‘ज्ञानस्य विषयातिरिक्तं फलमात्रं वा विव-
क्षितम्, ज्ञेयगतं वा । आद्ये प्रकृतेऽप्यस्ति गोस्वामिगतप्रतीतिः । अन्ये प्रयोज-
नज्ञान एवाव्यभिचारः । तेन हि गोस्वामिसंतोषमात्रं जन्यते । न तु तद्गतं
किञ्चिदिति । तस्मादेतुफलयोस्तटप्रतीतिफलप्रतीत्योर्भिन्नकालत्वेनाभिन्नव्यापार-
विषयत्वमसमीचीनमेवेति व्यञ्जनासिद्धिरित्यत्र तात्पर्यम्’ इति । तदबोधवि-
जृम्भितम् । नह्यनेन सूत्रेण यथाश्रुतेनापि ज्ञानत्वस्य विषयान्यफलत्वव्याप्यत्वं
प्रतिपाद्यते, किं तु ज्ञानफलत्वस्य विषयान्यत्वव्याप्यत्वम् । तथा च शैत्या-
देर्लक्षणाजन्यप्रतीतिविषयत्वे तत्प्रयोजनं न स्यादित्यर्थे दोषानवकाशः ।

वर्यं तु ब्रूमः—विशिष्टं लक्ष्यं तदा भवेद्यदि विशिष्टत्वं लक्ष्यतावच्छेदकं
पूर्वप्रतीतं संभवेत् । न त्वेवम् । पावनत्वादिविशेषवैशिष्ट्यस्य तटे प्रमाणान्त-
रागोचरत्वात् तत्र तस्याभावात् । यदुक्तवान्—‘योगः फलेन नो’ इति । अथ
पावनत्वादिसामान्यवैशिष्ट्यमेव लक्ष्यतावच्छेदकमस्तु । तस्य प्रतीतत्वादिति

कप्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्चोभयं फलपदार्थ इत्यर्थः । यथेति । सूत्रे हिशब्दः प्रसि-
द्ध्यर्थतया दृष्टान्तार्थक इति भावः । शैत्यादेः फलस्य ज्ञानमेदोऽस्त्येवेत्यत आह—
औपचारिकमिति । तथा च तज्ज्ञानमेव फलमित्यर्थः । तावदेवेति । न च
तात्पर्यविषयान्वयोपपादकतया लक्षणविषयत्वं दुर्वारमिति वाच्यम् । यत्र पावन-
त्वादिक्रमारेण तटे घोषान्वयबोधो भवत्विति न तात्पर्यम्, किं तु तटे घोषान्वय-
बोधोत्तरं पावनत्वादिवुद्धिः स्यादित्येव तत्र लक्षणाजन्यबोधस्य पावनत्वादिविषय-
ताया असंभवेन व्यञ्जनाया आवश्यकत्वात् । अनुपपत्त्या प्रसारिणी तच्छीला तत्त-
येत्यर्थः । यथाश्रुते विषयफलयोर्भेद इत्यर्थः । दोषानवकाश उक्तविकल्पप्रयुक्तदोषा-
प्रसङ्गः । प्रमाणान्तरेति । ननु भ्रमात्मकात्पावनत्वादिक्रमारेण तटे प्रवाहसंबन्ध-
ज्ञानात्तेन रूपेण तटोपस्थित्या तत्प्रकारेण भ्रमात्मकशाब्दबोध उपपद्यत इति चेत्,

चेत्, तर्हि पावनत्वादिविशेषो न प्रतीयेतेति । किं बहुना, गौर्वाहीक इत्यत्र
अवाभिज्ञजडस्य लक्ष्यत्वे सैवान्वयानुपपत्तिः ।

उपसंहरति—

विशिष्टे लक्षणा नैवं

एवं उक्तयुक्त्या ।

विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १३ ॥

तदादौ लक्षिते सति पावनत्वादयो विशेषाः प्रतीतिविषयाः स्युः । ते च
प्रसिद्धतिरिक्तव्यापारगम्या एव । स च व्यापारो व्यञ्जनध्वननादिशब्दवाच्यो-
ऽवश्यमेपितव्यः । कथमन्यथा विशेषप्रतीतिरिति । एवं लक्षणामूलव्यञ्जकत्व-
मुक्तम् । अभिधामूलं त्वाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियञ्जिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्वापृतिरञ्जनम् ॥ १४ ॥

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे संयोगाद्यैर्नियञ्जिते सति अवाच्यार्थधीहेतु-
व्यापारोऽञ्जनम् । व्यञ्जनमित्यर्थः । अनेकार्थोऽनेकाभिधानशक्तिः । अर्थभेदेन
शब्दभेद इति नये तु अर्थान्तराभिधानशक्तशब्देन सदृशस्तदभेदभ्रमविषयो
वा । वाचकत्वमभिधा । अवाच्यार्थस्तदाभिधाव्यापाराविषयः । नियञ्जनं
नियमनमेकतरमात्रस्मरणानुकूलत्वम् । यदाहुः—‘शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-

सत्यम् । तथापि यत्र पावनत्वाद्यप्रहातटत्वेनैव प्रवाहसंबन्धग्रहस्तत्र लक्षणया
भ्रमात्मकतादृशशब्दबोधसंभवादनुभवसिद्धतादृशबोधार्थं व्यञ्जनाङ्गीकारस्यावश्यक-
त्वात् । बाधनिश्चयकाले भ्रमायोगाच्च । व्यञ्जनाजन्यबोधे तु न बाधो विरोधीति न
काचिदनुपपत्तिः । सैव लक्षणामूलैव । तथा च निष्फला लक्षणेति भावः । विशेषा
इति । तीरादिव्यावृत्ताः केवलं गङ्गागता इत्यर्थः । लक्षित इत्यधिकरणसप्तम्यङ्गी-
कारे लक्षणजन्यबोधविषयत्वभ्रमः स्यादतः सतीति । एवं च शक्तिलक्षणाद्यज-
न्यप्रतीतिजनकः पदादिगतो व्यापारो व्यञ्जनेति लक्षणं बोध्यम् । सदृशत्वेऽपि
भेदग्रहेऽन्यत्राभिधाया अप्रसक्तेस्तन्नियन्त्रणायोगादाह—तदभेदेति । एकतर-
मात्रेति । अनेकार्थशक्तिज्ञानजन्यतदर्थस्मृतौ संयोगादिज्ञानं हेतुरिति भावः ।
द्वितीयार्थस्मृतौ संयोगादिज्ञानम्, तज्जन्यप्रथमार्थतात्पर्यज्ञानं वा प्रतिबन्धकमिति तु
युक्तम् । आद्यपक्षे संयोगादिनियामकाभावे आरादेवदत्तोऽस्तीत्यादौ दूरसमीप-
पार्थद्वयसंदेहानुपपत्तेः । कारणाभावेनैकतरस्याप्यनुपस्थितेरपि । श्लेषे तु ‘येन चत्त-
मनोभवेन’ इत्यादौ द्वयोरपि प्रकृतयोरविरोधाद्बोध इति द्रष्टव्यम् । अयैकार्थबोधनेन
विरामात्कथं तस्य पदस्य व्यञ्जकत्वमपीति चेत्, न । प्रथमार्थप्रतीतेर्व्यापारत्वात् ।
अतएव ‘अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः’ इत्यनुपदमेव वक्ष्यति । स्वव्या-
ख्याने वक्ष्यमाणहरिकारिकासंमतिमाह—यदाहुरिति । अनवच्छेदे अनेकत्वे

स्मृतिहेतवः ।' इति । एतेन 'निर्यमनमेतस्मिन्नेवाधे वक्तुस्तात्पर्यमिति तात्पर्यग्रहः' इत्यबोधप्रलापः । संयोगाद्यैरित्याद्यपदसंग्राह्यं विप्रयोगादि । यदुक्तमभियुक्तैः—

‘संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति ।

तत्र संयोगः प्रसिद्धार्थस्य गुणविशेषरूपः संबन्धः । तेनाभिधानियमनम् । यथा 'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र शङ्खादिसंयोगेनानेकार्थस्य हरिशब्दस्याच्युतेऽभिधा नियम्यते । अन्यहरिपदार्थे तत्संयोगाभावात् ।

विप्रयोगस्तद्व्यतिरेकसंबन्धध्वंसः । तेन यथा—'अशङ्खचक्रो हरिः' इत्युच्यते । ध्वंसस्य प्रतियोगिपूर्वकत्वात् ।

साहचर्यं सहचरता । तेन यथा—'रामलक्ष्मणौ' इति रामपदस्य लक्ष्मण-साहचर्येण दाशरथौ ।

एतद्विरोधेन व्याख्यान्तरं दूषयति—एतेनेति । ननु यत्र प्रकृतापेक्षयाप्रकृतार्थे प्रसिद्धिबाहुल्यं तत्र प्रकरणमुल्लङ्घ्य प्रसिद्धार्थस्यैव प्रथमं स्मृतेः प्रकृतशब्दबोध-नियमायावश्यं तात्पर्यनिश्चयस्य हेतुत्वमङ्गीकार्यमित्येकतरमात्रस्मृतिकल्पनं तदित-सार्थस्मृतिप्रतिबन्धकल्पनं च व्यर्थमेवेति तात्पर्यनिर्णायकत्वमेव युक्तमिति कथम-बोधप्रलाप इति चेत्, न । नहि वयं सर्वत्रेतारार्थस्मृत्यभावनियमं वदामः किन्तु यत्र प्रसिद्धिबाहुल्यादेरभावस्तत्रोत्सर्गतः संयुक्ताद्यर्थोपस्थितिरेवेति सैद्ध्यसाक्षि-कम् । नहि साहचर्यज्ञस्य रामलक्ष्मणाविल्यतो राघवातिरिक्तोपस्थितिः, न वा भोज-नप्रकरणे सैन्धवशब्दश्रवणाल्लवणातिरिक्ताक्षोपस्थितिर्ऽति जायते । अपि तु राघ-वादेरेव तथैत्यनुभवबलात्संयोगादेरितरार्थोपस्थितिप्रतिबन्धकत्वमिति प्राचामाश-यात् । स्मृशब्दस्य तात्पर्यनिश्चयपरत्वेऽतिक्लिष्टतापत्तेः । अप्यग्यदीक्षितास्तु—'ना-नार्थस्थलेऽपि न सर्वत्र व्यञ्जनोल्लासः । किं तु चमत्कारिणि विषय एव । तत्र च यत्कारणं श्रोतृगतप्रतिभावविशेषाद्यङ्गीकार्यं तस्य नियञ्जितशक्त्युल्लासकत्वमेवास्त्विति न कापि शक्तिविषये व्यञ्जनाङ्गीकारो युक्तः । किं त्वप्रकृतार्थप्रतीतिर्मूलक उपमा-दावेव' इत्याहुः । इति कृतं पल्लवितेन । संयोगादीन्व्याचक्षाणस्तदुदाहरणान्याह—तत्रेत्यादिना । प्रसिद्धार्थस्य तदर्थमात्रवृत्तितया प्रसिद्धस्यार्थस्य । न तु वस्तुतः शक्यान्तरव्यावृत्तस्य । इन्द्रादावपि हरिपदार्थे तत्संभवात् । तत्संयोगाभावा-दिति । प्रसिद्धशङ्खादिसंयोगाभावादित्यर्थः । यद्वा शङ्खचक्रसंयोगस्य वस्तुतः शक्या-न्तरव्यावृत्तत्वमेवाभिमतम् । प्रसिद्धेति तु सहस्यैव सतः प्रसिद्धिरभिधानियञ्जो-पयोगितयोक्तेति बोध्यम् । संबन्धध्वंस इति । एवं चाशङ्खचक्र इत्यत्र शङ्ख-

विरोधः सहानवस्थानम्, वध्यघातकभावश्च । तेन यथा—‘छायातपौ’ इति छायापदस्यातपाभावे । विरोधिनीः कयोश्चित्तत्त्वोपमायां ‘रामार्जुनगतिस्तयोः’ इत्यत्र यथा रामार्जुनपदयोर्भागीवकार्तवीर्ययोः ।

अर्थः प्रयोजनम् । तेन यथा—‘स्थाणुं भज भवच्छिदे’ इत्यत्र भवच्छेदन-रूपप्रयोजनवशात्स्थाणुशब्दस्य हरे ।

प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता । तेन यथा—‘सर्वं जानाति देवैः’ इत्यत्र देवशब्दस्य राजनि । यत्तु ‘युष्मदर्थे’ इति व्याख्या तस्या अपि प्रकृते राजादा-वित्यर्थः । किं वा संबोधये राजादावित्यर्थः । संबोध्यस्यैव युष्मदर्थत्वात् ।

लिङ्गं संयोगातिरिक्तसंबन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः । तेन यथा—‘कुपितो मकरध्वजः’ इत्यत्र मकराकारध्वजसमुद्राभ्यां व्यावृत्तेन समवायसंबन्धवता कोपेन मकरध्वजशब्दस्य कामे । यत्तु ‘लिङ्गं चिह्नम्’ इति, तन्न । कोपस्य कामचिह्नत्वाभावात् । असाधारणधर्मस्य चिह्नत्वात् । सशङ्खचक्र इत्यत्राति-व्याप्तिप्रसङ्गाच्च ।

शब्दस्यान्यस्य संनिधिर्नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम् । अतो ‘भव-च्छिदे’ इत्यादावप्रसङ्गः । न च ‘सशङ्खचक्रो हरिः’ इत्यत्रातिव्याप्तिः । शङ्ख-चक्रसामानाधिकरण्याभावात् । यद्वा हरौ शङ्खचक्रे इति संयोगोदाहरण-तात्पर्यम् । तेन यथा—‘देवस्य त्रिपुरारातेः’ इत्यत्र त्रिपुरारातिशब्दसामाना-धिकरण्यादेवशब्दस्य शंभुरूपेऽमरे । अन्यस्य देवशब्दार्थस्य राज्ञस्त्रिपुराराति-त्वाभावत् । यैत्तु ‘देवतान्तरस्यातथाभावाच्छंभौ शक्तिनियमनम्’ इति, तन्न युक्तम् । देवतान्तरे देवशब्दस्य शक्तिभेदाभावादुदाहरणासामञ्जस्यापत्तेः ।

चक्रपदं तत्संयोगपरम्, नष्पदं च नाशपरम् । नाशस्य प्रतियोग्यधिकरणनियत-त्वाद्दरावभिधानियामकत्वसंभवात् । अत्यन्ताभावस्तु सिंहादिसाधारण इति नोपात्त इति ज्ञेयम् । अच्युत इत्यनन्तरमभिधा नियम्यत इत्यनुषज्यते । एवमग्रेऽपि । तत्त्वोपमायां विरोधित्वेनोपमायां विवक्षितायामित्यर्थः । तथाच विरोध्यर्थतात्पर्य-प्रहातथात्वेन पूर्वावगतयोरेवोपस्थितिरित्यर्थः । एतेन, ‘अव्यवस्थितार्थत्वात्परात्प-राश्रयदुष्टत्वं विरोधज्ञानस्य’ इति दूषणमलम्बकं वेदितव्यम् । संयोगातिरिक्तेति । एतच्च शङ्खचक्रव्यावृत्त्यर्थम् । न च तत्रार्थान्तरव्यावृत्तत्वाभावाच्चातिव्याप्तिरिति वाच्यम् । कोपस्यापि समुद्रेऽपि सत्त्वेन प्रसिद्धैव कामलिङ्गताया आश्रयणीयत्वेन शङ्खचक्रयोरपि तत्प्रसक्तैरित्याशयात् । चक्रशङ्खादेरर्थान्तरव्यावृत्तत्वपक्षे तु न कश्चि-दोष इति । ननु शक्यान्तरव्यावृत्तप्रसिद्धैव चिह्नत्वमस्तिन्नत आह—सशङ्खेति । तथाच तद्वारणाय संयोगातिरिक्तेति श्लोकमेव सम्यगिति भावः । अत इति । सामानाधिकरण्योक्तैरित्यर्थः । शङ्खचक्रेति । शङ्खचक्रशब्दो हि नियतार्थकः । तेन तु भिन्नार्थत्वाच्च सामानाधिकरण्यमित्यर्थः । एवमपि सशङ्खचक्रशब्दसामानाधिकर-

सामर्थ्यं कारणत्वम् । तेन यथा—‘मधुना मत्तः कोकिलः’ इति । अत्र मधुशब्दस्य वसन्ते । अन्यस्य मधुशब्दार्थस्य कोकिलामादनासामर्थ्यात् ।

औचित्यं अर्हता । तथा यथा—‘पातु वो दयितामुखम्’ इति । अत्रोत्कण्ठितमनोरथसाधनौचित्येन मुखशब्दस्य सामुख्ये । न तूपायादौ । यद्यप्यत्रापि सामर्थ्यं संभवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीययेव तद्वोधाभावेऽप्यौचित्यमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसंकीर्णमिति ।

देशेन यथा—‘भात्यत्र परमेश्वरः’ इति । अत्रात्रेति राजधानीरूपादेशात्परमेश्वरपदस्य राजनि ।

कालेन यथा—‘चित्रभानुर्विभाति’ इति । अत्र चित्रभानुपदस्य दिवा दिवाकरे, रजन्यामाशुशुक्षणौ ।

व्यक्तिर्लिङ्गं पुंस्त्वादि । तथा यथा—‘मित्रं भाति’ इति । अत्र नपुंसकरूपाद्धिङ्गान्मिन्नपदस्य सुहृदि । ‘मित्रो भाति’ इत्यत्र पुलिङ्गात्सूर्ये ।

स्वरस्तदात्तादिर्वेदे बाहुल्येनार्थप्रतीतिकृद्दृश्यते । यथा ‘इन्द्रशत्रो वर्धस्व’ इति । अत्रेन्द्रशत्रो इत्यस्यान्तोदात्तत्वे षष्ठीतत्पुरुषव्यक्ताविन्द्रस्य शातनकर्मेत्वं लभ्यते । पूर्वपदान्तोदात्तत्वे च इन्द्रः शातयिता यस्येति बहुव्रीहिलाभादिन्द्रस्य शातनकर्तृत्वं लभ्यते । काव्ये तु नैवं बाहुल्यम् । ननु ‘इष्टे प्रसीद’ इत्यादौ स्वरेण संबोधनं प्रकाश्यते तेन चार्थविशेषेऽभिधा नियम्यते, न तु साक्षात्स्वरेणैव । काकुस्थले तु न नानार्थाभिधानियमनं किं त्वपदार्थस्यैव व्यञ्जनम् । यद्वा स्वरशब्देनोदात्तादित्रयं विवक्षितम् । अतः काव्ये स्वरस्याभिधानियामकत्वं नास्त्येवेति व्यर्थं बाहुल्येनेति विशेषणमिति । मैवम् । ‘सुधाकरसुहृद्वक्त्रं इष्टिः पङ्कजवैरिणी’ इत्यादाविन्द्रशत्रुरिति न्यायेनाभिधानियमनस्य काव्येऽपि दुर्वारत्वात् ।

स्वरादय इत्यादिग्रहणादभिनयापदेशौ गृह्येते । अन्ये चोक्तान्तर्भूताः । अभिनयश्च साक्षाद्विधार्थाकारादिप्रदर्शिका हस्तादिक्रिया । तथा यथा—

प्यमस्त्येवेत्यत आह—यद्वेति । तेन शब्दान्तरसंबन्धना । उपायादाविति । तस्यापि मुखपदवाच्यत्वात् । ‘मुखं निःसारणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि’ इति कोषात् । ननु सीतारामावित्यत्र दांपत्यसंबन्धस्य, रामदशरथावित्यत्र जन्यजनकभावस्य, रामहनूमन्तावित्यत्र स्वामिमूल्यभावस्य, रामायोष्ये इत्यत्र स्वस्वामिभावस्य चाभिधानियामकत्वात्कथमुक्तानामेव तदुक्तमत आह—अन्ये चेति । उक्तसाहचर्य एवान्तर्भूता इत्यर्थः । साहचर्यं हि परस्परसंबन्धितम् । तत्सर्वत्राविशिष्टम् । न चैवं सशङ्खचक्र इत्यत्रापि तदापत्तिः । शङ्खचक्रसंयोगेनैव शब्दोपात्तेन तत्राभिधानियमनात् । धार्यधारकभावस्यातथात्वेन विलम्बितत्वात्तत्र साहचर्यस्य सत्त्वेऽप्य

१. ‘अत्रेति’ ख.भा. २. ‘भाति’ ग. ३. ‘तु नार्थाभिधाननियमनं किं तु’ ग. ‘न नार्थाभिधानियमनं किं त्व’ ख. ४. ‘अव्यञ्जनम्’ क.

‘एदहमेत्तावस्था एदहमेत्तेहिं अच्छिबत्तेहिं ।

एदहमेत्तावस्था एदहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥’

अत्र विकसितमुकुलिताभिनयविशेषसाहित्येन स्तनस्य पीनत्वमुकुलितत्वाद्यर्थ-
विशेषेऽभिधा नियम्यते । एवं शेषपादत्रयेऽपि ।

अपदेशोऽभिमतनिर्देशः । तेन यथा—

‘इतः स दैत्यः प्रासश्रीनेत एवाहति क्षयम् ।

विषवृक्षोऽपि संवर्च्य स्वयं छेतुमसांप्रतम् ॥’

अत्रापदेशेनेदंशब्दस्याभिधा वक्तुरि नियम्यते ।

इत्थं संयोगादिनार्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽपि यदनेकार्थशब्देन कचि-
दर्थान्तरस्य प्रतिपादनं तत्र नाभिधा शब्दस्य व्यापारः । नियमनात्तस्याः ।
नापि लक्षणा । मुख्यार्थबाधादिविरहात् । किं स्वजनं स्वजनमेव व्यापारः ।
यथा—

भैद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-

वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।

१. “सौन्दर्यातिशयशालिन्या नयनगोचरमगताया गुणश्रवणमात्रजनितानुरागेण नाव-
केनावस्थायां पृष्ठायां दूरा इयमुक्तिः—‘एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपन्ना-
भ्याम् । एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥’ इति संस्कृतम् । परिमाणे दहप्र-
त्ययः । एतावत्परिमाणावामलकादिपरिमाणौ स्तनौ यस्याः सा । एवमेतावत्परिमाणं
ययोस्ते एतावन्मात्रे विवक्षितकमलदलादिपरिमाणे ताभ्यामक्षिपन्नाभ्यां नयनदलाभ्याम् ।
उपलक्षितेत्यर्थः । उपलक्षणे तृतीयानुशासनात् । तथा एतावन्मदिवक्षितपरिमाणं दीर्घादि
संख्यास्तथाभूतावस्था स्वरूपं यस्याः सा । एवमेतावदुद्विष्यं परिमाणं संख्या येषां तथाविधै-
र्दिवसैर्लक्ष्यया संवत्सरैरुपलक्षिता । परिच्छिन्नेति यावत् । वर्षकथनस्यैव प्रायशो लोकव्य-
वहारसिद्धत्वात् । दिवसैरिति करणे वा तृतीया । अत्र मुकुलाकारहस्ताभिनयेन स्तनपरिमा-
णविशेषे, पद्मदलाकृतिना तेन नेत्रपरिमाणविशेषे, उच्चतापुष्टिप्रदर्शकेन तद्विशेषे, अङ्गुल्यङ्ग-
धारणारिरूपेण च दिवससंख्याविशेषे बुद्धिस्मात्रशक्त्या एतावच्छब्दा नियमितशक्तयः ।”
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘एआवर्त्य पत्ता’ क. ३. ‘कुमारसंभवे द्वितीयसर्गे
५५ श्लोकोऽयम्, काव्यप्रकाशे, नैवोदाहृतः, उदाहरणचन्द्रिकायां च न व्याख्यातः.
४. ‘यस्य प्रकृतस्य राक्षः करो हस्तः सततं निरन्तरं दानस्य वितरणस्य संबन्धि-
यदम्बु तस्य सेकेन सुभगः शोभनोऽभूदित्यन्वयः । कीदृशस्य यस्य । भद्रः शोभन
आत्मा स्वरूपमन्तःकरणं वा यस्य तथाभूतस्य । तथा दुरधिरोहानाधृत्या तनुः
शरीरं यस्य तथाभूतस्य । एवं विशाले महति वंशे कुले उन्नतिर्मेद्वत्वं यस्य
तथाविधस्य । विशालस्य वंशस्योन्नतिर्यस्मादिति वा । तथा कृतः शिलीमुखानां बाणानां
संग्रहः समीचीनो ग्रहोऽभ्यासदाढ्यं येन तस्य । तथानुपप्लुताबाधिता गतिर्ज्ञानं यस्य
तथाभूतस्य । गतिर्यानं वा । यद्दानुपप्लुतानां निर्दुष्टानां गतिश्चितकता । पराञ्छाङ्गवारयतीति
परवारणस्तत्सारूप्येति राजपक्षे । गजपक्षे तु—यस्य परवारणस्य श्रेष्ठकरिविशेषस्य ।

यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य

दामाश्रुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥'

अत्र प्रकरणेन भद्रात्मन इत्यादिपदानां राज्ञि तद्वन्वययोग्ये चार्थेऽभिधानियम्रणेऽपि गजस्य तद्वन्वययोग्यस्य चार्थस्य व्यञ्जनयैव प्रतीतिः ।

ननूपमानोपमेयभावकल्पनाविरहाच्छब्दश्लेषतो भेदेऽपि 'योऽसकृत्परगोत्राणां—' इत्याद्यर्थश्लेषतः कुतोऽस्य भेदः । अर्थश्लेषे चोभयत्र शक्तिरेव, न व्यञ्जनेति चेत्, उच्यते । यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः । यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति ।

एवं व्यञ्जनां निरूप्य तथा शब्दं लक्षयति—

तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः

अञ्जनमिति प्रस्तुतत्वेऽप्यर्थगत्या तच्छब्देन व्यञ्जनं परामृश्यते । तेन व्यञ्जनयुक्तो व्यञ्जक इति संपद्यते । अन्यथाञ्जनयुक्तोऽञ्जक इति स्यात् । तदेतदुक्तमञ्जनयुक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

ननूक्तस्थलेष्वर्थस्याव्यञ्जकत्वे कैथं शब्दार्थयुगलरूपस्य काव्यस्य ध्वनिस्वं स्यादित्यत आह—

नुपन्यासात् । तर्हि विरोधोऽपि साहचर्येणैव गतार्थ इति तस्य पृथक्कथनमयुक्तमिति चेत्, सत्यम् । गोबलीवर्दन्यायेन पृथक्कथनं तदिति हेयम् । एवमन्यत्राप्युक्तम् । नन्विति । 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी—' इत्यादिः । सभङ्गश्लेषः । शब्दश्लेषः । जतुकाष्ठन्यायेन शब्दयोः श्लेषसंश्लेषणात् । तत्र द्वयोरपि प्राधान्यविवक्षणान्नोपमानोपमेयभावकल्पनम् । इह तु प्रकृतार्थे तात्पर्यावगतेस्तदसंबद्धान्यबोधनायोगादुपमानत्वेन तस्य प्रकृतार्थविशेषणत्वमित्युपमानोपमेयत्वकल्पनमिति भेदः । 'योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्रमः । शतकोटिदतां विभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥' इत्याद्यभङ्गश्लेषस्त्वेकवृत्तगतफलद्वयन्यायेनार्थश्लेषः । तत्रेन्द्रनृपयोरुपमानोपमेयभावकल्पनसाम्यात् । श्लेषे च व्यञ्जनानङ्गीकाराद्व्यञ्जनोदाहरणत्वमयुक्तमित्यर्थः । यत्रोभयोरिति । अन्यतरत्राभिधानियामकाभावात्, उभयत्र तत्सद्भावाद्वा यत्रोभयतात्पर्यं स श्लेषस्य विषयः, न व्यञ्जनायाः । यत्र त्वभिधानियामकमेकत्रार्थे तत्रा-

कारः शुण्डादण्डः । दानान्मु मदजलम् । भद्रात्मनो भद्रजातीयस्य । 'भद्रो मन्द्रो मृगश्चैव' इत्युक्त्वा 'एतेऽष्टौ गजयोनयः' इत्युक्तेः । दुरधिरौहतनोर्दुःखेनाधिरोह आरोहणं यस्यास्तथाभूता तनुर्यस्य तथाभूतस्य । अत्युच्चत्वादित्यर्थः । विशालो दीर्घो यो वंशो वेणुस्तद्वदुन्नतिरुच्चत्वं यस्य । यद्वा विशाला वंशस्य पृष्ठदण्डस्योन्नतियस्य । शिलीमुखा भ्रमराः । संप्रहृ आकर्षणम् । अनुपप्लुतगतेरनुद्धतगमनस्य धीरगमनस्येत्यर्थः । अत्र प्रकरणाद्राजवृत्तान्तो वाच्यः, गजवृत्तान्तस्तु व्यञ्ज्य इत्यभिधामूलस्य वस्तुध्वनेरुदाहरणम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. 'प्रवृत्तिः' ख. २. 'प्रस्तुते' क. 'प्रस्तुतो' ग. ३. 'कथं' ख-पुस्तके नास्ति, ४. 'स्वरूपस्य' ग. ५. 'न स्यात्' ख. ६. 'संश्लेषसंश्लेषणात्' ख.

यत्सोऽर्थान्तरयुक्तया ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ १५ ॥

स इति शब्दः । तथेति व्यञ्जक इत्यर्थः ।

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे काव्यशरीरभूत-

शब्दार्थविभागो द्वितीय उल्लासः ।

तृतीय उल्लासः ।

एवं शब्दे निरूपिते उपोद्धातेन शब्दव्यञ्जनायां निरूपितायां प्रसङ्गेनार्थ-
व्यञ्जना निरूपणीया, तत्रैतदाशङ्क्यते—शब्दे निरूपितेऽवसरोऽयमर्थनिरूपणस्य,
किं चार्थे धर्मिणि निरूपिते तद्धर्मो व्यञ्जनापि सुनिरूपा भवति, तत्कुतस्तदना-
दस्य व्यञ्जना निरूपणमिति तदेनां शङ्कामपनिनीषत्तुक्तं स्मारयति—

अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषां

अर्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः । अर्थस्य संनिवृष्टतत्त्वेऽपि तेषामित्यनेन योग्यतया
वाचकादयः शब्दाः परास्मृश्यन्ते ।

शिष्यावधानाय प्रतिजानीते—

अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

ननु सर्वेषामित्यादिना पूर्वमर्थानां व्यञ्जकता प्रोक्तैव, तदन्या कीदृशी
सेत्याकाङ्क्षयामाह—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधिः ॥ १ ॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २ ॥

बोद्धव्यः प्रतिपादनीयो जनः । अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् । अतो न वाच्ये-
नाभेदः । काकुः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनिविकारः । वाक्यवाच्याभ्यां सहितोऽन्य-
संनिधिर्वाक्यवाच्यान्यसंनिधिः । अतो न द्वन्द्वे एकवज्जावे नपुंसकत्वप्रसङ्गः ।
प्रस्तावः प्रकरणम् । वैशिष्ट्यं वैलक्षण्यम् । तच्च वक्रादिषु प्रत्येकमभिसंबध्यते ।
अन्योर्थो वाच्यलक्ष्यव्यतिरिक्तः । व्यक्त्यव्यञ्जना करणव्युत्पत्तेः । अर्थस्य

परार्थप्रतीतिर्व्यञ्जनयैवेति तत्राभिधामूलध्वनेर्विषय इत्यर्थः ॥ इति श्रीमत्तत्त्वसुपाख्य-
रामचन्द्रभट्टसूरिवरात्मजतत्त्वसद्वैयनाथभट्टविरचितायां, काव्यप्रदीपटीकायां प्रभा-
ख्यायां काव्यशरीरभूतशब्दार्थविभागो नाम द्वितीय उल्लासः ॥

उपोद्धातेनेति । प्रकृतस्य व्यञ्जकशब्दनिरूपणस्य सिद्ध्यर्थतयैत्यर्थः । तं
अर्थम् । कीदृशीति । तथा च वक्रादिवैशिष्ट्यहेतुकत्वप्रकारेणार्थव्यञ्जकतोच्यत

त्रिविधस्यापि, न तु कस्यचिदेव । प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा । या वासनेत्युच्यते । तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति प्रतिपादितम् । अतएव वैयाकरणादीनां न तथा रस-प्रतीतिः । तथा चोक्तम्—

‘सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत् ।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुट्याश्मसंनिभाः ॥’ इति ॥

यथाक्रममुदाहरणानि—

‘अहपिहुलं जलकुम्भं घेतूण समागदन्हि सहि तुरिअम् ।

समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥’

अत्र वक्त्री कामिनी । तस्या दुःशीलत्वरूपवैशिष्ट्यं विज्ञानतां चौर्यरतगोपनं व्यक्तीभवति ।

‘ओण्णिहं दोब्बलं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।

मह मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवह ॥’

इति । प्रतिज्ञार्थं इत्यर्थः । अतीति । ‘अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतासि सखि त्वरितम् । श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥’ श्रमाद्यौ [स्वेद]सलिलनिःश्वासौ ताभ्यां निःसहा निर्बला । ओण्णिहमिति । ‘औषिध्यं

१. ‘एकाकिन्या’ नदीं गत्वा आगताया अथास्याः कुतोऽयमीदृक् श्रम इति वितर्कयन्ती समानशीलां प्रतिवेशिनीं प्रति कान्चिदाह—अहपिहुलमिति । ‘विउलं’ इति पाठे ‘विपुलं’ इत्यर्थः । सखीत्यप्रतार्यताध्वननम् । अतिशयेन पृथुलं महान्तं जलपूर्णं कुम्भम् । तेन दुर्वहत्वम् । गृहीत्वा समागतासि । ननु मध्ये विश्रामः । त्वरितमित्यनेन स्वेदातिशययो-
म्यता ध्वन्यते । श्रमाद्यौ स्वेदसलिलनिःश्वासौ ताभ्यां निःसहा निर्बला । चलितुमक्षमेति यावत् । सलिलत्वोक्त्या स्वेदस्य बाहुल्यं व्यज्यते । अतः क्षणं विश्राम्यामि विश्रामं करोमि । यथा चैवंविधकुम्भवहनजन्योऽयं श्रमः नान्यथा शक्किता इति रतगोपनं यम्यते । तच्च बलभायाः कामिन्याः दुःशीलत्वादिवैशिष्ट्यबलादिति वक्तृवैशिष्ट्यस्य सहकारित्वे उदाह-
रणम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका. २. ‘ओण्णिहमिति । कृतकामुकोपमोणां द्वितीया प्रतीय-
मुक्तिः । महकेरं मदीयमिति वा । ‘तुहेति कर्मणि षष्ठौ । परिभवतीत्यस्य हिंसापेकत्वात्’ इति केचित् । ‘तुहेति द्वितीयान्तवेव । तथानुशासनत्वात्’ इति दीपिकाकारः । तदा च संस्कृतच्छायापि त्वामित्येव बोध्या । “तुहवीत्यनन्तरं ‘अहह’ इति कञ्चित्पाठः । स न युक्तः । ‘वृत्तहानिदोषात्’ इति केचित् । तत्र । गायामकेऽपि छन्दोन्तराभङ्गात्” इति चण्डीदासः । हे सखि, सनिःश्वासितमौश्रिआदिकं कर्तुं मन्दभागिन्या मम कृते मदीयं त्वामपि परिभवति पीडयतीत्यन्वयः । निःश्वासितं निःश्वासस्तत्सहितमुश्रिद्रस्य गत-
विद्रस्य भाव औश्रिअम् । मन्दोऽल्पो भागो भागधेयं विषतेऽस्याः सा तथा । मां तावत्परिभवत्येव । मत्कार्यार्थं गमनागमनादिना कामुकस्य प्रसादनव्यापारेण त्वामपी-
त्यपिशब्दलभ्योऽर्थः । मदीयमित्यर्थे तु मदीयमौश्रिआदिकं त्वामपि खेदवशात्परिभवती-

अत्र दूती प्रतिपाद्या तस्या अन्यदापि दृष्टदुष्टचेष्टया वैशिष्ट्येन तस्याः कामुकोपभोगो व्यज्यते । अत्रान्यदीयमुन्निद्रतादिकमन्यत्र बाधितमिति तत्सदृशमुन्निद्रतादिकं लक्ष्यत इति केचित् । तदबोधत् । सख्यास्तदीयो-
न्निद्रतान्वयस्यावाक्यार्थत्वात् ।

‘तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥’

खेदो मात्सर्यम् । अत्र खेदं मयि भजति नाद्यापि कुरुष्विति काकोवैशि-
ष्ट्यान्मयि न योग्यं कुरुषु पुनर्योग्यं मात्सर्यमिति व्यज्यते । नन्वत्रोक्तेन
काकुवैशिष्ट्येन वाच्यस्य सिद्धिः शोभनत्वनिष्पत्तिः क्रियते । तथा चापराङ्गतया

दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् । मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामप्यहह
परिभवति ॥’ ‘भागो रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः’ इति विश्वः । सख्यास्त-
दीयेति । सख्या नायिकासंबन्धौन्निद्रसंबन्धस्य वाक्यप्रतिपाद्यत्वाभावादित्यर्थः ।
अत्र हि नायिकागतौन्निद्रादेः सखीत्वेन तां प्रत्यपि दुःखदत्वं वाक्यार्थं इति
भावः । नन्विति । यद्यपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेऽपि काकुवैशिष्ट्योदाहरणताया न
क्षतिस्तथापि सुहृद्भावेन वस्तुस्थितिकथनायैतच्छङ्कोत्थापनं बोध्यम् । शोभनत्वेति ।

त्यर्थः । अतएव सखीति संबोधनम् । एतेन स्वीयसौत्रिश्चादेरन्यपरिभावकत्वासंभवात्स्वी-
यसजातीयलक्षणेति निरस्तम् । एकेनोभयपरिभवाभावादप्यर्थसमुच्चयानुपपत्तेश्च । अत्र
बोद्धव्यवैशिष्ट्येन कामुकोपभोगव्यक्तिः ।” इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. ‘तथाभूतामिति वेणीसंवरणे ‘आर्य, कदाचित्खिद्यते गुरुः’ इति सहदेवोक्त्यन-
न्तरं ‘गुरुः किं खेदमपि जानाति’ इत्युपक्रम्य भीमसेनोक्तिरियम् । अत्र इत्यमित्यध्याहृत्य
गुरुगौरवेण साक्षादनभियोज्यो युधिष्ठिरः इत्यममुना प्रकारेण खिन्ने ग्लाने मयि खिद्यते-
ऽनेनेति खेदो मात्सर्यं (तं) भजति । कुरुषु कौरवेष्वपि एवं दुरवस्थायामपि न भजतीति
सोपहासकाका वाक्यार्थः । किं कृत्वेत्याह—तथाभूतामिति । नृपैरेव सदः सर्वा तस्यां
पाञ्चालदेशाधिपस्य राज्ञस्तनयां पुत्रीं जन्मप्रभृत्यपरिभूताम् । असत्यपरिग्रहेणैव तथाभूतां
स्त्रीधर्मिणीं दुःशासनाकृष्टकेशपाशां विशिष्य भवत्संनिधावपि कथयितुमयोनयाम् । दृष्टेति
भजनक्रियया समानकर्तृकम्, उषितं स्थितमिति च भावे क्तप्रत्ययसिद्धं द्वितीयान्तं
दृष्टेत्यस्य कर्म । तथा च वल्कलस्य धरैरसाभिर्वने व्याधैः सार्धम्, नतु वानप्रस्थ-
नृपादिभिर्वदुषितम्, विराटस्य राज्ञ आवासे गृहेऽनुव्रितस्य सदादिवेषस्वारम्भेण
तिभृतं गुप्तं यथा स्यात्तथा स्थितं च दृष्टेत्यर्थः । दीपिकाकृतस्तु—‘दृष्टेत्येतदुषितमित्यनेन
समानकर्तृकम् । संनिधानात् । तेन पञ्चानामपि तद्दर्शनं लभ्यते’ इत्याहुः । अर्वा-
ञस्तु—वल्कलधरैरव्याधैः सहोषितं मां दृष्ट्वा, विराटस्यावासे स्थितं च मां दृष्ट्वा’ इत्यर्थ-
माहुः । अत्र काकुवैशिष्ट्यान्मात्सर्यस्यात्यन्तानौचित्यं ध्वन्यते ।” इत्युदाहरणचन्द्रिका.

व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, अतो न ध्वन्यङ्गं काकुरिति चेत्, उक्तव्यङ्ग्यस्य क्रोधप्र-
कर्षपर्यवसन्नतया वाच्यस्यैव तदङ्गत्वात् । तदेतदुक्तम्—‘नच वाच्यसिद्ध्य-
ङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्’ इति । तथापि काकाक्षिसव्यङ्ग्य-
रूपगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदता कथमपनेचेति चेत्, न । अत्र नेति प्रश्नकाकापि
वाक्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात् । यां काकुं विना वाक्यार्थबोध एव नोपपद्यते
तथैवाक्षिसस्य गुणीभावात् । यथा—‘ममामि कौरवशतं समरे न कोपात्’
इत्यादौ भीमसेनादौ तादृशे वक्तरि । तदेतदुक्तम्—‘प्रश्नमात्रेणापि काको-
र्विश्रान्तेः’ इति ।

अन्ये तु—‘कुरुषु न भजतीति नैष्काकुः किमर्थः । ततः प्रश्नरूपः किमर्थं
एव इडाक्षिस इति तस्यैव गुणीभावो न्याय्यः । नतु क्रमेणापि काका व्यङ्ग्यो
गुणीभूतो भवति । अतएव गुणीभूतविभागे काकाक्षिसमिति इडार्थगर्भा-
क्षिसपदप्रयोगः’ इति तात्पर्यमाहुः ।

‘तद्दृष्ट्वा मह गण्डतल्लणिमिअं दिट्ठिं ण गेसि अण्णत्तो ।

एत्थिं सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी ॥’

व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतो हि वाच्यार्थः क्रोधप्रकर्षपर्यवसायीति शोभन इत्यर्थः । ध्वन्यङ्गं
ध्वनित्वप्रयोजिका । स्फुटत्वादुक्तावनुक्तं हेतुं स्वयं दर्शयति—उक्तेति । क्रोधप्र-
कर्षकतया रसान्तरङ्गत्वेन व्यङ्ग्यमेव प्रधानम्, वाच्यं तु तदङ्गमिति वैपरीत्याह
गुणीभूतमित्यर्थः । वृत्तौ शङ्कातजिरासौ सिद्धवदेकेनैव ग्रन्थेन कृताविति दर्शयितु-
माह—तदेतदिति । अपराङ्गत्वाभिप्रायं वाच्यसिद्ध्यङ्गमिति पदमिति शङ्कोपन्यासे
दर्शितमिति न विरोधः । प्रश्नमात्रेणेतिग्रन्थं विधान्तरेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वाशङ्कानि-
वारकत्वेन व्याख्यातुमाह—तथापीति । नन्मात्रगतया प्रश्नव्यङ्गिकया काकापि
वाक्यार्थोपपत्तौ खिन्न इत्यादिसमस्तगतकाका व्यङ्ग्यस्यानौचित्यस्य न काकाक्षि-
प्तत्वम् । यां विना वाक्यपर्यवसानं तादृशकाकुव्यङ्ग्यस्यैव तथात्वादिति समाधान-
ग्रन्थार्थमाह—अत्रेत्यादिना । किमर्थेति । किमित्यस्यार्थः प्रश्न एवार्थो
व्यङ्ग्यो यस्या इत्यर्थः । क्रमेण प्रश्नरूपव्यङ्ग्यद्वारा । एवं चैतन्मते वाच्यस्य सिद्धिः
शाब्दबोधः, तदङ्गं काकुः, तद्व्यङ्ग्यमनौचित्यमित्यर्थः । तेन विना बाधाच्छाब्द-
बोधानुदयात् । काकाक्षिसरूपगुणीभूतमेदाशङ्काप्रश्नरूपव्यङ्ग्यस्य तथात्वेऽप्यनौचि-
त्यरूपव्यङ्ग्यस्य प्राधान्यादाशङ्कानिरास इति ज्ञेयम् । तदप्यति । ‘तदा मम गण्ड

१. ‘वाच्यार्थं’ क. २. ‘न नष्काकुः’ क. ३. ‘काकुः किमर्थं’ ख. ४. ‘तद्दृष्ट्वा
इति । नायिकाभयेन निकटवर्तिनीमन्यां साक्षादपह्नाय नायिकाकपोलगतं तत्प्रतिबिम्बं
नायिकामुखावलोकनमिथेन पश्यन्तं नायकं प्रति प्रतिबिम्बापगमे दृष्टिविकारेण
हातरहस्याया नायिकाया इयमुक्तिः । तदा यदा सा कामिनी मर्त्सनिधावासीत् ।
निमग्नानिमिषतया तथाभूतामिव । ‘णमिअं’ इति पाठे नमितां निहितामित्यर्थः ।
सैवाहमिति तदवस्थैवेत्यर्थः । सा खिन्नधानिमेधा । तथा च सखीसंनिध्यातिरिक्तसकलसत्त्वे

वाक्यमनेकपदम् । तेनात्र तदेदानीं पदात्मकवाक्यवैशिष्ट्यान्मत्सखीं कपोल-
प्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यादृशी । चलितायां तु तस्यामन्यादृशीत्यहो
प्रच्छन्नकामुकत्वं तवेति व्यज्यते ।

‘उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।
किं चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥’

अत्र नर्मदोद्देशरूपस्य तद्विशेषणीभूतवातकुञ्जादिरूपस्य च वाच्यस्य यथोक्त-
विशेषणस्य वैशिष्ट्यात्सुरतार्थं प्रविशेति व्यज्यते ।

‘णोल्लेह अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥’

स्थलनिमग्रां दृष्टिं न नयस्यन्त्यतः । इदानीं सैवाहं तावेव कपोलौ न सा दृष्टिः ॥’
उद्देश इति । ऊर्ध्वदेश उच्चस्तीरभूप्रदेश इत्यर्थः । वातविशेषणं सुरतसुहृत्त्वम् ।
कुञ्जविशेषणं गुञ्जन्मधुकरत्वरूप उत्कर्षः । णोल्लेहेति । ‘नुदत्यनार्द्रमनाः ध्वश्रूमां

तादृग्दृष्टिविरहस्तदेदानीं पदात्मकवाक्यगम्यः सखीसानिध्याभावस्य स्वप्रयोजकत्वमवगमयतीति
वाक्यवैशिष्ट्योदाहरणम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. “उद्देश इति । नायिकां प्रति रमणार्थिनः कामुकस्योक्तिरियम्, दूत्या वा । हे तुन्वि,
कंदर्पवेदनया तनुतायोगिनि, अयं नर्मदायाः नर्म ददातीति नर्मदा, नतु यथाकथंचिद्व्रीडं तस्या
उद्देश ऊर्ध्वो देशः स्थलनभयेन संचरतामनवलोकनीयस्तिष्ठतीत्यन्वयः । ‘उद्दिश्यते दूरादेव
जनैर्न पुनर्गम्यत इति निर्जनत्वं सूच्यते’ इति दीपिका । कीदृशस्तत्राह—सरसेत्यादि ।
सरसानां सिग्धानां कदलीनां श्रेण्या पङ्क्त्या या शोभा तयातिशाय्यतिशयितः । अत्र
सरसत्वेन शुष्कपर्णेष्वनिराहित्यम्, श्रेणीत्वेन च वेष्टनं गम्यते । तथा कुञ्जानामुत्कर्षेण
गुञ्जन्मधुकरत्वरूपसुहृदरूपेणाङ्कुरितोऽभूतप्रादुर्भूतो रमणीनां विभ्रमो विलासो
यत्र सः । तथा चानुत्पन्नविलासानामपि नवनवोन्मेषशालिविलासोदयाद्भवत्याः कामु-
कवैमुख्ये दुरुत्तरं व्यसनं स्यादिति भावः । न केवलमेतावदेव वैमुख्ये बाधकम्, किं
लज्जयदपि बलवदस्तीत्याह—किं चेति । एतस्मिन्प्रदेशे ते शैत्यमान्यसौमनस्यवत्तया
प्रसिद्धा वाता वान्ति । कीदृशाः । सुरतस्य सुहृदः श्रमवर्माणपनोदनेन निरतिशयानन्दमय-
त्वरूपसुरतोत्कर्षहेतवः । ‘श्रमापनयनेन पुनःपुनः प्रवर्तनया सुहृदः’ इत्यन्ये । येषां
वातानामग्रे मनोभूः सरति चलति । मनोभूत्वेन सचेतसां कुण्परिहर इति ध्वन्यते ।
मर्मभवेति केचित् । कलितो धृतोऽकाण्डेऽनवसरे । निमित्ताभाव इति यावत् । कोपो
येन सः । सुरतवैमुख्ये तु वृद्धं कुपितः किमिव न कश्चिष्यतीति व्यज्यते । अत्र वाच्यस्य
देशादेरुच्चविशेषणवैशिष्ट्यात्कामुकानिप्रायव्यक्तिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका. २. ‘कावि-
स्तंभैतामिन् वदस्वतयेव संहितमुपपत्तिं प्रति संकेतकालसूचनाय प्रतिवेष्टिनीं
प्रत्याह—णोल्लेहेति । ‘होइ’ इत्यनन्तरं ‘णवइ’ इत्यधिकपाठे केवलमिति बोध्यम् ।

अन्यसंनिधिः संनिहितोऽन्यः । तेनात्र प्रतिवेशिर्नी प्रति प्रवर्तिते वाक्ये प्रच्छन्नपुरुषरूपस्यान्यस्य संनिधेर्वैशिष्ट्यात्संनिहितं प्रति संख्या संकेतसमय इति व्यज्यते ।

‘सुब्वह समागमिस्सदि तुज्ज पिओ अज पहरमेत्तेण ।

एमे अ किं ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिजम् ॥’

अत्र प्रकरणस्य प्रस्तावस्याभिसारसंबन्धित्वरूपवैशिष्ट्यादुपपत्तिं प्रत्यभिसर्तुं न योग्यमिति व्यज्यते ।

‘अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमन्नास्मि करोमि सख्यः ।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रन्धितोऽञ्जलिर्बः ॥’

अत्र देशस्यातिविचित्रादिरूपवैशिष्ट्याद्भूतवैशिष्ट्यादिसहितात्सख्या प्रच्छन्न-
कामुको युष्माभिः प्रहेय इति प्रियसखीः प्रति व्यज्यते ।

गृहभरे सकले । क्षणमात्रं यदि संध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥’ ‘अण-
णमणा’ इति पाठे त्वनन्यमना इत्यर्थः । अनार्द्रं निष्ठुरम् । सुव्वईति । ‘श्रूयते
समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण । एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय
करणीयम् ॥’ एवमेव निर्व्यापारा । करणीयं रन्धनादि । सज्जय साधय ॥ प्रक-
रणस्येति प्रस्तावपदार्थकथनम् । अभिसारसंबन्धित्वेति । अभिसरणप्रस्तावे
हि प्रियागमनमभिसरणनिषेधसूचकमित्यर्थः । अन्यत्रेति । कुसुमानामवचायं हस्ते-
नादानम् । ‘हस्तादाने चेरस्तेये’ इति घञ् । अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम् । सख्या

नुदति प्रेरयति । अनार्द्रमकरुणम् । तेन श्रमादिव्याजालम्बनेनापि नावकाश इति ध्वन्यते ।
गृहभारो गृहकार्यनिर्वाहः । सकल इत्यनेन सार्वकालिकी व्यग्रता सूच्यते । यदि क्षणमात्रं
विश्रामो भवति तर्हि संध्यायाम् । अथवा न भवति इति योजना । अत्र कामुकसंनिधित्वरूप-
पादन्यसंनिधिवैशिष्ट्यात्संकेतकालसूचनाभिब्यक्तिः । इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. ‘सुव्वईति । उपपत्तिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्यतां नायिकां निवारयितुं सख्या इवमुक्तिः ।
समागमिष्यतीति श्रूयत इत्यन्वयः । श्रूयते नतु विरकालं वृत्तम् । सम्यक्पूर्णाकाम
आगमिष्यति प्रिय इति सोड्डुण्ठोक्तिः । अथ, नतु दिनान्तरे; प्रहरमात्रेण, नतु विल-
म्बात् । एवमेव तदीयभोजनाद्युपयोगिव्यापारराहित्येन । करणीयं रन्धनादिकं सज्जय
साधयेत्यर्थः । अत्र विदितरहस्या सख्या कृतस्य प्रियागमनप्रस्तावस्याभिसरणप्रकरण-
कृतत्वरूपाद्वैशिष्ट्यात्प्रस्तावपदवाच्यस्य प्रकरणस्याभिसारसंबन्धित्वरूपादा वैशिष्ट्यान्निवारणं
व्यज्यते । इत्युदाहरणचन्द्रिका. २. ‘अन्यत्रेति । हे सख्यः, यूयमन्यत्र इतो दूरम् ।
कुसुमानामवचायं हस्तेनादानम् । तथा चान्यत्र हस्ताग्राहकुसुमबाहुल्यमिति प्रलोभ-
नम् । अस्मीत्यहमर्थकम् । अत्राहमवचायं करोमि । हेतुमाह—नाहमिति । हि यस्यादूरं
भ्रमितुं संचरितुं न समर्था । प्रसीदत प्रसन्ना भवत । अयं वो युष्मभ्यमञ्जलिः प्रणा-
माञ्जली रन्धितः कृतः । सर्वाम्य एकोऽञ्जलिरेष्यसामर्थ्यादेव । अत्र देशस्य निर्जनत्वादिनै-
शिष्ट्यात्प्रच्छन्नकामुकप्रेषणमाश्रयतां प्रति व्यज्यते । इत्युदाहरणचन्द्रिका.

‘गुरुभणपरवस पिअ किं भणामि तुह मन्दभाइणीअ अहम् ।
अज पवासं वचसि वच सअं जेव्व सुणसि करणिजम् ॥’

अत्राद्यपदप्रतिपाद्यमधुसमयवैशिष्ट्याद्वक्तुरवस्थाविशेषसहितादिदानीं यदि ब्रजसि तदाहं तावन्न जीवामि, तव तु न जानामि गतिमिति प्रियं प्रत्य नुरक्तया व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टालीलादेः । तत्र चेष्टा यथा—

‘द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तथा सौन्दर्यसारश्रिया
‘प्रोह्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोऽशुकमधःक्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लभे ॥’

व्यज्यत इत्यन्वयः । गुरुजनेति । ‘गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्द-
भागिन्यहम् । अद्य प्रवासं ब्रजसि ब्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥’ गतिमव-
स्थाम् । आदीति । कालादेरित्यादिपदादित्यर्थः । चेष्टादेरिति वृत्तिगतादिपद-
ग्राह्यमाह—लीलादेरिति । आदिना हावान्तरपरिग्रहः । द्वारस्योपान्ते निरन्तरे

१. ‘गुरुअणेति । तुहेति द्वितीयान्तं पूर्ववत् । संबन्धसामान्यविवक्षया वा पठ्यी ।
गुरुजनो जनमात्रम्, न तु विदग्धः । स एव वसन्ते प्रवासप्रेषणात्परः शत्रुः । तस्य
वश अधीनेति संबोध्यविशेषणम् । तेनानिवार्यत्वम् । प्रियेत्यनेन गमने दुःखौत्कण्ठ्यम् ।
किं भणामि वदामि । परायत्ते निरर्थकत्वात् । मन्दभागिनी अल्पभाग्या । यतस्तवेयं
मतिः । किं मया क्रियते तत्राह—अथेत्यादि । अथ प्रकरणाद्वसन्ते । यत्र प्रवासिनोऽपि
गृहमायान्ति । ब्रजेति रोषोक्तिः । स्वयमेव करणीयं कर्तुमर्हं जानासि । तेन स्वधैर्यं
बुद्धैव प्रायो गच्छसीत्यभिप्रायः । अत्राद्यशब्दप्रतीतात्प्रतिदिनोपचीयमानत्वादिरूपा-
द्वसन्तकालवैशिष्ट्यादिदानीं त्वद्रमने न जीविष्यामीति व्यज्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका.
२. ‘चेष्टादेः’ ग. ३. ‘चेष्टाया’ क. ४. ‘द्वारोपान्तेति । मित्रं प्रति नायकस्योक्तिरि-
यम् । मयि द्वारस्योपान्ते समीपे निरन्तरे निर्व्यवधानेऽत्यन्तसंनिहिते सति तथा
प्रकृतया नायिकया सौन्दर्यस्य साराणां श्रीः संपत्तिर्यत्र, सौन्दर्येण साराणां श्रेष्ठानामिव
श्रीः शोभा वा यत्र तथाभूतया । ऊरुयुगं प्रोह्लास्य प्रसार्य परस्परेण समासक्तं
संबद्धं समासादितं स्थापितम् । अथवा भावे कप्रत्ययः । तथा च समासकं प्रापित-
मित्यर्थः । तथा शिरःसंबन्ध्यशुकं पुरतो मुखोपर्यानीतम् । चले चपले लोचनेऽध-
क्षिप्ते संचारिते । वाचो वचनस्य तत्रानाविधं प्रसरणं सखीषु प्रवर्तनं निवारितम् ।
दोर्लभे भुजलते संकोचिते । आकुक्ष्य मिथः संयोजिते इत्यर्थः । अत्र पञ्चभिर्वाक्यै-
रुदासनादिचेष्टावैशिष्ट्यात्मकेण स्पष्टकालिङ्गन-गूढागमन-सूर्यास्तसमय-कोलाहलराहित्य-पा-
रितोषिकालिङ्गनानि व्यज्यन्ते । तैश्चानुरक्तासीति रहस्यं बोध्यते । तत्र स्पष्टका-
लिङ्गनस्वरूपं—‘संमुखागतायां प्रयोज्यायामन्यापदेशेन गच्छतो गात्रेण गात्रस्य स्पर्शनं
स्पष्टकम्’ इति वात्स्यायनसूत्रे दशितम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्रोरुसमासङ्गादिचेष्टावैशिष्ट्यात्प्रच्छन्नकामुकविषय आकृतविशेषो ध्वन्यते । तत्र प्रथमार्धेन स्पृष्टकमालिङ्गनम्, शिरोंशुकं पुरत आनीतमित्यनेन गूढमागच्छेरिति, अधःक्षिप्ते चले लोचने वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणमित्येताभ्यां सूर्यास्तसमये कोलाहलरहिते काले समागन्तव्यमिति, संकोचिते दोर्लभे इत्यनेन पारितोषिकमालिङ्गनं करोमीति व्यज्यते । यद्यप्येकत्रैवोदाहरणे मेदान्तराण्यपि सन्तीति तदेवोदाहरणान्तरं संभवति, तथापि निःसंदेहव्युत्पत्तये प्राप्तावसरतया पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्तृबोद्धव्यादीनां प्रत्येकमेव न व्यवञ्जकत्वम्, किंतु मिलितानामपीति द्रष्टव्यम् । तत्र द्वयोर्व्यञ्जकत्वं यथा—

‘अत्ता एत्थ णीमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।

मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सज्जाए मह णिमज्जहिस्स ॥’

नन्वर्थमात्रव्यञ्जकत्वे शब्दार्थयुगकाव्यस्य व्यञ्जकत्वं न सिद्धमित्यत आह—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥ ३ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयस्तृतीय उल्लासः ।

निर्व्यवधाने । प्रोक्तास्य प्रसार्य । स्पृष्टकमिति । दूरस्थस्यैव प्रियस्य स्वाङ्गैः स्वाङ्गान्येव मेलयित्वालिङ्गनं स्पृष्टकमित्याहुः । मेदान्तराण्यपीति । अन्यत्र यूयमित्यत्र देशवैशिष्ट्यवद्वक्तृवैशिष्ट्यमपि दर्शितम् । अथेति कालवैशिष्ट्योदाहरणेऽपि वक्तुरवस्थाविशेषरूपवैशिष्ट्यमित्येवमित्यर्थः । अत्तेति । ‘श्वश्रूत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय । मा पथिक रात्र्यन्ध शय्याया मम निमज्जयति ॥’ आवयोरिति वा । निमज्जति निःस्पन्दा शेते । अहमित्यत्र शयनक्रियानुपादानाभिद्राविरहच्वननम् । शब्देति । प्रत्यक्षीकृतकामिमिश्रुनादौ त इत्यादौ चास्वादविरहादन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दस्यापि हेतुत्वम्, परिवृत्तिसहत्वतदभावाभ्यां तु शब्दाप्राधान्यमर्थप्राधान्यं विपरीतं चेत्तेतावान्विशेष इति भावः ॥ इति श्रीमत्तत्सदुपाख्यश्रीरामचन्द्रभट्टसूरिवरात्मजतत्सद्वैद्यनाथभट्टविरचितायां काव्यप्रदीपटीकायां प्रभाख्यायामर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ॥

१. “अत्तेति । स्वयंदत्त्वा इयमुक्तिः । ‘अज्जा’ इति पाठे आर्या साध्वी न विदग्धा । निमज्जति वार्धक्याग्निःस्पन्दं शेते ननु जाग्रद्रूपा । तेन शङ्काराहित्यम् । अत्र ततो भिन्नस्थलेऽहमहमेव नान्यसहिता । अत्र स्वापबोधकपदानुक्त्या निद्राराहित्यं स्वस्य व्यज्यते । दिवसकमिति निन्दायां कप्रत्ययः । तस्य समागमप्रतिकूलत्वात् । द्वितीया चाल्पन्तसंयोगे । दिवसकं व्याप्येत्यर्थः । ‘दिअहए’ इति पाठे दिवसके प्रलोकय सन्त्यगबलोकय । पथिकरात्र्यन्धेति च रहस्यगोपनाय । पथिकत्वेन श्रमादिसरणयोग्यताया रात्र्यन्धत्वेन च स्वशय्यापतनप्रसक्तोर्षोतनात् । अन्यथा प्रसक्तनिषेधे रहस्यमङ्गापत्तेः ।

चतुर्थ उल्लासः ।

यद्यपि काव्यलक्षणं विभागं च विधाय लक्षणपदार्थेषु विवेचनीयेषु विशेष्य-
पदस्यार्थः शब्दार्थौ विचारितौ, इदानीं विशेषणपदार्थानां दोषगुणालंकाराणां
निरूपणमुचितम्, नतु काव्यभेदस्य ध्वन्यादेर्भेदानाम्, तथापि ध्वन्यादे-
र्भेदेषु ज्ञातेषु दोषादीनां हेयोपादेयतयोरवगमो भवति । तयोर्विशेषनिष्ठत्वात् ।
यथा श्रुतिकटुत्वं दोषो ध्वनिविशेषे शृङ्गारादिध्वनौ हेयः, रौद्रादिरसध्वनौ
चित्रभेदे वा अहेय एव । माधुर्यादिगुणः शृङ्गारादिध्वनावुपादेयः, रौद्रादि-
ध्वनौ त्वनुपादेय एव । अलंकारोऽपि यमकादी रसादिध्वनावनुपादेयः, चित्र-
भेदे त्पादेय एव । तथाच दोषादिनिरूपणोपयोगिषु काव्यविशेषप्रभेदेषु
निरूप्यमाणेषु प्रसङ्गादनुपयोगिनोऽपि निरूपणीया इत्युल्लासत्रयेण काव्यभेद-
त्रयभेदो निरूपणीयः । तत्र प्रथमे ध्वनिभेदः । तत्र तावच्च निर्विधा—अवि-
वक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च । तत्र यद्यप्यभिधायाः प्राथम्यात्तन्मू-
लको विवक्षितान्यपरवाच्य एव प्रथमं निरूपयितुमुचितः, तथापि लक्षणा-
मूलव्यञ्जनायाः प्राङ्गिरूपणात् 'प्रश्ननक्ति' इत्यत्रैव प्रावृत्तिकं क्रममुपादाय,
सूचीकटाहन्यायेन वा प्रथममाद्यमुद्दिश्य विभज्यते—

भेदेषु ज्ञातेष्विति । रसध्वनित्वादिना ज्ञातेष्वित्यर्थः । तयोर्हेयोपादेयतयोः ।
विशेषेति । ध्वनिविशेषनिष्ठत्वादित्यर्थः । तदेव दर्शयति—यथेति । यस्य हि
योऽपकर्षप्रयोजकः स दोषस्तत्र हेयः । अन्यत्र तु स न दोषः । अतएव न हेयः ।
यमकादिरिति । चित्तविक्षेपकत्वादिति भावः । चित्रभेदेषु शब्दचित्राख्ये ।
काव्यविशेषप्रभेदेष्विति । काव्यविशेषाणां ध्वन्यादीनां प्रभेदेषु रसध्वन्यादिरू-
पेषु । नन्वेवमपि यच्चिरूपणं विना दोषादिनिरूपणं न संभवति त एव भेदा निरूप-
णीया न त्वन्येऽपि तत्राह—प्रसङ्गादिति । तत्र उल्लासत्रयमध्ये । प्रागिति ।
अभिधामूलव्यञ्जनातः पूर्वमित्यर्थः । पशूनिति । प्रजापतिदैवव्ययागसाधनानां सप्त-
दशपशूनामुपाकरणादयः षोडशसंस्काराः सह कर्तव्याः । 'प्राजापत्यैश्वरन्ति' इत्येकप-
देनोपादानात् । अतः सर्वेषामुपाकरणं कृत्वा ततोऽञ्जनमिति पदार्थानुसमयाख्यक्रमेण
किमञ्जनमुपाकरणवद्यतः कुतश्चित्पशोरारभ्य कार्यमुत येन क्रमेणोपाकरणं प्रवृत्तं
तेनैव क्रमेणेति संशये नियामकाभावादस्त्वनियमः । अञ्जनादिकरणे तु पूर्वप्रवृत्तो-
पाकरणक्रमस्यैवोपस्थितस्य नियामकत्वसंभवात्तुल्यव्यवधानसंभवे न्यूनाधिकतत्कल्प-

महेत्याद्योरित्यर्थे निपातः । स्वमात्रोपादाने रहस्यप्रकाशापत्तेः । तरुणतया स्वशय्याप-
त्तनस्याल्यन्तानुवितत्वाद्वा स्वमात्रोद्भूतम् । निमङ्गयसि शयिष्ठाः । 'गिसज्ज' 'गिसज्ज-
क्षिसि' इति पाठे निषीदसि नीषेत्समीक्षीति संस्कृतम् । अत्र गृहे विषमाम्नाप्राः शय्या
अतिवृद्धतया वधिरनिक्षेष्टत्वादियोगात्तन्वस्य चासत्त्वात्त्रिंशद्व्यवहरेति वक्तृप्रति-
पाद्यमेषिष्ठ्यात्पतीव्यत इति दिक् । इत्युदाहरणजन्द्रिका ।

१. 'पवस्यायैशब्दार्थौ' क, 'पदार्थः शब्दार्थौ' ग. २. 'अपि' क-पुस्तके नास्ति.
३. 'ध्वनिर्यथा' क, 'ध्वनिर्द्विविधः' ग.

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्धनौ ।

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ १ ॥

वाच्यः वाच्यजात्यादिधर्माणां धर्मा अविवक्षितो वाच्येन रूपेणान्वयबोध-
विषयतया अनपेक्षितो यत्र सः । तत्र यद्यप्यविवक्षितवाच्यमात्रस्य नायं
विभागः, किंतु तद्विशेषस्य ध्वनेः । ननु शब्दात्तथावगमः । तथापि यत्त-
दोरेकार्थपरामर्शकतया तत्र ध्वनाविति तच्छब्दार्थस्य ध्वन्यभेदे यच्छब्दार्थोऽपि
ध्वनिरेव लभ्यते । अयं च ध्वनिभेदो लक्षणाभूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सति
संभवति । अविवक्षितत्वं च वाच्यस्यान्वयानुपपत्तेः । सा च वाच्यस्यानुप-
युक्तत्वेन, उपयोगिनि रूपान्तरे तात्पर्याद्वा, स्वत एवान्वयायोग्यत्वाद्वा ।
अनुपयुक्तत्वमपि पुनरुक्तत्वात्, विशेषानाधायकत्वमात्राद्वा । तत्रोभयत्रापि
वाच्यमर्थान्तरे उपयोगिनि लक्ष्यतावच्छेदके संक्रमितमाश्रयत्वेन परिणमितम् ।
वाच्योऽप्यर्थो रूपान्तरेण लक्ष्यत इत्यर्थः । द्वितीये तु वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतं न
केनापि रूपेणान्वयप्रविष्टम् । तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यं पुनरुक्तेर्यथा—

नायोगाच्च प्रवृत्तिक्रमेणैवानुष्ठानमिति मीमांसकसिद्धान्तोऽत्र दृष्टान्तीकृतः । प्रकृतेऽपि
लक्षणाभूलव्यञ्जनाया लक्षणाभूलध्वन्युपयुक्तायाः पूर्वं प्रवृत्तिस्तदुपजीविलक्षणाभूल-
ध्वनेः प्रथमं निरूपणमित्येतावता साम्यात् । लक्षणाभूलव्यञ्जनतदुत्थध्वन्योरङ्गाङ्गि-
त्वेन परस्परसंनिकर्षस्य न्यायसिद्धत्वात् । लक्षणाभूलध्वनेः पश्चाच्चिरूपेण तदङ्गलक्ष-
णाभूलव्यञ्जननिरूपणस्याभिधामूलव्यञ्जनतदुत्थाभिधामूलध्वनिभ्यां द्वाभ्यां व्यवधान-
मिति विप्रकर्षोपपत्तेरिति भावः । दृष्टान्ते विध्यवगतसाहित्यानुरोधात्कमनियमः, इह
तु तदभावात्स न युक्त इत्यत आह—सूचीति । अभिधामूलस्य बहुभेदत्वा-
दिति भावः ।

ननु जात्यादेरेव वाच्यत्वादविवक्षितवाच्यत्वस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यार्थान्तरसंक्र-
मितवाच्योभयसाधारण्येऽपि वाच्यस्य रूपान्तरेण लक्ष्यत्वरूपस्यार्थान्तरसंक्रमितत्व-
स्यासंभव इत्यतो व्याचष्टे—वाच्य इत्यादिना । वाच्येन रूपेणैवार्थान्तरसंक्रमि-
तवाच्यसंप्रदायैम् । अनपेक्षिततात्पर्याविषयः । कुन्तानामपि वाच्येन प्राधान्यरू-
पेणानपेक्षणात्संप्रहः । लक्षणाभूलेति । लक्षणाया मूलं प्रयोजनतया हेतुभूतम् ।
तेन निरूढलक्षणिकोत्पन्नध्वनिव्यावृत्तिः । गूढत्वप्राधान्ये च वाच्यातिशयत्वोपलक्षके ।
तेनाष्टविधगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यावृत्तिः । उभयत्रापि अनुपयुक्तमेदद्वयेऽपि । आश्रय-
त्वेनेति । इदमुपलक्षणम् । कुन्ताः प्रविशन्तीत्यादावर्थान्तरे पुरुषादिधर्मिण्याधेय-
त्वेनापि परिणामस्याभ्युपगन्तव्यत्वात् । मुख्यपरिणामस्यासंभवादाह—वाच्यो-
ऽपीति । रूपान्तरेण गम्यमानत्वमेव परिणाम इत्यर्थः । कुन्तानामपि विशेषणत्वेन
रूपान्तरेण लक्षणाद्यथाश्रुतेऽपि न दोष इत्याहुः । 'तदा जायन्ते शुणा यदा ते
सहस्रैर्युग्यन्ते । रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥' यदा ते

‘ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिअएहि’ वेप्पन्ति ।

रइकिरणानुगहिआई होन्ति कमलाई कमलाई ॥’

अत्र द्वितीयकमलशब्दः सौरभादिगुणयुक्तस्वरूपे लक्ष्ये संक्रमितवाच्यः ।

विशेषानाधायकत्वमात्राद्यथा—

‘त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥’

अत्र वच्मीत्यनुपयुक्तार्थम् । अनुपादानेऽपि वचनक्रियाप्रतीतेः । अत उपदे-
शत्वं लक्ष्यम् । तत्र वाच्यार्थः संक्रमितः । एवं त्वामस्मीतिपदे अप्यनुपयुक्तार्थे ।
संबोध्यतयैव युष्मदर्थस्य वचनकर्मतावगतेः । वच्मीत्युत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थस्य
तत्कर्तृकत्वप्रत्ययात् । अतस्ताभ्यां लक्ष्ययोरुपदेश्यासत्वयोस्तद्वाच्यौ संक्रमितौ ।
तथा आत्मीयाया एव मतेः सर्वैरास्थानादनुपयुक्तत्वेनात्मीयशब्देन प्रमाणपरि-
गृहीतत्वे लक्ष्यमाणे तद्वाच्यं संक्रमितम् । ‘अस्मद्युत्तमः’ इत्यत्रार्थग्रहणादस्मि-
योगे वच्मीत्युत्तमपुरुषः ।

अत्यन्ततिरस्कृतं यथा—

‘उपेकृतं बहु नाम किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥’

प्रसिद्धा गुणाः सहृदयैर्गृह्यन्ते तदोत्कर्षहेतवो जायन्त इत्यन्वयः । दृष्टान्तमाह—
रवीत्यादि । अनुगृहीतानि स्पृष्टानि कमलानि कमलानि सुरभीप्याह्लादकानि वा
भवन्ति । अत्रातथाभूतेषु कमलत्वजालभावो व्यङ्ग्यः कमलपदलक्षणालम्भ्यः ।
अत्र रविकिरणाननुग्रहेण न केवलं सौरभादिगुणहानिः, अपि तु कमलत्वसाम्या-
न्तर्गतिरपि नेति लक्षणाभूलध्वनिः ।

त्वामस्मीति । अत्रोपदेशलक्षणामूलं हितसाधनत्वं व्यङ्ग्यम् । त्वामित्युद्देश्यत्व-

१. “त्वामस्मीति । असीत्यहमर्थे । एवं च यत इत्यध्याहृत्य ‘यतोऽत्र विदुषामसाधारणज्ञान-
वतां समवाय एकवाक्यतापन्नः समुदायस्तिष्ठति तत्तत्सादात्मीयामप्रतार्था मतिमास्थायावल-
म्ब्यात्र स्थितिं विधेहीति वाक्यार्थस्य त्वामुपदेशार्हमहमाप्तौ वच्म्युपदिशामीत्युपदेशक्रियाकर्म-
त्वेनान्वयः । ‘आदाय’ इति पाठे गृहीत्वा । अवलम्ब्येति यावत् । विद्वत्समवायात्मीयश-
ब्दानामाशुपरपराभवपरानभिभवनीयत्वावाध्यत्वानि दर्शितलक्षणामूलानि व्यङ्ग्यानि । एवं
त्वामहमित्यनयोः रवश्योपदेश्यहिताहितत्वालङ्घनीयाश्वत्वे । वच्मीत्यस्य चादरणीयत्वमिति ।
केचित्तु—‘स्थितिशब्देनापि सावधाना स्थितिलक्ष्या । विपक्षच्छिद्रापेक्षित्वं व्यङ्ग्यम्’
इत्याहुः । पूर्वत्र पुनरुक्तत्वादिहेतुविशेषानाधायकत्वादर्थान्तरसंक्रमितत्वमिति द्वयमप्यर्था-
न्तरसंक्रमितवाच्यध्वनेरुदाहरणम् ।” इत्युदाहरणचन्द्रिका. २. “उपेकृतमिति । त्वया
यद्वद्वद्वत् तत्र तद्विषये किमुच्यते किं वाच्यम् । बहुत्वादक्तुं न शक्यत इत्यर्थः ।
भवता परं केवलं सुजनता प्रथिता प्रकटिता । तथा च सौजन्यप्रयुक्त पदैतावानुपकारः,
न तु प्रत्युपकारकाभावाभाविप्रयुक्त इति भावः । हे सखे, ततः यस्तासुजनता प्रथिता

अत्रापकारिण्यन्वयायोगैरुपकृतादिपदैः स्वार्थविपरीतं लक्ष्यते । नच तत्र वाच्यस्य कथंचित्प्रवेशः । त्वयैवमपकारेऽपि क्रियमाणे मया प्रियमेवोच्यत इति स्वसाधुत्वं व्यङ्ग्यम् । तवोपकारापकारविवेको नास्तीति वा । अयं च प्रमेदो न केवलं विरोधिलक्षणया, किं त्वन्यत्रापि । यथा—

‘आधूतसस्वेदकरोत्पलायाः स्मितावगूढप्रतिकूलवाचः ।

प्रियो विहायाधरमायताक्ष्याः पपौ चिराय प्रतिषेधमेव ॥’

अत्र पपाविल्यनेन सोत्कण्ठं निरीक्षणं लक्ष्यम् । उत्कण्ठातिशयो व्यङ्ग्यः ।

द्वितीयं ध्वनिमेदं कारिकाधाम्यामुद्दिश्य विभजते—

विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

ध्वनिरिति प्रकरणाच्छ्रम्यते । अन्यपरं व्यङ्ग्योपसर्जनीभूतम् । अयं भेदो-
ऽभिधामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सति द्रष्टव्यः । एष तु—

कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २ ॥

सूचीकटाहन्यायमाश्रित्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य पूर्वमुद्देशः । तस्यैकत्वात् । द्विती-

लक्षणामूलं चावश्यवाच्यहिताहितत्वम् । तथास्मीत्युपदेष्टृलक्षणामूलं चानुलङ्घनीया-
ज्ञत्वं व्यङ्ग्यम् । एवमात्मीयामित्यत्राविगीतपक्षाश्रयणमित्यूह्यम् । उपकृतमित्यादावप-
काराद्यतिशयोऽपि व्यङ्ग्यो बोध्यः । आधूतेति । स्मितेनावगूढाच्छादिता प्रतिकूला
मामेति निषेधबोधिका वाग्यस्या इत्यर्थः । प्रतिषेधं तद्बोधकवाच्येष्टादिकम् ।

अन्यपरमित्यस्यान्यतात्पर्यकमित्यर्थे व्यङ्ग्ये तात्पर्याविषयत्वानभ्युपगमादसंभव
इत्यतो व्याचष्टे—**व्यङ्ग्येति** । लक्ष्यालक्ष्यक्रमलादिविभागो विवक्षितान्यपरवाच्य-
स्यैवेति दर्शयितुमाह—**एष त्विति** । न लक्ष्यो वाच्यप्रतीत्यपेक्षया क्रमो यस्य
तादृशं व्यङ्ग्यं यत्रेत्यर्थः । एकत्वात् अलक्ष्यक्रमत्वेनैकभेदत्वात् । **पञ्चदशेति** ।
शब्दार्थोभयशक्तिमूलत्वेन त्रिविधस्य लक्ष्यक्रमस्य शब्दशक्तिमूलस्यालंकारवस्त्वरूपव्य-
ङ्ग्यद्वैविध्याद्वैविध्यम् । अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः । उभयशक्तिमूलस्यैकः ।
इत्येवं पञ्चदश भेदा बोध्याः ॥ ननु विभावानुभावव्यभिचारिसमूहालम्बनस्यैव रस-
त्वाद्विभावादिरसप्रतीत्योः क्रमस्यैवाभावादक्रम इत्येव वाच्यम्, न त्वलक्ष्यक्रम इति

तस्मात् ईदृशमेव सदा विदधत्कुर्वन् शरदां वर्षाणां शतं व्याप्य सुखितं सुखयुक्तं यथा
स्यात्तथा आस्त्व तिष्ठेति मुख्योऽर्थः । स च प्रकरणादिना बुद्धापकारभावं प्रति बोधितो
विपरीतं लक्षयति । तथा—उपकृतमपकृतम् । सुजनता दुर्जनता । सखे शत्रो ।
सुखितं दुःखितमित्यपकाराद्यतिशयो व्यङ्ग्यः । एवंविधापकारेऽपि प्रियवादित्वात्स्वस्य
साधुत्वं वा । तवोपकारापकारविवेको नास्तीति वा । तदीयं कौटिल्यं व्यङ्ग्यमिति
केचित् । एतदत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनेरुदाहरणम्” इत्युदाहरणचन्द्रिका.

यस्य तु पञ्चदशभेदत्वात् । विभावादय एव न रसः, किंतु रसस्तैर्निर्णयत इत्यस्ति विभावादिरसप्रतीत्योः क्रमः । स तु न लक्ष्यत इति क्रमस्यालक्ष्य-
स्वलक्ष्यत्वकृतं भेदद्वयमित्यर्थः ।

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥ ३ ॥

अक्रमोऽलक्ष्यक्रमः । तच्छब्देन रसभावयोः परामर्शः । आदिग्रहणा-
द्भावोदयभावसंधिभावशब्दत्वानि । नन्वाभासवदसस्य शान्त्यादयः किं
नोक्ताः । निरन्तरावयवस्यापरिच्छिन्नस्य निरतिशयस्य वेद्यान्तरसंपर्कशून्यस्य
तदभावात् । आभासत्वं तु तिर्यगाद्यधिकरणतया अविरुद्धम् । भिन्न इति ।
यत्र प्रधानं रसादिस्तत्र ध्वनिः, यत्र त्वप्रधानं तत्रालंकार इति भावः ।

रसस्वरूपमाह—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नात्यक्ताव्ययोः ॥ ४ ॥

तत्राह—विभावादय एवेति । ‘व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः’ इति वक्ष्यमाणसूत्रात्का-
व्यजन्यविभावादिप्रतीतिमात्रेण श्रोत्रियादेरपि रसबोद्धत्वप्रसङ्गाच्चेति भावः । निष्प-
त्तिरे व्याख्यास्यते । नच व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरपि प्रवीपघटयोरिव युगपद्भानमविरुद्ध-
मिति वाच्यम् । दीपस्य स्वरूपत एव व्यञ्जकत्वम्, विभावादेस्तु ज्ञातस्येति
वैषम्येऽस्य युगपद्भानायोगात् । क्रमाग्रहणं च रसोद्बोधसामग्र्या विषयान्तरभानप्र-
तिबन्धकत्वस्यानुभवबलेन कृतत्वात् । अतएवोक्तम्—‘विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्’
इति । नन्विति । यथा रसस्याभासरूपो विकार उक्तस्तथा शान्त्यादयोऽपि
विकाराः किमिति नोक्ता इत्यर्थः । समाधत्ते—निरन्तरेति । निरन्तरा अवि-
च्छिद्यमाना अवयवा विभावादिरूपा यस्येत्यर्थः । रसस्य विभावाद्यनुसंधानजी-
वितत्वेन तद्विच्छेदरूपायाः शान्तेरसंभव इत्यर्थः । नहि विभावाद्यनुसंधाने
शाम्यदवस्थः स्थायी केनाप्यव्यक्तश्चमत्कृतिहेतुः । अथाल्पतारूपः परिच्छेद एव
रसशान्तिर्वाच्या सापि नेत्याह—अपरिच्छिन्नस्येति । एवमभिव्यक्तस्य रस-
स्यैकरूपत्वादपकृष्टत्वरूपापि शान्तिर्न संभवतीत्याह—निरतिशयस्येति । संधि-
शब्दलतयोर्निरासायाह—वेद्यान्तरेति । वस्तुतस्तु रसस्य स्थायिभावमूलकत्वाच्च
शान्त्यादिसंभवः, संभवे वा न चमत्कार इति बोध्यम् । आभासत्वं त्विति ।
तिर्यगादिगतत्वं हि नोक्तरसत्वभावविरुद्धम् येन रसे न संभवेदित्यर्थः । यत्रेति ।
‘शून्यं वासगृहं’ इत्यादावुदाहरिष्यमाण इत्यर्थः । यत्र तु शुणीभूतव्यङ्ग्ये ‘अयं
स रसनोत्कर्षा’ इत्यादौ शृङ्गारादिरसादेः करुणरसाद्यङ्गत्वं तत्र रसवदादयोऽलंकारा
इत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । प्रमदेति । एतच्च नायकोपलक्षणम् । तयोश्च परस्पर-

विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ ५ ॥

अथेति समुच्चये । कारणानि प्रमदेन्दूदयादीनि कारकोद्दीपकरूपाणि ।
कार्याणि—

‘स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥’

वाक्कानोबुद्धिशरीरारम्भरूपाणि च कटाक्षभुजक्षेपादीनि । सहकारीणि तेषु
जनयितव्येषूत्कण्ठादीनि । विभावा आलम्बनोद्दीपनरूपाः । चेत् यदेत्यर्थः ।
तत् तदेत्यर्थः । यद्यप्युद्दीपकस्य स्थायिनि न कारणत्वम्, किं तुपन्ने तस्मि-
न्नीषदुरकर्षाधायकत्वरूपमुद्दीपकत्वम् । तथाप्यनुद्दीपितोऽप्यजातप्राय एवेत्यु-
द्दीपकेऽपि कारकत्वोपचारात्तत्रापि विभावव्यवहारः । विभावादिसंज्ञा च विभा-
वनादिव्यापारयोगात् । तद्यथा—वासनारूपतया स्थितान्तरत्यादीन्स्थायिनो
विभावयन्ति रसास्वादाङ्कुरयोग्यतां नयन्तीति विभावाः । अनुभावयन्ति च

नुरागाख्यरतिं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणात्कारकत्वम् । इन्दूदया-
देश्वोत्पन्नस्य रसादेरुत्कर्षकत्वादुद्दीपकत्वम् । लोके रत्यादेः स्थायिनो यानि कारणा-
नीत्याद्यन्वयः । स्वेद इत्यादि । स्तम्भो निश्चेष्टता । स्वरभङ्गो गद्गदत्वादिस्वरान्य-
थात्वम् । वैवर्ण्यं वर्णान्यथात्वम् । प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।
सात्त्विकाः सत्त्वोद्रेकजनिताः । संकल्पविकल्पादिवृत्तिकं मनः । निश्चयरूपा बुद्धिः ।
आरम्भः क्रिया । आदिना लीलविलासादिहावपरिग्रहः । तेष्विति । रत्यादिस्था-
यिनां तेषु सात्त्विकभावादिषु कार्येष्वित्यर्थः । आलम्बनमनुरागस्य विषयतया
कारकहेतुः । तानि नाट्यकाव्ययोश्चेद्वर्ण्यन्ते इति शेषः । तदा विभावादयः क्रमेण
कथ्यन्ते । तत्काव्यव्यपदेश्यानि भवन्तीति कारिकार्थः । तत्र रसादौ स्थायिसंज्ञा-
निमित्तं दर्शयन्नेव विभावादिसंज्ञानां योगं दर्शयति—वासनेति । अन्तःकरण-
वृत्तिरूपस्य रत्यादेराशुविनाशित्वेऽपि संस्कारात्मना चिरकालस्थायित्वाद्यावद्रस-
प्रतीतिकालमनुसंधानाच्च स्थायित्वम् । तदुक्तम्—‘विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छि-
द्यते न यः । आत्मभावं नयत्यन्यान्स स्थायी लवणाकरः ॥ स्रक्सूत्रभावादन्वेषां
भावानामनुगामकः । न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥’ इति । ता-
न्विभावयन्ति । अभिव्यञ्जयन्तीत्यर्थः । तर्हि विभावमात्रेणैव रसामिव्यक्तिर्ने-
त्याह—रसास्वादेति । रसास्वादाङ्कुर ईषद्रसामिव्यक्तिः । तद्योगतां प्रापयन्ती-
त्यर्थः । नायिकादयो हि साधारण्येन काव्यादवगताः सहृदयहृदये वासनात्मकतया
स्थितं रत्यादिभावमीषदभिव्यञ्जयन्ति । ईषदभिव्यक्तिरेव च रसादिव्यक्तेरङ्कुर
इवोच्यते । एवमनुभावयन्ति रत्यादीन्प्रकटीकुर्वन्तीत्यर्थः । कार्याणि हि रोमाञ्चा-

तानित्यनुभावाः । पोषकतया विशेषेणाभितः काव्ये स्थायिनं चारयन्ति, विशेषेणाभिमुख्येन चरन्तीति वा व्यभिचारिणः । व्यक्तः स इति । व्यक्तिश्चर्येणेति पर्यायः । सा च विशेषणम् । तथाच व्यक्तिविशिष्ट एव स्थायी रसः । एवंच रसस्याकार्यत्ववचनं विभावादिभिः काव्योपस्थितैः स्थायिनो जननात् विभावादिकार्यताया एव प्रकृतत्वात् विशिष्टत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वाद्वा । तस्मात्स्थायी न रसः किंतु विभावादिमेलकम्, ब्रह्मैव वा । ‘अन्यथा न कार्य इत्यादि ग्रन्थविरोधात्’ इत्यादि प्रलपितमनादेयम् । स तैरिति । यस्य यानि कारणादीनि स तैस्तज्जातीयैरित्यर्थः । स्थायी विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरतिरस्कृत-प्रवाहो भावः । यदुक्तम्—

दीनि स्वकारणमाधिक्येन व्यञ्जयन्तीत्यर्थः । पोषकतयेति । पोषणं च मुहुर्मुहुर्भिव्यञ्जनम् । कटाक्षादिकार्यसमर्थत्वं वा । अभितः सर्वाङ्गव्यापितया चारणं मुहुर्मुहुर्भिव्यञ्जनम् । अमीत्यस्यार्थान्तरमाह—आभिमुख्येनेति । कार्यजनने आनुकूल्येनेत्यर्थः । तदुक्तम्—‘विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः । स्थायिन्युन्ममप्रनिर्माः कल्लोल इव वारिधौ ॥’ इति । स्थायिनि समुद्रप्राये उन्ममा उद्गता निर्मा निलीनाः । अत एवानियतत्वादपि व्यभिचारिण इति ज्ञेयम् । अत एवोक्तम्—‘ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् । उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः ॥’ इति । एवं च विभावैरीषदभिव्यक्तिः, अनुभावैः स्फुटा, व्यभिचारिभिः स्फुटतरेति समुदायजन्याभिव्यक्तिरेव रसत्वापादिकेति । विशेषणमिति । न तूपलक्षणमिति भावः । अकार्यत्ववचनं स च न कार्य इत्यादिना वक्ष्यमाणम् । काव्योपस्थितैः सीतारामादिभिः । स्थायिन इति । रसीभवनयोग्यस्य सामाजिकगतरत्यादेरित्यर्थः । एवमपि यत्किञ्चित्कामिनीजन्यत्वमस्येवेत्यत आह—विभावादीति । ‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इति पञ्चम्या विभावादीनां हेतुत्वावगमात्तज्जन्यतायाः प्रसक्ताया निषेधकं तद्वाक्यमित्यर्थः । यत्रारब्धत्वादिज्ञानरूपप्रतिबन्धकविरहात्काव्योपात्तैरेव विभावादिभिः स्थायिनो जननं तत्र कथमकार्यत्ववचनसंगतिरत आह—विशिष्टत्वस्येति । अभिव्यक्तिविशिष्टत्वस्येत्यर्थः । मेलकं समुदायः । तत्र कस्याप्यहेतुत्वाच्च कार्यत्वं युक्तमिति भावः । समुदायस्यानतिरेकादाह—ब्रह्मैवेति । तद्रूपतां विनातिशयितानन्दात्मकत्वायोगादिति भावः । अनादेयमिति । अकार्यस्योक्तरीत्योपपत्तेः । रसास्वादकाले नियमतोऽस्थायित्वान्निर्विषयत्वाद्वाह्यत्वाच्च विभावानुभावयोस्तथात्वायोगाच्चिन्तादेर्व्यभिचारिणश्च शृङ्गारादावनियतत्वात्पात्रादसास्वादमननुवृत्तैर्ब्रह्मणश्च केवलस्य रसत्वे ज्ञानिनां रसास्वादप्रसङ्गादिति भावः । तज्जातीयैरिति । अयमाशयः—सामाजिके वासनात्मकतया स्थिताया रतेरभिव्यक्तिरेव रसः । तस्याश्च काव्योपात्ताः सीतारामादयो न कारणानि, न वा तत्कटाक्षादीनि, कार्याणि न वा लज्जादीनि सहकासीणि । किं तु तद्बोधोत्तरं सहृदयतासहकृतभावनाविशेषेण सीतात्वादिविशेषपरिहारेण

‘विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।

भानन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायिपदास्पदम् ॥’ इति ।

न चेयं कल्पना सूत्रकारस्य । उक्तं हि भरतेन—‘विभावानुभावव्यभिचारि-
संयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इति । एतद्विवृण्वते भट्टलोहटप्रभृतयः—‘स्थायिनां
विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद्यभिचारिणा
पोष्यपोषकभावरूपासंबन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरूपत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्रेयर्थः ।
तथाहि ललनादिभिरालम्बनविभावैः स्थायी रत्यादिको जनितः, उद्यानादिभि-
रुद्दीपनविभावैरुद्दीपितः, अनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपणादिभिः प्रतीतियोग्यः कृतः,
व्यभिचारिभिरूकण्ठादिभिः परिपोषितो रामादावनुकार्ये रसः । नटे तु तुल्य-
रूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः’ इति तदपे-
शलम् । सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात् । न च तज्ज्ञान-
मेव चमत्कारहेतुः । लौकिकशृङ्गारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसङ्गात् । न चानु-
भावादिविज्ञानबलायात आरोपस्तथा न तु साक्षात्कारमात्रमिति वाच्यम् ।
चन्दनसुखादौ वैपरीत्यदर्शनात् । अन्यथैवोपपत्त्या तादृशकल्पनायां माना-
भावाच्च ।

श्रीशङ्कुकस्तु—‘स्थायितो विभावादिभिरनुमाप्यानुमापकभावरूपसंबन्धा-
द्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थः । तथाहि नियमविषया घीः सम्यग्बुद्धिः । यथा

नायिकात्वादिसाधारणधर्मेण गम्यमानैरलौकिकविभावादिपदवाच्यैः सहृदयस्य रसा-
भिव्यक्तिः । विभावादीनां साधारण्येनाभिव्यक्तिरेव विभावानुभावनासंचारेणेति
शब्दैरुच्यत इति स्थायिपदार्थकथनम् । अतिरस्कृतेति । अतएव न विरचानां
शृङ्गाररसोद्बोधः । विरुद्धा रत्यादेर्विनिर्वादादयः । अविरुद्धा हृषीकेशुक्त्यादयः । उत्प-
त्तिरित्यादेर्विभावेनेत्यादितृतीयान्तत्रयेण यथाक्रममन्वयः । अनुकार्य इति । अनु-
कार्ये रामादौ जनित उद्दीपितः प्रतीतियोग्यः कृतः परिपोषितश्च स्थायी रत्यादिको
रसपदवाच्य इत्यर्थः । वृत्तौ ‘मुख्यया वृत्त्या’ इत्यस्यापि शैक्व्येत्यर्थः । अथवा
वस्तुवृत्त्येत्यर्थः । आरोपस्य तत्पूर्वत्वात्तस्यामुख्यत्वम् । कथं तर्हि सामाजिकानां
रसोद्बोधस्तद्व्यवहारश्च तत्राह—नट इत्यादि । चमत्कारिण्यारोपे च रसपदं
गौणमिति भावः । तदयमत्र क्रमः—रामादिगतसीतादिविषयकरत्यादिरेव रसः
सहृदयेन काव्योपात्तलिङ्गैरादावनुमीयते । ततस्तस्य कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्श-
ननिपुणे रामाद्यनुकारिणि नटे सादृश्यज्ञानरूपदोषादारोपः साक्षात्कारात्मको धर्म्यशे-
ल्लैकिक आरोप्यांशे त्वलौकिको रामोऽयं सीताविषयकरतिमानित्याकारश्चमत्कृतिहे-
तुरिति । न च सादृश्यस्य भेदगर्भत्वाद्वाधे सति कथं रामत्वाद्यारोप इति चेत् । न ।
अत्र भेदस्य नटनैपुण्यदोषेणाग्रहणादिति । चन्दनेनेति । नहि चन्दनारोपश्चमत्कृ-
तिहेतुः, अपि तु वस्तुतश्चन्दनसंबन्ध एव । तथा सुखमपि नारोप्यमाणं तथा, किं

‘राम एवायम्’ ‘अयमेव रामः’ इत्ययोगान्ययोगव्यवच्छेदविषये । अनन्तराव-
तीर्णबाधा तु मिथ्याधीः । यद्यौत्तरकालिके ‘न रामोऽयम्’ इति बाधे ‘रामो-
ऽयम्’ इति । विरुद्धोभयकोटिका तु संशयः । यथा ‘अयं रामो न वा’ इति ।
सदृशोभयविषया धीः सादृश्यधीः । यथा ‘रामासदृशोऽयम्’ इति । ताभ्यो
लोकप्रसिद्धाभ्यो विलक्षणया चित्रे ‘तुरगोऽयम्’ इतिवत् ‘रामोऽयम्’ इति
बुद्ध्या प्रथमं पक्षभूतो नटो विषयीक्रियते । ततस्तत्राविद्यमानमपि विभावा-
दित्रयं लिङ्गमवगम्यते । कुतः पूर्वमेव रोमाञ्चाद्याविर्भावने गुरुशिक्षामासाद्य
कृतातिशयिताभ्यासेन नटेन—

‘सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकपूरशलाकिका दृशोः ।

मनोरथध्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥’ इति ।

‘दैर्घ्यादहमद्य तथा चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।

अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥’

तु वस्तुतो विद्यमानमेवेत्यर्थः । अन्यथैवेति । वक्ष्यमाणरीत्येत्यर्थः । विलक्षण-
येति । यद्यपि चित्रे तुरगबुद्धिरपि मिथ्याधीरेव तथाप्यनन्तरावतीर्णबाधातो
वैलक्षण्यमस्तीति न दोषः । तत इति । रामत्वेन नटस्य विषयीकरणादित्यर्थः ।
तत्र नटे । राममेदाग्रहेण बाधाग्रहादिति भावः । कुत इति । संनिकर्षलिङ्गयो-
रभावादात्मन्वोदीपनयोः कथंचिच्छब्दबोधेऽपि रोमाञ्चादेरनुभावस्यासंनिकर्षेण

१. ‘प्रथमे’ क. २. ‘आविर्भावेन’ ख. ‘अनुभावे’ ग. ३. ‘सेयमिति । सेयं प्राणे-
श्वरी मम मनसा सकाशादलोचनगोचरं गतेति संबन्धः । सा यदनुध्यानसंतानेनैतावा-
न्कालो गमितः । गोचरमिति भावप्रधाननिर्देशाद्गोचरत्वमित्यर्थः । पूर्वं मनस्वेवासीत्,
अधुना बहिरपि दृष्टेत्यर्थः । अङ्गेषु, नैकत्राङ्गे सुधारसस्यामृतरसस्य च्छटा वृष्टिः । परी-
रम्भेण सर्वाङ्गीणसंतापशान्त्या सौहित्योत्पादनात् । दृशोरिति सप्तमीद्विवचनम् । शोभनः
पूरो द्रवो यस्य तथाभूतस्य कपूरस्य शलाकिका अजानतूलिका । अतिशयितानन्दहेतुत्वात् ।
शरीरिणी मूर्तिमती मनोरथस्य श्रीः संपत्तिः । परीरम्भस्य चरमत्वेऽपि प्राधान्यात्प्रागु-
पादानम् । अत्र नायिकारूपात्मन्वविभावप्रकाशनम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका. ४. ‘इत्थं
संभोगमुक्त्वा विप्रलम्भमाह—दैवादिति । अथाहं तयानुभवैकवेषसमागममुखया चपले
आयते दीर्घे नेत्रे यस्यास्तथाभूतया । आगमनसमये कातरदृष्टिदर्शनात्पुरुःस्फूर्तिकत्वेन
तन्मात्रप्रकर्षोक्तिः । वियुक्तश्च । अभूवमिति शेषः । अविरला निमिडा विलोलाः सर्व-
दिवसंचारिणो जलदा यत्र पर्वभूतः अयं दृश्यमानप्रकर्षः कालो वर्षतुरेव कालो यम इति
रेषभूलमेदाध्यवसानम् । सम्यक् प्रतिदिनोपचीयमानतया उपागतश्चेति चकाराभ्यां सम्-
मिथ्याद्वैतक्रिययोर्योगपथप्रतीतेः समुच्चालंकारः । अविरलं निरन्तरं विलोलं द्रुतं यथा
स्यापथा जलं ददाति स तथेत्यर्थ इति कश्चिद् । अत्र मेघरूपोदीपनविभाववर्णनम् ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिका.

इत्यादि काव्यानुसंधानबलादालम्बनोद्दीपनव्यक्तौ तदनुगुणस्य रोमाञ्चादेर्दर्शनीयस्याविर्भावनेन व्यञ्जनीयस्योत्कण्ठादेस्तत्कार्यप्रकटनेन च प्रकाशनात् । अथ तैः कृत्रिमत्वेनातल्लिङ्गैरपि कृत्रिमत्वेनाज्ञानात् स्थायी रत्यादिरनुमीयते । सैव चानुमितिः सचमत्कारप्रतीतिरूपा चर्वणा । अतस्तया विषयीक्रियमाणः स्थायी रस इत्युच्यते । चर्वणा च सामाजिकानामिति तेष्वेव रस इति व्यवहारः । ननु साक्षात्कारएव सचमत्कारः, न त्वनुमित्यादिरपि । अन्यथा सुखादावनुमीयमानेऽपि स स्यात् । न स्यात् । वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेन स्थायिनामन्यानुमेयवैलक्षण्यात् । तथापि स्थायिनां नटेऽसत्त्वाद्वाधावतारेऽनुमितिरेव कथं स्यादिति चेत् । न । अभावनिश्चयाभावात् स्थायितया संभाव्यमानत्वात् ।” एतदप्यहदयग्राहि । यतः प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारम्, नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा कल्पने मानाभावः । सूत्रस्यान्यथैव योजनासंभवात् ।

भट्टनायकस्तु—‘न तावन्नटगतत्वेन न रामगतत्वेनानुमीयते, न वोत्पा-

दर्शनायोगात्, उत्कण्ठादेर्ध्वामिव्यञ्जकाभावादित्यर्थः । दर्शनीयस्येति । यद्यपि शब्दावगतस्याप्यनुमापकत्वं संभवति तथापि पुरोवर्तिनि नटे बाधावतारत्तच्छब्देनापि तद्गहो न संभवतीति तद्दर्शनापेक्षा । एवमनुमितेश्चमत्कारित्वार्थमपि तदपेक्षेति ज्ञेयम् । व्यञ्जनीयस्येति । वाच्यतायां दोषात्सिद्धान्ते व्यञ्जनीयस्येत्यर्थः । तत्कार्येति । उत्कण्ठादिकार्यशून्यदृष्टित्वादेः संपादनेनेत्यर्थः । तथा चैतन्मतेऽनुमानाद्व्यभिचारिणामवगम इति भावः । अत्रापि शब्दावगतकार्येणापि व्यभिचार्यनुमानसंभवेऽप्यनुमितेश्चमत्कारित्वाय कार्यं प्रकटीकरणमुक्तम् । सचमत्कारेति । चमत्कारजनिकेत्यर्थः । अत्र च काव्यजन्यभावनाविषयत्वं विभावादीनां मूलम् । तेन लोके प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा गृहीतैर्विभावादिलिङ्गैरुत्पन्नाया अनुमितेर्न चमत्कृतिजनकत्वापत्तिः । सचमत्कारतया चानुमितेरेच्छाविषयत्वान्मुहुर्मुहुस्तदुत्पत्तौ न पक्षताक्षतिः । वृत्तौ सामाजिकानामित्यस्य रस इत्यनेनान्वयं दर्शयितुमाह—
चर्वणा चेति । अनुमितिधारेत्यर्थः । विशेषणांशस्य सामाजिकनिष्ठत्वाद्विशिष्टस्य तथात्वव्यवहार औपचारिक इत्यर्थः । वस्तुतस्तु वृत्तौ वासनात्मकतयेत्यनेन स्वगत-वासनात्मकस्थायिना अगृहीतमेदतया सामाजिकनिष्ठ इति व्यवहार इति प्रतिपादितम् । **रसनीयत्वेनेति ।** मुहुरिष्यमाणास्वादविषयत्वेनेत्यर्थः । अनुमानाकारस्तु—रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् । सीतायालम्बनविभाववर्धतुरूपोद्दीपनविभावरोमाञ्चाद्यनुभावौत्सुक्यादिसंचारिभावसंबन्धित्वात् । यो यदात्मकविभावत्वे सत्यनुभावसंचारिभाववान्स तद्व्रतिमानिति यत्तज्ज्ञां सामान्यतो व्याप्तिः । यो नैवं स नैवमिति व्यतिरेकव्याप्तिर्वेति संक्षेपः । **नानुमित्यादिरिति ।** रत्यादिस्थायिभावविषय इति शेषः । इदमुपलक्षणम् । नटे स्थायिबाधप्रतिसंधानेऽपि सामाजिकानां रसोद्बोधे नानुमितिपक्षस्यासंभव इत्यपि बोध्यम् । **न तावदिति ।** नटगतत्वेन नानुमीयते रामगतत्वेन नोत्पद्यत इति क्रमेणान्वयः । ‘पारिमित्यालौकिकत्वात्सां-

यते, न सामाजिकगतत्वेन व्यज्यते । आद्यपक्षयोरुक्तदोषात् । अन्यगतेनान्येषां चमत्काराभावाच्च । अन्ये सिद्धस्यैव व्यङ्ग्यत्वात् रसस्य चासिद्धत्वात् । सर्वेषां मेवाभिव्यक्तिप्रसङ्गाच्च । तस्माद्विभावादिभिः संयोगाद्भोज्यभोजकभावसंबन्धाद्रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिरिति सूत्रार्थः । न च भोगपक्षेऽपि दोषावकाशः । भोगस्यालौकिकत्वात् । तथाप्यन्यनिष्ठः स्थायी अन्यनिष्ठैरेव विभावादिभिः कथमन्येन भोक्तव्यः । अतिप्रसङ्गादिति चेत्, उच्यते—शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—अभिधा, भावकत्वम्, भोजकत्वं च । तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधा । भावकत्वं साधारणीकरणम् । तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः । स्थाय्यनुभावादीनां च संबन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन । अन्त्यं व्यापारद्वयं नाट्येऽपि । एवं काव्ये नाट्ये च द्वितीयव्यापारेण साधारणीकृतैर्विभावादिभिस्तृतीयव्यापारसाहित्येन तथाकृत एव स्थायी भुज्यते । भोगश्च सत्त्वगुणोद्रेकात्प्रकाशते य आनन्दस्तत्स्वरूपा अनन्या लम्बना या संवित्स्वरूपो लौकिकसुखानुभवविलक्षणः । सत्त्वरजस्तमसां गुणावामुद्रेकेण क्रमात्सुखदुःखमोहाः प्रकाश्यन्ते । उद्रेकश्च स्वेतरावभिभूयावस्थानमिति सांख्यसिद्धान्तानुसारेण विवृणुते” तदपि न सम्यक् । एतादृशव्यापारद्वयकल्पने प्रमाणाभावात् । भुक्तेर्ज्ञानातिरेकस्यानुभवबाधितत्वेन निष्पीड्यमानस्य चास्याभिव्यक्तिपक्ष एव पर्यवसानात् ।

परायतया तथा । अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् ॥’ इति । पारिमित्यात्तद्व्यक्तिमात्रविश्रान्तत्वात् । सांपरायतया रामनटादिव्यवहिततया । असिद्धत्वादिति । प्रमाणाभावादिति भावः । अस्त्वसिद्धस्यैवाभिव्यक्तिस्तत्राह—**सर्वेषामिति** । वासनावतां तच्छून्यानां चेत्यर्थः । एवं सीताद्यालम्बनकरामादिगतरत्यादेः सहृदयगतत्वेनाभिव्यक्तौ तेषां व्रीडातट्टायापत्तिरपि बोध्या । **दोषेति** । असिद्धस्य भोगसंभवरूपदोषावकाश इत्यर्थः । **अलौकिकत्वादिति** । नहि भोगाख्यव्यापारो लोकसिद्धस्यैवेति क्लृप्तं येन दोषः स्यादिति भावः । लक्षणाख्यचतुर्थव्यापारसत्त्वात्कथं त्रय एवेत्यत आह—**तत्रेति** । तथा चाभिधान्तर्गतत्वान्न विरोध इति भावः । **साधारणकरणं चेति** । मुख्यार्थबाधानवतारेऽपि तथोपस्थितेर्लक्षणया गतार्थत्वम् । शब्दावाच्य इत्यादिसाधारणीकरणार्थं तद्व्यापारावश्यकत्वं चेति भावः । तथाच विभावादिवाचकशब्दगतेन भावकत्वव्यापारेण विभावादिसाधारणीकरणद्वारा रत्यादिसाधारण्यम् । तदनन्तरं च भोजकव्यापारेण सत्त्वोद्रेकादावरणभङ्गे सति आनन्दात्मकचैतन्यविषयीकरणरूपा भुक्तिरिति निष्कृष्टार्थः । वृत्तौ ‘संविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन’ इत्यस्य संविदो विश्रान्तिर्विगलितवेद्यान्तरतया स्थितिः । सैव सतत्त्वं स्वरूपं यस्य भोगस्येत्यर्थः । तत्त्वसतत्त्वशब्दयोः पर्यायता । भोगप्रयोगशब्दवत् । **प्रमाणाभावादिति** । लक्षणाप्रयोजनव्यञ्जकतया एकत्रा-

आचार्याभिनवगुप्तपादास्तु—“स्थायिनां विभावादिभिः समं व्यङ्ग्यव्यञ्जक-
भावरूपात्संबन्धाद्विभावादीनामेव वा परस्परं संयोगान्मिलनाद्रसस्य निष्प-
त्तिरभिव्यक्तिः । तथाहि लोके प्रमदादिभिः कारणादिभिः स्थायिनो रत्यादेरनु-
मानेऽभ्यासेन यत्पादं इदिति प्रवृत्तिसद्वतां सामाजिकानां सूक्ष्मतयान्तःस्थितो
रत्यादिः स्थायी काव्ये नाट्ये च गुणालंकारयोगाच्चतुर्विधाभिनयेन च यथोक्त-
विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यपदेशयोग्यदशाविशिष्टैस्तैरेव
कारणादिभिर्व्यज्यते । नन्वेवं येषां पूर्वं रत्यादिनोत्पन्नस्तेषां तद्वासनाविरहिण्यं
किं रसाभिव्यक्तिर्नास्त्येव । कः संदेहः । अतएव शृङ्गारिणामेव शृङ्गारस्य,
निर्विण्णस्वभावानामेव शान्तस्याभिव्यक्तिरित्याद्यनुभूयते । किं चापरापि
स्वाभाविकी वासना सहकारिणी । यां विना शृङ्गारिणामपि मीमांसकवैया-
करणादीनां न रसाभिव्यक्तिः । तदुक्तम्—‘वासना चेन्न हेतुः स्यात्स स्यान्मी-
मांसकादिषु’ इति । तथाप्यन्यनिष्ठैर्विभावादिभिः कथमन्यनिष्ठस्य स्थायिनो-
ऽभिव्यक्तिः । उच्यते—‘ममैवैते’ ‘शत्रोरेवैते’ ‘तदस्यैवैते’ इति संबन्धि-
विशेषस्वीकारनियमस्य, ‘न ममैवैते’ ‘न शत्रोरेवैते’ ‘न तदस्यैवैते’ इति
संबन्धिविशेषपरिहारनियमस्य चाज्ञानात्तेषां साधारण्येन प्रतीतेः । साधारण्येन
प्रतीतिश्च न सर्वसंबन्धितया प्रतीतिः । किं तु संबन्धिविशेषीयत्वेनाप्रतीतौ
प्रतीतिः । यद्वा ‘अमुकस्यैवैते’ इत्यवधारणं विना ‘अमुकस्य’ इत्येवं प्रतीतिः ।

भिधानियन्त्रणेऽपरार्थव्यञ्जकतया वक्रवैशिष्ट्यादिसहकारेण तत्तदर्थगमकतया च
सिद्धेन व्यञ्जनाव्यापारेणैव गतार्थतया तदतिरिक्तव्यापारद्वयकल्पने मानाभावादिति
भावः । रसो व्यज्यत इति व्यवहारस्तु ‘ओदनं पचति’ ‘यूपं तक्षति’ इतिवच्चासिद्धरस-
विषयत्वेऽप्युपपन्न इति ज्ञेयम् । लोक इत्यादिना तद्वतामिल्यन्तं सामाजिकानां रसोद्बो-
धयोग्यताप्रयोजकं विशेषणम् । तेन श्रोत्रियव्युदासः । सूक्ष्मतया वासनारूपतया ।
अन्तः अन्तःकरणे । चतुर्विधेति । ‘आन्तिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विक-
स्तथा । चत्वारोऽभिनयाः प्रोक्ता नाट्यशास्त्रविशारदैः ॥’ इत्युक्तेः । आहार्यो
रामादिव्यञ्जको वेषः । सात्त्विको रोमाद्धादिरूपः । दशा च साधारण्येन प्रतीयमा-
नतारूपा । कः संदेह इति । तथा चाहुः—‘निर्वासनास्तु रसान्तर्वैश्वकुव्या-
श्मसंनिभाः’ इति । अनुभवमप्याह—अतएवेति । यतो वासनात्मतया स्थित
एवाभिव्यज्यतेऽत इत्यर्थः । स्वाभाविकी काव्यव्युत्पत्तिस्वभावज्ञा । एवं च रत्यादि-
निरूपितविभावादिनिष्ठव्याप्तिप्रहजन्त्योद्बुद्धसंस्कारः, काव्यभावनाजन्यसंस्कारः, रत्या-
दिवासना चेति त्रयं रसाभिव्यक्तिहेतुः । ननु काव्यजन्यवाक्यार्थबोधे सीतादी-
जनकादिसंबन्धित्वविषयत्वस्यानुभवात्तदपलपानुपपत्तिरत आह—यद्वेति । यद्यपि
‘संबन्धिविशेषितवाक्यार्थबोधोत्तरं तद्विशेषितवैयञ्जनिकसाधारण्यबोधे नोक्तदोषः,
तथापि प्रथमवाक्यार्थबोधेनैव रसव्यक्तिसंभवे द्वितीयवाक्यार्थबोधकल्पनम् । तत्कृ

अतएवोक्तम्—‘ममैवैते’ इति नियमानवसायात्’ इति । तथा च स्वीयत्वा-
संसर्गाग्रहात्स्वीयत्वसंसर्गाग्रहप्रयोजनं संपद्यते । एवं च वाक्यार्थबोधे संबन्धि-
विषयत्वानुभवोऽपि न विरुध्यते । संसर्गबोधे संबन्धी न विषयः किं तु
पदार्थस्मरण एवेत्यनुभवविरोधाद्विचारासहत्वाच्चानुपादेयम् । नन्वेवं विभावा-
दीनां साधारण्यं विना तत्त्वव्याघातादस्तु साधारण्यम् । स्थायिनस्तु तत्कथं
स्यात् । तस्य तत्तदात्मनिष्ठत्वात् । यद्यप्यसाधारण्येऽपि तस्य न रसप्रतीति-
विरोधस्तथापि तदंशे सहृदयसंवादो न स्यात् । स एव चालौकिकतादृशस्वी-
कारकारणमिति । उच्यते—उपायानां विभावादीनामुक्तरूपसाधारण्यबलाद्-
सानुभवकाले स्थायिनां प्रमातृविशेषनिष्ठत्वलक्षणायाः परिमितप्रमातृताया
यद्विगलनमज्ञानं तद्वशेनोन्मिषितो वेद्यान्तरसंपर्कश्चून्योऽपरिमितो भावो यस्य
तेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादकारिणा प्रमातृविशेषसंबन्धाग्रहरूपेण साधा-
रण्येन स्थायी चर्च्यते । ननु चर्वणाविशिष्टः स्थायी रस इत्युच्यते । चर्वणया च
स्थायी विषयीक्रियताम् । न तु सुखात्मक आत्मेति न रसस्य व्यक्तिरिति चेत् ।
न । स्वप्रकाशनये स्वाकारवदभिन्नस्याप्यात्मनो विषयीकरणात् । अभिव्यक्ति-

तविलम्बाश्रयणे प्रयोजनाभाव इति तात्पर्यम् । केचित्तु ‘सीतादिपदैर्जनकादिसंब-
न्धितया पदार्थस्मरणोत्तरं जनकादिसंबन्धांशमपहाय स्त्रीत्वादिनैव वाक्यार्थबोधः
काव्यमहिम्ना भवति’ इत्याहुः, तन्मतं दूषयितुमाह—संसर्गेति । अनुभवे विप्र-
तिपन्नं प्रत्याह—विचारेति । पदार्थोपस्थित्यन्वयबोधयोः समानप्रकारकत्वनि-
यमाच्च तादृशान्वयबोधसंभव इति भावः । अत्र ‘न ममैवैते’ इत्यादि परिहारनियमो
दृष्टान्ततयोपयुक्त इति ज्ञेयम् । तत्त्वव्याघातादिति । विभावत्वव्याघातादि-
त्यर्थः । रत्यादीन्विभावयन्त्यास्वादाङ्कुरयोग्यतां नयन्तीति हि विभावा इत्युक्तं
पूर्वम् । न चान्यदीयनायिकाज्ञानादन्यस्य रत्युद्बोध इति तेषां साधारण्यमावश्य-
कमिति भावः । कथमिति । सकलसामाजिकवृत्तिस्वरूपस्य साधारण्यस्य स्वनायि-
काविषयस्वमात्रवृत्ते रत्यादावसंभवादनुभवाच्चेति भावः । तदंशे रसांशे । तादृशस्वी-
कारे साधारण्यस्वीकारे कारणं प्रयोजक इत्यर्थः । इदमुपलक्षणम् । स्वगतत्वेन
व्यक्तौ व्रीडातट्कादिप्रसङ्गेऽपि बोध्यः । अपरिमितो भावो रत्यादिः । संवादकारिणेति
साधारण्येनेत्यस्य विशेषणम् । तथा च कामिनीविषयकरतित्वसामान्येन प्रमातृ-
विशेषानालिङ्गितेन ग्रहणमेव साधारण्यमित्यर्थः । नन्विति । विभावादिसमूहा-
लम्बनेन रत्यवच्छिन्नचैतन्यामिव्यक्तिश्चर्वणा । सा च भग्नावरणा चित् । तथा च
रतिर्विषयीक्रियताम् । अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वात् । न त्वानन्दात्मिका
चिदपि । अमेदात् । इष्टापत्तौ रसाभिव्यक्तेरानन्दानुभवत्वं न स्यादित्यर्थः ।
स्वप्रकाश आत्मेतिमतेऽभिन्नस्यापि विषयीकरणमस्तीत्युक्ते तत्र दृष्टान्तमाह—
स्वाकारवदिति । यथा ज्ञानस्यैवाकारो घटादिस्तस्मादभिन्नोऽपि तद्विषयो बाह्यै-

विशिष्टश्च रत्यादिः स्थायी चर्व्यमाणतैकप्राणतया चर्वणानाशे विनष्टो रस इति प्रतीतिविषयो विभावादिजीवितावधित्वेनानित्यचर्वणः पुर इव परिस्फुरन्हृदय-मिव प्रविशन्सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्नन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्भ्रंशास्वादमिवानुभाव-यन्नत एवालौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रस इत्युच्यते । नन्वेवं स्थायि-विभावादिसमूहालम्बनात्मिका रसस्य प्रतीतिरिति पर्यवसन्नम् । तच्च न युक्तम् । विभावादीनां पार्थक्येन प्रतीतिप्रसङ्गात् । घटपटाविति समूहालम्ब-नवदिति चेत् । न । पानकरसन्यायेन चर्वणात् । यथा पानके कर्पूराद्यंशो न पार्थक्येनानुभूयते तथात्रापि विभावाद्यंशः । ननु विभावादीनां परामर्शस्या-न्वयव्यतिरेकात्तत्कार्य एव रसः किं नोच्यत इति चेत् । न । विभावादिपरा-मर्शस्य कारणत्वं यदि स्यात्तदा निमित्तकारणत्वमेव । न च तन्नाशस्य कार्य-नाशकता दृष्टा । द्वित्वादीनां तथात्वानभ्युपगमात् । चन्दनादिस्पर्शजन्यसुखा-

रङ्गीक्रियते तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः । नन्वभिव्यक्तस्य स्थायिनः स्थिरत्वात्सर्वदा रसप्रतीत्यापत्तिरत आह—अभिव्यक्तीति । अभिव्यक्तेरुपलक्षणत्वे स्यादुक्त-दोषः । सा तु विशेषणमिति विषयान्तरव्यासज्ज्ञेन तन्निवृत्तौ विशिष्टस्थायिस्वरूपा-भावाभोक्तदोष इत्यर्थः । चर्व्यमाणता एको मुख्यः प्राणः स्वरूपं यस्येत्यर्थः । चर्वणानाशे हेतुमाह—विभावादिजीवितेति । जीवितमनुसंधानम् । पुर इवेत्यादिरसावेशवर्णनम् । अत्र स्फुरन्निवेत्यादिरीत्या क्रियाभिरिवशब्दार्थान्वयो ज्ञेयः । अत्रायं क्रमः—प्रथमं तावत्काव्यपदेभ्यस्तत्तदर्थोपस्थितिः । ततो वाक्यार्थ-बोधो यथोपस्थितविभावादिवोचरः । ततो गुणालंकाराभिनयादि । ततः सहृदयस्य रत्यादिवासनावतः साधारण्येन विभावादिवोधः । तेन च साधारण्येनैव विभावा-दिसंवलितरत्यवच्छिन्नचिदानन्दावरणभङ्गात्प्रकाशमानानन्दचिद्विषयो विभावादिसं-लितः स्थायी रत्यादिको रसः । “तादृशस्याप्युपहितचैतन्यमेव रसः । ‘रसो वै सः’ इति श्रुतेः” इत्यन्ये । तादृशविभावादिसंवलितस्याप्युपहितचिदानन्दाकारा वृत्ति-रित्यप्याहुः । चर्वणा चावरणभङ्गयुक्ता चिदेव । सैव चाभिव्यक्तिरित्युच्यत इति । पार्थक्येनेति । तादृश्येनेत्यर्थः । तथा च तेषां परस्परसंवलितत्वेन प्रकाशश्चम-त्कृतिहेतुर्न लभ्यत इत्याक्षेपः । पानकेति । ननु पानके कर्पूरादीनामत्यन्तं संश्ले-षात्तथानुभवोऽस्तु, इह तु किंनिमित्तक इति चेत्, अत्रापि विभावादेरन्योन्यावि-नाभावित्वपरस्परपेक्षारकत्वतत्तत्प्रतीतिसापेक्षत्वादिनिमित्तम् । रसप्रतीतेरलौकिक-त्वाच्चानुभववशेन निमित्तकल्पना प्रामाणिकीति भावः । तत्कार्य एवेति । विभा-वादिसमूहालम्बनजन्यसुखविशेष एवेत्यर्थः । न चेति । तथा च विभावादिज्ञान-नाशेऽपि रसप्रतीत्यापत्तिरिति भावः । न चेष्टापत्तिः । विभावादिजीवितावधित्वस्य रसप्रतीतावानुभविकत्वात् । न च तादृशसुखोत्पत्तिकाल एव पुनर्विभावादिज्ञानसं-भवात्सुखसाक्षात्कारे विभावादीनानुपतापकवशेन भानसंभव इति वाच्यम् । सुख-

दिन्यायो भविष्यतीति चेत् । न । नहि तत्र स्पर्शाभावेन सुखं विनाश्यते । किं तु तदभावे कारणाभावात्कार्यं नोत्पद्यते । उत्पन्नस्य सुखस्य तर्हि कथं विनाश इति चेत् । विरोधिगुणान्तरात् । अत्रापि तथैवास्त्विति चेत् । न । रसस्य वेद्यान्तरसंपर्कशून्यतया ज्ञानान्तरादेस्तत्कालेऽभावात् । नन्वेव दोषो व्यक्तावपि समान इति चेत् । न समानः । व्यक्तेर्लोकोत्तरतया दोषासंस्पर्शात् । किं च चर्वणाविशिष्टः स्थायी रसः । नच काव्याद्युपस्थाप्यो विभावादिर्विशिष्टहेतुः । तद्यस्तु ज्ञाप्य इति चेत् । न । विभावादिपरामर्शं विना तत्सिद्धेरभावात् । न चैकैव सामग्री निष्पादिका ज्ञापिका चेति संभवति । किंच स्वभिन्नतज्जन्य-ज्ञानविषयो हि तज्ज्ञाप्य उच्यते । अतएव स्वप्रकाशनयेऽपि चाक्षुषादिज्ञानं न चक्षुरादिज्ञाप्यं व्यवह्रियते । न चात्र तथा । स्वाभिन्नतज्जन्यज्ञानविषयतयैव तु तज्ज्ञाप्यत्वं न निषेधामः । किंतु विभावादिभिर्व्यञ्जितचर्वणीयः । कारक-ज्ञापकाभ्यामन्यो हेतुर्न लोकसिद्ध इति चेत्, अलौकिकत्वसिद्धेरभूषणमेतन्न दूषणम् । कथं तर्हि विभावादिभिरुपपन्नो रसो ज्ञेयो रस इत्यादि व्यवहार इति चेत्, आद्यस्तावच्चर्वणोत्पत्त्या । तत्रोत्पत्त्युपचारात् । द्वितीयोऽपि गुणालंकाराद्य-संभिन्नरसादिविषया या लौकिकी प्रमितिः, यच्चापरिपक्वयोगिनां युजानपद-

साक्षात्कारसामग्र्या इतरविषयभानप्रतिबन्धकत्वेन तदयोगात् । अलौकिकत्वेना-प्रतिबन्धकत्वाङ्गीकारे रसप्रतीतेर्नित्यत्वापत्तेः । नन्वपेक्षाबुद्धिरुपनिमित्तकारणनाशा-द्वित्वनाशो दृष्ट इति इहापि तथास्त्वित्याशङ्क्याह—द्वित्वेति । द्वित्वं नित्यम् । तत्र व्यञ्जिका त्वपेक्षाबुद्धिरित्यवगमादिति भावः । नन्विति । अभिव्यक्तेरपि निमित्तनाशान्नाशानुपपत्तिरिति दोषः समान इत्यर्थः । व्यञ्जकदीपाद्यभावविशिष्टस्य तमस आवरकत्वादावरणभङ्गस्य व्यञ्जकनाशेऽनुपपत्तेर्न दोषसाम्यमित्याह—लोको-त्तरतयेति । उत्पत्त्यादिविलक्षणतयेत्यर्थः । ननु विभावाद्यनुसंधानविच्छेदकस्य बलवद्भासङ्गस्य सुखविशेषसाक्षात्कारविरोधित्वस्य फलबलेन कल्पनाशोक्तदोष इत्यत आह—किंचेति । 'स्थायी भावो रसः स्मृतः' इत्यादिवहुतरचिरन्तनोक्तैः स्थायिन एव रसवित्तौ मुख्यतया स्वाद्यत्वानुभवाच्च स एव रसो, न सुखविशेषः । स्थायी च पूर्वसिद्ध एवेति न काव्योपस्थितिर्विभावादिजन्य इत्यर्थः । तत्सिद्धे-रिति । चर्वणाविशिष्टस्थायिसिद्धेरित्यर्थः । निष्पादिकेति । अभिव्यक्तिरूप-विशेषणांश इत्यर्थः । स्वभिन्नेति । स्वपदेन ज्ञाप्यत्वाभिमतमुच्यते । अतएव चक्षुर्जन्यज्ञानस्य स्वभिन्नत्वाभावादेव । स्वाभिन्नेति । ज्ञायमानस्यैव रसत्वादसश-रीरान्तर्गतमेव ज्ञानमिति रसाभिन्नमेव तदिति भावः । रसज्ञानस्य च भग्नावरण-चिद्रूपस्य स्थाय्युपहितत्वेन विभावादिजन्यत्वोक्तिः । साक्षिरूपमुखादिज्ञानस्य जन्य-त्वव्यवहारवत् । स्थाय्युपहितचिदानन्दाकारवृत्तिरूपरसपक्षे तु समञ्जसैवेति द्रष्ट-व्यम् । चर्वणीयः पुनःपुनरास्वादनीयः । अन्य इति । व्यञ्जकाख्य इत्यर्थः । अलौकिकत्वेति । व्यञ्जनाया अलौकिकत्वं वदतामस्माकमनुकूलमेवैतदित्यर्थः ।

वाच्यानां जगन्नेदविषयकत्वशालिविज्ञानम्, यच्च परिपक्वयोगिनां युक्तपदाभि-
धेयानां बाह्यार्थसंस्पर्शरहितं स्वात्ममात्रविषयं संवेदनम्, तेभ्यो गुणालंकार-
युक्तरसादिमात्रविषयतया विलक्षणं यत्संवेदनं तद्गोचरतयेति मन्तव्यम् । न
केवलमसत्त्वादज्ञाप्यो रसः, किं त्वितोऽपि यतस्तद्वाहकं न निर्विकल्पकम् ।
विभावादिपरामर्शस्य विनिकल्पकजननायोग्यत्वात् । नापि स्वभिन्नसविकल्प-
कम् । चर्वमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनमात्रसिद्धत्वात् चर्वणादशार्था-
ज्ञानान्तराभावात् । स्वाभिन्नसविकल्पकविषयत्वेन ज्ञाप्यत्वमिष्टमेव । ननु
निर्विकल्पस्वभिन्नसविकल्पयोरन्यतरविषयत्वाभावोऽपरविषयत्वपर्यवसन्नः । तथा
चैकविषयत्वाभावेऽपरविषयत्वप्रसक्तिरित्युभयविषयत्वाभावेऽनुभवविषयत्वं प्रस-
ज्येतेति चेत् । न । एवं ह्युभयरूपत्वमापद्यमानं स्वाभिन्नसविकल्पकविषयतया
लोकोत्तरचमत्कारमेव गमयति, न पुनर्विरोधमिति । अथ विभावादयो
मिलिताः किमिति व्यञ्जकत्वेन निर्दिष्टाः । एकैकस्य व्यञ्जकत्वे व्यभिचारात् ।
अथैकैकस्मादन्यद्वयाक्षेपात्तत्राप्यस्येव रसव्यक्तिरित्यव्यभिचार इति चेत् । न ।
व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीरानुत्तरोद्वाणाम् । अश्रुपातादयोऽनुभावाः
शृङ्गारस्येव कैरुणभयानकयोः । चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीर-
करुणभयानकानाम् । इत्यन्यद्वयाक्षेपानियमात् । नन्वेवं मिलितस्यैव व्यञ्जकत्वे
एकैकोपस्थितौ रसव्यक्तिर्न स्यात् । दृश्यते चासौ । यथा—

‘वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।

धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥’

इत्यादौ कामिनीगताया रतेरालम्बनमात्रस्योपस्थितौ ।

जगदिति । जगद्विज्ञत्वेनात्मज्ञानमित्यर्थः । स्वसंवेदनेति । स्वात्मकेत्यर्थः ।
वृत्तौ ‘उभयाभावरूपस्य’ इत्यस्योभयाभाववत् इत्यर्थः । एवं हीति । निर्विकल्प-
कविषयत्वाभावो न स्वभिन्नसविकल्पकविषयत्वेनैव पर्यवस्यति । अपि तु स्वभिन्नस-
विकल्पकविषयत्वाभावोऽपि न निर्विकल्पकविषयत्वेनैव, अपि तु स्वभिन्नसविकल्प-
कविषयत्वेनाप्यलौकिकेनेति न विरोध इत्यर्थः । एकैकस्येति । विभावादेरेकै-
कस्यानेकरससाधारण्यात्प्रत्येकज्ञानाद्रसविशेषानुत्पत्तेरन्वयव्यभिचारादित्यर्थः । एकै-
केनाप्याक्षितैकानुगुणेतद्वयसचिवेनैकरसप्रतीतिसंभवाच्च व्यभिचार इति शङ्कते—
अथेति । विभावादेरेकैकस्यानेकरससाधारण्यादसाधारणेतद्वयाक्षेपानियमे नैक-
स्यापि रसस्याप्रतीतेरुक्तव्यभिचारस्य तादवस्थमिति समाधत्ते—व्याघ्रादय इत्या-
दिना । दृश्यते चासावित्यादावालम्बनमात्रस्योपस्थितावित्यन्वयः । आलम्बनपदमु-

१. ‘असमत्वात्’ क. २. ‘तस्य स्वसंवेदन’ ख. ३. ‘उभय’ ख-ग. ४. ‘व्याघ्रा-
दयो हि’ ख. ५. ‘करुणा’ क-ख. ६. ‘वियदिति । मानवतीं प्रति सख्या
इयमुक्तिः । हे मुग्धे मानभङ्गावश्यभावेऽपि दयितप्रणामोपेक्षणादिवेकरहिते, प्रणतिपरे
मुद्गप्रणामशालिनि दयिते प्रेमपात्रे कान्तविषये प्रसीद प्रसादं कुर्वित्यन्वयः । दयित
इत्यनेन मानाविमोकेऽनौचित्यं ध्वन्यते । मानभङ्गावश्यभावे वीजमाह—वियदलीत्यादि ।

एवम्—

‘परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः

कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-

मभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः ॥’

इत्यादावङ्गम्लान्याद्यनुभावमात्रस्य ।

‘दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं

संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किं चाञ्चित्भ्रूलतम् ।

द्दीपनविभावस्याप्युपलक्षणम् । अनुभावव्यभिचारिव्यवच्छेद एव तात्पर्यात् । यद्यपि

वियदाकाशं अल्यो भ्रमरा इव मलिनाः श्यामाश्च ते, अम्बु गर्भे येषां ते मेघा यत्र तथाभूतम् । इति कर्मधारयोत्तरं बहुव्रीहिः । अस्तीति शेषः सर्वत्र बोध्यः । अम्बुगर्भत्वेना-
वृष्टत्वात्सर्वे व्यज्यते । तथा मधुकरकोकिलयोः सहितयोः कूजितैर्दिशां श्रीः शोभा ।
वर्षासु कोकिलकूजिताभावेऽपि मुग्धाया भयोत्पादनाय सख्याः प्रतारणोक्तिरियमिति
केचित् । मधुकरा एव कोकिला इति रूपकम् । एवं च यथा वसन्ते कोकिला मनोहरा-
स्तथेदानीं मधुकरा (इति) माघन्तीत्यपरे । यद्वा कचन केचन कोकिलाः प्रावृष्यपि
माघन्तीति यथाश्रुतमेव युक्तमिति चण्डीदासः । धरणिर्भूमिः अभिनवा नूतना अङ्कुरा
एवाङ्गे उत्सङ्गे टङ्काः पाषाणमेदिनः पाषाणप्रायकठिनमानभजनत्वाद्वा यस्यास्तथा ।
अङ्कुराणां पाषाणप्रायवियोगिहृदयविदारकत्वाट्टङ्कारोपः । एवं चोर्ध्वमवस्थिर्यक्चोद्दीपनप्रवृत्तौ
तद्रहितदृष्टिसंचारस्थलाभावान्मानभङ्गस्यावश्यंभाव्यत्वमुपदर्शितम् । ‘टङ्कः पाषाणदोरणः’
इति कोषः । ‘अत्र केवलस्योद्दीपनस्योपादानम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘परिमृदितेति । मालतीमाधवे ‘तथाह्यवस्या’ इत्युपक्रम्य माधवस्य मकरन्दं प्रति
मालव्यवस्यावर्णनोक्तिरियम् । अस्या मालत्या अङ्गं हस्तादि । जाल्यभिप्रायमेकवचनम् ।
परिमृदिता करतलद्वयमर्दनेन शिथिलीकृता या मृणाली बालमृणालं तद्वन्म्लानम् । तेन
बहुदिनोपचीयमानमानमथव्ययाविकारसूचनम् । तथा क्रियासु शरीरधारणमात्रोपयोगिनीपु-
षानभोजनादिरूपासु बह्वीषूपन्यस्तासु परिवारस्य सखीगणस्य प्रार्थनाभिर्वह्नीभिः कथमपि
अनिच्छन्त्या अपि बलात्प्रवृत्तिः सकृत्कचिदुपक्रममात्रम्, न पुनः क्रियानिष्पत्तिरिति षष्ठी
विषयनिवृत्तिरूपा कामावस्योक्ता । चकारोऽप्यर्थे भिन्नक्रमः । कपोलोऽपि निष्कलङ्कस्य
कलावशिष्टस्य हिमांशोर्लक्ष्मीं शोभां कलयति धारयति । पाण्डुक्षामत्वात् । तदाह—
अभिनवेति । अभिनवो नूतनो यः करिदन्तस्य च्छेदश्छिन्नो भागस्तद्वत्पाण्डुः । सद्यश्छिन्न-
स्यातिस्वच्छत्वात्तथोक्तिः । तथा च कालिदासः—‘सद्यःकृतद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य’
इति कर्तव्ये सद्यस्त्वमाह । लक्ष्मीमित्यनेनैवमपि न शोभाच्युतिरिति गन्व्यते । सेयं
तनुताल्या पञ्चमी कामावस्या । कपोल इति जाल्यभिप्रायमेकवचनम् । अत्र केवलस्याङ्ग-
म्लान्यादेरनुभावस्य वर्णनम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘म्लान्यादि’ क;
‘मालिन्यादि’ ख. ३. ‘दूरादिति । जातं आग अपराधो यस्यात्प्रमादतस्तथाभूते, न तु
कृतागसि अतएव प्रेयसि प्रीतिपात्रे मानिन्याश्चक्षुः अहो इत्याश्चर्ये प्रपञ्चे विचित्रव्यापार

मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णक्ष्णं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥'

इत्यादावुत्सुकादिविशेषणव्यङ्ग्यानामौत्सुक्यलज्जाहर्षकोपासूयाप्रसादानां व्यभि-
चारिमात्राणाम् । यद्यप्यत्र प्रेयसीत्यालम्बनविभावोऽप्यस्ति, तथापि रत्यनु-
कूलधर्मवत्तया निर्देशादनस्तिकल्प एवेति । मैवम् । एषां विभावादीनाम-
साधारण्येनान्यद्वयाक्षेपकत्वेनात्रापि मिलितानामेव व्यञ्जकत्वात् । नन्वेषां
चेदसाधारण्यं किमन्यद्वयाक्षेपणेन । एकैकव्यभिचारेण हि त्रयोपादानम् । अथ
साधारण्यमेव कथं तर्हि स्थायिविशेषयोग्यविभावाद्याक्षेपकत्वमिति । उच्यते—
एकस्य व्यभिचारान्मिलितानां व्यञ्जकत्वे स्थितेऽसाधारणेनापीतरद्वयमाक्षि-
प्यते । किंच रसस्य विभावादिसमूहालम्बनरूपत्वादेकैकस्मादसाधारणादपि
व्यक्त्यभावान्मिलितानामेव व्यञ्जकत्वम् । अतोऽसाधारण्येऽपीतरद्वयमाक्षिप्यते ।
ततो मिलितैस्तद्व्यभिचारीति । इति ।

प्रणतिरूपोऽनुभावोऽप्युक्तः, तथापि नायिकागताया रतेस्तस्यानुपस्थितिरिति तात्प-
र्यम् । अनुभावमात्रस्येत्यनन्तरमुपस्थितावित्यनुवर्ज्यते । एवं व्यभिचारिमात्राणा-
मित्यत्रापि प्रसादस्य हर्षरूपत्वाद्भविचार्यादिद्वयाक्षेपकत्वेनेत्यर्थः । एकस्येति ।
साधारण्यस्थल इत्यर्थः । तथाच क्लृप्तमिलितव्यञ्जकत्वानुरोधादितराक्षेप इत्यर्थः ।
ननु यत्र मिलितानामपि साधारण्यं तत्र विरोधो न । एकस्यापि रसस्यानभि-
व्यक्तेः । असाधारण्यत्वेन प्रकरणादिना ज्ञातानामेव व्यञ्जकत्वं वाच्यम् । तथा चैकैक-
स्मादपि तथा ज्ञाताद्रसव्यक्तिरविरुद्धेति । अरुचेराह—किंचेति । तदुक्तं प्राक्
पानकरसन्त्यायेनेति । एवं च 'वियत्' इत्यादौ नायिकानिष्ठरतेरलम्बनत्वादयो-
ऽनुभावाः प्रसीदेत्युक्तिरगम्याः । असूया व्यभिचारिभावः तदुभयोपस्थितौ विप्रल-
म्भरसव्यक्तिः । 'परिमृदित-' इत्यादौ च प्रकरणगम्यौ मालतीमाधवौ विभावौ
म्लानिगम्या चिन्ता संचारिणी च गम्यते । 'दूरात्-' इत्यत्र चालम्बनविशेषस्य

संताने चतुरं जातमित्यन्वयः । प्रपञ्चचातुर्यमेव प्रपञ्चयति—दूरादित्यादिना । दूरात् ।
दृष्टे इति शेषः । सप्तम्यर्थे पञ्चमी । सर्वेषु सप्तम्यन्तेषु प्रेयसीति संबध्यते । उत्सुकं इतो-
ऽन्यत्र वा यातीति शङ्कया उत्कण्ठासूचकचेष्टाविशेषशालि । आगते समीपं प्राप्ते विवर्लितं
दूरतः पश्यन्त्या ममौत्सुक्यमनेन ज्ञातमिति लज्जया तिर्यङ्कृतम् । संभाषिणि सम्यग्भाषिणि
स्फारितं विकसितम् । प्रियालापेन हर्षोदयात् । संक्षिप्यति सम्यगतिशयेन सान्निध्यं
प्राप्नुवति अरुणमारक्तम् । अप्रसादैव स्पर्शमिच्छतीति कोपात् । अत एवापसरन्त्या
गृहीतवसने । किंचेति समुच्चये । अजिता कुटिलीकृता भूलता येन तथाभूतम् । कोपा-
धिक्येनासूयोदयात् । चरणयोरानतिः प्रणामस्तस्य व्यतिकरः संबन्धः पौनःपुन्यं वा
यस्येति दयितविशेषणम् । बाष्पाम्बुनाश्रुजलेन पूर्णं समाप्तमीक्षणं दर्शनं यस्य तत् ।
मानभजेन प्रसादोदयात् । अम्बुपदं बाहुल्यसूचनाय । 'बाष्पाम्बुपूर्णं क्षणात्' इति पाठस्तु
काव्यतिकः समञ्जस एव । अत्रौत्सुक्यादिव्यभिचारिभावानामनेकैकैवलानामुपादानम्"
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

केचिदाहुरेक एव शृङ्गारो रसः, केचिच्च द्वादशेत्यादि, तन्निरासाय भेदानाह—

शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।

वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ ६ ॥

शान्तस्य रोमाञ्चादिविरहेणानभिनेयत्वात्काव्यमात्रगोचरत्वमित्यभिधाना-
न्नाट्य इत्युक्तम् । यद्वा नाट्ये तावदष्टौ रसाः प्रतिपादिताः, अतः काव्येऽपि
तावन्त एवेत्यर्थः । ननु रसः सुखात्मक इति प्रतिपादितम्, तत्कथं दुःखमयः
करुणादिको रस इति चेत् । न । लोके तथात्वेऽपि काव्यादौ पार्यन्तिकालौ-
किकसुखोदयात् । अन्यथा प्रेक्षावतामप्रवृत्त्यापत्तेः । शृङ्गारादीनां च लक्षणं

निःश्वासपाण्डुतादेश्वानुभावादेश्वोपस्थितावेव रसव्यक्तिरित्यूहम् । एक एवेति ।
शृङ्गारस्य लोके आस्वाद्यतायाः सर्वानुभवसिद्धत्वात् काव्ये गुणालंकारयोगेनाधि-
कास्वादगोचरतया रसत्वं युक्तम्, न त्वितरेषाम् । लोके सुखात्मत्वाननुभवात्
काव्य एव तथात्वकल्पनाया अप्रामाणिकत्वात् । अद्भुतस्य च विस्मयप्रकृतिकत्वात्
तस्य चोद्भटालंकारवर्णनादावपि नीरसेऽभ्युपगमाच्च रसत्वमित्याशयः । द्वाद-
शेति । भक्तिवात्सल्यश्रद्धाख्यैर्ब्रिभिः सहिताः शृङ्गारादयो नवेत्यर्थः । तत्र
भक्तिर्भगवति प्रसिद्धा श्रद्धाप्यास्तिक्यनिश्चयात्मिका वेदशास्त्रविषया शिष्टानां प्रसि-
द्धैव । वात्सल्यमपि पुत्रमित्रादौ ज्ञेयाभिधानम् । तन्निरासायेति । 'सर्वं
वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन तन्निरासबोधनायेत्यर्थः । तत्र भक्तिवात्सल्य-
योर्भावान्तर्गतिः । 'रतिर्देवादिविषया' इति वक्ष्यमाणत्वात् । श्रद्धायाश्चासुखात्म-
कत्वाच्चमत्कारानुत्पादकत्वाच्च न रसत्वमित्यूहम् । काव्यमात्रेति । अव्यका-
व्येत्यर्थः । अभिधानादिति । 'शान्तस्य शमसाध्यत्वाज्ज्ञेयं च तदसंभवात् ।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥' इति कैश्चिदभिधानादित्यर्थः ।
'अभिमानात्' इति क्वचित्पाठः । वस्तुतो नटे शमाभावेऽपि न क्षतिः । तत्र रसा-
भिव्यक्तेरनङ्गीकारात् । सामाजिकेषु शमसत्त्वेनैव शान्तरससंभवात् । अस्मिनय-
स्यापि शून्यदृष्टित्वादिना संभवात् । संसारानित्यताप्रतिपादकगीताद्यङ्गतया वाद्यादेः
संभवाच्च नाट्येऽपि शान्तसंभव इत्याशयेनाह—यद्वेति । नाट्येऽष्टावेवेति नार्थः ।
किंतु ये नाट्ये दर्शितास्त एव काव्येऽपीत्यर्थः । तावन्त एवेति । न शान्त-
व्यवच्छेदः । तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । किंतु वात्सल्यदीनामिति ज्ञेयम् । पार्य-
न्तिकेति । पर्यन्ते विभावादिसंज्ञानजस्थायिचर्वणादशायां भवं पार्यन्तिकम् ।
अत्र चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यजन्मविभावादिसमूहालम्बनमेव हेतुरिति भावः ।
ईदृशकल्पनायां मानमाह—अन्यथेति । अश्रुपातादयस्तु तत्तदानन्दानुभव-
स्वामिव्यात्, ननु दुःखात् । नहि दुःखनियता अश्रुपातादयः । भगवद्वर्णनाक-

रत्यादिप्रकृतिकत्वम् । तत्र मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः । तत्प्रकृतिको रसः शृङ्गारः । स द्वेधा—संभोगो विप्रलम्भश्च ।

तत्र—

‘अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।

दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥’

स च परस्परालोकनालिङ्गनादिभेदादङ्गण्य इत्येक एव गण्यते ।

‘भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।

नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥’

स च संगमपूर्वः, तदन्यश्च तत्रान्योऽभिलाषहेतुक इत्युच्यते । अभिलाष-
पदेन तद्धेतोरनादिसंगमाभावस्य लक्षणात् । आद्यस्तु क्वचिदीर्घ्या प्रणयेन
वा मानरूपः । स ईर्ष्याहेतुक इत्युच्यते । ईर्ष्यापदेन मानहेतोरुपलक्षणात् ।
क्वचित्तु कार्यवशाद्देशान्तरस्थितः । स प्रवासहेतुकोऽभिधीयते । उत्पद्यमानो-
त्पत्त्यमानावपि प्रवासौ स्वज्ञानद्वारा विप्रलम्भप्रयोजकाविति नाव्याप्तिः ।
प्रवासशब्देन ज्ञानलक्षणाद्वा क्वचिच्छापात् । स च शापहेतुक इति व्यव-
हियते । क्वचिदुक्तत्रितयातिरिक्ताद्गुरुलज्जादितः कारणात् । स एष विरहहेतुक
इत्युच्यते । करुणशृङ्गारस्याप्यत्रैवान्तर्भावः । तत्र संभोगो नायिकारब्धो
नायिकारब्धश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

‘शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-

निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

र्णनाङ्गकानां तदुदयात् । तत्र दुःखलेशस्याप्यसंभावनीयत्वादिति दिक् । सुख-
संवेदनमिति । सुखरामताज्ञानमित्यर्थः । सुखसाधनत्वज्ञानमिति यावत् । वस्तु-
तस्तु तज्जन्यः प्रेमाख्यो भावो रतिरिति बोध्यम् ।

तद्धेतोरिति । सिद्धे इच्छाविरहात्संगमप्रागभावोऽभिलाषयोजक इत्यभि-
लाषपदेन लक्ष्यते । अन्यथा सर्वस्यैव विप्रलम्भस्याभिलाषहेतुकत्वेन भेदात्तुप-
त्तेरिति भावः । प्रणयेति वेति । तदुक्तम्—‘द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे
सुमहलपि । प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना ॥’ इति । कारणं विने-
त्यनेन कोपस्याहार्यत्वं सूचितम् । करुणेति । ‘यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोका-
न्तरं पुनर्लभ्ये । विमना भवति यदेकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः ॥’ इत्युक्तः ।
यथा कादम्बर्या पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते । शून्यमिति । अत्र नायिकार-

१. ‘अपरिगण्यः’ ख. २. ‘तत्रान्यो’ क. ३. ‘नातिव्याप्तिः’ क. ४. ‘शून्यमिति ।
नवोदाया अभिनवसमागमवर्णनमिदम् । बाला नवोदात्वेनाप्रगल्भा । वासगृहं रतिम-
न्दिरं शून्यं निर्जनं विलोक्य विशेषतः सखीनिभृतसत्त्वशङ्कापरिहारेण इष्टा शयनात्
किञ्चित्, नतु सर्वतः, निद्राभङ्गे पार्श्वपरिवर्तने समाधातुम्, शनैः बलयादिकणनशङ्कया
मन्दमुत्थाय अनुरागजिज्ञासया निद्राया व्याजं मिषमुपागतस्य प्राप्तस्य, नतु व्याजेन निद्रा-

विस्त्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥'

आलोक्येति लज्जया समानकर्तृकम् ।

‘त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।

ब्धतया तद्रताया रतेः प्राधान्यम् । तत्र नायक आलम्बनम् । शून्यगृहमुद्दीपनम् । नायकचुम्बनमनुभावः । लज्जा व्यभिचारिभावः । तद्वृत्तिप्रसङ्गवारणाय लज्जापदेन तदुक्तिः । तेन तच्चमत्कारापकर्ष इति शृङ्गारध्वनित्वमेव सिध्यति । अतएव हास्यस्यापि स्वपदेनोपादानम् । लज्जयेति । अर्शआद्यचि लज्जावतीत्यर्थलाभादिति भावः ।

त्वं मुग्धाक्षीत्यत्र नायिका आलम्बनविभावः । नयनसौन्दर्यमुद्दीपनविभावः । वीटिकासपर्शोऽनुभावः । तद्रम्यमौत्सुक्यं व्यभिचारिभाव इति ज्ञेयम् ।

मिति सर्वथा तदभावसूचनम् । पत्युः नतु प्रियस्य । अपूर्वसमागमेनानुद्भिन्नरहस्यत्वात् । कालक्षेपसहिष्णुत्वाद्वा । मुखं सुचिरं व्याजशङ्कानिरासायातिचिरकालं निर्वर्ण्य निःशेषतो यावन्मतिवैभवं वर्णयित्वा । अनुरागातिशयाग्निद्रानिर्णयार्थं वा निःशेषं वर्णयित्वा । सुचिरं व्याजमुपागतस्येति बान्धवः । निद्रायास्तात्त्विकभ्रमादिसम्बन्धं विश्वासयुक्तं यथा स्यात्तथा परितः कपोलयोर्भाले नयनयोश्च चुम्बयित्वा गण्डस्थलीं जातपुलकामालोक्य । स्वरहस्यप्रकाशात् । लज्जत इति लज्जेति पृथक्पदम् । लज्जावतीत्यर्थः । मत्वर्थीयाच्चप्रत्ययात् । तेन लज्जनक्रियासमानकर्तृकेणालोक्येति क्त्वाप्रत्ययोपपत्तिः । नम्रं स्वयमेव नामितं लज्जापारवश्यातिशयेन मुखं यस्यास्तादृशी । तव निखिलमपि रहस्यमवगतमिति हसता अतएवोद्भिन्नरहस्यतया अथवा कालाक्षेपकबलात् प्रियेण चिरं लज्जापगमपर्यन्तं चुम्बितेत्यन्वयः । अत्र शून्यमित्युद्दीपनातिशयचुम्बनप्रवृत्तियोग्यता च ध्वन्यते । वासगृहमित्युपकरणसंपत्तिः । विस्त्रब्धमिति रागातिशयादविमृश्यकारित्वं ध्वन्यते । नन्वेत्युक्तं, नतु नामितेति तेन लज्जया तथा विह्वलत्वं यथा मुखनामनेऽप्यशक्तिरिति व्यज्यते । लज्जाया अनुभावगम्यत्वेऽपि शृङ्गाराङ्गत्वलाभाय लज्जायाः पदेनोपादानम् । तेन व्यङ्ग्यत्वकृतप्रहर्षापहारात्र भावध्वनित्वम् । चिरमित्यनेन लज्जापगमः संभोगाङ्गीकारश्च व्यज्यते । पत्युरिति युक्तानुरागित्वम् । यद्यपि चात्र द्वयोरपि परस्परालम्बने रती प्रतीयेते । शून्यत्वमुभयोरुद्दीपनम् । कामिनीरतेर्नायकनिद्रा । मुखनिर्वर्णनचुम्बने अनुभावौ । लज्जा व्यभिचारिभावः । नायकस्य रतेरुद्दीपनं नायिकया चुम्बनम् । पुलकचिरचुम्बनावनुभावौ । हासादिरनुभावः । हासव्यङ्ग्यो हर्षः संचारी । तथापि नायकविषयिण्या नायिकानिष्ठाया रतेरुद्रेकः प्राधान्येन चर्वणाविषय इति बोध्यम् । ‘भोगावासो वासगृहम्’ इति हारावली । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. ‘परिरम्भ्य’ ख. २. ‘एवं नायिकारब्धं संभोगमुदाहृत्य नायकारब्धमुदाहरति—त्वमिति । हे मुग्धाक्षि सुन्दरनयने, त्वं कञ्चुलिकया विनैव मनोहारिणीं मनोहरणशीलं लक्ष्मीं शोभां धत्से धारयसि । अक्षौव सकलवशीकरणात् । न केवलं कञ्चुलिकया शोभा-

शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥'

वीटिका वसनग्रन्थिः ।

विप्रलम्भेष्वभिलाषहेतुको यथा—

‘प्रेमाद्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-

स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-

दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥’

प्रेम स्नेहः । स एव प्रकृष्टः प्रणयः । स एव परिचयातिशयेन रञ्जनक्षमो
रागः ।

नुदयः अपि तु विद्यमानायास्तिरोधानमपीत्येवकारार्थः । प्रियतमेऽतिशयितप्रीतिपात्रे इत्य-
भिधानशील एव तस्याः कञ्चुलिकाया वीटिका ग्रन्थिस्तस्या मोचनाय तत्संस्पृशि सति
शय्याया उपान्ते प्रान्तदेशे निविष्टा लज्जया निविडसंलम्भा भवतीषु स्थितास्वयमेवं चेष्टत
इति सस्मिता उक्तिचातुर्येण सखीसमक्षं धाढ्याचरणेन च सितयुक्ता वा सखी आलीज-
नस्य नायिकैव तस्या नेत्रोत्सवः सैव वा नेत्रोत्सवस्तां दृष्ट्वा हर्षोदयस्तेनानन्दितः संजा-
तानन्द आलीजनः सखीजनः अलीकानां मिथ्याभूतानां वचनानां शुको मया भोजनीयः
शारिका पाठनीयेत्यादीनामुपन्यासो यथा स्यात्तथा शनकैर्मन्दं निर्यातो निर्गत इत्यन्वयः ।
शनकैस्त्वमलीककथा च नायिकाया लज्जातिशयनिरासार्थम् । प्रियतम इत्यनिवार्यत्वम्,
सस्मितेनानन्देन कञ्चुलिकापसारणे स्वरसश्च व्यज्यते । अत्र मुग्धाक्षी प्रियतमश्च परस्पर-
रत्यालम्बनविभावौ । नायकरतेरुद्धीपनं नयनसौन्दर्याङ्गशोभादि । त्वमित्यादिवचनवीटिका-
स्पर्शानुभावौ । तयोक्षाभिधायिनि वीटिकासंस्पृशीत्येककालतावगमे प्रतीयमान उत्क-
ण्ठाख्यः संचारी । तथा नायकारतेरुद्धीपनं नायकानुभावौ । सितादिरनुभावः । तद्व्यङ्ग्यो
हर्षः संचारी । शय्योपान्तनिवेशगम्या लज्जा व्यभिचारिभाव इति द्वयस्य गम्यत्वेऽपि नाय-
करतेरुद्रेकक्षर्वणाविषय इति बोध्यम् ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘प्रेमाद्रा’ इति । मालतीमाधवे मालतीलाभाय श्मशानसाधनप्रवृत्तस्य माधवस्येय-
मुक्तिः । मुग्धदृशो मालत्यास्तास्ता मदनुभूता विशेषाश्चेष्टाः कदाक्षरूपा मयि भवेयुरित्या-
शंसायां छिद् । कीदृश्यः । निसर्गमधुराः निसर्गेण स्वभावेन मधुरा मनोहराः । तथा
प्रेम्णा आद्राः । प्रेमबाहुल्यसूचकतया तदाद्रत्वोपचारः । प्रणयः प्रेमकृतो वशीकारस्तत्स-
ंशिन्यः । परिचयासंघर्षादुद्गाढोऽतिसान्द्रो रागस्योदयो यामु ताः । विशिष्य वङ्गमशक्य-
तयानुभावमुखेन प्रतिपादयितुमाह—यामु चेष्टास्वाशंसया मनोरयेन परिकल्पितास्वपि किं
पुनरनुभूयमानासु क्षणादन्तःकरणस्यानन्देन सान्द्रो धनो लयस्तन्मयीभावो बाह्यकरणस्य
चक्षुरादेर्व्यापारं विषयग्राहित्वं रणदीति तथाभूतो भवतीति वाक्यार्थः । अत्र मुग्धदृश इति
शृङ्गप्रकर्षोपक्रमात्प्रेमाद्रा इत्यादिविशेषणस्वारस्याच्च चेष्टापदेन वृन्त्यापारलाभः । अयमभि-
लाषहेतुको विप्रलम्भः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

ईर्ष्याहेतुको यथा—

‘सा पत्युः प्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठलोलालकैरश्रुभिः ॥’

सख्येनोपदेशः सख्योपदेशः ।

भविष्यत्प्रवासहेतुको यथा—

‘प्रस्थानं बल्यैः कृतं प्रियसखैरसखैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवितं प्रियं सुहृत्सार्थैः किमु त्यज्यते ॥’

१. ‘काचित्सखीवृत्तान्तं सखीं प्रति कथयति—सेति । सा बाला मुग्धा । पत्युः ननु प्रियस्य । अपराधकारित्वात् । प्रथमापराधस्यान्याङ्गनासंगमरूपस्य समये । प्रथमत्वेनास-
ङ्गत्वम् । सख्येन सौहार्देन य उपदेशस्तं विना तदभावात् । सख्येत्यसमस्तत्वे तृतीया-
न्तम् । तथाच सखीकर्तृकोपदेशं विनेत्यर्थः । सविभ्रममङ्गस्य भ्रुकुट्यादेर्या बलना चलना
वक्रोक्तयश्च ताभिः संसूचनमर्थान्मानस्य प्रकाशनं नो जानातीत्यन्वयः । तर्हि किं करो-
तीत्यत्राह—स्वच्छैरित्यादि । अश्रुभिरित्युपलक्षणे तृतीया । रोदनं चोपलक्ष्यम् । तथा
चाश्रुभिरुपलक्षितं केवलमेव रोदनं करोतीत्यर्थः । स्वच्छैर्निर्मलैः अच्छयोनिर्नल्योः कपो-
लयोर्मूले गलितैः । अजनपत्ररचनयोस्त्यागादश्रुकपोलयोः स्वच्छता । उत्तानशयनान्मूले
गलनम् । लुठदित्यादि रूपकम् । लुठन्तो विप्रकीर्णा लोलाश्चञ्चला येऽलकाः केशास्तद्रूपैः ।
‘लुठलोलोदकैः’ इति पाठे लुठद्भूमौ पतल्लोलोदकं स्रोतो येषां तैरित्यर्थः । कीदृशी बाला ।
पर्यस्ते लज्जया परितोऽस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया तथाभूता । आरुण्यादुत्पलारोपः ॥’ इत्यु-
दाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘प्रथमापराधसमये’ ख. ३. ‘प्रोध्यत्पतिका स्वजीवितं
संबोध्य सोपालम्भं वदति—प्रस्थानमिति । हे प्रिय प्रीतिपात्र जीवित, प्रियतमे यातुं गन्तुं
निश्चितं संजातनिश्चयं चेतो यस्य तथाभूते सति ननु गन्तुमुद्यते सर्वे अर्थास्तव सुहृदः
समं सह प्रस्थिताः प्रचलिताः । तथाच तवापि गन्तव्ये सति गमनावश्यभावे सति
सुहृदा सार्थैः समूहः किमु कुतस्त्यज्यते । त्वयापि गन्तव्यमिति भावः । के के प्रस्थिता-
स्तत्राह—प्रस्थानमित्यादि । बल्यैः कङ्कणैः प्रस्थानं कृतम् । प्रियगमनश्रवणजनितकाश्येन
स्वस्थानच्युते । प्रियसखैः प्रीतिपात्रैर्मित्रैः । प्रियस्य नायकस्य वा मित्रभूतैरिति वचना-
द्विविधपरिणामेन सर्वेषु तृतीयान्तेषु योज्यम् । तत्त्वं च प्रियसंनिधानान्वयव्यतिरेकानुविधा-
यितया । अतैरश्रुभिरजस्रं निरन्तरम् । असंख्यत्वात् । अतं स्वस्थानान्निर्गतम् । धृत्या
वैवेकेण क्षणमपि नासितं न स्थितम् । चित्तेन गन्तुं पुरः पूर्वमेव व्यवसितमुद्यत्कं ननु
यतम् । तेन सममित्राजनेनविरोधः । प्रियेति संबोधनेन प्रियतमेनेव त्वयापि त्यक्तमुचित-
मिति व्यज्यते । सार्थशब्दश्च यद्यपि ‘संस्तुतिः’ इत्यस्योक्तेर्ननुसमूह एव

भूतप्रवासहेतुर्यथा मम—

‘कियदम्बु भवेद्वसुंधरायां कति वा पल्लवसंचया भवेयुः ।

कियती च समुद्धिरम्बुजानां परितापोऽपह्रियेत यैः कृशाङ्गयाः ॥

सख्याः प्रवासिनं नायिकं प्रतीयमुक्तिः ।

भवत्तद्धेतुको यथा ममैव—

‘किं मूढे परिखिद्यसे कतिपयैरेव प्रिये वासरै-

रायाता वयमेहि धेहि परितः प्रास्थानिकं मङ्गलम् ।

एवंवादिनि वल्लभे दयितया निःश्वस्य पाणौ कृतो

मङ्गलयः कलशो विलोचनपयोधाराभिरापूरितः ॥’

शापहेतुको यथा—

‘त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-

मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे-

कूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥’

आलिख्येत्यपीच्छाविषय एव ।

यद्यपि त्वामालिख्येत्यत्र कूरपदेनासूयाख्यभावध्वनिप्राधान्यं ‘शठेन विभिन्ना’ इतिवत्प्रतिभाति, तथापि ‘दृष्टिरालुप्यते मे’ इत्यन्तेन वाक्येन विप्रलम्भावगमोत्तरं कूरपदेनासूयाभिव्यक्तिरिति न तत्प्राधान्यम् । किंतु रसाङ्गत्वमेव । शठेनेत्यत्र त्वेकवाक्य एवासूयाभिव्यक्त्यनन्तरं निद्रेत्यनेन पश्चाद्विप्रलम्भाभिव्यक्तिरिति भाव-प्राधान्यमिति विशेषो बोध्यः । स्वयं मेदप्रतिपादनावसरे ईर्ष्यादिहेतुत्रयातिरिक्त-

प्रयुज्यमानो दृष्टः नाचेतनसमूहे तथापि प्रकृते चैतन्यारोपात्संगमनीयः । एष प्रवास-हेतुकः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘त्वामिति । मेघदूते कुबेरश्चपप्रतिवद्धप्रियासविषयमनस्य यक्षस्य शेषद्वारा प्रियां प्रति संदेशोक्तिरियम् । प्रणयेन कुपितां मानवतीं त्वां धातुरागैर्वैरिक्कादिमी रक्तधातुभिः शिलायामालिख्यात्मानं ते तव चरणयोः प्रतितं प्रणतं कर्तुं यावदिच्छामि तावन्मुहुरपचितैः प्रवृद्धैरस्त्रैर्बाष्पैर्मे दृष्टिर्दर्शनमालुप्यते कुसा भवदीत्यन्वयः । अर्थान्तरं न्यस्यति—कूर इति । अतस्तस्मिन्नप्यालेख्येऽपि नौ आवयोः संगमं कूरः श्रेयो विघटने जागरूकः कृतान्तो देवसेव कृतान्तो यमो न सहते । किमुत साक्षादित्यर्थः । अत्र कोपे रक्तिमोदयाद्व्याधुतुरागैरित्युक्तम् । मृमिशयनाच्च शिलायामित्युक्तम् । अत्र कथंविद्धिखितायामाकृतौ पादपतनारम्भे तत्कालीनतदीयविलासविशेषानुसरणसमुद्दीपितशोकावेशवशप्रवृत्तैरश्रुभिर्दर्शनविधातद्वारा विघ्नः कियत इति सर्वतत्रविदो वाचस्पतिमिश्राः । आधुनिकास्तु लिखनमपीच्छाविषय एव ननु निर्व्यूढमिति मन्यन्ते । यद्यप्यत्र प्रवन्धालोचनयोन्माद एव प्राधान्येन प्रतीयते तथापि तद्वन्धालोचनेनोन्मादाभास एवेत्यभिप्रेत्य रसध्वनित्वेनोदाहृतम् । अयं शापहेतुको विप्र-लम्भः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

विरहहेतुको यथा—

‘अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक्सुह-

द्यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।

इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे

बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नामोति निद्रां निशि ॥’

एषा विरहोत्कण्ठितेत्यभिलाषहेतुकादेर्भिद्यते ।

‘न्यङ्गव्रीडादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते ।’

न्यङ्गं वैकृतम् । तेन हासप्रकृतिको हासः । यथा—

‘आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेद्या

मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।

हेतुकत्वेनान्ते विरहहेतुकस्याभिधानात्तदुदाहरणमन्ते दर्शितम् । एषेति । विरहोत्कण्ठितेति यतो मुनिनोक्ता । न तु प्रोषितभर्तृकाख्यभेदान्तर्गता विप्रलम्भसामान्यप्रयुक्ता वा । अतो विरहस्यान्येभ्योऽभिलाषादिभ्यो भेदं गमयतीत्यर्थः ।

१. ‘अन्यत्रेति । इत्युक्तप्रकारेणाल्पेतराभिर्वह्नीभिः कल्पनाभिर्वितर्ककरणैः कवलितं ग्रस्तम् । व्याप्तमिति यावत् । स्वान्तं मनो यस्यास्तथाभूता बाला निशान्तस्य गृहस्यान्तरे मध्ये निशि निद्रां नामोतीति संबन्धः । किंभूता । वृत्तः संजातो विवर्तनस्य पार्श्वपरिवर्तनस्य व्यतिकरः समूहो यस्यास्तथाभूता । कल्पनाप्रकारमाह—अन्यत्रेति । अन्यत्र नाधिकान्तरगृहे व्रजति गच्छतीति कथापि का । न कापि अलीका । किमु गमनमित्यपिशब्दलभ्योऽर्थः । खलु निश्चितम् । अस्य नायकस्य तादृक् सुहृदपि न यो मां नेच्छति द्रष्टि । तथाच तत्कृतनिवारणमप्यसंभाव्यमित्यर्थः । तर्हि हेत्वभावेऽनागमनमप्यसंभाव्यं तत्राह—नागतश्चेति । चत्त्वर्थे । आगतस्तु नेत्यर्थः । कारणभावेऽपि कार्यमिति विस्मये हहहेति । सहसेति वा पाठः । विधेर्देवस्य कोऽयमननुभूतपूर्वः प्रक्रम आरम्भः अहेतुककार्योत्पादरूपः । सहसेतिपाठे ननु दैववशाद्नागतस्तत्राह—सहसेति । सहसा अकस्मात् । तथाच विधेर्नैया किमपराद्धमिति भाव इति संगमनीयम् । एषा च ‘आगन्तुं कृतवित्तोऽपि दैवाच्चायाति यत्प्रियः । तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता मता ॥’ इत्युक्तलक्षणा नापिकेत्ववश्यं विरहस्य प्रवासादितः पृथग्भावः स्वीकार्यः । अन्यथा प्रोषितभर्तृकादितोऽस्या भेदान्तरत्वानापत्तेः ॥ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘न्यङ्ग’ क. १. ‘न्यङ्ग’ क. ४. ‘आकुञ्चयेति । विष्णुश्चर्माणमुपहसतः कस्यन्विदुक्तिरियम् । इतीत्युपलक्षणार्थकतृतीया-न्तम् । ‘विष्णुश्चर्मा कश्चिद्विप्रः । आकुञ्चयेत्यादि हतोऽहमित्यन्तेन वाक्येनोपलक्षितं रोदित्तीत्यन्वयः । वाक्यार्थस्तु—अशुचिमुच्छिष्टादिनोपहतं पाणिमाकुञ्च्य संकुञ्चितार्थं कृत्वा । मुष्टीकृत्येति यावत् । मन्त्रपूतानाम्भसां पृषतैर्विन्दुभिः प्रतिपदं प्रतिक्षणं पवित्रे मम मूर्ध्नि तारो दीर्घः स्वरो यत्र, प्रथितो विस्तारितस्यूदिति शब्दश्च यत्र तथा प्रहारमदाश्चवती । हाहेति खेदे । हतो नष्टोऽहमिति । ‘प्रहितयूक्तं’ इति पाठे प्रहितं प्रक्षिप्तं यूक्तं लाल यत्रेति व्याचक्षते । अत्र हासरसः ॥ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तारस्वरं प्रथितथूत्कमदात्प्रहारं

हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥'

अत्र तादृश्यमानो विष्णुशर्मा तत्क्रन्दनं च विभावौ रसाश्रयस्य । एतद्वाक्य-
मनुभावः । चापलादिव्यभिचारीति ।

‘दृष्टनाशादिभिश्चेतोवैकृत्यं शोकशब्दभाक् ।

आदिग्रहणादनिष्टासिः । शोकप्रकृतिकः करुणः । यथा—

‘हा मातस्त्वरितासि कुत्र किमिदं हा देवताः काशिपो

धिकप्राणान्पतितोऽशनिरुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।

इत्थं वर्धरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-

श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥’

अत्र विपन्ना काचिदीश्वरी संयोध्या, तदङ्गदाहश्च विभावौ ।

‘प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते ।’

तत्प्रकृतिको रौद्रः । यथा—

‘कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं

मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।

विभावावाल्म्बनोद्दीपनरूपौ । एवमग्रेऽपि ।

कृतमनुमतमित्यादावर्जुनादय आलम्बनविभावाः निर्मर्यादत्वमुद्दीपनम् । प्रति-

१. ‘हा मातरिति । राजपत्न्यां मृतायां तत्परिजनविलापवर्णनमिदम् । इत्यमे-
तत्प्रकाराः पुरे भवानामङ्गनानां गिरश्चित्रस्थानप्यालेख्यगतानपि रोदयन्ति भित्तीरपि
शतधा शतखण्डाः कुर्वन्ति किं पुनः सचेतनानित्यन्वयः । किंभूताः । उच्चैः क्रन्द-
नाद्वर्धरस्वराश्च ताः श्रमाद्वाष्पबाहुव्याच्च मध्येऽन्तराले रुद्धा विच्छिन्नाश्चेति कर्मधार-
योत्तरं पुनः करुणा इत्यनेन कर्मधारयः । करुणाः सलेहाः कातर्यसूचिका वा । नातो
रसस्य शब्दवाच्यतादोषः । किंरूपा गिर इत्यपेक्षायां तत्स्वरूपानुकरणं पूर्वार्थम् । तद-
र्थस्तु—हा इति विषादे । भो मातः, कुत्र गन्तव्ये त्वरिता संजातत्वरसि । येनास्मानपि
नापेक्षितवती । ‘त्वमितासि’ इति पाठे श्तासि गतासीत्यर्थः । किमिदमाकस्मिकोत्पातरूपम् ।
हा इति धिगर्थे । देवता धिक् । नानोपचारपूजास्तुतिनुतिभिरप्यरक्षणात् । आशिपोऽर्थाद-
नादितर्पितद्विजानां क कुत्र । गता इति शेषः । ता अपि विफला इति भावः । प्राणान्धिकम् ।
त्वदभावेऽपि स्थिरत्वात् । ते तवाङ्गेषु सुकुमारेष्वशननिर्वञ्जं तद्रूपो हुतवहः । य एवाहुतिभिः
पूर्वं तर्पितत्वादुतवहः स पतितः स्वयमेव । सचेतनैरेतेष्वङ्गेषु पातयितुमशक्यत्वात् । यद्वा
पतितोऽशनिरिति भिन्नं वाक्यम् । वज्रपात एवायं यत्तव विपत्तिरिति । दृशौ नेत्रे दग्धे इति
विशिष्योपादानं रमणीयतातिशयेन तद्वादे दुःखाधिक्यात् । यद्वास्माकं दृशौ दग्धे इत्यशु-
भदर्शित्वादकसादृश्ये इति लोकोक्त्या द्रष्टव्यम् । अत्र करुणरसः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-

२. ‘कृतमिति । वेणीसंवरणे द्रोणवधानन्तरमर्जुनादीन्प्रत्यक्षत्वात् उक्तिरियम् । इदं गुरो-
द्रोणस्य वधरूपं पातकमेव गुरुपातकं महापातकमविवेकान्मनुजरूपैः पशुभिरुदायुधैरुपता-

नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-

मयमहमसृज्योदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥'

'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।'

तत्प्रकृतिको वीरः । स च त्रिधा—युद्धवीरो दानवीरो दयावीरश्च ।
तत्राद्यो यथा—

'क्षुद्राः संत्रासमेते विजहित हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा

युष्मदेहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः

किञ्चित्संरम्भलीलानियमितजलधिं राममन्वेपयामि ॥'

अपरावृहनीयौ ।

ज्ञानभावः । असहायत्वगम्यो गर्वः संचारी । यद्यपि कृतमित्यादिक्रमं हित्वा नरके-
त्यादिव्युत्क्रमेण संकीर्तनमनुवृत्तं तथापि रौद्रे विवेकशून्यतायाः पोषकत्वाच्च दोषः ।
विवेकसत्त्वासत्त्वाभ्यां च वीररौद्रयोर्विशेषः ।

अपरावृति । तत्र दानवीरो यथा रसगङ्गाधरे—'कियदिदमधिकं मे यदि-

क्षैरत एव निर्मयादैर्मयादाशून्यैर्यैर्भवद्भिरर्द्धनाथैः कृतमनुमतमनुज्ञातं दृष्टं वा तेषां सभीम-
किरीटिनां भीमसेनाञ्जनसहितानां भवतां नरकस्य दैत्यविशेषस्य रिपुणा श्रीकृष्णेन सार्ध-
मसृज्योदोमांसै रधिरवसामांसैरवमेतत्क्षणवतीं अहमनन्यसहायो दिशां लक्षणया तदेव-
तानां बलिं पूजोपहारं करोमीत्यन्वयः । पूर्वं दण्डक्रमेण कृतमित्याद्यभिधायानन्तरं क्रोधा-
त्क्रमविस्तृत्यानुमन्तुः प्रागुपादानम् । पशुभिरित्यनेन बलिदानयोग्यता ध्वन्यते । सार्धमिति
संबन्धिनि साहित्यं, नतु कर्तरीति बोध्यम् । अत्र रौद्रः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. 'क्षुद्रा इति । हनुमन्नाटके रावणपुत्रस्येन्द्रजित इत्युक्तिः । भो जाल्या पराक्रमेण
च क्षुद्रा नीचा हरयो वानराः, एते दृश्यमानदुरवस्थाः । यूयमिति शेषः । संत्रासं विज-
हित त्यजेतेति संबन्धः । एते आगते अर्थान्मयीति वार्धः । भवत्यागे हेतुमाह—क्षुण्णे-
त्यादि । यतः क्षुण्णक्षूर्णितः शक्रारूढार्हस्येभस्यैरावतस्य कुम्भो यैस्तादृशा अमी सायका
बाणा युष्मदेहेषु निपतन्तः पतमाना न तु पाल्यमानाः परं केवलं लज्जां दधति धारयन्ति ।
क्षुद्रकार्यकरणाञ्जिता इव न मामानन्दयन्तीत्यर्थः । तथा च दैवाद्याणवातेऽपि मदनुद्देश्य-
त्वाद्भयं त्यजेत्यर्थः । लक्ष्मणं प्रत्याह—सौमित्रे इति । सुमित्रायाः पुत्र, त्वं तिष्ठ । युद्धो-
पमाद्विरमेत्यर्थः । हेतुमाह—पात्रमित्यादि । हि यस्मात्त्वं रुषां क्रोधानां पात्रं निषयो नास्ति
न भवसि । तर्हि किमर्थमुद्यमस्तत्राह—नन्वहमित्यादि । अहं मेघनादः प्रसिद्धनामा ।
नत्विन्द्रजित् । तत्त्वस्याप्यनुत्कर्षकत्वात् । राममन्वेपयामि कीदृक्पराक्रमशील इति मार्ग-
यामि । हेतुगर्भं विशेषणमाह—किञ्चिदिति । किञ्चित्संरम्भ ईषत्क्रोधः स एव लीला क्रीडा
क्या नियमितो बद्धो बशीकृतो वा जलधिर्येन तथाभूतम् । कञ्चिद् 'भूभङ्ग' इति पाठः स
सम्भवः । अत्र सौमित्रे इति मातृसंबन्धोत्कीर्तनाभिर्वाचित्वं धोत्यते । रुषामिति बहुवचनेन
वदतिशब्ध इति बोध्यम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'हरयो भिन्नशक्रेभ' इति पाठः.
३. 'युष्मद्वेषेषु' इति पाठः. ४. 'किञ्चिद्भूभङ्गसंज्ञा' इति पाठः.

‘शैद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैकल्यदं भयम् ।’

तत्प्रकृतिको भयानकः ।

‘ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः

पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भयसा पूर्वकायम् ।

दभैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्मा

पश्योदग्रभुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥’

‘जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात् ।’

तत्प्रकृतिको भीमत्सः । यथा—

‘उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसा-

न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याथवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

आर्तैः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-

दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्वथ्यमव्यग्रमस्ति ॥’

जायार्थयित्रे कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि । अकरुणमवकृत्य द्राकुपाणेन निर्य-
द्वहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥’ एषा द्विजवेपायेन्द्राय कवचकुण्डलदानो-
द्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितान्सभ्यान्प्रत्युक्तिः । दयावीरो यथा नागानन्दे जीमू-
तवाहनोक्तौ—‘क्षिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति । तृप्तिं न
पश्यामि तवापि तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥’ इति । यद्यपि धर्मवीरोऽपि
कैश्चिद्युधिष्ठिरादिरुक्तस्तथापि दशरूपकादौ त्रय एव कथिता इति तावन्त एवोक्ताः ।

१. ‘ग्रीवेति । शाकुन्तले मृगहननाय धावितरथस्य दुष्यन्तस्य राज्ञः सुतं प्रति ‘अयं
पुनरिदानीमपि’ इत्युपक्रम्योक्तिरियम् । पश्येत्स्य वाक्यार्थः कर्म । स चेदानीमप्ययं पुरो-
दृश्यमानो मृगः पुनरुदग्रभुतत्वादुत्कटोत्फलत्वाद्वियत्याकाशे बहुतरमधिकं प्रयाति, उर्व्यां
भूमौ स्तोकमल्पं प्रयाति । किंभूतः । अनु पश्चात्पतति धावति स्यन्दने रथे ग्रीवाया महेन
वक्त्रीभावेनाभिरामं यथा स्यात्तथा मुहुर्वारंवारं गम्यदेशदर्शनेन विच्छेदाद्बद्धदृष्टिर्दृष्टिः ।
शरपतनभयाद्भयसा स्थूलेन पश्चार्धेनापराधेन पूर्वकायं प्रविष्टः प्रवेष्टुमारब्धः । स्थूलस्य
कृशे कथं प्रवेश इत्यप्रतिसंधानाद्भयातिशयसूचनम् । तथार्धावलीढैरर्धमक्षितैः अमेण विष्ट-
तात्प्रसारितान्मुखाङ्गशिभिः पतङ्गिः दैवाद् । न तु पतितैः कीर्णं व्याप्तं वर्त्म मार्गो
यस्य सः । अत्र नृपराधाद्भयमेव स्थायिभाव इति न शब्दवाच्यतादोषः । अत्र भयानकः ॥’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘उत्कृत्येति । मालतीमाधवे श्मशानवर्णनम् । प्रेतपु-
रङ्कः कृपणः । दरिद्र इति यावत् । अव्यग्रमनाकुलं यथा स्यात्तथा । भोजनसमाप्तिमया-
च्छन्नैरिति यावत् । कृत्तिं चर्म उत्कृत्योत्कृत्य प्रथममस्ति भक्षयति । अधानन्तरं पृथुना
महता उच्छोफेनोच्छृणतया भूयांसि मांसानि जग्ध्वा भक्षयित्वा अङ्गस्यात्करङ्गान्मस्तका-
दस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि गम्भीरविषमभागगतमपि क्वथ्यं मांसमस्तीति संबन्धः । तेन क्त्वा-
प्रयमायशब्दानां नासंगतिः । ‘पृथूत्सेध’ इति पाठेऽपि स एवार्थः । करङ्कः शवशरीर-
मिति केचित् । कीदृशानि मांसानि । अंसौ स्कन्धौ स्फिक् ऊरुमूलकटिसंधिपृष्ठभागः ।

स्थपुटं निर्गन् विषमम् ।

‘विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात् ।’

तत्प्रकृतिकोऽद्भुतः । यथा—

‘चित्रं महानेप बतावतारः क कान्तितरेषामिनवैव भङ्गिः ।

लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥’

एषां भेदो वचनमात्राच्च सिद्ध्यतीत्येषां विचित्रानुक्तरूपान्स्यायिभावानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥

तत्र—

‘विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा ।

आनन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायिपदास्पदम् ॥’

‘उक्तरूपानिति । ‘मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः’ इत्यादिमिरुक्तलक्षणा-
नित्यर्थः । स्थायिशब्दार्थं दर्शयितुमाह—विरुद्धा इति । तेनानुच्छिद्यमानतया

पिण्डी जङ्घोर्ध्वभागः । पिण्डेति पाठे तदाकारत्वात्स एव । एवमादिष्ववयवेषु सुलभानि
तथा उग्रस्तीव्रः पूतिर्दुर्गन्धो येषां तानि । कीदृक्प्रेतरङ्कः । अर्तः क्षुत्पीडितः । परितोऽस्ते
क्षिप्ते नेत्रे येन सः । बलवत्पिशाचान्तरेणापहरणशङ्कया । दैन्यात्स्वपुटगतमांसापकर्षणाय वा
प्रकटिता दशना दन्ता येन सः । अत्रोत्कृत्योत्कृत्येति वीप्सया कालक्षेपाक्षम एकदा सर्वं
चर्म त्याजयितुं न शक्नोति किंतु किञ्चित्किञ्चित्था विधाय तद्भक्त्वापरभागमुत्कृत्यात्तीति
लभ्यते । एवं च यावत्कृत्तिसत्त्वं तावदुत्कर्तव्यमिति । ‘आत्तस्त्राव्यत्रनेत्र’ इति पाठे स्त्रायुः
शिरा । आत्तानि गृहीतानि स्त्राव्यादीनि येन । ‘रङ्कः कृपणमल्लयोः’ इति मेदिनी । ‘करङ्को
मस्तके’ इति च । अत्र बीमत्सः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘निम्नोन्नतम्’ क. २. ‘चित्रमिति । वामनमुद्दिश्य बलेरुक्तिरियम् । अत्र चित्रा-
दिशब्दा भङ्गिभेदेन स्वसमभिभ्याहृतपदार्थस्य लोकोत्तरताप्रतिपादकाः । नतु विस्मयार्थः ।
तस्यात्र स्थायित्वेन वाच्यतादोषापत्तेः । तथा च माहात्म्ये विशिष्टेऽन्वितस्यापि लोकोत्तरत्वस्य विशेषणे माहात्म्ये
पर्यवसानम् । ‘उत्कटः पण्डितः’ इत्यादिवत् । बतावतार इति । अत्राप्येष इति मध्यमणि-
न्यायेन संबध्यते । अवतारः संदाचारप्रवर्तकः । अत्रापि वतशब्दार्थस्य पूर्ववदन्वयः ।
‘वतेति हर्षे श्लाघायां वा’ इति दीपिका । ‘अविकारः’ इति पाठे विकाराभाववानित्यर्थः ।
एषा दृश्यमाना कान्तिः । क न कापीति भङ्गान्तरेण लोकोत्तरेत्युक्तं भवति । भङ्गिर्गमनो-
पवेशनदर्शनादिगतः प्रकारविशेषः । अभिनवा अपूर्ववै । वैलक्ष्यगतमात्यन्तिकत्वमेवका-
रायैः । धैर्यं विरोधिसहस्रसंतापेऽप्यचलचित्तत्वम् । अहो अलौकिकः प्रभावः सामर्थ्यं
सकलवशीकाररूपम् । काप्यनिर्वाच्या आकृतिरवयवसंस्थानम् । एष सर्गो निर्माणं नूतनः
प्रसिद्धब्रह्मनिमित्तविलक्षण इत्यर्थः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिका.

इति सामान्यलक्षणम् । अवस्थितिश्चैषां स्वसूत्रन्यायेन, फेनबुद्बुदन्यायेन तु व्यभिचारिणामित्यनयोर्भेदः । विशेषलक्षणान्युक्तानि । अष्टावेव चेत्स्था (चेते स्था) यिनः । अतो न्यूनाधिकवशाद्वा रसे निरस्तेति ।

यद्यपि विभावानुभावप्रतिपाद्यव्यञ्जकत्वपुरस्कारेण व्यभिचारिभेदोपदर्शने न कश्चिद्व्यायः, तथापि व्यञ्ज्यविवेचनाय निर्वेदस्य स्थायित्वव्यवस्थापनाय च व्यभिचारिभेदानाह—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।

आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ ८ ॥

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।

गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापसार एव च ॥ ९ ॥

स्वप्नो विवोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।

मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ १० ॥

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ११ ॥

नामत एव समाख्याताः, न तु लक्षणतः । लक्षणानामन्यैरेव सप्रपञ्चं दर्शितत्वात् । तद्यथा—

‘तत्त्वज्ञानापदीष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।

तत्र चिन्ताश्च निःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥’

‘चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिः ।’ इति केचित् ।

‘रत्यायासकलाम्यासाद्ग्लानिर्निष्प्राणतेव या ।

तस्यां वैवर्ण्यकम्पानुत्साहकाश्यादयो मताः ॥’

स्थिरा आस्वाद्यमाना रत्यादयः स्थायिन इति कथ्यन्ते । यदा त्वस्थिरता तदैतेषां रसान्तरे संचारित्वमेव न तु स्थायित्वम् । तदुक्तम्—‘रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते’ इति, ‘शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः । शान्ते जुमुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ॥ इत्याद्यन्यत्समुभेयं स्वयं भावितबुद्धिभिः ।’ इति च ।

यद्यपीति । रसव्यञ्जकत्वस्य विभावानुभावयोरपि समानत्वासयोरपि प्रतिपादनमुचितम् । अतो न रसव्यञ्जकत्वाव्यभिचारिकथनम् । किं तु ‘रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाश्चितः’ इति भावस्य वक्ष्यमाणत्वात्तदुपयोगितया निर्वेदस्यादौ निर्देशेन प्राधान्यरूपस्थायित्वद्योतनेन शान्तरसप्रतिपादनाय चेत्यर्थः । तत्त्वज्ञानेति । यथा—‘प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुष्ठास्ततः किम्’ इत्यादौ । आपदा यथा—‘राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः । आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥’ इत्यादौ । ईर्ष्या यथा—‘धिविव-
कशक्रजितम्’ इत्यादौ । संभोगरत्या ग्लानिर्यथा—‘ललितनयनताराः क्षामवकेन्दु-

'अनर्थप्रतिमा शङ्का परकौर्यास्वदुर्नयात् ।
 वैवर्ण्यकम्पवैमुख्यपाश्वालोकास्यशोषकृत् ॥'
 'परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वादौर्जन्यमन्युजा ।
 दोषोद्घोषभ्रूविमेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादयः ॥'
 'संमोहानन्दसंभेदः स्खलदङ्गवचोगतिः ।
 मधुपानादिजो ज्ञेयो मदो विविधभावकृत् ॥'
 'उत्तमसत्त्वः प्रहसति गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः ।
 परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः ॥'
 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः श्वासनिद्राभरादिकृत् ।
 श्रमग्लान्योर्विभेदं तु चक्रे कारणकार्यतः ॥'
 'श्रमस्यातिशयावस्थामथवा ग्लानिमूचिरे ।
 बलस्यापचयो ग्लानिराधिग्याधिप्रकर्षभूः ॥' इत्येके ।
 'आलस्यं श्रमगर्भादेर्जैह्वं जृम्भाक्रियादिकृत् ।
 दौर्गत्यादेरनोजः स्यादैन्यं कार्यामृजादिकृत् ॥'
 'ध्यानं चिन्ता हितानासेः शून्यताश्वासतापकृत् ।
 प्रयत्नपूर्विकान्वेष्यस्मृतिश्चिन्तेति केचन ॥'
 'मोहो विचिन्ता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः ।
 घूर्णनाज्ञानपतनश्रमणादर्शनादिकृत् ॥'

विन्वा रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः । तिमिरमिव दधानाः संसिनः केश-
 पाशानवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥' इत्यादौ । विप्रलम्भरत्ना यथा—
 'परिमृदितमृणाली—' इत्यादौ । परकौर्याच्छङ्का यथा—'हिया सर्वस्यासौ हरति
 विदितासीति वदनं द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम् । सखीसु स्मेरासु
 प्रथयसि च वैलक्ष्यमसमं प्रिया प्रायेणास्तेत्यदयविहितातङ्कविधुरम् (हृदयनिहि-
 तातङ्कविधुरा) ॥' इत्यादौ । अत्र वासवदत्तायाः कौर्यास्तागरिकायाः शङ्का ।
 गर्वादसूया यथा—'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः' इत्यादौ । अध्वजः
 श्रमो यथा—'अलसललितमुरधान्यध्वसंजातखेदादक्षिणिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
 मृदुमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥' इत्यादौ ।
 इयं सीतां प्रति श्रीरामोक्तिः । रतिश्रमो यथा—'प्राप्य मन्मथमदादतिभूमिं दुर्व-
 हस्तनभराः सुरतस्य । शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेयः ॥'
 इत्यादौ । गर्भजमालस्यं यथा—'चलति कथंचित्पृष्ठं यच्छति वाचं कथंचिदाली-
 नाम् । आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ॥' इत्यादौ । दारिद्र्यादैन्यं
 यथा—'मद्रेहे मशकीव मूषकवधूर्मूषीव मार्जारिका मार्जारीव शुनी शुनीव गृहिणी
 वाच्यः किमन्यो जनः । मूर्च्छापन्नविश्रानसून्विजहतः संप्रेक्ष्य श्लिष्टरवैर्लतातनुविता-
 नसंवृतमुखी चुल्ली चिरं रोदिति ॥' इत्यादौ । चिन्ता यथा—'अस्तमितविषयसङ्गा

'सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्काराज्जायते स्मृतिः ।
 भूसमुल्लासकरजवादनादिस्तदुद्भवः ॥'
 'अभीष्टार्थस्य संप्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृतिः ।
 सौहित्यवदनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत् ॥'
 'दुराचारादिभिर्व्रीडा धार्ष्ट्याभावोऽभिधीयते ।
 वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शभूरेस्त्राधोमुखादिकृत् ॥'
 'चेतोनिमीलनं व्रीडा न्यङ्गरागस्तवादिभिः ।' इति केचित्/
 'मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।'
 'आत्मप्रकाशनपरा चेष्टा चपलतोच्यते ।' इति केचित् ।
 'तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥'
 'मनःप्रसादो लाभादेर्हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।
 आवेगो राजविद्रावरत्यादेः संभ्रमो मतः ॥'
 'तत्र विस्मरणं स्तम्भः स्वेदः कम्पः स्खलद्रुतिः ।'
 'अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
 अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥'
 'क्रियास्वपाटवं जाढ्यं चिन्तोत्कण्ठाभयादिभिः ।' इत्येके ।
 'गर्वोऽभिजनलावण्यधनैश्वर्यादिभिर्मदः ।
 सविलासाङ्गवीक्षाविनयावज्ञादिकृत्तु सः ॥'

मुकुलितनयनोत्पला बहुध्वसिता । ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेषु ॥
 इत्यादौ । मोहो यथा—'तीव्राभिषङ्गप्रभवेण—' इति कुमारसंभवे तृतीयसर्गे काम-
 दाहप्रसङ्गे । स्मृतिर्यथा—'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः' इति । ज्ञानजा धृति-
 र्यथा—'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या' इति । शक्त्या धृतिर्यथा—'राज्यं
 निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः सम्यक्पालनललिताः प्रशमिताशे-
 थोपसर्गाः प्रजाः । प्रथोतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं कामः काम-
 मुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥' इति । लज्जा यथा—'अलंकुरु निजं वपु-
 र्दयित मण्डने किं पुनस्त्वमेव मम मण्डनं दयित किं परैर्मण्डनैः । वरं कुरु पयो-
 धराधरनितम्बविम्बेषु मामिति प्रविवचःश्रुतौ जयति नम्रवक्त्रा बधूः ॥' इति । चापलं
 यथा—'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलासु । बाला-
 मजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः ॥' इति । हर्षो
 यथा—'अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना । अवलोक्य समा-
 गतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥' इति । आवेगो यथा—'क्षितो
 हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतो व्याददानोऽशुकान्तं गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो
 नेक्षितः संभ्रमेण । आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साधुनेत्रोत्पलाभिः कामी-
 वार्द्रापराधः स ददितुं दुरितं शांभवो वः शराभिः ॥' इत्यादौ । जडता यथा—'एव-

'प्रारब्धकार्यासिञ्चादेर्विषादः सस्वसंक्षयः ।
 निःश्वासोच्छ्वाससंतापसहायान्वेषणादिकृत् ॥'
 'कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसंभ्रमैः ।
 'तत्रोच्छ्वासस्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥'
 'निद्रा व्यापारवैमुख्यमिन्द्रियाणां श्रमादिभिः ।
 तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोच्छ्वासनादयः ॥'
 'विरोधिभावात्पूर्वस्य प्रस्मृतिर्विस्मृतिर्भवेत् ।
 ध्यानजाड्यप्रमोहाधिपरितापादिकृत् सा ॥'
 'स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
 कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥'
 'निद्रापगमहेतुभ्यः प्रबोधश्चेतनागमः ।
 जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥'
 'अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
 तत्र स्वेर्दक्षिणःकम्पनेत्ररागाङ्गविक्रियाः ॥'
 'लजाद्यैर्विक्रियागोपोऽवहित्यात्मन्यविक्रिया ।
 व्यापारान्तरसङ्क्रिवदनानमनादयः ॥'

मालि निवृहीतसाध्वसं शंकरो रहसि सेव्यतामिति । सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला
 नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥' इत्यादौ । गर्वो यथा—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भव-
 तामेव भूतये । जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मेनायते ॥' इत्यादौ । विषादो
 यथा—'नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रयासः (प्रतापः) प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि
 मनुष्यपोतात् । दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो दैन्यं च राजनि रुणद्धि किमा-
 चरामि ॥' इति रावणपुरुषोत्तौ । औत्सुक्यं यथा—'पशुपतिरपि तान्यहानि
 कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः । कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी
 स्पृशन्ति भावाः ॥' इति । निद्रा यथा—'निद्रार्थमीलितदृशो मदमन्थराणि नात्यर्थ-
 वन्ति न च यानि निरर्थकानि । अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्यास्तान्यक्षराणि
 हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥' इति । विस्मृतिर्यथा—'तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतट-'
 इत्यादौ । 'अपस्मार' (पूर्वस्यापस्मृतिः) इति पाठे तु 'आच्छिष्टभूमिं रसितारमुच्चै-
 र्लोलज्जुजाकारवृहत्तरङ्गम् । फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशङ्के ॥'
 इत्युदाहार्यम् । स्वप्नो यथा—'जाने कोपपराञ्जुखी-' इत्यादौ विबोधोऽप्यत्रोदा-
 हार्यः । अमर्षो यथा—'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् । न त्वेवं
 दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहाव्रतम् ॥' इति । अवहित्या यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ

१. 'निःश्वासोच्छ्वासकृत्तापसहायान्वेषणादयः' क. २. 'च्छ्वासनादयः' क. ३. अस्मा-
 द्भ्याम् खं ग पुस्तकयोः 'आधेश्वात्यन्तदुःखादेरपस्मारस्तथाविधः । मनःक्षेपस्त्वपसारो
 ग्रहावेशादिसंभवः ॥' इति केचिद, इत्यधिकमस्ति. ४. 'स्वेदः' क. ख. ५. 'क्रिया-
 योगो' क.

‘द्विष्टेऽपराधदौर्मुख्यचौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
 अत्र स्वेदशिरःकम्पताडनातर्जनादयः ॥’
 ‘भ्रान्तिच्छेदोपदेशभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वभीर्मतिः ।
 स्मेरता घृतिसंतोषौ बहुमानस्तथात्मनि ॥’
 ‘व्याधयः संनिपाताद्यास्तोषामन्यत्र विस्तरः ।
 प्रस्वेदकम्पतापाद्या अनुभावतयोदिताः ॥’
 ‘उत्कण्ठाहर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लवः ।
 तस्मिन्नस्थानरुदितगीतहासासितादयः ॥’
 ‘जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्तितम् ।
 संमोहेन्द्रियसंग्लानिगात्रविक्षेपणादिकृत् ॥’

अत्र च मरणस्थाने केचित्करुणां पठन्ति । सा च परदुःखप्रहाणेच्छारूपत्वा-
 चित्तवैकल्यमयाच्छोकाद्भातिरिच्यत इति तद्गणनमत्रानुचितमित्येके । अन्ये तु
 तस्या दयावीरस्थायित्वमित्यत्र तद्गणनानौचित्यमित्याहुः । न चान्यत्र संचारि-
 त्वाद्वृणनं फलवदिति वाच्यम् । स्थावयन्तरसाधारणत्वात् । तेऽपि हि कचन
 संचारिणः । तदुक्तम्—

‘शृङ्गारवीरयोर्हांसो वीरे क्रोधस्तथा मतः ।
 शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ॥
 इत्याद्यन्यत्समुज्ज्वलं स्वयं भावितबुद्धिभिः’ । इति ।
 ‘गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ।

पार्श्वे पितुरधोमुखी । लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥’ इत्यत्र । उग्रता
 यथा—‘प्रागप्राप्तनिशुम्भशांभवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजास्तम्भा-
 पविद्धः क्षणात् । उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथिर्येनानेन जगत्सु
 खण्डपरशुर्देवो मृडः ख्याप्यते ॥’ इति । मतिर्यथा—‘सहस्रा विदधीत न क्रियाम-
 विवेकः परमापदां पदम्’ इति किराते । व्याधिर्यथा—‘पाण्डुक्षामं वदन्—’ इत्यादौ ।
 उन्मादो यथा—‘रक्ताशोक कृशोदरी क नु गता—’ इत्यादौ । मरणं यथा—
 ‘कुशलं तस्या जीवति कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम् । पुनरपि तदेव कथयसि
 मृतां नु कथयामि या श्वसिति ॥’ अत्र कुशले पृष्टे जीवन्त्याः कुतस्तदिति जीवती-
 त्यस्याभिप्रायः । तमबुद्ध्या पुनः प्रश्ने स एव भङ्ग्यन्तरेण सूचितः । प्रसिद्धमरण-
 स्यालम्बनोच्छेदेन भावत्वायोगादुद्गमनपूर्वावस्थोक्ता । साधारणत्वादिति । तथा
 च तेषामपि व्यभिचारिषु गणनापत्तिरिति भावः । त्रासो यथा—‘त्रस्यन्ती चलश-
 फरीविषद्वितोरुर्वाभोरुरतिशयमाप विभ्रमस्य । क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
 र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥’ इति । वितर्को यथा—‘कः समुचिताभि-

ऊहो वितर्कः संदेहाद्भूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ॥'

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य पश्चान्निर्वेदस्यत्वेऽपि प्राङ्निर्वेदा मुख्यत्वप्रकाशनेन
स्थायित्वप्रतिपादनाय तेन

निर्वेदस्थायिभावाख्यः शान्तोऽपि नवमो रसः ।

तत्प्रकृतिकत्वात् । यथा—

‘अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा इषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रेणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कचिर्षुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥’

स्त्रेणं स्त्रीसमूहः । वाशब्दाभ्यां द्वयोर्द्वयोस्तुल्यता शोच्यते । अत्र वदन्ति—
शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्ववः । न चैतस्य स्थायी निर्वेदो
युज्यते । तस्य विषयेष्वलं प्रत्ययरूपत्वादात्मावमानरूपत्वाद्वा । शान्तेश्च निखि-
लविषयपरिहारजनिततात्ममात्रविश्रामानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात् । तदुक्तम्—

‘यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥’

येकादार्थं प्रच्यावयेद्गुणज्येष्ठम् । मन्ये ममैष पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना ॥’
इति लक्ष्मणोक्तौ ।

तुल्यतेति । सा चानुपादेयत्वेनेति बोध्यम् । शान्तेश्चेति । निखिलविषयप-
रिहारेण वैराग्येण जनितो य आत्ममात्रे विश्रामो विगलितवेद्यान्तरतया चित्तस्य

१. ‘संदेहो’ क-ग. २. कैश्चिदिदं कारिकार्थं वृत्त्यन्तर्गतमेव पठ्यते, उल्लाससमाप्तिर्यं
च वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः शरेषुयुगखेन्दवः’ इत्यर्थमपि वृत्त्यन्तरेव पाल्यते. तन्मते विंशति-
कारिकात्मकोऽयमुल्लासः. ३. “अहौ वेति । अहिः सर्पः । इषच्छिला । लोष्टं मूत्रखण्डः ।
स्त्रेणं स्त्रीसमूहः । द्वयोर्द्वयोः प्रत्येकं वाशब्दस्तुल्यतासूचनार्थः । अहिहाराणोः समा इदमु-
पादेयमिदमनुपादेयमिति वैषम्यरहिता इन्द्रिष्यस्य एवंभूतस्येत्यर्थः । जगतो मिथ्यात्वेन
रागद्वेषयोरभावात् । एवं च यथाहिरनिष्ठापादकत्वेनानुपादेयस्तथा हारोऽपीति समदृष्टि-
रिति व्याख्यानमनादेयम् । कचिदमेध्ये पुण्ये वारण्ये मम दिवसा यान्त्विति वाशब्दा-
नुपक्षेण बोध्यम् । अन्यथा समदृष्टित्वासंगतेः । प्रलपतोऽनर्थकं वदतः । शब्दमात्रस्य
ब्रह्मप्रतिपादकत्वात्प्रयोजनाभावाच्च शिवेति शब्दोच्चारणस्य प्रलापरूपत्वम् । ‘यान्ति’
इति पाठे ‘कचिद्’ इत्यत्र ‘कदा’ इति पाठः । तेन ‘कदाकदाविभाषा’ इति भविष्यदर्धे
लट्प्रत्ययः । इति चण्डीदासादयः । वस्तुतस्तु तथापाठेऽपि कदेति पाठकल्पनमनर्थकम् ।
जीबन्मुक्तैर्न विद्यमानायाः स्वावस्थायाः परामर्शोपपत्तेरिति बोध्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
४. ‘पुण्यारण्ये’ ग.

अत एव 'सर्ववृत्तिविरामोऽस्य स्थायी' इति निरस्तम् । अभावस्य स्थायित्वायो-
गात् । तस्माच्छमोऽस्य स्थायी । निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः । स च शमो
निरीहावस्थायामानन्दः । स्वात्मविश्रामादिति ।

रसवद्भावोऽप्यलक्ष्यक्रमेषु पठितः स किंरूपः । रत्यादीनां रसरूपत्वात्,
व्यभिचारिणां रसाङ्गतानियमेन प्राधान्याभावात्, सात्त्विकानामव्यङ्ग्यत्वादित्यत
आह—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।

भावः प्रोक्तः

रतिरिति स्थायिभावोपलक्षणम् । देवादिविषयेत्यप्यप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम् ।
तेन देवादिविषया सर्वा, कान्तादिविषयाप्यपुष्टा रतिः, हासादयश्चाप्राप्तरसा-
वस्थाः, प्राधान्येन व्यञ्जितो व्यभिचारी च भाव इत्यवधातव्यम्—यदुक्तम्—

‘रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद्देवादिविषयोऽथवा ।

अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक् ॥’

तदेतदाह वृत्तिकारः—‘कान्तादिविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः ।’

तत्र देवविषया रतिर्यथा—

‘कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।

अप्युपात्तममृतं भवद्गुणैर्द्वयं यदि मे न रोचते ॥’

मुनिविषया यथा—

‘हृरत्यघं संप्रति हेतुरेप्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।

शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥’

स्थितिस्तेन य आनन्दः शमाख्यस्तस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिस्तत्स्वरूपत्वानुभवादित्यर्थः । निरीहेति । विषयव्यासङ्गश्चान्यतेत्यर्थः ।

१. ‘शक्त्यो’ क. २. ‘कान्ताविषया’ इति काव्यप्रकाशपुस्तकेषु केषुचित्पाठः.
३. “कण्ठेति । हे ईश, तव कण्ठस्य कोण एकदेशे निविष्टं संलभं कालकूटं विषमपि मे
महामृतमुत्तमममृतम् । अतिप्रियत्वात् । उपात्तं मूर्धा धृतमप्यमृतं चन्द्रकलारूपं यदि भव-
द्गुणो मेदेन वृत्तिरवस्थितिर्यस्य तथाभूतम् । मेदेनावभासमानमिति यावत् । तदा मे मधं
न रोचते । अन्यस्य यथातथास्तु, मम तु न रुचिविषय इत्यर्थः । भवद्गुणो मेदो यत्र वपु-
र्भिन्नं तद्गुतीति वा । तथा चानन्यगामित्वेन कालकूटस्य प्रियत्वम्, अतथाभूतत्वेन चामृत-
स्याप्रियत्वमिति भावः । उपात्तं पीतमिति कश्चित् । वृत्तिपदं व्याप्यपरम् । एवं च भवद्-
गुणैर्द्वयव्याप्यमित्यर्थः । ईशवपुःसंबद्धस्यान्यत्र सतोऽपि प्रीतिपात्रतौचित्यादिति केचित् ।
अत्र देवविषयो भावः ।” इत्युदाहरणचन्द्रिका. ४. “हरतीति । माये नारदं प्रति कृष्णो-
क्तिरियम् । भवदीयस्य भवत्संबन्धिनो यस्य कस्यापि, किं पुनर्भवतो दर्शनं कर्तुं शरी-
रभाजां शरीरधारिणां मादृशां कालत्रितये वर्तमानादिकालत्रयेऽपि योग्यतामर्थादिष्ट-
लाभस्य तत्संपादकगुणवत्त्वरूपां व्यनक्ति । सूचयतीत्यर्थः । कथमित्यत आह—हरती-

एवमप्रासपरिपोषा पुत्रादिविषया रतिः स्थाय्यन्तरं चापुष्टमुदाहार्यम् ।

व्यभिचारी प्राधान्येन वर्णितो यथा—

‘जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया

मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।

नो यावत्परिरम्य चाटुकशतैराश्रासयामि प्रियां

भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥’

अत्र विधिं प्रत्यसूया प्राधान्येन प्रतीयते ।

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

अनौचित्येन प्रकर्षविरोधिना रूपेणेत्यर्थः । तच्चैकाश्रयत्वे तिर्यगादिविषय-
तायां बहुविषयत्वे व्यभिचारिणामाभासाङ्गतायां (वा) द्रष्टव्यम् । एकविषया
रतिरेव नेति तु प्रक्षापः । ‘बन्दीकृत्य नृपद्विषाम्’ इत्यादावुदाहरिष्यमाणत्वात् ।

एवमिति । तत्र ‘हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यः—’ इति कुमारसंभवे तृतीयसर्गेऽपु-
ष्टायां रतावुदाहार्यम् । पुत्रविषयायां वृत्तौ क्वचित्पठितं ‘एषेहि वत्स—’ इति पद्यम् ।
हासादयश्चापुष्टा रसतरङ्गिण्यां द्रष्टव्याः ।

प्राधान्येनेति । शठत्वोपन्यासरूपविचित्रानुभावव्यङ्ग्यताकृतचारुत्वेन सुखतः
प्राधान्यम् । पानकरसे मरिचादेरुत्कटस्येव । पार्यन्तिकं तु रसप्राधान्यमिति
बोध्यम् । अतएव वक्ष्यति—‘मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।’ इति ।
शृङ्गारप्रकर्षविरोधित्वरूपमाह—तच्चेति । प्रकर्षविरोधित्वं चेत्यर्थः । एकाश्रयत्वे
नायकनायिकान्यतरमात्राश्रयत्वे रतेरित्यर्थः । तथा तिर्यगादिविषयत्वे । आदिना

त्यादि । यतः संप्रति वर्तमानकालेऽधं पापं हरति नाशयति । पृथ्यत आगमिष्यतः
शुभस्य श्रेयःसाधनस्य हेतुः संपादकम् । दर्शनस्यादृष्टद्वारा श्रेयःसाधनत्वात् । अदृष्टस्य
च दृष्टसामग्रीसंपादकत्वेन हेतुत्वात् । पूर्वमाचरितैः पूर्वजन्माजितैः शुभैः सुकृतैः कृतम् ।
तथाच वर्तमानकाले पापनाशरूपा योग्यताप्रतिबन्धकत्वभावत्वेन श्रेयःसाधनत्वात् ।
भाविनि तु श्रेयःसाधकादृष्टसंपत्तिः । भूते तु तथाविधं सुकृतमिति । सूचनं चाद्ययोर्ज-
नकतया अन्त्यायास्तु जन्यतयेति बोध्यम् । अत्र मुनिविषयो भावः ।” इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘जाने इति । वियुक्तस्य सखायं प्रतीयमुक्तिः । हे भ्रातः, अद्य मया स्वप्ने प्रिय-
तमा कोपेन पराङ्मुखी सती पाणिना मा मा संस्पृशेत्युक्त्वा रुदती रोदनं कुर्वती गन्तुं
प्रवृत्ता दृष्टा । ततस्तादृग्दर्शनोत्तरमहं यावत्प्रियां परिरम्य चाटुकानां प्रियवाक्यानां शतै-
र्नाश्रासयामि नानुनयामि तावज्जाने निश्चिनोमि शठेन वञ्चकेन विधिना दैवेन निद्रया
दरिद्रो रक्षितो निद्रादरिद्रः अतथाभूतोऽपि तथा कृतः । अत एव विधिरुर्विधविधायकः ।
जाने शठेनैत्यनेन निर्णीतापकारित्वेनास्याप्रकर्षः । नो यावदिति लोकोक्तिः । नोऽस्माकं
प्रियेति वा संबन्धः । अत्र शठपदव्यजितोऽसूयाख्यव्यभिचारीभावः ।’ इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः.

रसाभासो यथा—

‘स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे

विलेभे कः प्राणान्रणमस्त्रमुखे यं मृगयसे ।

सुलभे को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बला-

त्तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥’

अत्र बहुषु व्यापारोपादानेन बहुविषया रतिर्व्यज्यते । नन्वत्र व्यापारस्य बहुविषयत्वमसिद्धम् । एकत्रापि तादृशव्यापारसंभवात् । यत्तु—‘अनेककर्म-पदोपादानमनेकविषयत्वं क्रियाणां प्रकटयति । एकविषयत्वाभिप्राये त्वेकमेव कर्मपदमुपाददीत’ इति । तत्तुच्छम् । स्तुमो विलेभे इत्यादीनां भिन्नवाक्य-स्थानामेकविभक्त्यन्तपदोपस्थापितेनानन्वये तदन्वयिनोऽभिन्नस्यापि कं क इत्यादिपदैरुपस्थापने भिन्नकर्मपदैरेवोपस्थापनार्हणात् । अत्र ब्रूमः—तुशब्देन व्यवच्छेदार्थेन व्यापारस्यानेकविषयत्वं लभ्यते । एवमेकत्र भेदाभिप्रायेऽवगते-ऽन्यत्रापि तथैवावगम्यते । बहुपदमनेकपरं वा ।

अगम्याविषयत्वसंग्रहः । एवं बहुनायकविषयत्वेन । व्यभिचारिणां तु रसाङ्गताया-माभासत्वम् । वाक्शब्दः कुत्रचित्प्रमादलिखित एव । एकविषय एकमात्राश्रया । बन्दीकृत्येति पञ्चमोल्लास उदाहरणं रसाभासस्य भावाङ्गतायामुदाहरिष्यते । तत्र सैनिकगतैव रतिर्न तु बन्दीषु । तुशब्देनेति । यं तु ध्यायसीति ध्यानकर्माभूतस्ये-तरेभ्यो व्यवच्छेदप्रतीतेर्भिन्नत्वमवगम्यते अतः सर्वेषामपि स्वरस्यतो भेदप्रतीतेर्ना-पहवो युज्यते । आभासत्वस्यार्जनादित्यर्थः । बहुपदं बहुव्यापारोपादानमिति वृत्ति-यतम् । एवमिति । तत्र तिर्यगादिविषयतायाम्—‘मित्रे कापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासक्तं पुरः सारसम् । चक्राह्णेन वियोगिना विसलता नाखादिता नोज्झिता कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥’ इत्युदाहार्यम् । एवं गुर्वाद्यालम्बनतया हासस्य, वीतरागाद्याश्रयतया

१. ‘स्तुम इति । वारवोषितं प्रति कस्यचित्कामुकस्य चाट्टिकारिवम् । हे वामाक्षि, वामं सुन्दरम्, जितेन्द्रियाणामपि वशीकरणादिरुद्धं चाक्षि यस्मात्तथाविधे; तं कं पुरुषं स्तुमो यं विना क्षणमपि न रमसे क्रीडसि । हृष्यसीति यावत् । तथा यं मृग-यसेऽन्विष्यसि कोऽसौ रणः सङ्ग्राम एव मखो यज्ञः । त्वत्कर्तृकान्वेषणरूपस्वर्गफलक-त्वात् । तस्य मुखे पुरतः प्राणान्विलेभे ददौ । अर्थाञ्जन्मान्तरे । हे शशिमुखि चन्द्रा-नने, यं बलादालिङ्गसि स कः सुलभे शोभनग्रहाधिष्ठिते लग्ने जात उत्पन्नः । हे मद-नस्य नगरि राजधानि । अत्रैव मदनस्य वैभवात् । यं तु ध्यायसि तस्य कस्यैषा त्वत्क-र्तृकध्यानरूपा तपःश्रीः । तपःसंपत्तिरित्यर्थः । अत्र शशिमुखीत्यनेन बलादालिङ्गनस्य युक्तता व्यज्यते । शशिनायक्रीकृतशशापरित्यागात् । नगरीत्वारोपेणानेकविषयकमद-नाश्रयत्वसूचनम् । तस्यां अनेकाश्रयस्वभावत्वात् । अत्र रतेरनेकविषयत्वादसंभासः । इत्युदाहरणचन्द्रिका.

भावाभासो यथा—

‘राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा खेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गा ।
तार्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥’

अत्र रतेर्व्यभिचारिभूता चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । नायिकाया अनुरक्त-
तया रतेरनुकृष्टत्वेन तन्व्यभिचारिणोऽपि तथात्वात् । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

भावशान्त्यादिरक्रम इत्यत्र भावशान्त्यादिपदप्रतिपाद्यमाह—

भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता तथा ॥ १३ ॥

संधिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः । शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया
पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम् । न च भावस्य शबलतायाः शान्त्युदयाभ्यामविशेषः ।
शान्तेरुदयस्य वा एकैकस्यास्वादे तन्नेदद्वयोपगमात् ।

तत्र भावस्य शान्तिर्यथा—

‘तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपायते ।

करुणस्य, पित्राद्यालम्बनतया रौद्रवीरयोः, वीरगतत्वेन भयानकस्य, यज्ञीयपशुव-
साद्यालम्बनतया बीभत्सस्य, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनतयाद्भुतस्य, चाण्डालादिगतत्वेन
शान्तस्य चाभासत्वमूढम् ।

१. “राकेति । सीतामुद्दिश्य रावणोक्तिरियम् । सा सीता राकायामखण्डचन्द्रायां
पूर्णिमायां यः सुधाकरश्चन्द्रस्तदनुखं यस्यास्तथाविधा । एवं तरले चञ्चले आयते दीर्घे
अक्षिणी यस्यास्तथाभूता । खेरमीषत्प्रकाशं यौवनम् । नवयौवनमिति यावत् । तेन तर-
ङ्गितास्तरङ्गवदुत्तरोत्तरारम्भशीला विभ्रमा येषु तथाविधान्यङ्गानि यस्याः सा तथाभू-
तेति निदर्शनक्रमेण सुखादिगतप्रकर्षविभावनम् । तत्तस्मादुक्तसौन्दर्यातिशयेनानुपेक्ष-
त्वात्किं करोमि । तद्भावायेति शेषः । तथा सह मैत्री क्रियतां तत्राह—विदधे इति ।
अत्रास्यां सीतायां मैत्रीं कथं केनोपायेन विदधे करोमि । तदुपायोऽपि न प्रतिभाती-
त्यर्थः । ननु सैव त्वां स्वीकुर्यात्तत्राह—तदिति । तथा स्वीकृतिर्ममायमिति बुद्धिविष-
यीकरणं तस्य व्यतिकरे संबन्धे उपायो हेतुः क इव । कः संभाव्यत इत्यर्थः । ‘विभ्र-
मास्या’ इति पाठे तथाविधमास्यं यस्या इत्यर्थः । ‘स्यात्’ इति पाठे क उपायः स्यादि-
त्यन्वयः । अत्र चिन्ताख्यव्यभिचारिभावस्यानुरक्तनायिकाविषयतया आभासत्वमिति
भावाभासोदाहरणत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘विभ्रमास्या’ ख-पा. ३. ‘अत्र
तु’ ख. ४. ‘तस्या इति । खण्डितायाः स्वनायिकायाः कोपतच्छान्तिवृत्तान्तं वयस्यं प्रति
कथयतो धृष्टनायकस्येयमुक्तिः । तस्याः सपत्न्याः । असूयातिशयान्नामानिर्देशः । सान्द्रं
घनं श्रीखण्डादिविलेपनं यत्र तथाभूतस्य स्तनतटस्य समीपे समस्थानस्य तत्पर्यन्त-
गामी अतएव प्रकृष्टो यः श्लेषः परीरम्भस्तेन वा मुद्रा स्तनाकारं विलेपनमयं चिह्नं

इत्युक्ते क तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साक्षिष्ठा रभसेन सत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥'

अत्र कोपस्य शान्तावेव चमत्कारविश्रामः ।

उदयो यथा—

‘एकस्मिन्शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चादूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूर्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥’

अत्रौत्सुक्यस्योदयः ।

संधिर्यथा—

‘उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।

शान्तावेवेत्यनेन तद्गम्यहर्षादिव्यवच्छेदः ।

तेनाङ्कितं चिह्नितम् । तदीयत्वेन शापितमित्यर्थः । वक्षश्चरणयोरानतेः प्रणामस्य यो व्यक्ति-
करः संबन्धः पौनःपुन्यं वा तद्व्याजेन च्छलेन किं किमिति गोपाय्यते आच्छा-
यत इत्यर्थात्रायिकयोक्ते सति मया क तन्मुद्राङ्कनमित्युदायौक्त्वा त्वन्मुद्राङ्कनं संप्रमार्ष्टुं
विलोपयितुं सा सहसा अप्रसादैव रभसेन त्वरया आक्षिप्ता आलिङ्गिता । तत्सुख-
शादालिङ्गनानन्दपारवश्यात्तन्व्या तन्मुद्राङ्कितत्वं विस्मृतं चेत्यन्वयः । चकारेणालि-
ङ्गनास्मृत्योरेककालता द्योत्यते । अत्र कोपाख्यस्य व्यभिचारिभावस्य शान्तिः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. ‘अपि’ ग. २. एकस्मिन्निति । अमरककवेरुक्तिः । एकस्मिन्शयने शय्यायां विप-
क्षभूता रमणी सपत्नी तस्या नामग्रहे ग्रहणे अर्थात्रायकेन कृते सति सप्तस्तत्कालमेव
कोपेन पराङ्मुखं यथा स्वात्तथा ग्लपितया खिन्नया मुग्धया स्वस्याधैर्यमजानन्त्या कयाचि-
चादूनि प्रियभाषणानि कुर्वन्नपि प्रियतम आवेगात्कोपसंभ्रमादवधीरितोऽवज्ञातस्तूर्णीमा-
लापरहितः स्थितः प्रसादज्ञानायावहितो न तु निद्रितः । तत्क्षणं तूर्णीं स्थितिसमये मुप्त
इव प्रार्थनापराङ्मुखो मा भूदित्यौत्सुक्येनामन्दमतिशयितं वलिता वक्त्रीकृता ग्रीवा यत्र तपया
स्यात्तथा पुनर्वीक्षितो वीक्षणानन्तरं वीक्षितः । वारंवारमित्यर्थः । ‘आवेशात्’ इति पाठे कोपा-
वेशादित्यर्थः । ‘तत्क्षणात्’ इति पाठे तूर्णींभावक्षणानन्तरमेवेत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी ।
तत्क्षणं प्राप्येति तदर्थः । अत्रौत्सुक्यस्योदयः । इत्युदाहरणचन्द्रिका. ३. ‘तत्क्षणात्’ ख. ग.
४. ‘उत्सिक्तस्येति । सीतामालिङ्गतस्तद्भावयतो वा रामस्य भार्गवागमे परामर्शोऽयम् ।
तपश्च पराक्रमश्च तयोर्निषेः स्थानभूतस्य । धर्मयुद्धोभयवीरस्येत्यर्थः । अत एवोत्सिक्तस्य
ख्यातस्य दृप्तस्य वा । अर्थात्परशुरामस्याभ्यागमादागमनादेकत एकस्यां दिशि सतः परशु-
रामस्य सङ्गे या प्रियता प्रेम च, वीरस्य रभसो हर्षस्तस्योत्फाल उद्रेकः । वीरोन्वितकौतु-
कोद्रेक इत्यर्थः स च एतौ द्वावपि मां कर्षत आकर्षयतः । अत्र चकारद्वयं द्वयोस्तुल्य-

वैदेहीपरिरम्भ एव च मुहुश्चैतन्यमामीलय-

ज्ञानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरस्निग्धो रणक्षय्यतः ॥'

अत्र पूर्वार्धे संभ्रमात्मक आवेगः । उत्तरार्धे हर्षः । अनयोस्तुल्यमेवास्वादः ।

शबलता यथा—

‘कौकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा

दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं सुखम् ।

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा

चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥’

अत्र काकार्यमित्यादौ वितर्कः, भूयोऽपीत्यौत्सुक्यम्, दोषाणामिति मतिः, कोपेऽपीति स्मृतिः, किं वक्ष्यन्तीति शङ्का, स्वप्नेऽपीति दैन्यम्, चेतःस्वास्थ्यमिति धृतिः, कः खल्विति चिन्ता स्फुटं पूर्वपूर्वोपमर्देन प्रतीयमाना शबलता-चमत्कारभूमिः ।

पूर्वपूर्वेति । पूर्वपूर्वेषां मतिशङ्काधृतिपर्यन्तानां शान्तिसंचारिणां सर्वेषामुपमर्देन

प्राधान्यसूचनाय । अन्यतोऽन्यस्यां दिशि एषोऽनुभूयमानो भावनोपनीतो वा वैदेहीपरिरम्भश्च । विदेहो जनकः । स एव विगतदेहः कामस्तस्य पुत्री । विजये सहायत्वात् । तस्याः परिरम्भ आश्लेषश्च मां रणद्धि । मुनिपार्श्वगमने प्रतिवध्नातीत्यर्थः । चकारः पूर्वोक्तान्यां तुल्यत्वस्य तुल्यकालत्वस्य च संधिरूपस्य सूचनाय । एकस्य परिरम्भस्य सत्सङ्गप्रेमोत्साहान्यां तुल्यत्वसंपादकं विशेषणमाह—मुहुरित्यादि । मुहुर्वारंवारं चैतन्यं ज्ञानमामीलयन्विषयान्तराध्यावर्तयन् हरिचन्दनं चन्दनभेदः इन्दुश्चन्द्रश्च तद्रच्छिशिरः शीतलश्चासौ स्निग्धः प्रेमसंवलयितः । अतएव रणद्धीति युक्तम् । स्निग्धेन युद्धे निवर्तनात् । ‘स्पर्शः’ इति पाठे तथाविधः स्पर्शो यत्रेत्यर्थः । अत एवानन्दी आनन्दजनकः । अत्र मुनावल्यादरणीयत्वज्ञानजन्यत्वरविशेषः पूर्वार्धगम्यः, हर्षस्तूत्तरार्धगम्य इति तयोस्तुल्यकालत्वात्संधिः । इत्युदाहरणचन्द्रिका. ५. ‘कर्पति’ ख.

१. ‘स्पर्शो’ ख. २. ‘तुल्यकालं’ ख. ३. ‘केति । शुक्रकन्यां देवयानीं दृष्टवतो राज्ञो वयातेरियमुक्तिः । अकार्यं ब्राह्मणकन्यायामासक्तिरूपं क, शशो. लक्ष्मं चिह्नं युस्व-चन्द्रस्य कुलं च क । कद्रवेन सहानयस्थानप्रतिपादनेनात्यन्तानौचित्यं प्रकाशयते । भूयोऽपीत्युक्तवितर्कोपमर्देनौत्सुक्यम् । अपिना असंभावनोत्कटता सूच्यते । नोऽस्माकं हतं शास्त्रश्रवणं दोषाणां प्रमादावेशादीनां प्रशमायात्यन्तिकनाशायेति मलौत्सुक्य-बाधः । अहो आश्चर्यम् । कोपेऽपि मुखं अर्थात्तस्याः कान्तं कमनीयमिति मतिवाधेन सारणम् । अपगतं कल्मषं दुश्चरितं येभ्यस्तादृशाः कृते महात्मभिराचरिते सुचरिते धीर्येषां ते तथाभूताः सत्पुरुषाः किं वक्ष्यन्तीति निन्दाशङ्कया पूर्वोपमर्दः । स्वप्नेऽप्युत्तुतावृष्टवृष्टकेऽपि सा दुर्लभेत्यनेनाभिमतप्राप्तिरुक्तदैन्येनाशङ्कातिरस्कारः । हे चेतः, स्वास्थ्यमुपैहि उपगच्छे-त्यनेन धैर्यं पूर्वसाद्रवत् । कः खलु धन्यः, नाहमिव मन्दभाग्यो युवा तरुणोऽधरं धास्यति पास्यतीति चिन्ता सर्वोपमर्दिकेति शृङ्गारे विश्रान्तिरित्यवधेयम् । अत्र भावानां पूर्वपूर्वोपमर्देनावसितिरूपा शबलता । इत्युदाहरणचन्द्रिका.

ननु भावस्य शान्त्यादिवस्थितिरपि प्रकारः संभवत्येव तत्कथं नोक्त इति चेत्, न । भावोक्त्यैव तदुक्तेः । भावस्थितेर्भावाभिन्नत्वात् ।

ननु व्यभिचारिस्थले नियमतो मुख्यस्य रसस्यावस्थानं तत्कथं भावोदाहरणमेतत्, कथं वा भावध्वनित्वम् । रसाङ्गत्वेन तेषां गुणीभावादित्यत आह—

मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

ते भावशान्त्यादयः । कदाचन यदा त एवाङ्गित्वेन विवक्ष्यन्ते । विवह्न-प्रवृत्तराजानुगम्यमानमृत्यवत् ।

एवमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदं विचार्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

अनुखनाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ १४ ॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

घण्टायां हन्यमानायां मुख्यशब्दानन्तरं यथा क्षोदीयानपरोऽनुरणनरूपः शब्दः प्रतीयते तद्वत्संलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यस्य स्थितिर्यत्र सः । शब्दश्चार्थश्चोभयं चेति द्वन्द्वः । तेन शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्यः, अर्थशक्तिमूलव्यङ्ग्यः, उभयशक्तिमूलव्यङ्ग्यश्चेति त्रिधेत्यर्थः । शब्दशक्तिमूलत्वं चैतदेव यत्तेनैव शब्देन तदर्थ-प्रतीतिः, नतु पर्यायान्तरेणापि । एतद्वैपरीत्यं चार्थशक्तिमूलत्वम् । न त्वभिधया तत्प्रतीतिरिति । एतेन “अभिधाया यत्र न नियमनं तत्रैष भेदो द्रष्टव्यः । तन्नियमने तु नाभिधामूलत्वम्, किंतु व्यञ्जनामूलत्वमेव ‘भद्रात्मनः—’ इति वदन्वेत्” इति यत्केनचिदुक्तं तन्नादेयम् । ‘भद्रात्मनः—’ इत्यादेरप्येतद्वेद-त्वेनेष्टत्वात् । अन्यथा तस्य सर्वभेदबहिर्भावापत्तेः । किंच प्रथमोदाहरणे प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरिति व्याख्यानेन, द्वितीये भवानित्यनेन, तृतीयेऽसी-त्यनेन, प्रकरणस्याभिधानियामकस्य स्पष्टत्वात्तेषामुदाहरणत्वं विरुध्येत । तस्मा-द्यथोक्तमेव न्याय्यम् ।

प्रतीयमाना चिन्ता शबलतायाश्चमत्कारस्य भूमिः । विश्रान्तित्थानमित्यर्थः । एवं-विधचिन्तया च शृङ्गारप्रकर्षः शत्रुविजयेन राज्यस्यैव भवति ।

त एवाङ्गित्वेनेति । अत्रेदं बोध्यम् । अभिव्यक्तिस्थायिभावोद्रेके रसध्वनिव्य-पदेशः । खानुभवामिव्यक्तव्यमिचारिभावोद्रेके च भावादिध्वनिव्यपदेशः । एतदन्य-व्यङ्ग्यविभावानुभावोद्रेके वस्तुध्वनिरित्यलंकारध्वनिरिति वा व्यपदेश इति । तद्व-दिति । अनुरणनसदृशी संलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यस्थितिर्यत्र स इति समासः । क्रमस्त्व-र्थाद्व्यञ्जकेन सहेति ज्ञेयम् । केचित्तु—‘उल्लास्ये’ त्यादौ यत्र प्रकरणादिकमभिधानि-यामकं नास्ति तत्राभिधायैवेन्द्रादिबोधे सति तेन सहोपमालंकारादेर्ध्वनिः शब्दशक्ति-रूपामिधामूलः । यत्र तु तन्नियमनं तत्र तन्मूलत्वं न संभवति । ‘यथा भद्रात्मन इत्यादौ’ इति वदन्ति तदूषयति—एतेनेति । शब्दशक्तीत्यस्योक्तव्याख्यानेनेत्यर्थः । उल्लास्येत्यादावप्यभिधानियामकमस्त्वैवेति तदुदाहरणसंगतिरित्याह—किंचेति ।

तेषु मध्ये—

अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ १५ ॥

प्राधान्येन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यो द्विधा । अलंकृतस्यानलंकृतवस्तुमात्रस्य वा प्राधान्येन प्रकाशादित्यर्थः । तत्राद्यो यथा—

‘उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं

देवेन येन जरठोजितगर्जितेन ।

निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां

धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥’

कालो वैरिसंहर्ता यः करवालः स एव महदम्बु धाराजलं वहतीति महाम्बुवाहः । यद्वा मह उत्सवः स एवाम्बु तद्वाहः । गर्जितं सिंहनादः । अत्र करवालमुल्लास्य एतावन्मात्रे वक्तव्ये यदेतादृशशब्दप्रयोगस्तस्यासंबद्धानर्थकता मा प्रसज्यतामित्यप्राकरणिकैरिन्द्रवारिवाहादिभिः प्राकरणिकानां राजकरवालादीनामुपमानोपमेयभावे कवेस्तात्पर्यमित्युपमालंकारो व्यङ्ग्यः । स च शब्दशक्ति-

भवच्छब्दस्य संबोध्यवाचित्वादप्रकृतस्य च संबोध्यत्वायोगात्प्रकृतत्वम् । एवमसीत्यपि युष्मद्योगापेक्षमिति प्रकृतत्वगमकमित्यर्थः ।

प्राधान्येनेत्यस्यानुभासत इत्यनेनान्वयं दर्शयति—प्राधान्येनेति । धाराजल-
वाहकत्वोक्तौ धाराजलैरित्यस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह—यद्वेति । उत्सवो वैरिजयरूपः ।
स एवाम्बु तद्वज्रिरन्तरं प्रवृत्तिशीलः तस्य धारक इत्यर्थः । उपमालंकार इति ।
प्राधान्येनेति शेषः । नच समासोक्तिवदुपमायाः प्रकृतोपस्कारकतया अपराङ्गत्वरूप-
गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः । तत्र व्यङ्ग्यस्याप्रस्तुतवृत्तान्तस्य प्राधान्येन प्रतीतौ चम-

१. ‘अत्र वाच्यपक्षे येन प्रकृतेन देवेन नृपेण जरठं कठोरमूर्जितं बलवद्गर्जितं सिंह-
नादो यस्य तथाविधेन कालो वैरिसंहर्ता यः करवालः खड्गस्तत्र यन्महदम्बु धाराजलं
तस्य वाहः प्रवाहः प्रसरणमुल्लास्य तीक्ष्णीकृत्य धाराजलैः खड्गकान्त्या । खड्गरत्नादिकान्तौ
पानीयादिपदप्रयोगात् । रिपूणां शत्रूणां त्रिजगति त्रिभुवने ज्वलितो विख्यातः सकल एव
प्रतापः शौर्यख्यातिरूपो रणे निर्वापितः । विलोपित इत्यर्थः । महदम्बु धाराजलम्, मह
उत्सव एवाम्बु वा वहतीति तथा कालकरवालः कृष्णायसखड्गश्चासौ स चेति कर्मधारयः ।
तमुल्लास्य निपातनायोधम्येत्यर्थो वा । व्यङ्ग्यपक्षे तु येन देवेन मेधाधिपतिनेन्द्रेण कालकरं
कृष्णरश्मिं बालं नवीनम् । वयोरभेदात् । महाम्बुवाहं मेघमुल्लास्य प्रकाश्य रणे तेजो
विषयजलकोलाहले सति धाराकृतिभिर्जलैस्त्रिभुवने रिपूणामर्थाञ्जलशत्रूणां तेजसां सकलः
प्रकृष्टताप औष्ण्यं निर्वापितः शमितः । कीदृशेन देवेन । जरठोजितगर्जितेन । तत्प्रयो-
ज्यमेघगर्जितस्यैव तदीयत्वात् । उपलक्ष्यार्थकतृतीयाङ्गीकारेण गर्जितेनोपलक्षितं मेघमुल्ला-
स्येति वार्थः । एतच्छब्दशक्तिमूलालंकारध्वनेरुदाहरणम् । एवमग्रिमोदाहरणत्रयमपि ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘स. एव’ क.

मूलः । पर्यायान्तरेण भूपादिना तदर्थोपस्थितौ तदप्रतीतेः । एवमग्रेऽप्युक्तम् ।
एवमलंकारान्तराण्यपि । यथा—

‘तिग्मैरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो मधुरलीलः ।

मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥’

अत्र तिग्मरुचिः, अप्रतापः, एवं क्रमेणैकैकपदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

पदामेदेऽपि विरोधाभासो यथा—

‘अमितः समितः प्राप्तैरुक्तैर्हर्षदं प्रभो ।

अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥’

ननु विरोधस्य किं सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वमेव नेत्युच्यते तत्क्रियती सीमा । अपि-
शब्दादेर्विरोधव्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वं तदभावे व्यङ्ग्यत्वमिति ।

‘निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥’

तुल्यभावेन गुणीभावेऽप्यत्रोपमायाः प्राधान्यसंभवेन गुणत्वानङ्गीकारात् । एवम-
प्येकपदोपस्थितयोरभेदाध्यवसायाद्रूपकञ्चनैरेव युक्त इति चेत्, न । तथाविधाभे-
दप्रहस्यापि चमत्कारातिशयानाधायकत्वात् । प्रधानीभूतेतराङ्गतया हि क्वचित्तद-
ङ्गीकारः । प्रसिद्धसादृश्यमूलकतदङ्गीकारे तु प्रथमोपस्थितत्वादुपमाया एव कल्प-
नमुचितमिति संक्षेपः ।

१. ‘मूलो व्यङ्ग्यः’ ग. २. ‘तदुपस्थितौ’ ख. ३ ‘तिग्मेति । हे विभो प्रभो,
भवान्विभाति शोभत इत्यन्वयः । कीदृशः । तिग्मस्तीक्ष्णश्चासौ रुचिरो मनोज्ञः
शत्रुमित्रपक्षयोः प्रतापो यस्य सः । विधुराणां शत्रूणां निशेव निशा मरणं करोतीति । तथा
मधुरा मनोज्ञा लीला चेष्टा यस्य सः । मतिः शास्त्रतत्त्वज्ञानं मानश्चित्तसमुन्नतिस्त्वयो-
स्तत्त्वेन सारेण वृत्तिर्वर्तनं यस्य सः । प्रतिपदं पक्षाणां सहायानामग्रणीरग्रेसरः । अत्र
तिग्मरुचिः सूर्योऽप्रतापोऽनुष्णः । विधुश्चन्द्रो न निशाकृद्रात्रिकर्ता । मधुर्वसन्तोऽलीलः
क्रीडाशून्यः । मतिमान्प्रशस्तबुद्धिरतत्त्वेऽवस्तुभूते वृत्तिर्व्यवसायो यस्य स तादृशः ।
‘प्रतिपत्तिरिपक्षग्रणीः पक्षादिभूता नेति विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । द्वितीयायं स्यात्प्रकृतत्वात् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘अमित इति । हर्षं शत्रुमित्रयोरर्पति खण्डयति ददाति’
चेति तथाभूत हे प्रभो, त्वं समितः सङ्गमात्प्राप्तैरुक्तैरमितोऽपरिच्छिन्नः । असतां
खलानामहितो दण्डकृत् । अतएव साधुभिरुक्तैर्यशोभिः सहितो युक्तोऽसीत्यन्वयः ।
साध्विति क्रियाविशेषणं वा । यदा अमित इति पञ्चम्यन्तं सङ्गमविशेषणम् ।
उक्तैर्हर्षदेति चान्वयः । अत्र मितं मानं तद्रहितस्तत्सहितश्च । तथा हितशून्यो,
हितसहितश्चेति विरोधो व्यङ्ग्यः । अप्रकृतत्वादिति १ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
५. ‘निरुपादानेति । तस्मै शूलिने महादेवाय नम इत्यन्वयः । कीदृशाय । निर्गत
उपादानसंभार उपकरणसंपत्तिर्यत्र तद्यथा स्यात्तथा । अभित्तावनाधारे । शून्य इति
यावत् । चित्रं नानाकारं जगत्तन्वते विस्तारयते । यद्यप्युपादानसंभारं विना न सृष्टिः

चित्रं चानाकारमालेख्यं च । कला चन्द्रस्य षोडशो भागः कौशलं च ।
अत्रोपादानैर्भिन्नावालेख्यकारिभ्यः कलावद्भ्यः शूलिनो व्यतिरेको व्यङ्ग्यः । तस्य
चित्रकलाशब्दयोः परिवृत्त्यसहत्वेन शब्दशक्तिमूलता ।

ननुदाहतेषूपमादीनां प्राधान्यम्, न वा । आद्ये कुतस्तेषामलंकारत्वम् ।
अन्यानलंकरणात् । द्वितीये कुतोऽस्य काव्यस्य ध्वनित्वम् । व्यङ्ग्यस्याप्राधान्या-
दिति चेत्, न । पूर्वमयमलंकार आसीदित्येतावता अलंकारव्यपदेशात् । यथा
ब्राह्मणपूर्वबौद्धसंन्यासिनि ब्राह्मणव्यपदेशः । नन्वेवं व्यपदेशसमर्थनेऽप्यलंकार-
ध्वनित्वं न समर्थितमिति चेत्, न । अलंकारपदेन तद्योग्यताया विवक्षितत्वात् ।
न चैवं रसादिध्वनावप्यलंकारध्वनित्वप्रसङ्गः । संलक्ष्यक्रमस्वैव तादृशस्य तथा-
भिप्रेतत्वात् । वस्तुतस्तु प्राधान्याप्राधान्ये व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षयैव, नतु
रसापेक्षयापि । तदपेक्षया सर्वत्र गुणीभावात् । तथा चोपमादीनां रसाङ्ग-
तयालंकारत्वं वाच्यापेक्षया प्राधान्यं चेति न दोषलेशावकाशः ।

वस्तुमात्रं यथा—

‘पन्थिअ ण एत्थ सत्तरमत्थि मणं पत्तरत्थले गामे ।

अत्र द्वितीयार्थस्य प्रकृतत्वेन विरोधस्य व्यङ्ग्यत्वे सर्वत्रैव तदापत्तिरिति न कापि
तस्य वाच्यता स्यादित्याशयेन शङ्कते—नन्विति । सीमा मर्यादा । कियत्युक्ते वा-
च्यता कियति चोक्ते व्यङ्ग्यतेति व्यवस्थेत्यर्थः । अपीति । द्योतकत्वे स्फुटाप्रतीते-
र्वाच्यायमानतया वाच्यत्वमेव व्यवहियते, अन्यथा तु व्यङ्ग्यतेत्यर्थः । पूर्वं वाच्य-
तादशायाम् । अलंकारपदेनालंकारध्वनिशब्दगतेन । योग्यताया इति । अलं-
कारजातीयरूपाया इत्यर्थः । न चैवमिति । तत्रापि रसबदलंकारजातीयत्वस-
त्त्वादिति भावः । तादृशस्य कदाचिदलंकारस्य । तथेति । अलंकारध्वनिव्यपदे-
इत्यतयेत्यर्थः ।

पन्थिअ ण एत्थेति । ‘पथिक नात्र सत्तरमस्ति मनावप्रस्तरस्थले ग्रामे ।

भवत्स्थान्युपकरणसंपत्तेरपि भगवदिच्छायत्तत्वेन तत्पारवक्ष्याभावे तन्निरपेक्षत्वमुपचरितं
बोध्यम् । एवं कला चन्द्रषोडशांशरूपया श्लाघ्यायेति प्रकृतोऽर्थः । व्यञ्जनया तु चित्रक-
लाशब्दाभ्यामालेख्यतत्त्वावीण्योपस्थित्या मपीतूलिकाशुपाशनैर्भिन्नावालेख्यकारादिभ्यः ।
कलावद्भ्य उत्कर्षः प्रतीयते । इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

१. ‘पथिअ’ कथा. “स्वयंदूती ‘द्वयर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु’ इति काम-
शास्त्रसिद्धिमनुसृत्य पथिकमाह—पन्थिअ इति । हे पथिक, प्रस्तराणां पाषाणानां
स्वलेऽत्रासिन्ध्याने मनागल्पमपि सत्तरं कटापास्तरणं नास्तीत्यन्वयः । पाषाणबाहुल्येन
खण्डुर्लभतासूचनम् । तत्तस्माच्छयनसामर्थ्यभावात्कारणादुन्नतं पयोधरं मेघं प्रेक्ष्य
तत्रास्तिवन्माध्वि वसति तदा वसेत्पाषाततोऽभिप्रायः । व्यङ्ग्यार्थस्तु—प्रस्तराणां मूर्खानां
स्वामेऽत्र ग्रामे सत्तरं कामशास्त्रं मनागपि नास्ति । तत्रास्तितामिश्रविरहादुन्नतं स्तनं
प्रेक्ष्य मेघं चोदीक्षितं यष्टकमोगक्षमोऽपि तदा आस्वेति । प्रस्तरस्वले इत्यनेन शय्यापेक्षापि

उष्णभपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वसहु ॥'

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्वेति व्यज्यते । तच्च पओहरेसि शब्द-
शक्तिमूलमिति ।

तथा—

‘शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्यै त्वम् ।

यस्यै प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥’

अत्र प्रथमाधे शनिरशनिश्चेत्यनेन विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत
इति वस्तु ध्वन्यते, ननु विरोधालंकारः । शनिरशनिरित्यनयोः सामानाधि-
करण्याभावात् । विरोधस्य च तत्रैव विश्रान्तेः । द्वितीयाधे तु बोदाहरणम् ।
तत्र चशब्दस्याप्यर्थत्वे विरोधस्य वाच्यत्वात् । समुच्चयमात्रार्थत्वे तु विरोधस्यैव
व्यङ्ग्यत्वादिति ।

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपं व्यङ्ग्यं विभजते—

अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥ १६ ॥

प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।

वस्तु वालंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ १७ ॥

वस्त्वलंकारमथवा तेनासौ द्वादशात्मकः ।

उच्चतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥’ इति । विरुद्धावपीति । नयो विरो-
ध्यर्थकतया अशनिरित्यनेन शनिविरुद्धार्थबोधादिति भावः । सामानाधिकर-
ण्येति । परस्परानन्वयेनैकधर्मिबोधकत्वाभावात् । यथा शनिरिति वाक्य इत्यर्थः ।
अर्थशक्त्युद्भव इति । अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थान्निर्द्वादशात्मकः । द्वादशभेद
इत्यन्वयः । कथम् । यथेन हेतुना व्यञ्जकोऽर्थः स्वतःसंभवी कवेस्तेनोम्भितस्य
निबद्धस्य वा प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वस्तुरूपोऽलंकाररूपो वेति षड्भेदः । असौ

नास्तीति ध्वन्यते । एतच्छब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनेरुदाहरणम् । एवमनन्तरमपि । अत्र सर्वत्र
शब्दशक्तिमूलत्वं परिपृच्यसहनानार्थशब्दप्रयोगादवसेयम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. ‘पेक्खिऊ’ क. २. ‘शनिरिति । हे नरेन्द्र, यस्यै त्वं कुप्यसि तं शनिग्रहोऽशनिर्वज्रं
चोच्चैरतिशयेन निहन्ति । यत्र पुनः प्रसीदसि । पुनः शब्दस्त्वर्थः । यत्पुरुषविषये त्वित्यर्थः ।
स पुरुष उदारो दाता महान्वा अनुगता दारा यस्य प्रवासाप्रसावात् स त्वयामूल्य-
भातीत्यर्थः । अत्र पूर्वार्धेऽशनिपदाद्विरुद्धार्थकनन्वयमभिव्याहारेणाप्रकृतस्य शनिविरुद्धार्थ-
स्यावगतौ विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति वस्तुष्यतिः । न तत्तत्तार्थेऽपि ।
तत्रैककार्यंकरणाप्रतीतेः । किं तूदारः अनुदारस्तद्विभ्रः इत्येवं विरोधालंकारध्वनिरेव । चका-
रस्य समुच्चयार्थत्वात् । अप्यार्थत्वे तु विरोधस्य वाच्यतैवेति । न च पूर्वार्धेऽपि विरोधस्य
व्यङ्ग्यत्ववाच्यत्वयोरन्यतराशङ्का । एकधर्मिगतत्वेन विरुद्धनिर्देश एव तत्तत्त्वीकारात् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

स्वतःसंभवी न केवलं भणितिनिष्पन्नशरीरः । अपि तु बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः । प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धः बहिरसन्नपि वक्तृप्रतिभामात्रेण तथा निर्मितः । अयमर्थः—व्यञ्जकोऽर्थस्त्रिधा । स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिमात्र-सिद्धः, कविनिबद्धनायकादिवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धश्च । स त्रिविधोऽपि वस्तु-मात्रमलंकृतिर्वेति पद्मिधो व्यञ्जकः । घण्टां व्यङ्ग्यमपि प्रत्येकं वस्तु वालंकृति-र्वेति द्वादश भेदा भवन्ति ।

तत्र स्वतःसंभविन्यर्थभेदचतुष्टये वस्तुना वस्तुनो व्यक्तियथा—

‘अलससिरोमणिधुत्ताणमग्निमो पुत्ति धनसमृद्धिमभो ।

इभ भैणिण्ण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणाजाभा ॥’

अलसत्वेनान्यत्र गन्तुमनिच्छुः धूर्तत्वेन रतेष्वनादृतगुणः । धनसमृद्धि-मत्तया कृपण इति निर्धार्य यत्प्रफुल्लनयनत्वं वस्तु तेनान्यासामनाकर्षणीय इति ममैवोपभोग्य इति वस्तु व्यज्यते ।

वस्तुनालंकारस्य यथा—

‘धन्यासि या कथयति प्रियसंगमेऽपि

विस्त्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।

वस्तुमात्रमथवालंकारं व्यनक्ति । तेन हेतुना भणित्या प्रौढोक्त्या निष्पन्नं कल्पितं शरीरं स्वरूपं यस्य स इत्यर्थः । औचित्येन योग्यतया । अलसेति । ‘अलसशि-रोमणिर्धूर्तानामग्निमः पुत्ति धनसमृद्धिमयः । इति भणितेन नताङ्गी प्रोत्फुल्लविलो-

१. ‘अलससिरोमणी’ ग. ‘पतिवरां प्रति धाव्याः प्ररोचनोक्तिः पूर्वार्धम् । उत्तरार्धं तु कवेः । प्रकरणाच्चायमित्यध्याहारः । हे पुत्ति, अयं वरोऽलसानां निरुद्योगानां शिरोमणिः श्रेष्ठः धूर्तानामग्निमोऽग्रगण्यः धनसमृद्धिमयो धनसमृद्धिप्रचुरः इति भणितेन भाष-णेन नताङ्गी काचित्कुमारी प्रफुल्ले हर्षविकसिते विलोचने यस्यास्तादृशी जातेत्यन्वयः । अत्रालसत्वेन नायिकान्तरागमनं धूर्तत्वेन रतेष्वनादृतगुणत्वं धनिकत्वेन कृपणतया अदातृत्वं च सूचितं सदन्यासामनाकर्षणीयो ममैवोपभोग्य इति नायिकायां व्यनक्ति । तादृशं च कुमार्यां ज्ञानं प्रफुल्लनयनत्वेन वस्तुना स्वहेतुहर्षव्यञ्जनद्वारेण तत्कारणी-भूतं सामाजिकेषु व्यज्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘जम्पिण’ ख. ३. ‘धन्यासीति । रसकथापरास्तु सखीषु मध्ये रतिकालीनं स्वप्रियालापं कथितवतीं काचित्प्रहसन्त्याः कस्याश्चिदुक्तिरियम् । हे सखि, या त्वं रतान्तरेषु रतमध्येषु प्रियेण संगमेऽपि मुरतयोगेऽपि विस्त्रब्धं विश्वासयुक्तम् । निःशङ्कमिति यावद् । चाटुकानां प्रियवा-क्यानां शतानि कथयसि सा त्वं धन्यासीति सोल्लुण्ठम् । हे सख्यः, प्रियेण नीवीं वस्त्रग्रन्थिं प्रति करे प्रणिहिते नीव्यां करोऽर्पयितव्य इति प्रणिधानस्य संकल्पस्य विषयीकृते सति न त्वर्पिते । अवाचकत्वापत्तेः । यदि किञ्चिदपि सरामि तदा शपामि शपथं करोमी-त्यन्वयः । यद्यपि ‘शपथे शपेः’ इत्यनुशासनादात्मनेपदमुचितं तथाप्यङ्गस्पर्शपूर्वकमिध्यां-त्वनिरासस्य मुख्यशपथस्यात्राविवक्षितत्वान्न दोषः । प्रियसंगमेष्वालापादिषु । तत्रापि

नीवीं पति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि सरामि ॥'

अत्र वाच्येन वस्तुना त्वमधन्या, अहं तु धन्येति स्वस्य व्यतिरेकालंकारो व्यज्यते । ननु व्यञ्जको धन्यासीति त्वत्पदार्थस्य व्यतिरेकालंकार एव । तत्कथं वस्तुव्यञ्जकोदाहरणमेतदिति चेत्, न । संबोध्यव्यतिरेकस्तावच्च वाच्यः । आत्मनि कथनाभावस्याशब्दत्वात् । व्यङ्ग्यस्तु यद्यपि भवत्येव, तथापि तमनपेक्षैव वाच्येन वस्तुमात्रेण यथोक्तव्यतिरेकव्यञ्जनादिति ।

अलंकारेण वस्तुनो यथा—

‘दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट-

संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणेशोभिः ।

चना जाता ॥’ प्रियकरस्पर्शमात्रेण विगलितवेद्यान्तरतया सरणाभावेन चाह—
धन्येतीति । व्यतिरेकप्रतीतिसिद्धौ न व्यङ्ग्यस्य त्वत्पदार्थव्यतिरेकस्य प्रतीक्षे-
त्यर्थः । आत्मनीति । अहं न कथयामि त्वं तु कथयसीति व्यतिरेकशरीरम् ।
तत्राहं न कथयामीत्यंशस्य वाच्यत्वाद्वाङ्मय एव संबोध्याया व्यतिरेक इत्यर्थः ।
अस्तु तस्यैव व्यञ्जकत्वमत आह—तमनपेक्षैवेति । कथनेन हि विषयान्तरव्या-

रतमध्येषु न पुनरादावन्ते वेति वार्थः । यदि किञ्चिदपि सरामीति वाक्यमध्ये सख्यः
शपामीत्यस्य प्रवेशाद्भित्तत्वं प्रकृते गुण एव । विवक्षितार्थस्य सत्यप्रत्यायनात् । सोल्लुण्ठो-
क्तावेकस्या एव सौभाग्यगर्वितायाः संबोध्यत्वाद्धन्यासीत्येकवचनम् । स्वोत्कर्षचूचने तु
बह्वीनां तथात्वात्सख्य इति बहुवचनमिति नासंगतिः । अत्र च रतकालेऽपि विषयान्तरवे-
दनेन रागस्य कृत्रिमतामावेदयता चाटुकथनेन त्वमधन्येति ध्वन्यते । अन्तरापिशब्दाभ्या-
मत्यन्तानौचित्यप्रकाशनद्वारा तदतिशयः । एवं च बहुवचनस्य प्रतिरतिसमयं तथाभावसू-
चनद्वारा तद्व्यञ्जकत्वम् । एवं शतानीति प्रातिपदिकवचनयोश्चेति । तथोत्तरार्थे सरणाभावेन
प्रियकरस्पर्शमात्रेण संमोहानन्दमन्थरतया अकृत्रिमरागातिशयं सूचयताहं धन्येति व्यज्यते ।
इत्थं चोभयसंबलनेन व्यतिरेकालंकारलाभ इति बोध्यम् । अतः स्वतःसंभविना वस्तुना-
लंकारध्वनिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘दर्पान्वेति । यस्य राशः करे कृपाणः खन्नो युधि युद्धे वीरैः कालीकटाक्ष इव
व्यलोकि दृष्टः । कीदृशः । दर्पेण मदेनान्धस्य गन्धगजस्य ‘यस्य गन्धं समाग्राय न
तिष्ठन्ति प्रतिहिपाः । तं गन्धइस्तिनं विद्यान्नृपतेर्विजयावहम् ॥’ इत्युक्तलक्षणस्य
कुम्भ एव विशालतया तन्मध्यभाग एव कपाटं तस्य कूटेऽग्रभागे या संक्रान्तिः
प्रवेशस्तस्य निघ्नमपीनं तेन वा निघ्नं दृढसंबद्धं घनं निविडं यच्छोणितं तेन शोणा रक्ता
शोचिर्दीप्तिर्यस्य तादृशः । कटाक्षः कीदृशः । कोपेन कषाया लोहिता कान्तिर्यस्य तथाभूतः ।
अत्र साम्यावगमानन्तरमुपमानगतं सकलत्यादि वस्तु व्यक्तीभवति । तेन स्वतः संभविनो-
पमालंकारेण वस्तुध्वनिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘रोचिः’ ख.

वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकपायकान्तिः

कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥'

अत्र कालीकटाक्ष इव कृपाणो व्यलोकीत्युपमा । न पुनरूपेक्षा । संभावना-
विरहात् । तथा च सकलरिपुक्षयः क्षणात्करिष्यत इति वस्तु प्रकाश्यते ।

अलंकारेणालंकृतैर्यथा—

‘गाढकान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः ।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्देशन्युधि रूपा निजाधरम् ॥’

अत्र निजाधरदशनवैरिवधूजनौष्ठदशनव्यथामोचनयोः कारणकार्ययोः पौर्वा-
पर्यभावलक्षणया अतिशयोक्त्या अलंकारेण दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापा-
दिता इति ‘समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रिया’ इत्युक्तलक्षणः समु-
च्चयालंकारो द्योत्यते । एष एव च तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या तुल्ययोगितेति
कैश्चिदुच्यते । मम क्षत्याप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति बुद्धेरुपेक्षणादुपेक्षाप्यत्र
व्यञ्जया । एषु व्यञ्जकोऽर्थः स्वतःसंभवी ।

सहस्रचनेन रागानुक्तदत्वद्योतनादधन्यत्वं व्यज्यते । संभावनाविरहादिति ।
संभावनाया अविवक्षितत्वादित्यर्थः । तद्विवक्षायां हि—‘अमानि तत्तेन निजाधर-
युगं द्विफालवद्वाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ।’ इतिवदुपेक्षा विधेयतया प्रतिपाद्या स्यात् ।
ननु विलोकनकर्मविशेषणतया सिद्धवदित्यर्थः । व्यलोकीत्यस्योपेक्षार्थत्वे त्विवश-
ब्दानर्थक्यमिति भावः । यत्तु संभावनायामनुगतधर्मस्यैव प्रयोजकत्वम्, न बिम्ब-
प्रतिबिम्बभावापन्नस्येति, तदयुक्तम् । ‘आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाद्या
सरुणार्करागम् । सुजातपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥’ इत्यद्वै-
विम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्याप्युपेक्षोपपादकतया चित्रमीमांसायामुदाहरणात् । नञ-
त्रोपमा । संचारिणीति विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेरित्यूह्यम् । अतिशयोक्त्येति ।
वृत्तौ च विरोधगर्भत्वादियमेव विरोधपदेनोक्त्याशयः । प्रकृतानामप्रकृतानां वा
एकधर्मान्वयरूपायास्तुल्ययोगिताया असंभवात्समुच्चय एवोक्तव्युत्पत्त्या कैश्चित्तु-
ल्ययोगितापदेन व्यवहृत इति वृत्तिकृतापि निर्दिष्टमित्याह—एष एव चेति ।
वस्तुतस्त्वदमयुक्तम् । उक्तातिशयोक्तेः प्रौढोक्तिसिद्धत्वेन स्वतःसंभविव्यञ्जकायो-

१. ‘गाढेति । यो राजा युधि बुद्धे रूपा कोपेन निजाधरं स्वाभरोष्ठं निर्देशन्तश्चरीणां
शत्रूणां वधूजनस्य स्त्रीजनस्यौष्ठरूपाणि विद्रुमदलानि विद्रुमस्य नयनपल्लवस्य पत्राणि प्रव-
क्ष्यपत्राणि वा गाढस्य कान्तदशनक्षतस्य कान्तदन्तत्रणस्य व्यथा भीष्म तद्रूपात्संकटाक्षो-
च्चयन्मोचितवान् । कोपाद्वैरिवने तद्रूपा रतिक्रीडाविरहादन्तक्षतं वा भवतीत्यर्थः । अत्र
निर्देशजिति वर्तमाननिर्देशादधरदशनमीजनयोः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपादिश-
योक्तिः । इत्येव वृत्तौ विरोधपदेनोक्ता । तन्मूलत्वादिति । स्वतःसंभविनालंकारेण
दशनव्यापन्नधर्मोद्योगपक्षरूपसमुच्चयालंकारव्यञ्जिः । तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या वृत्तादपि
समुच्चय एवोक्त इति व्येयम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः

कविप्रौढोक्तिसिद्धे व्यञ्जकेऽर्थे भेदचतुष्टये वस्तुना वस्तुनो व्यक्तियथा—

‘कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः

श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।

स्रस्तापाङ्गाः सरसविसिनीकाण्डसंजातशङ्का

दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्तयन्ति ॥’

अत्र यद्यपि विसिनीकाण्डसंजातशङ्का इति आन्तिमान्, ससंदेहो बालंकारो व्यञ्जक इति वस्तुमात्रव्यञ्जकत्वोदाहरणमयुक्तम् । तथापि तद्भाग्यनैरपेक्षेणापि किञ्चिच्छुद्धं कर्णे प्रविशतीत्येतावतापि वस्तुमात्रेण येषामप्यर्थ्याधिगमो नास्ति तेषामप्येवं शैत्यमूर्तत्वादिवुद्धिजननेन त्वत्कीर्तिश्रमत्करोतीति व्यक्तिसंभवाद्वस्तुमात्रोदाहरणत्वमुक्तम् । अत्र च कीर्तिश्रवणानन्तरं कर्णे हस्तावर्तनं हस्तिनो न स्वतः संभवति । किंतु कविसंप्रदायात्कविना वर्णितमिति कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वम् । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ।

अत्रैव वस्तुनालंकारस्य यथा—

‘केसेसु बलामोडिअ(मोडि) [तह] तेण समरम्मि जअसिरी गहिआ ।

जह कंदराहिं विहुरा तस्स दढं कण्ठअम्मि संठविआ ॥’

दाहरणत्वायोगात् । अतो वृत्त्युक्त ओष्ठदशनतद्व्यथामोचनयौगपद्यविरोध एवाभासमानो व्यञ्जकः । वाच्यतया सामानाधिकरण्येनाप्रतीतस्यापि व्यञ्जनया तथा प्रतीतिसंभवादित्येव युक्तम् । केशेष्विति । ‘केशेषु बलत्कारेण [तथा] तेन समरे जयश्रीगृहीता । यथा कंदरामिर्गुहास्तस्य दढं कण्ठे संस्थापिताः ॥’ इति । वृत्तौ

१. ‘कैलासस्येति । कैलासस्य प्रथमशिखरे मूलशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिर्वेणुत्थापितरागैः । ‘स्वरः संमूर्च्छितो यत्र रागतां प्रतिपद्यते । मूर्च्छनामिति तां प्राहुर्गीततत्त्वविदो जनाः ॥’ इत्युक्तेः । विबुधानां देवानां रमणीभिरप्सरोगिर्गीयमानां यदीयां यस्य प्रकृतस्य राज्ञः संबन्धिनीं कीर्तिं श्रुत्वा सरसस्य खिग्धस्य विसिन्याः पद्मिन्याः काण्डस्य मुणालस्य संजाता शङ्का संदेहो आन्तिर्वा येषामेवंभूताः, तथा स्रस्तास्तिर्यग्भूता अपाङ्गा नेत्रप्रान्ता येषां तथाभूताश्च दिङ्मातङ्गा दिग्गजाः श्रवणयोः कर्णयोः सरोरूपयोः पुलिने इव समीपदेशे हस्तं शुण्डामावर्तयन्ति चालयन्ति । अहर्तुमिति शेषः । ‘प्रथमे मुख्ये । सर्वोच्च इत्यर्थः’ इति केचित् । धवलत्वस्य श्रोत्राग्राह्यत्वात्स्रस्तापाङ्गा इति । पुलिने इत्यनेन श्रवणयोः सरस्त्वाध्यासान्मुणालत्वभ्रमौचित्यं व्यज्यते । केचित्तु—‘श्रवणपुलिने इति रूपकम् । पुलिनेऽपि विसंसंभवादित्याहुः । अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना जडानामप्येवंविधवुद्धिजननेन चमत्करोति त्वकीर्तिरिति वस्तु व्यज्यते । कीर्तिशैल्यादेर्लोकसिद्धत्वाभावात्कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वं बोध्यम् । एवमग्रेऽपि ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका । २. ‘केशेष्विति । बलामोडिशब्दो बलात्कारे देशी । जयश्रीरित्यनन्तरं तथेति पूरणीयम् । तेन राज्ञा समरे युद्धे जयश्रीजयलक्ष्मीर्बलत्कारेण केशेषु तथा गृहीता यथा कंदरामिर्गुहाभिस्तस्य राज्ञो विधुराः शत्रवो दृढं कण्ठे स्वरुनिवेशे संस्थापिता इत्यन्वयः । तेन पराजिताः शत्रवः पलाय्य गुहास्वेव तिष्ठ-

अत्र तेन तथा समरे केशेषु जयश्रीगुंहीता यथा तत्सारयः कंदराभिः कण्ठे स्थापिता इति वस्तुना एकत्रैव सङ्गमे विजयदर्शनात्तत्सारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यलिङ्गम् । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणः, अपि तु ततः पराभवं संभाव्य कंदरा एव न तांस्त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च व्यज्यते । यत्तु केशग्रहावलोकनो-
द्दीपितमदना इव कंदरास्तद्विधुरान्कण्ठे गृह्णन्तीत्युत्प्रेक्षा व्यज्यत इति तद्भवे-
देवम्, यदि पूर्वं कंदरादीनां नायिकात्वाद्यारोपः स्यात् । अन्यथा केशग्रहणस्य
मदनोद्दीपकत्वायोगात् । तदभ्युपगमे च न वस्तुमात्रस्य व्यञ्जकत्वम् । किंतु
समासोक्तेरलंकारस्य ।

अत्रैवालंकारेण वस्तुनो यथा—

‘गाढालिङ्गणरहसुञ्जुभिमि दइए लहुं समोसरइ ।

माणंसिणीण माणो पीलणभीरु व्व हिअआहिं ॥’

अत्र पीडनभीत इवेत्युत्प्रेक्षयालंकारेण प्रत्यालिङ्गनादि तत्र जृम्भत इति
वस्तु ध्वन्यते ।

अत्रैवालंकारेणालंकारस्य यथा—

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणम्बुरुहबद्धविणिवेसा ।

दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥’

प्रथमव्यञ्जयमुक्तं दूषयति—यत्त्विति । तदभ्युपगमे नायिकात्वाद्यारोपस्वीकारे ।
प्रस्तुतेऽप्रस्तुतसमारोपस्य समासोक्तिरूपत्वादित्यर्थः । गाढेति । ‘गाढालिङ्गणर-
भसोयते दयिते लघु समपसरति । मनस्विन्या मानः पीडनभीरुरिव हृदयात् ॥’
उत्प्रेक्षयेति । भीरुत्वोत्प्रेक्षया ह्यात्यन्तिकी । माननिवृत्तिर्गम्यत इति प्रसादातिशया-
नुभावानां प्रत्यालिङ्गनादीनामभिव्यक्तिरित्यर्थः । जा इति । ‘या स्थविरमिव
हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा । दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा

न्तीति तात्पर्यार्थः । अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनोक्तवाक्यार्थरूपवस्तुना केशग्रहणावलोकनो-
द्दीपितमदना इव कंदरास्तद्विधुरान्कण्ठे गृह्णन्तीत्युत्प्रेक्षाध्वनिः । इत्युदाहरणचन्द्रिका.

१. “गाढेति । गाढालिङ्गनाय रभसेन हर्षेण वेगेन वा दयिते प्रिये उद्यते सति मन-
स्विन्या मानः पीडनाद्भीरुर्मयशील इव हृदयालघु शीघ्रं सम्यङ्गनिःशेषतोऽपसरतीत्यन्वयः ।
मनस्विन्या हृदयादिति वा संबन्धः । ‘मीदो व्व’ इति पाठे भीत इवेत्यर्थः । अत्रोभयो-
त्प्रेक्षयैव प्रत्यालिङ्गनहसितादिसंभोगविजृम्भणाभिव्यक्तिः, न तु गाढालिङ्गनोद्यते मानोऽपस्तुत
इत्येतावतेति सहृदयसाक्षिकम् । ‘रभसो वेगहर्षयोः’ इति विश्वः ।” इत्युदाहरणचन्द्रिका.

२. ‘जा ठेरमिति । या वाणी वानदेवता तदभिन्नत्वेनाध्यवसिता काव्यरूपा वा कविवाक्
स्थविरं बृद्धमर्थाद्वाङ्मणम् । तदीयभुवनान्यत्वप्रदर्शने तस्यैवोपहसनीयत्वात् । हसन्तीव । अवै-
दग्ध्यात् । कवेर्वदनमेवान्मुखं पथं तत्र बद्धो रञ्जितो विनिवेशः सितिर्यया तादृशी भूत्वा
भुवनमण्डलमन्यदिव विलक्षणमिव दर्शयति सा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यन्वयः । अत्र
च हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणत्वांशलाभः, अन्यदिवेत्युत्प्रेक्षया जगतो नवनवत्व-

अत्र जा ठेरं व हसन्तीत्युत्प्रेक्षांकारेण चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद-
नम्बुजासना निर्मिमीत इति वाण्या ब्रह्मणो व्यतिरेकः प्रकाश्यते । यद्यप्युत्प्रेक्षां
विनापि व्यतिरेकोऽयं प्रकाश्यते 'नियतिकृतनियम—' इत्यादिबत्, तथापि न
स्फुटो भवतीति । यद्वा तावन्मात्रस्य व्यञ्जकत्वेऽप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वं न विहन्यत
इति ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धव्यञ्जकार्थस्य ध्वनेर्भेदचतुष्टये वस्तुना वस्तुनो
व्यक्तिर्यथा—

‘जे लङ्कागिरिमेहलासु खलिभा संभोगखिणोरई-

फारफुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्रत्तणम् ।

ते एहिं मलयानिला विरहिणीणीसाससंपक्किणे

जादा इत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुणपुण्णा विभ ॥’

अत्र यथोक्तेन वस्तुना निःश्वासेन प्राप्तैश्वर्याः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तु
व्यज्यते । तारुणपुण्णा विभ इत्यस्य व्यक्तावनुपयोगात् । न चैवमस्याप्रयोज-
कत्वम् । उक्तिविशेषपरिपोषकत्वात् । निःश्वाससंपर्कस्य बहलत्वहेतोरुपादा-
नात्काव्यलिङ्गस्यैव व्यञ्जकतेति चेत्, न । तस्य हेतुत्वाविवक्षयापि तथा व्यक्तेः ।

वाणी ॥’ हसन्तीत्युत्प्रेक्षेति । इदमन्यदिवेत्युत्प्रेक्षाया अप्युपलक्षणम् । जे
इति । ‘ये लङ्कागिरिमेखलासु स्थलिताः संभोगखिणोरगीस्फारोत्फुल्लफणावलीकव-
लने प्राप्ता दरिद्रत्वम् । त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससंपर्किणो जाता

लाभः । कविबदनेत्यादिना अजलजेत्यंशलाभ इति बोध्यम् । वृत्तावुत्प्रेक्षया व्यतिरेक इति
च ज्ञातुमिष्टमप्येकवचनम् । हसन्तीवान्यदिवेति द्रान्यामुत्प्रेक्षाभ्यां ब्रह्मतन्निमित्तव्यतिरे-
कयोर्भारतीतन्निर्माणयोर्व्यञ्जनादिति ।” इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. “जे लङ्केति । कर्पूरमञ्जरीलये नाटके कर्पूरमञ्जरीसमाख्याया नायिकाया इवमुक्तिः ।
‘मेहलाहि’ इति पञ्चम्यन्तपाठे मेखलाया इति । ये वाता लङ्कागिरिः सुवेलस्य मेखलासु
नितम्बभागेषु स्थलिताः । स्वभोक्तृसर्पत्रासात् । संभोगेन खिन्नानां आन्तानामुरगीणां
स्फारामिर्विस्तृताभिरुत्फुल्लभिरुर्ध्वप्रसृताभिः फणानामावलीभिः पक्किभिः कवलने असने
सति दरिद्रत्वं क्षीणत्वं प्राप्तस्ते मलयसंबन्धान्मलयानिला इदानीं विरहिण्या निःश्वाससंप-
र्किणो निःश्वासमिश्रिताः सन्तः शिशुत्वेऽपि क्षीणत्वेऽपि बहला बाहुल्ययुक्तास्तारुण्येन पूर्णा
इव जाता इति समुदितोऽर्थः । ‘लङ्कासंनिहितो गिरिलङ्कागिरिर्मलयः’ इति चक्रवर्ती ।
अत्र स्त्रीणामाहारद्वैगुण्येनोत्प्रेक्षेति स्त्रीनिर्देशः । फणानां स्फारोत्फुल्लत्वेन श्वासस्य स्थूलत्वं
व्यज्यते । अनिलानां सुवेलतो मलयागमने समुद्रलङ्घनाच्छैलम्, मलयसंबन्धात्सौगन्धम्,
क्षीणत्वप्राप्त्या मान्यं च ध्वन्यते । अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धत्वेन वस्तुना
निःश्वासमात्रेण प्राप्तैश्वर्याः किं किं न कुर्वन्तीति व्यज्यते ।” इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तत्रैव वस्तुनालंकारस्य यथा—

‘सहि विरङ्कण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।

पिअदंसणविहलत्तणखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥’

अत्र प्रियदर्शनविहलत्वक्षणे धीरत्वेनापसृतमिति वस्तुना अकृतेऽपि प्रार्थने सा प्रसन्नेति विभावना, मूनं प्रियदर्शनसौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यत इत्युत्प्रेक्षा च व्यज्यते ।

अत्रैवालंकारेण वस्तुनो यथा—

‘ओल्लोळकरअरणक्खपुहिं तुह लोअणेसु मह दिणम् ।

रत्तंसुअं पसाअं कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥’

अत्र किमिति कुपिते लोचने बहसीति प्रश्नोन्नयनादुत्तरालंकारेण कोवेण इमे ण अक्कमिआ इत्यपह्नुत्यलंकारसहितेन न केवलमाद्रक्षतानि गोपयसि, किं तु तेषामहं प्रसादपात्रमपि जातेति वस्तु व्यज्यते ।

अत्रैवालंकारेणालंकारस्य यथा—

‘महिंलासहस्सभरिण तुह हिअण सुहअ सा अमाअन्ती ।

अणुदिणमणणकम्मा अहं तणुअं पि तणुपइ ॥

अदिति शिशुत्वेऽपि बहुलास्तरूपपूर्ण इव ॥’ इति । सहीति । ‘सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् । प्रियदर्शनविशृङ्खल(विहल)त्वक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥’ इति । धीरत्वेनेति । अत्र धैर्येऽपसृतत्वरूपचेतनधर्मारोपात्प्रौढोक्तिरिदार्थस्य व्यञ्जकत्वं ज्ञेयम् । सखीति । अत्र सहीत्युदाहरणे नायिकाया ब्रकृत्वेऽपि सखीनिरूपितं सखीत्वमस्त्येव । ओल्लोळेति । ‘आर्द्राद्रंकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् । रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाकान्ते ॥’ इति । ओल्लोळ्यत्र तु सखीत्वं गौणं द्रष्टव्यम् । इत्यपह्नुत्यलंकारसहितेनेति । निषेधरूपाया अपहृतेः कोपप्रसजकप्रश्नाक्षेपकत्वादुत्तरालंकाराङ्गत्वमिति भावः । महि-

१. ‘सहीति । हे सखि, मम धीरत्वेन धैर्येण मानसाश्वासं धीरो भवेति समाश्वासिनं विरचय्य कृत्वा प्रियदर्शनेन विशृङ्खले (विहले) व्याकुले क्षणे स्वव्याकुलत्वस्य क्षणे चपञ्चारात् । सहसेति । तेन धैर्येणापसृतम् । इतिशब्दो वाक्यसमापकोऽन्ते प्रोज्झनीय इत्यन्ते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘सौभाग्यवत्त्वं’ क. ३. ‘ओल्लोळेति । किमिति कुपिते लोचने बहसीति पृच्छन्तं परनायिकानखक्षतादिविह्वलन्तं नायकं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । तवेत्यनन्तरमहे इति शेषः । तवाहे आर्द्राद्रं । अत्यार्द्रैरित्यर्थः । करजानां नखानां रदनानां दन्तानां च क्षतैः परनायिकाकृतैर्मम लोचनयो रक्तांशुकं रक्ता अंशव एव रक्तांशुकं रक्तवर्णं प्रसादो दत्तः । कोपेन पुनरिमे लोचने नाकान्ते इत्यर्थः । स चायमुक्तरूपस्य नायकप्रशस्योन्नमकोत्तररूपत्वादुत्तरालंकारो न केवलमाद्रक्षतानि गोपयसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रमपि जातेति वस्तुव्यञ्जकः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘महिंलेति । विरङ्कशं नायिकां नायिकायावेदयन्त्याः सख्या उक्तिरियम् ।

अत्र महिलासहस्रभरितत्वात्तव हृदि स्थानं लभते, ततोऽङ्गं तन्वपि तनय-
तीति हेत्वलंकाराभ्यां तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्तिः ।
अत्र कविनिबद्धा सखी वक्री । एवमर्थशक्त्युद्भवस्य द्वादश भेदाः ।

शब्दार्थोभयभूरेकः

यथा—

‘अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।

तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥’

अत्र श्यामारूपकामिनीविशेषरजन्योरुपमा व्यङ्ग्या । सा चातन्द्रचन्द्रेत्यादेः
परिवृत्त्यसहृतया, समुद्दीपितेत्यादेस्तत्सहृतया उभयस्यापि व्यञ्जकत्वेन शब्दार्थो-
भयशक्तिमूला ।

भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ १८ ॥

अस्य ध्वनेः । ननु शब्दार्थोभयभुवः ।

लेति । ‘महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती । अनुदिनमनन्यकर्मा
अङ्गं तन्वपि तनयति ॥’ इति ।

उभयस्यापीति । प्राधान्येनेति शेषः । तेन शब्दशक्तिमूलेऽप्यर्थस्य व्यञ्जकत्वे-
ऽपि तस्य प्राधान्याभावाच्चोभयशक्तिमूलत्वम् । परिवृत्त्यसहशब्दप्राचुर्ये च शब्दश-
क्तिप्राधान्यम्, परिवृत्तिसहशब्दप्राचुर्ये त्वर्थशक्तिप्राधान्यम्, तत्साम्ये तुभयशक्ति-
प्राधान्यादुभयशक्तिमूलत्वं व्यपदिश्यते । अतएव ‘पन्थिअ ण एत्थ—’ इत्यादावु-
पभोगक्षमोऽसि चेदाखेत्यादिवस्तुव्यञ्जने सत्थरपओहरशब्दशोरेव परिवृत्त्यसहयोः

हे सुभग सौभाग्ययुक्त, महिलानां स्त्रीणां सहस्रैर्भरिते व्याप्ते तव हृदयेऽमान्ती
अवकाशमलभमाना सा नायिका अनुदिवसं दिवसमभिव्याप्य नान्यत्कर्मे कर्तव्यं
यस्यास्तथाभूता तनु कुशमप्यङ्गं तनयति तनूकरोतीत्यर्थः । अत्र सुभगेत्यनेन नायिकाया
एवानुरागविषयत्वं ननु सा तवेति ध्वन्यते । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. ‘अतन्द्रेति । अत्र प्रकृता श्यामा रात्रिः कं जनं सानन्दं न करोति, अपि तु सर्व-
मिति संवन्धः । कीदृशी । न विषते तन्द्रा आलस्यं यस्यासावतन्द्रौ मेधाघनावृततया
स्फुरद्रूपश्चन्द्र आभरणं भूषणं यस्याः सा तथामृता । अतएव सम्यगुद्दीपितो मन्मथो यया
सा तादृशी । तारका नक्षत्राणि तरलानि चञ्चलानि यस्यां सा तथेति । अत्र व्यञ्जनया
श्यामा षोडशवार्षिकत्वादिविशिष्टनायिकाविशेषः कं जनं सानन्दं न करोति । कीदृशी ।
अतन्द्रोऽनल्पश्चन्द्रः कर्पूर आभरणं यस्यास्तथाभूता । चन्द्रः क्षिरोभूषणविशेष इति केनचित् ।
समुत् हर्षेण सहिता । दीपितो दीप्तिं प्रापितो मन्मथो यया । तारका अक्षिकनीनिका तरला
यस्याः सा तथा । तारकावत्तरलो हारमध्यमणिर्वा यस्या इति प्रतीतौ स्त्रीविशेष इव
रात्रिरित्युपमाप्रतीतिः । चन्द्रपदस्य परिवृत्त्यसहृतया समुद्दीपितेत्यादेश्च तत्सहृतयोभयशक्ति-
मूलत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

ननु रसभावादीनां बहुत्वादष्टादशत्वमनुपपन्नमित्यत आह—

रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते ।

कथमनन्तत्वम् । इत्थम्—नव रसाः । तत्र शृङ्गारस्यैव द्वौ भेदौ, संभोग-
विप्रलम्भौ । तत्र संभोगस्यापि परस्परालिङ्गनादयो बहवो भेदाः । विप्रलम्भ-
स्याभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि विभावानुभावव्यभिचारिवैचित्र्यम् । तत्रापि
नायकयोरुत्तममध्यमाधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देशकालावस्थाभेद इत्येकस्यैव
रसस्यानन्त्यम् । का गणना सर्वेषाम् । कुतस्तर्ह्येकत्वेन गणनम् । असंलक्ष्यक्रम-
स्वरूपमेकं सामान्यमाश्रित्य ।

वाक्ये ह्युत्थः

शब्दार्थोभयशक्तिमूलो ध्वनिर्वाक्य एव । ननु नायं नियमः । शिशुपालवधे
तद्भूतोक्तौ प्रबन्धेऽपि दर्शनादिति चेत्, न । तत्रोभयशक्तिमूलत्वेऽपि ध्वनित्वा-
भावानुत्यप्राधान्यभावात् । 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागः' इतिवत् । अन्यत्राप्येवं
संभाव्यत इति चेत्संभाव्यताम् । ननु कापि निश्चीयते येन तदादाय विभागः
स्यादिति ।

पदेऽप्यन्ये

अन्ये सप्तदश ध्वनिभेदा वाक्ये पदेऽपि । ननु पदस्य व्यञ्जकत्वे किमायातम्

प्राधान्यम्, ननु पथिकाद्यर्थस्येति न तत्रोभयशक्तिमूलवस्तुध्वनिः । किं तूक्तोदा-
हरणजातीयेष्वलंकारध्वनिरित्येक इत्युक्तम् । व्यञ्ज्यभेदेन काव्यभेदात्तस्य चेहामा-
वादिति । अष्टादशेति । अविवक्षितवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृत-
वाच्यरूपं भेदद्वयम् । विवक्षितान्यपरवाच्ये रसादिरसंलक्ष्यक्रम एकः । शब्दशक्ति-
मूलस्य वस्त्वलंकृतिरूपं भेदद्वयम् । अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः उभयशक्तिमू-
लश्चैक इत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । तयोरपीति । संयोगविप्रलम्भयोर्द्वयोरपीत्यर्थः ।
विभावा उद्दीपनरूपा अनुभावाश्चोक्ताल्लिङ्गनादिव्यतिरिक्ता ज्ञेयाः । तथा नानारूपा
व्यभिचारिणश्च । तैर्वैचित्र्यमित्यर्थः । तत्रापीति । तस्मिन्वैचित्र्येऽपीत्यर्थः ।
नायकयोरिति । 'पुमान्निष्ठा' इत्येकशेषः । तत्रापि उक्तप्रकृतित्वे सत्यपि ।
भेद इत्यनन्तरं वैचित्र्यहेतुरिति शेषः । देशो निकुञ्जादिः । कालो वसन्तादिः ।
अवस्था नवयौवनादिः । सामान्यं रसभावादिसाधारणं धर्मम् । शिशुपालवधे माघ-
काव्ये तद्भूतोक्तौ 'दमघोषसुतेन—' इत्यादिषोडशसर्गे श्रीकृष्णं प्रति शिशुपालदूतोक्तौ
'उभयं युगपन्मयोदितं' इत्यन्तेन प्रबन्धेन संघेर्वाच्यतया विग्रहस्य च व्यञ्जनया
प्रतिपादनादुभयशक्तिमूलतासंभव इत्यर्थः । तुल्येति । वाच्यार्थेन तुल्यप्राधान्या-
दित्यर्थः । ब्राह्मणेति । जामदग्न्यदूतोक्तौ क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षयं क्षणेन करि-
ष्यतीति व्यञ्ज्यम् । यथा वाच्यतुल्यचमत्कारं संघेरपि विवक्षितत्वेन दुर्मनायत इति
वाच्यस्यापि गमीरोक्त्या चमत्कारित्वात्तथात्रापीत्यर्थः । एवमिति । उभयशक्ति-

वाक्यरूपस्य काव्यस्य ध्वनित्वे । कथं वा पदमात्रस्य व्यञ्जकत्वे वाक्यस्यैव समस्तस्य चारुतेति चेत्, उच्यते । पदप्रकाश्यत्वं न पदमात्रस्य व्यञ्जकतया, किंतु तस्य प्राधान्येन । अविवक्षितवाच्ये पदमात्रस्य व्यञ्जकत्वेऽपि यद्वाक्य-वर्तिशब्दस्यार्थस्य वा कस्याप्यतिशयितार्थव्यञ्जकत्वं तद्वाक्यस्यैव ध्वनित्वमि-त्युपगमाच्च कश्चिद्दोषः । एकदेशस्थितेन च तादृशपदेन समस्तमेव वाक्यं चारुतामुपगच्छतीति । कामिनीवैकावयवस्थेन भूषणेन ।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

‘एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।

पदव्यङ्ग्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥’ इति ।

तत्र वाक्यव्यङ्ग्यमुदाहृतम् । पदव्यङ्ग्यमुदाह्रियते । तत्राविवक्षितवाच्यमेद-योरर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं यथा—

‘यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।

अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥’

अत्र द्वितीयो मित्रशब्द आश्वस्तत्वे, शत्रुशब्दो निर्यञ्जणत्वे, अनुकम्प्यशब्दः स्नेहपात्रत्वे संक्रमितवाच्यः । नायकस्य हृदप्रकृतित्वं व्यङ्ग्यम् । ननु ‘त्वामस्मि वच्मि—’ इति वाक्यप्रकाश्ये पूर्वमुदाहृतम्, तस्मादस्य पदप्रकाश्यस्य को भेद इति चेत्, न । अनवबोधात् । तद्धि प्रत्येकपदव्यङ्ग्यभिन्नं समस्तपदवाक्य-व्यङ्ग्यम् । तस्मादत्र सर्वथा सावधानेन भाव्यमित्येवंरूपं यत्तत्परम् । इदं तु केवलमित्रादिपदव्यङ्ग्याभिप्रायमिति ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यं यथा—

‘खलववहारा दीप्तान्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम् ।

हिअभवअस्सबहुमभा ण हु ववसाभा विमुज्झन्ति ॥’

मूलध्वनेः प्रबन्धगतत्वमित्यर्थः । नन्विति । व्यञ्जकत्वं हि ध्वनित्वे प्रयोजकम् । न तद्वाच्येऽस्तीति ध्वनिकाव्यमिति व्यवहारानुपपत्तिरिति भावः । अविवक्षितेति । लक्षणांमूलव्यञ्जकत्वस्य लाक्षणिकपद एव संभवादिति भावः । भारती कविता । केवलेति । आश्वस्तत्वादर्यावज्जीवस्थायित्वरूपोत्कर्षरूपेत्यर्थः । खलेति । ‘खल-

१. ‘यस्येति । यस्य पुरुषस्य मित्राणि मित्राणि आश्वस्तानि । विश्वासपात्राणीत्यर्थः । तथा शत्रवः शत्रवो निःशेषतो यन्त्रणीयाः । दमनीया इत्यर्थः । यस्येत्यनुपङ्ग इहोत्तरत्र च बोध्यः । अनुकम्पा दया तथोग्योऽनुकम्प्यश्च स्नेहपात्रं च । स जातः शोभनजन्मा स एव जीवति । श्लाघ्यजीवनवानित्यर्थः । अत्रोक्तार्थान्तरसंक्रमितवाच्यैर्मित्रादिशब्दैर्याव-ज्जीवावस्थायित्वरूपतदतिशयव्यञ्जनद्वारा नायकस्य स्थिरप्रकृतित्वं प्रत्येकं व्यज्यते । त्वाम-स्मीति तु तस्मादत्र सावधानेन भाव्यमिति पदसमुदायरूपवाक्यव्यङ्ग्याभिप्रायमिति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘नियञ्जितत्वे’ ख. ३. ‘खलेति । यद्यपि खलानां दुष्टानां व्यवहारा दारुणा इष्टप्रतिबन्धका दृश्यन्ते तथापि सदर्थग्राहितया हृदयरूपेण वयस्येन

अत्र विमोहेनाप्रवृत्तिर्लक्ष्यते । नच तत्र वाच्यस्य कथमपि प्रवेशः । इष्ट-
कार्यकारित्वं व्यङ्ग्यम् । यद्यपि व्यवसाये विमोहाभावो नान्वयायोग्य इति कुतो
लक्षणा, तथापि धीराणामधीरेभ्यो वैलक्षण्यं प्रतिपाद्यम् । नच तल्लक्षणां
विना संभवति । अधीरव्यवसायेऽपि मोहाभावादित्यवश्यं लक्षणा स्वीकार्या ।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं यथा—

‘लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥’

अवयवस्य संस्थानसौष्ठवं रूपम् । अवयविनस्तदेव लावण्यम् । कान्ति-
रुज्ज्वलता । अत्र विप्रलम्भार्थं वाक्येऽनुभवैकगोचरमर्थं प्रकाशयतां तत्पदादीनां
प्राधान्यम् । एवमग्रेऽपि । न केवलं सर्वनामपदानामेव रसादिव्यञ्जकता किं
त्वन्येषामपि । यथा—

‘मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमस्त्रिः कालः किमारभ्यते

मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरीकुरु प्रेयसि ।

व्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम् । हृदयवयस्यबहुमता न खलु
व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥’ इति । इष्टेति । इष्टकार्यकारित्वायोगव्यवच्छेद इत्यर्थः । ताच्छी-
ल्यबोधकणिनिप्रत्ययात् । तदेवेति अवयवसंस्थानसौष्ठवमेवावयविनो लावण्यमु-
च्यत इत्यर्थः । केचित्तु—‘मुक्ताफलेषु च्छायायास्तारलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यद-

मित्रेण बहुमता अनुमोदिता धीराणां व्यवसाया उद्योगा न विमुह्यन्ति । न प्रतिबद्धा
भवन्तीत्यर्थः । अथवा खलुप्रतारणया स्वार्थसाधने न विसंवदन्तीत्यर्थः । अत्रोक्तार्थं लाक्ष-
णिकस्य विमुह्यन्तीत्येष्टकारित्वं व्यङ्ग्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘लावण्यमिति । कस्यचिद्विरहिण उक्तिरियम् । तदनुभवैकगोचरं लावण्यम् ।
कान्तिरुज्ज्वलता । असाविति पूर्ववत् । एवमग्रेऽपि । रूपं संस्थानसौष्ठवम् । वचसः
क्रमः परिपाटी । सकलमिदं तदानुभवकाले सुधाया अमृतस्यास्पदं स्थानमभूत् ।
सर्वाङ्गीणसौहित्यसंपादकत्वात् । अधुना वियोगकाले । सत्यमागमिति शेषः । महान् ज्वरः
इव ज्वरः । सर्वाङ्गीणतापहेतुत्वादित्यर्थः । अत्र तदादिभिर्विशिष्यवचनानर्हताया अक्ष-
पद्यादिगतलोकोत्तरत्वप्रतिपादनद्वारा विप्रलम्भाभिव्यक्तिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘मुग्ध इति । सख्या मानं शिक्षयन्त्या इयमुक्तिः । हे मुग्धे उपदेशाग्रहणादन-
भिज्ञे, अखिलोऽस्तीतो वर्तमानो भविष्यंश्च कालो मुग्धतयैव यथोचितानाचरणेनैव नेतुं
यापयितुं किं किमित्यारभ्यते । तर्हि किमाचरितुं युक्तं, तत्राह—मानं धत्स्व धारय । धृतिं
यैर्यं बधान गृहाण । बन्धनोक्त्या अनपनेयता ध्वन्यते । प्रेयसीति प्रियविषये । एतच्च
वाक्यचतुष्टयेऽप्यन्वेति । ऋजुतां सरलतां दूरीकुरु त्वज्ज । इत्येवं सख्या प्रतिनोषिता
नायिका भीतं भययुक्तमाननं यस्यास्तथाभूता सती तां प्रतिबोधयन्तीं सखीं प्रति वचः
प्रत्युत्तरमादेत्यन्वयः । संयकार्यस्य शोषवैवर्ण्यादिराजनयत्वात्तत्र भीतत्वोपचारः । नीचै-
रित्वाप्रत्ययः । हे सखि, नीचैर्मन्दं शंस कथय । हि यसान्मे मम हृदि हृदये स्थितो

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना

नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥'

अत्र भीताननेतिपदं नीचैः शंसनविधानस्य योग्यतां प्रकाशयत्प्राधान्ये रागातिशयं व्यञ्जयति ।

भावादीनां तु वाक्येऽपि न तादृशं चारुत्वम् । पदप्रकाश्यत्वे सुतराम् । अतस्तत्प्रभेदा नोदाह्रियन्ते ।

लक्ष्यक्रमव्यञ्ज्यध्वनिप्रभेदेषु शब्दशक्तिमूलेऽलंकारव्यक्तिर्यथा—

‘रुधिरविसरप्रसाधितकरालकरवालरुधिरभुजपरिधः ।

झटिति भुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृपभीम ॥’

अत्र भीमेति भीषणीयार्थेन नृपसंबोधनविशेषणेन भीमसेनोपमा व्यज्यते ।

अत्रैव वस्तुनो व्यक्तिर्यथा—

‘भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नानन्दनिःस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥’

ज्ञेषु तल्लवण्यमितीर्यते ॥’ इत्याहुः । योग्यतामकृत्रिमताम् । भीषयतीति भीषणीयः ।

विद्यमानः प्राणेश्वरः प्राणानां तदायत्तत्वाज्जीवितसर्वस्वायमानः कान्तः श्रोष्यति । ननु शङ्कायाम् । प्रतिर्वीप्सायाम् । प्रतिबोधिता मुहुर्वोधिता । अत्र नीचैः शंसनविधानस्यानाहार्यत्वरूपतां प्रकाशयद्भीताननापदं रागस्याकृत्रिमतया संभोगप्रकर्षे पर्यवस्यति । सख्या अपरिहार्यवचनतया च नीचैरिति विधिः, ननु मा शंसेति निषेध इति ज्ञेयम् । पूर्वत्र विप्रलम्भ इह संभोग इति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

१. ‘रुधिरैति । हे भीम भयंकर नृप, त्वं विभासि शोभस इत्यन्वयः । पक्षे भीमो भीमसेनो व्यञ्ज्यः । कीदृशः । रुधिरस्य विसरेण समूहेन प्रसाधितो भूषितः करालेन भीषणैव करवालेन खड्गेन रुधिरं मनोहो भुजरूपः परिघोऽर्गळ यस्य तादृशः । जघबीमिरोधकत्वादर्गलात्वोक्तिः । मित्रशत्रुभेदेन करालत्वरुधिरत्वे बोधे । पुनः कीदृक् । झटिति भुकुट्या भ्रूभङ्गेन विटङ्कितस्तदाकाररेखाङ्कितत्वालसंज्ञासविटङ्को ललाटमेव विशालतया पट्टो यस्य सः । ‘कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुनपुंसकम्’ इत्यमरः । ‘भुकुट्यां विटङ्कितो ललाटपट्टो यस्येत्यर्थः’ इति केचित् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘विभासि नृपभीमः’ ख. ३. ‘भुक्तीति । जनान्तरसंनिधाबुपनायके स्थितेऽप्रस्तुतवेदप्रशंसाव्याजेन तदागमनाधीनं हर्षं व्यञ्जयन्त्या नायिकाया इत्युक्तिः । संश्वासावागमो वेदः कस्यानन्दनिःस्यन्दमानन्दप्रवाहं न विदधाति करोति । अपितु सर्वस्येत्यर्थः । कीदृक् । भुक्तिं स्वर्गादिभोगं भुक्तिं च निःश्रेयसं करोतीति तथाभूतः । कर्मकाण्डोपनिषद्भ्यामुभयोपायबोधनात् । एकास्तेन नियमेन सम्यगादेशने हितोपदेशे तत्परः । अप्रतारकत्वात् । इति बाह्योऽर्थः । मुख्यतया तु विवक्षितो गोपनायाप्राकरणिकीकृतो व्यञ्ज्यो यथा—सतः सुन्दरस्य नायकस्यागम आगमनं कस्य नायिकाजनस्यानन्दनिःस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः । भुक्तिः संभोगः ।

काचित्संकेतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति । तत्र सदागमपदेन स्तुति-
र्ध्यज्यते । उभयोश्चैतयोः शब्दप्राधान्यम् । परिवृत्त्यसहत्वात् ।

अर्थशक्त्युद्भवेषु स्वतःसंभविन्यर्थे व्यञ्जके वस्तुना वस्तुनो व्यक्तियथा—

‘सायं ज्ञानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्त्रब्धमत्रागतिः ।

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥’

अत्र तव सौकुमार्यमाश्चर्यम् येनाधुना क्लान्तासीति वस्तुना कृतपरपुरुष-
परिचया ज्ञातासीति वस्तु अधुनापदप्राधान्येन व्यज्यते ।

वस्तुनालंकृतेर्यथा—

‘तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥

कर्तेरपि ‘कृत्यल्युटो बहुलम्’ इत्यनुशासनात् । काचिदिति । सखी दूतीवेत्यर्थः ।
एवं सच्छास्त्रविषयप्रकृतीकरणेन मुख्यया अभिधावृत्त्या संकेतदायिनं शंसति ।
संकेतदानेनेष्टसंपादकतया व्यज्यतीत्यर्थः । गोपनार्थं प्रकृतस्याप्यप्रकृतीकरणम् ।
अप्रकृतस्य च प्रकृतवदभिधानात् । स्तुतिरिति । अत्यन्तहितकारितारूपेत्यर्थः ।
अधुनेति । सायंज्ञानोत्तरमित्यर्थः । तत्तु पुरुषसमागमादेवेत्यधुनेत्यस्य प्राधान्यम् ।

मुक्तिर्विरहादिदुःखलागः । तौ करोतीति तथा । एकान्तस्य संकेतस्थानस्य समादेशने
तत्पर इति पूर्वत्रोपमाध्वनौ भीमपदस्य, इहोक्तवस्तुध्वनौ प्रधानभूतस्य सदागमपदस्य परि-
वृत्त्यसहत्वाच्छब्दशक्तिमूलत्वं हेयम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘सायमिति उपपत्तिं संयुज्य तज्जनितश्रमापनयनाय ज्ञानादिकृतवतीं सखीं प्रति ज्ञातर-
हस्यायाः सख्या इयमुक्तिः । हे सखि, तव सौकुमार्यमाश्चर्यम् । येन कारणेनाधुना श्रमनिव-
र्तकज्ञानादिसमवधानदशायामभितः समन्ततो बहिरन्तश्च क्लान्तासि श्रान्तासि । कथम् ।
तत्राह—नेत्रेत्यादि । ते तव नेत्रयोर्द्वन्द्वं युग्मं न विषते मीलनस्य व्यतिकरः पौनःपुन्यं यत्र
तथा आसितुं स्यातुं न शक्नोति । तथाच मीलनपौनःपुन्यं सर्वाङ्गीणं श्रमं गमयतीति भावः ।
आश्चर्यं कुतः । तत्राह—सायमित्यादि । सायंकाले ज्ञानमुपासितं श्रमापनोदनसमर्थं यथा
स्यात्तथा कृतम् । मलयजेन चन्दनेनाङ्गं सम्यगासमन्तालेपितम् । अम्बरस्याकाशस्य मणि-
रिव मणिः सूर्योऽस्ताचलस्य मौलिं मस्तकं यातः । अस्तंगत इत्यर्थः । तेनातपादिजनितत्व-
संभावनानिवृत्तिः । अत्र मत्सविषे विस्त्रब्धं निःशङ्कं मन्यरं वा आगतिरागमनम् । एतेन
भयत्वरहेतुकत्वं क्रमस्य नास्तीत्युक्तम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अस्ताचल-
चूलं’ ख. ३. ‘तदप्राप्तीति । विष्णुपुराणगतमेतत्पद्यद्वयम् । पूर्वोक्तान्योऽन्या गोपस्य
कन्यका निर्गत उच्छ्वासः प्राणोत्क्रमणं यस्याः सा तथाभूता । तस्या भावस्तत्ता तथा ।
प्राणोत्क्रमणं विनेत्यर्थः । ‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवलीयन्ते’ इति श्रुतेः ।
मुक्तिं गता भावनया तद्गुपतां प्राप्तेत्यन्वयः । कीदृशी । तस्य कृष्णस्याप्राप्त्या वियोगेन यन्म-

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।

निरुद्धासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥' युग्मम् ।

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोग्यानि दुष्कृतसुकृतयोः फलानि वियोगदुःखचिन्ता-
ह्लादाभ्यां कयाप्यनुभूतानीत्युक्तम् । एवं च दुष्कृतसुकृतराशिफलतादात्म्येना-
ध्यवसितौ भगवद्वियोगदुःखचिन्ताह्लादौ प्रतीयेते इति निगीर्याध्यवसानरूपाति-
शयोक्तिद्वयमशेषचयपदाभ्यां धोत्यते ।

अलंकारेण वस्तुनो यथा—

‘क्षणदासावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।

वत वीर तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥’

अत्र पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वमित्यर्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनु-
वर्तत इति वस्तु सर्वपदप्राधान्येन व्यज्यते । ननु नायमर्थान्तरन्यासः । वनं

इत्युक्तमिति । अन्यथा सर्वपुण्यपापनाशस्य चिन्तावियोगसुखदुःखाभ्यां क्षयानु-
पपत्तेरिति भावः । न चोक्तव्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमाशङ्क-
नीयम् । अन्यत्र तथात्वेऽपि प्रकृते भगवद्विषयकरत्युत्कर्षप्रयोजकतया वाच्यादति-
शयितत्वेन तदप्रसङ्गात् । वाच्यादनतिशायित्वेन हि व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः । स
वाच्यसिद्ध्यङ्गतया क्वचित्क्वचित्प्रकारान्तरेणेत्यष्टौ तद्भेदाः । ननु वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वं
गुणीभावनियतम् । वाच्यातिशायित्वे तदसंभवादित्याहुः । वस्तुतस्तु इत्युक्तमित्य-
नेनोक्तमेव व्यङ्ग्यं वाच्यसिद्ध्यङ्गम् । तेन त्वतिशयोक्तिर्ध्वन्यत इति नोक्तदोष इति
ज्ञेयम् । अत्रेति । क्षणदेत्यादिविशेषवृत्तान्तोपपादेन पराङ्मुख इत्यादिसामान्यरू-
पेणार्थान्तरन्यासेनेत्यर्थः । सर्वप्रपञ्चपराङ्मुखत्वस्य विध्यधीनत्वादुक्तव्यङ्ग्यलाभः ।

इदुःखं तेन विलीनानि नष्टान्यशेषाणि समस्तानि समग्राणि पातकानि यस्याः सा । तथा
तस्य चिन्तया ध्यानेन यो विपुलो महानाह्लाद आनन्दस्तेन क्षीणः पुण्यचयः पुण्यसमूहो
यस्याः सा । पुण्यपापयोः फलनाशवत्त्वात् । पुनः कीदृक् । जगतः सूतिरुत्पत्तिर्यस्याप्तावृत्तिः
श्रीकृष्णं परब्रह्मस्वरूपिणं सच्चिदानन्दरूपं चिन्तयन्ती भावयन्ती अत्र कृष्णवियोगदुःख-
चिन्ताह्लादयोरशेषपापपुण्यफलत्वेनाध्यवसितयोरवगतिरित्यतिशयोक्तैर्व्यङ्ग्यत्वम् । तथाशेष-
चयपदप्राधान्यादिति बोध्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. क्षणदेति । वतेति खेदे विस्मये वा । तवेति द्वेषकर्मणि षष्ठी । भो वीर, तव त्वां
द्विषतां त्वयि पराङ्मुखे प्रतिकूले सति सर्वं पराङ्मुखं विपरीतम् । जातमिति शेषः । एत-
देवोपपादयति—क्षणदेत्यादिना । क्षणदा रात्रिरक्षणदा रात्रिभिन्ना । वनमवनं वनभिन्नम् ।
व्यसनं यत्तादि तद्विन्नम् । इत्येवं शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनागम्यविरोधालंकारेण सर्वपराङ्मु-
खत्वोपपत्तिः । विरोधपरिहारस्तु—क्षणमुत्सवं ददातीति तथा पश्चान्न्यस्तमासेन तद्विन्ना
रात्रिः, वनमवनं रक्षकम्, अवीनां मेघाणामसनं प्रेरणं तदेव व्यसनमिति रीत्या बोध्यः ।
अत्रोक्तरीत्या विरोधानुप्राणितेनार्थान्तरन्यासेन सर्वपदप्राधान्येन विधिरपि त्वामनुवर्तत
इति वस्तु व्यज्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

रक्षकमित्यादेर्वाच्यस्यार्थस्यानुपपादकत्वादिति चेत्, न । शब्दशक्त्या व्यञ्ज्यस्य क्षणदा क्षणदाभिन्नेति विरोधस्योपपादकत्वेन तथात्वात् ।

अलंकारेणालंकारस्य यथा—

‘तुह वल्लहस्त गोसम्मि भासि अहरो मिलाणकमलदलो ।

इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसँमुहम् ॥’

अत्राधरो म्लानकमलदलमिति रूपकेणालंकारेण त्वयास्य मुहुश्चम्बनं कृतं तेन तस्य म्लानत्वमिति काव्यलिङ्गं मिलाणकमलदलपदप्राधान्येन द्योत्यते ।

अथ कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरे व्यञ्जकार्थं वस्तुना वस्तुव्यक्तिर्यथा ।

‘राईसु चन्द्रधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चापम् ।

एकच्छत्तं विअ (व) कुणइ तिहुअणरज्जं विजम्भन्तो ॥’

अत्र वस्तुना येषामसौ स्मरो राजा तेषु मध्ये न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति आग्रन्धिरूपभोगपरैर्निशातिवाह्यत इति वस्तु त्रिभुवनराज्यपदेन प्राधान्येन व्यज्यते । अखण्डाज्ञाविषयो हि राज्यम् । इवार्थो न व्यञ्जनोपयोगी । प्रत्युत तत्परित्यागेऽतिशयो गम्यते ।

तथात्वादिति । अर्थान्तरन्यासत्वादित्यर्थः । तुहेति । ‘तव वल्लभस्य प्रातरासीदधरो म्लानकमलदलम् । इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसंमुखम् ॥’ काव्येति । म्लानत्वे मुहुश्चम्बनस्य हेतोः प्रतीतेः काव्यलिङ्गाख्योऽलंकार इत्यर्थः । राईस्विति । ‘रात्रिषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् । एकच्छत्रमिव करोति त्रिभुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥’ यो मदनः । येषां कामिनाम् । ‘तेभ्यः’ इति प्रकाशपाठे तु तेभ्योऽपेत इत्यर्थः । इवार्थ उत्प्रेक्षा । अतिशयित इति ।

१. ‘तुहेति । गोसम्मीति प्रभाते देशी । प्राकृते लिङ्गानियमादलपदे पुंस्त्वम् । रात्रावत्यन्तचुम्बितदयिताभरां वधू प्रति कस्याश्चिदुक्तिः । तव वल्लभस्य दयितस्य प्रातःकालेऽधरोष्ठं म्लानं च तत्कमलस्य दलं तद्रूप आसीदिति सखीवचनं श्रुत्वा नया वधूस्तरुणी वदनं मुखं मध्या भूमेः संमुखम् । अधोमुखमिति यावत् । करोतीत्यन्वयः । करोतीति वर्तमाननिर्देशालज्जाया अविरामः सूच्यते । कमलदलो इति तद्रूप इत्यर्थः । अत्राधरो म्लानकमलदलमिति रूपकालंकारेण तथापरचुम्बितो येन म्लानत्वमिति काव्यलिङ्गालंकारो मिलाणादिपदप्राधान्येन व्यज्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।
२. ‘राईस्विति । यः प्रकरणात्कामः । चन्द्रेण धवलासु रात्रिषु । ज्योत्स्नीष्विति यावत् । ललितं सुकुमारमनोहरम् । न अरठम् । आस्फाल्येव त्रिभुवनानां राज्यमेकमेव च्छत्रं यत्र तथाभूतम् । अद्वितीयमिति यावत् । करोति । अतएव विजृम्भमाणो विस्फुरमाण इत्यर्थः । अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना स्वशासकानङ्गपारवश्येन कुशलैः कामिभिरुपभोगपरैरेव निशातिवाह्यत इति त्रिभुवनराज्यपदप्राधान्येन व्यज्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

वस्तुनालंकृतेयथा—

निशितशरधियार्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्वराले ।

दिशि निपतति सा च यत्र तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥'

अत्र व्यतिकरमेत्यावस्थाः समुन्मिषन्तीति वस्तुना परस्परविरुद्धा अपि निर्वेदोन्मादादयोऽवस्था भवन्तीति विरोधालंकारो व्यतिकरपदेन प्राधान्येन व्यज्यते ।

अलंकारेण वस्तुनो यथा—

‘वारिज्जन्तो वि पुणो संदावकदत्थिपुण हिभपुण ।

यणहरवभस्सपुण विमुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥’

अत्र स्तनभारवयस्येन विशुद्धजातिस्वाद्वारो न चलतीति हेत्वलंकारेणानवरतं कम्पमान एव हारोऽस्तीति वस्तु न चलतीति पदेन व्यज्यते ।

निर्धारितार्थप्रतीतेरित्यर्थः । निशितेति । अत्र विरोधे व्यतिकरपदस्य परस्परसंघर्षबोधकस्य प्राधान्यम् । नच शनिरशनिरित्यादिवत्सामानाधिकरण्याभावे कथं विरोधालंकार इति वाच्यम् । तत्रेत्युपाते एकधर्मिण्येव हसितं रुदितमित्याद्यवस्था इति सामानाधिकरण्यास्य स्फुटं प्रतीतेः । न ह्यभेदान्वयसामानाधिकरण्यं नान्यत्रेति नियमे मानमस्ति । शनिरित्यादौ तु नैकत्र धर्मिणि शन्यशनिप्रतीतिरिति । न तत्र विरोध इति युक्तम् । एतेन विरुद्धा इत्यस्य कार्यकारणभूता इत्यर्थः । व्यतिकरः पौर्वापर्यविपर्ययः । तथा च विरोधशब्देनात्र तथाभूतातिशयोक्तिरुच्यत इति प्रलपितमनादेयम् । वारिज्जन्तो इति । ‘वार्यमाणोऽपि पुनः संतापकदर्थितेन हृदयेन । स्तनभरवयस्यत्वेन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥’ विरहसंतापकदर्थितेन हृदयेन आसाधिक्यात्प्रणोद्यमानो हारो वार्यमाण इवेति गम्योत्प्रेक्षा । तथाभूतोऽपि

१. ‘निशितेति । अनङ्गः अराले सकलकामिर्हिंस्रतया कुटिले वयसि यौवने सति सुदृशः शोभनयवस्थाः कामिन्याः दृशि दृष्टौ निशितास्तीक्ष्णाश्च ते शराश्च तेषां धिया अयं मम निशितः शर इति बुद्ध्या स्वस्य बलमर्पयति । सा चार्पितवल्गुदृष्टिर्वत्र यस्यां दिशि लक्षणया तत्संबन्धिनि युवज्जने निपतति तत्रावस्था हसितरुदितमूर्च्छाद्वयो व्यतिकरं मिश्रणमेत्य प्राप्य समुन्मिषन्त्युद्भवन्तीत्यन्वयः । अत्र तथाविधेन वस्तुना परस्परविरुद्धा अप्यवस्थाः प्रादुर्भवन्तीति व्यतिकरपदप्राधान्येन विरोधालंकारो व्यज्यते । अन्यथा तत्पदवैयर्थ्यात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘वारिज्जन्तो इति । विरहजन्तित्वेन संतापेन कदर्थितेन पीडितेन हृदयेन पुनःपुनर्वार्यमाणोऽप्यस्याः प्रकृतनामिकाया हारः स्तनभरस्य वयस्यत्वेन सख्येन न चलति । यतो विशुद्धजातिर्निर्दुष्टमुक्ताजातिमान् । केषेण विशुद्धजन्मा चेति । विशुद्धजातयो हि न कदापि स्वस्यानाञ्चलन्तीत्यर्थः । अत्र व्यक्तामनवरतकम्पनं आसोच्छ्वासधिक्ये हृदयकम्पनप्रयुक्तं वेदितव्यम् । अत्र विशुद्धजातित्वरूपेण हेत्वलंकारेण विशुद्धजातिपदप्राधान्येनोपदर्शितव्यञ्जध्वनिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अलंकारेणालंकारस्य यथा—

‘सो मुदसामलङ्घो धम्मिङ्घो कलिभललिभणिभदेहो ।

तीण् खन्धाहि बलं गहिअ सरो सुरभसंगरे जअइ ॥’

अत्र सुरतसंगरे धम्मिङ्घः स्मर इति रूपकालंकाराभ्यां तथा केशपाशः स्कन्धे पतितो यथा रतिविरतावप्यनिवृत्तेच्छः कामुकोऽभूदिति विभावनास्कन्ध-पदप्राधान्येन व्यज्यते ।

अथ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरव्यञ्जकार्थध्वनिभेदेषु पदप्राधान्येन वस्तुना वस्तुनो व्यक्तियथा—

‘णैवपुणिणमामिअङ्कस्स सुहअ को तं सि भणसु मह सच्चम् ।

का सोहग्गसमग्गा पओसरअणिव्व तुह अज्ज ॥’

अत्र यथोक्तेन वस्तुनान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वमभूतं तत इति वस्तु णवपुणिणमामिअङ्कपओसरअणीपदप्राधान्येन द्योत्यते । अत्र पदे रजनीवेत्यु-पमानैरपेक्षेण कथं व्यञ्जकत्वमिति चिन्त्यम् ।

अत्रैव वस्तुनालंकारस्य यथा—

‘सहि णवणिहुवणसमरम्मि अङ्कवाली सहीएँ णिविडाए ।

स्तनभरसौहार्देन विशुद्धजातित्वाच्च चलतीत्यर्थः । स इति । ‘स मुग्धश्यामलङ्घो धम्मिङ्घः कलितललितनिजदेहः । तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसंगरे जयति ॥’ स्कन्धः सेनानिवेशोऽपि । बलं सैन्यमपि । णवेति । ‘नवपूर्णामृ-गाइस्य सुभग कस्त्वमसि भण मम सत्यम् । का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥’ अत्रेति । पदे प्रदोषरजनीपदे । अत्र प्रदोषरजन्याः केलेतावतापि व्यञ्जनसंभवाद्स्तुमात्रव्यञ्जकतोदाहरणत्वं वृत्तावभिप्रेतमिति भाति । सहीति ।

१. ‘स इति । स धम्मिङ्घः केशपाश एव स्मरः कामः । तस्या नायिकायाः स्कन्धोऽस एव स्कन्धः सेनानिवेशः तस्माद्बलं सामर्थ्यमेव बलं सैन्यं गृहीत्वा सुरतरूपे सङ्ग्रामे जय-त्युत्कृष्टो भवति । कीदृशः । मुग्धं सुन्दरं श्यामलमङ्गं यस्य सः । तथा कलितः पुनरासा-दितो ललितो मनोहरो निजदेहो धम्मिङ्घरूपो येन तयाभूत इवेत्युत्प्रेक्षागर्भम् । अत्र धम्मिङ्घस्य स्कन्धसंबन्धेन शोभातिशयलभाक्तपदप्राधान्यम् ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘खण्डि-तायाः स्वामिनं प्रतीयमुक्तिः । हे सुभग, त्वं नवस्य प्रथमोदितस्य पूर्णिमासंबन्धिनो मृगाङ्कस्य चन्द्रस्य संबन्धी को आता सखा वासि पतन्मम सखं भण वद । तत्संबन्धित्वं विना क्षणिकानुरागित्वस्य तत्त्वभावस्य त्वव्यनुपपत्तेरिति भावः । तथा चन्द्रस्य प्रदोषरज-नीव तव का नायिका सौभाग्यं नायकानुरागादि समग्रं यस्यां सा तथाभूतेत्यर्थः । अत्र नवेत्यनेन क्षणिकानुरागित्वलाभः । पूर्णिमामृगाङ्केत्यनेन नायिकान्तरसंसर्गित्वं व्यज्यते । एवं प्रदोषेत्यनेन प्रकृष्टदोषवत्त्वम्, रजनीत्यनेन रागित्वमित्यूह्यम् । केचित्तु ‘नवः प्रतिपदु-दितः’ इत्यर्थमाहुः । अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना णवेतिपदप्राधान्येन मयीवा-न्यस्यामपि क्षणिकानुरागित्वमिति वस्तु ध्वन्यते ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘सख्या इत्युक्तिः । हे सखि, नवं नूतनं निजुवनं सुरतमेव समरः सङ्ग्रामस्त-

हारो निवारिओ विभ उचैरन्तो तदो कहं रमिभम् ॥'

अत्र निधुवनसमर इति रूपकस्य व्यञ्जनायामप्रयोजकतया वाच्येन वस्तु-
मात्रेण हारच्छेदानन्तरं प्रौढाङ्गनारताद्विलक्षणं नवोढायास्ते रतमभूत्तकथय
कीदृशिति व्यतिरेकालंकारः कहंपदप्रकाश्यः ।

अलंकारेण वस्तुनो यथा—

‘पविसन्ती घरवारं विवलिभवभणा पलोड्डण पडम् ।

स्क्न्धे घेत्तूण धडं हा हा णट्ठोत्ति रुभसि सहि किंति ॥’

अत्र नष्ट इति रोदिषीति हेत्वलंकारेण संकेतनिकेतनं गच्छन्तं कामुकं दृष्ट्वा
यदि गन्तुमिच्छसि तदपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंपदप्राधान्येन
प्रकाश्यते ।

यथा वा—

‘विहलङ्गलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम् ।

वारप्फंसमिसेणि अ अप्पा गरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥’

‘सखि नवनिधुवनसमरे अङ्कपाली सख्या निविडया । हारो निवारित एवोच्चरंस्ततः
कथं रमितम् ॥’ अङ्कपाली आलिङ्गनम् । उच्चरञ्चुच्छलन् । पविसन्तीति । ‘प्रवि-
शन्ती गृहद्वारं विवलितवदना प्रलोक्य पन्थानम् । स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट
इति रोदिषि सखि किमिति ॥’ किंपदेति । हेलाक्षेपेण रोदनकृत्रिमत्वप्रती-
तेरिति भावः । अत्र व्यञ्जकस्य स्वतःसंभक्तिवेन कविप्रौढोक्तिकल्पितत्वाभावादाह—
यथा वेति । विहलङ्गलमिति । विशृङ्खलं त्वां सखि दृष्ट्वा कुटेन तरलतर-

सिन्निविडया दृढया विश्वस्तया च अङ्कपाली आलिङ्गनं तद्रूपया सुखहेतुत्वात्सख्या उच्छि-
यमाणो द्वयोस्तृतीयतयाधिको भवन् हारो निवारित एव । गाढालिङ्गनेन त्रोटित इत्यर्थः ।
ततो हारच्छेदानन्तरं कथं रमितं क्रीडितमिति प्रश्नेन वैलक्षण्यसूचनाद्व्यतिरेकलाभः । ‘उच्छे-
रन्तो’ इति पाठेऽर्थो दर्शितः । ‘उचैरन्तो’ इति पाठे उच्चरन्मूर्ध्वं चलन् । अत्र हारच्छेदा-
नन्तरं विलक्षणं रतमभूत्तकथय कीदृशिति व्यतिरेकः कहंपदप्राधान्येनोक्तवस्तुना ध्वन्यते ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘हे सखि, गृहद्वारं प्रविशन्ती त्वं विवलितं परावृत्तं वदनं यस्मात्तथाभूता सती
पन्थानं मार्गं विलोक्य स्कन्धे घटं गृहीत्वा हा हा नष्ट इति किमिति रोदिषि । घटभङ्गस्य
बुद्धिपूर्वकत्वे रोदनहेतुत्वाभावादिति भावः । रोदने नष्टत्वं हेत्वलंकारः । नाथे
स्कन्धग्रहणं हेतुरिति चक्रवर्ती । अत्र हेत्वलंकारेण संकेतनिकेतं गच्छन्तं प्रियं दृष्ट्वा
यदि गन्तुमिच्छसि तदापरं घटं गृहीत्वा गच्छेति ध्वन्यते । रोदनवैयर्थ्यबोधनद्वारा
समीहितसाधनानुमितिस्मृचनार्त्तिकतिपदस्य प्राधान्यं बोध्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘हे सखि, त्वां विशृङ्खलां व्याकुलां अतएव तरलतरा अतिशयेन तरला चञ्चला
दृष्ट्विस्मात्तथाभूता दृष्ट्वा कुटेन घटेन द्वारस्पर्शस्य मिषेण व्याजेनात्मा स्वरूपं गुरको

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसंकेतमप्राप्तं गृहप्रवेशसमये पश्चादागतं कामुकं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय बुद्धिपूर्वं द्वारस्पर्शव्याजेन त्वया घटः स्फोटित इति मयावगतम् । तत्समाश्वासं विधाय समीहितसिद्धये ब्रज । अहं तव श्वश्रूनि कटे सर्वं समर्थयिष्ये इति वस्तु द्वारस्पर्शमिषेणेत्थपङ्क्त्या वारण्यसमिसेणेति पदेन द्योत्यते ।

अलंकारेणालंकारस्य यथा—

‘जोह्लाएँ मधुरसेन अ विहण्णतारुणउसुभमण्णा सा ।

बुद्धा वि णवोढविवअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअभम् ॥’

अत्र परवधूत्वेन सा तव हृदयं हरतीति काव्यलिङ्गालंकारेणासांनुजिहत्वा वृद्धां परवधूमभिलषसीति त्वदाचरितं वक्तुं न शक्यत इत्याक्षेपालंकारः प्राधान्येन परवधूपदद्योत्यः प्रकाश्यते ।

शब्दार्थोभयशक्तिमूलस्तु पदप्रकाश्यो न भवति । तत्र वाक्यस्यैव प्राधान्यात् । एवं पञ्चत्रिंशद्वेदाः ।

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ १९ ॥

दृष्टिम् । द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुकं इति पातयित्वा विभिन्नः । जोह्लाएँ इति । ‘ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्यौत्सुक्यमनाः सा । वृद्धापि नवोदेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥’ आक्षेपेति । अत्र त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यत इति द्योतनफलो वक्ष्यमाणस्य त्वयैवं कर्तुं न योग्यमित्यादिवचनस्य निषेधरूपो य आक्षेपालंकारस्तस्य द्योतनमभिप्रेतम् । ‘निषेधो वक्तुमिष्टस्य’ इत्यादिना तथा वक्ष्यमाणत्वात् । तत्र वाक्यस्यैवेति । परिवृत्तिसहतदसहानेकपदरूपस्यैत्यर्थः । एवमिति । उभयशक्तिमूलस्य पदव्यङ्ग्यानन्तर्गततावित्यर्थः । पूर्वोक्ता वाक्यप्रकाश्या अष्टादश । उभयशक्तिमूलरहिताः पदप्रकाश्याः सप्तदश । इत्येवं पञ्चत्रिंशदित्यर्थः । मेलकं समूहः । गमनं निवर्तनं चेति द्वन्द्वः । रचनायां वैदर्भ्यादिसंज्ञिकायामष्टमे

गुरुरिति हेतोः पातयित्वा विभिन्नो विभेदित इत्यर्थः । अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् । नायं द्वारस्य शोद्धटनाशः । किंतु गुरुतया परपीडकत्वाद्धटेनैव स्वात्मा विभेदित इत्यपङ्क्तिः । अत्रोक्तापङ्क्त्या पूर्ववद्वस्तुध्वनिः । पूर्वत्र हेत्वलंकारस्य प्रौढोक्तिसिद्धत्वाभावादुदाहरणान्तरोक्तिः ॥ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. ‘गतयौवनान्यनायिकाप्रसक्तं स्वामिनमुपहसन्त्या नायिकाया इयमुक्तिः । अहह खेदे । वृद्धापि सा नायिका ज्योत्स्नया मधुरसेन मधुरस्य रसेनास्वादेन च वितीर्णं दत्तं यत्तारुण्यं तेनोत्सुक्यमर्थाद्व्रते मनो यस्यास्तथाभूता सती नवोदेव तव हृदयं हरति । क्तः परवधूः । परनायिकात्वेनैव तव चित्तं हरति ननु सौन्दर्यादिनिमित्तान्तरमस्तीति भ्रमः । तदेतत्काव्यलिङ्गम् । ज्योत्स्नामधुरसाम्बादन्तं तारुण्यं हृदयहरणे हेतुरिति काव्यलिङ्गमिति चक्रवर्तिनः । आक्षेपे परवधूत्वस्य प्राधान्येन प्रयोजकत्वात्तत्पदप्राधान्यम् ॥ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘वाक्यस्यैव’

अर्थशक्तिमूलः पदवाक्ययोः प्रबन्धे च । प्रबन्धश्च संघटितनानावाक्य-
समुदायः । स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तरप्रकरणरूपश्चेति । तत्र पदवाक्ययोरुदा-
हृतम् । प्रबन्धे यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ । तथा हि—

‘अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ।

कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयंकरे ॥

न चेह जीवितः कश्चिक्कालधर्ममुपागतः ।

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ।’

इति दिवा प्रागल्भ्यवतो गृध्रस्य मृतावेक्षकपुरुषविसर्जनपरं वाक्यमेलकम् ।

‘आदित्योऽयं स्थितो मूढाः खेहं कुरुत सांप्रतम् ।

बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।

गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥’

इति निशि प्रागल्भ्यस्य गोमायोस्तद्व्यावर्तनपरं श्लोकद्वयमिति प्रबन्ध एव

१. ‘अलमिति । महाभारते शान्तिपर्वणि मृतं बालं संध्यासमये श्मशाने समानीतं
दृष्ट्वा दिवसे समर्थस्य रात्रावन्धस्य गृध्रस्य तद्वन्धुविसर्जनार्थमियमुक्तिः । हे जनाः, अस्मि-
न्श्मशाने स्थित्वा अलं पूर्वताम् । कीदृशे । गृध्रेर्मासादैः पक्षिविशेषैर्गोमायुभिः शृगालैश्च
संकुले व्याप्ते । तथा कङ्कालान्यस्थीनि बहलानि यत्र एवंभूते घोरे दारुणे अतएव सर्वेषां
प्राणिनां भयंकरे त्रासजनके । तथा च प्रयोजनाभावे एवंविधे स्थले स्थितिरनुचितेत्यर्थः । ननु
मृतस्यापि पुनरुज्जीवनं संभाव्यत इत्यत आह—न चेहेति । इह संसारे कालधर्मं मरणमुपा-
गतः प्राप्तः प्रियो वा द्वेष्यः शत्रुर्वा कश्चिदुदासीनो वा न जीवितः । तथा चैतदसंभावित-
मित्यर्थः । समाधानायाह—प्राणिनां संसारिणामीदृशी प्राणोत्क्रमणरूपा गतिः स्वभावः ।
एवं च स्वभावस्य दुरतिक्रमत्वान्मोहो न कार्य इति भावः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका संक्षेपः.
२. ‘आदित्योऽयमिति । रात्रौ समर्थस्य गोमायोर्जनव्यावर्तनार्थमुक्तिः । हे मूढा मूर्खः,
अयमादित्यः सूर्यः स्थितः । अस्तीति शेषः । तथा च रात्रिचरेभ्यो भयमधुना नास्तीति
भावः । अतः सांप्रतमधुना खेहं सविधस्थितिरूपं कुरुत । खेहं जीवनोपायानुष्ठानलक्षण-
मिति दीपिकायाम् । मृतस्य जीवनासंभवादफलमवस्थानमित्याशङ्क्याह—बहुविघ्न इत्यादि ।
अयं संध्यात्मको मुहूर्तो बहुविघ्नः राक्षसेलत्वाद्भूतावेशादिरूपविघ्नबहुलः । तथा चैतन्मुह-
ूर्तापगमे तद्विघ्नोपशान्तौ कदाचन जीवेदपीति संभावनायामपिशब्दः । एवं जीवनसंभाव-
नामुत्पाद्य मोहयितुमाह—अमुमिति । हे मूढाः, गृध्रस्य वाक्यात्पूर्वोक्तादविशङ्किताः कथ-
मकस्मात्त्याज्योऽयं बाल इति विचाररहिता विश्वस्ता वा अमुं बालं कथं त्यजध्वमित्यार्थमा-
त्मनेपदम् । कीदृशं बालम् । कनकवर्णवदाभा यस्य तथाभूतम् । ननु कनकाभम् । तदा कन-
कगतकाठिन्यस्यापि प्रसङ्गात् । तथा न प्राप्तमासादितं यौवनं येन तम् । अत्र बालत्वेन मृत्यु-
कालाभावः, कनकेत्यनेन मृत्युचिह्नवैषम्यभावः, अप्राप्तेत्यनेन परदारभिमगनादिराहित्ये-
नायुः सत्त्वं च सूच्यते । मूढा इत्यत्र ‘बाल’ इति कचित्पाठः । तत्राविवेचका इत्यर्थः । अत्रोदा-
हरणद्वये क्रमेण जनविसर्जनव्यावर्तनयोः प्राधान्येनाभिव्यक्तिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

व्यञ्जकः प्रथते । अत्र स्वतःसंभविना वस्तुना गमननिवर्तनरूपवस्तुव्यक्तिः ।
एवमन्येऽप्येकादश प्रमेदा द्रष्टव्याः ।

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

रसादयो लक्ष्यक्रमाः पदैकदेशे रचनायां वर्णेषु । अपिशब्दात्प्रबन्धे । पद-
वाक्ययोस्तु 'पदेऽप्यन्ये' इत्यनेनैव प्रतिपादिताः । पदं तावद्विविधम्, सुबन्तं
तिङन्तं च । तदेकदेशो नामधातुस्वरूपप्रकृतिभागः प्रकृत्येकदेशः सुसिद्धस्वरूप-
विभक्तिभागश्च उपसर्गादिरूपश्च । तत्र पदवाक्ययोरुदाहृतं प्राक् । पदैकदेशादि-
शूदाह्रियते । तत्र धातुरूपप्रकृत्यात्मकपदैकदेशे रसादिव्यक्तिर्यथा—

‘रहेकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।

इस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥’

अत्र रतिव्यक्तौ 'जि'धातुरूपप्रकृतेः प्राधान्यम् । यतः स्थगनव्यापारसाम्ये-
ऽप्यन्यनेत्रयोः कराभ्यां पिधानमस्य तु लोकोत्तरेण कर्मणेति तदेवोक्तृष्टं धन्य-
जीवितमिति रत्युत्कर्षप्रयोजकमनया व्यज्यते । अतएव जयतीत्युक्तम्, ननु
शोभत इत्यादि । एवमप्येऽपि प्रकृत्यादे रसादिव्यञ्जने प्राधान्यं तत्तदर्थेव्यञ्जक-
तयावगन्तव्यम् ।

नामरूपतदेकदेशे तद्व्यक्तिर्यथा—

‘प्रेयान्तोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया

द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।

वक्ष्यमाणायाम् । वर्णेषु 'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः' इत्यादिना तत्रैव वक्ष्यमाणेषु ।
उपसर्गादीत्यादिना वक्ष्यमाणनिपातादिसंग्रहः । रईति । 'रतिकेलिहृतनिवसनकर-

१. रईति । रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं सञ्जयति सर्वोत्कृष्टं भवति । की-
दृशस्य रुद्रस्य । रतिकेलौ सुरतक्रीडायां हृतं निवसनमर्थाद्वीरीसंबन्धिवासो येन स चासौ
करकिसलयाभ्यां करपलवाभ्यां रुद्धं पिहितमर्थाद्वीर्या नयनयोर्युगलं इन्द्रं यस्य तथाभूत-
स्येति बहुव्रीहिद्वयोत्तरं कर्मधारयः । रतिकेलिहृतनिवसनायाः करकिसलयाभ्यामित्यादिविग्रहे
निवसनेत्यत्र रुद्रवानुपपत्तेः । अत्र जिधातुरूपप्रकृत्या पदैकदेशस्य प्राधान्यम् । तथा च कर-
किसलयाभ्यां नेत्रद्वयपिधानव्यापृततया अलौकिकचुम्बनपिधानवत्तया तृतीयनयनस्योत्कृष्टत्वमुच्य-
मानं । रागातिशयद्वयलब्धादिसंपत्तिमुखेन रसातिशयं पुष्पाति ।' इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः । २. 'प्रेयानिति । सशपथमिति मध्यमं गीतं यैनीमयत्र संबध्यते । सोऽयं परमप्रेमास-
दत्वेन प्रसिद्धः प्रेयान्प्रियः शपथेन सहितं यथा स्यात्तथा पादयोरानतः प्रणतः कान्तया
सशपथमपाकृतो निराकृतः सधुन्मना उत्सुकमनाः सन्वासभवनादासगृहात् । 'रास' इति
प्राठे क्रीडागृहात् । द्वित्राण्येव नाधिकानि पदानि न द्वाराणि यावन्न याति तावद्वाक्यस्यैव
अत्युक्त विपरीतं कृतः प्रणामो यत्र तथा स्यात् । पूर्वप्रणतस्यापाकरणमधुना प्रणामपूर्वकं
धरणमिति वैपरीत्यम् । तथा गलंश्चासौ नीवीनिबन्धश्च । सा तस्या पाग्निसंपुटे प्रणामार्थं बद्धा-
जलौ गलं नीवीनिबन्धो यत्र तथा स्यात्तथा धृतः । रागौत्कण्ठ्यादल्लो नीवीबन्धस्य प्रण-

तावत्प्रस्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो

धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विवित्रा गतिः ॥'

अत्र द्वारादिपदं परिहृत्य पदानीत्युक्तम् । तेन द्वारपर्यन्तगमनेऽप्यसहिष्णु-
तयोत्कण्ठातिशयो व्यज्यते ।

तिङ्मुपोर्यथा—

'पथि पथि शुक्चञ्चूचारुभाङ्कुराणां

दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।

नरि नरि किरति द्राक्सायकान्पुष्पधन्वा

पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥'

अत्र किरतीति तिङ् किरणस्य साध्यता तिङ्योगे साध्यतयैव धात्वर्थो-
पस्थितेः । निवृत्तेति सुप्प्रत्ययेन निवृत्तेः सिद्धता । सुप्प्रयोगे तथैव प्रकृत्यर्थ-
प्रतीतेः । तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतता प्रकाश्यत इति किरणनिवृत्त्योः पौर्वापर्य-
विपर्ययरूपातिशयोक्तिप्रकाशो रसोत्कर्षे पर्यवस्यति । यत्तु 'लटा साध्यत्वम्,
क्तप्रत्ययेन भूतत्वम्' इति व्याख्यातम्, तदयुक्तम् । सुसिद्ध्यं सिद्धत्वसाध्य-
त्वमभिधाय 'तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतत्वम्' इत्यनेन वृत्तिव्याख्यानेन विरोधात् ।

किसलयरुद्धनयनयुगलस्य । रुद्धस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥' अनया
'जे' धातुरुपप्रकृत्या । अतीततेति । अत्र मानचर्चानिवृत्तेरतीतोत्पत्तिकत्वस्य
ध्वस्त इत्यादाविव क्तप्रत्ययवाच्यत्वेऽपि निवृत्तिगतमालयन्तिकत्वं स्वसमानाधिकरण-
मानचर्चासमानकालिकत्वरूपं क्तप्रत्ययव्यङ्ग्यमिति तात्पर्यम् । रसोत्कर्ष इति ।
वसन्तस्योद्दीपकत्वप्रकर्षादिति भावः । यत्त्विति । भूतत्वं सिद्धत्वमभिमतम् भूतभ-

माञ्जलिबालम्बनम् । केचित्तु 'पाणिसंपुटेत्यादि धावनक्रियाविशेषणम्' इत्याहुः । 'लसत्'
इति पाठे त्वार्थिकं गलनम् । अहो विसये । गतिः स्वभावः । अत्र प्रेयान्कान्तयेत्येताभ्यां
परस्परविरहाक्षमत्वं ध्वन्यते । कञ्चित् 'सायं' इति पाठः । अत्र पदेतिनामरूपप्रकृत्यात्मक-
पदैकदेशस्योत्कण्ठातिशयपर्यवसायितया प्राधान्यम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः

१. 'पथीति । पथि पथि मार्गे मार्गे अङ्कुराणामाभा कान्तिः शुक्चञ्चूवामिव चारुर्मेनो-
हरा । अस्तीति शेषः । 'रम्भा' इति पाठे शुक्चञ्चूवचारुणां रम्भाङ्कुराणां कदल्यङ्कुराणां
लासक इत्यन्वयः । पवमानो वायुर्दिशि दिशि प्रतिदिशं वीरुधां लतानां लासको नर्तकश्वा-
स्तीति नूतनाङ्कुरशोभाशालिवसन्तर्तुसर्वदिक्संचारिमन्दभारुतयोरुद्दीपकयोः संपत्तिरुक्तः ।
तत्कार्यमाह—नरीति । नृशब्दस्य सप्तम्यां रूपम् । पुष्पं धनुर्यस्य तथाभूतः कामो नरि
नरि प्रतिमनुष्यं द्राक् शीघ्रं सायकान्पञ्चापि बाणान्किरति क्षिपति । एवं कामोद्दीपने सति
पुरि पुरि नगर्यां नगर्यां मानिनीनां मानवतीनां मानस्य चर्चा प्रसक्तो विनिवृत्तः । विशेषेण
निवृत्त इत्यर्थः । अत्र किरति निवृत्तेति तिङ्मुपोः प्रत्ययात्मकपदैकदेशयोः क्रमेण प्रत्यया-
र्थगतसाध्यत्वसिद्धताभिर्व्यक्तिद्वारा रत्युद्दीपनातिशयपर्यवसानात्प्राधान्यम् ।' इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः २. 'सुप्रयोगे' क-ग.

अथ सुसिद्धिशेषेषु यथा—

‘लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो

निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-

स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥’

अत्र लिखन्नित्युक्तम्, न तु लिखतीति । तेन शत्रा लिखनस्याप्राधान्यम-
बुद्धिपूर्वकस्वरूपम् । आस्त इत्युक्तम्, न त्वासीदिति । तेन तथावस्थानस्य
प्रसादपर्यन्तता तिष्ठिभक्त्या व्यज्यते । यद्यपि शत्रुप्रत्ययः सुपः प्रकृतिरेव
तथापि तिङादेशिलङ्घिततया तिङ्त्वेनैवोदाहृतः । भूमिमित्युक्तम्, न तु
भूमाविति । तेन बुद्धिपूर्वकं भूमौ न किञ्चिद्विषयत इति सुबिभक्त्या व्यज्यते ।

‘गामारि अहि गामे वसामि ण अरिद्विडं ण आणामि ।

णाअरिआणं पड्ढो हरेमि जा होमि सा होमि ॥’

व्यसंमुच्चारण इत्यादिवत् । अत्र कप्रत्ययेनातीतत्वप्रकाशनस्य सुपा सिद्धत्वाभिधानस्य
चानुवृत्तेर्द्वितीयाविरोध इत्याशयः । अबुद्धिपूर्वकत्वरूपमिति । स्वगतेष्टसाधनता-
बुद्धिपूर्वकत्वाभावरूपं क्रियान्तरेष्टसाधनत्वज्ञानाधीनकृतिसाध्यत्वपर्यवसितमित्यर्थः ।
तेन बुद्धिपूर्वकमित्यत्र तु भिन्नमेवाबुद्धिपूर्वकत्वं पूर्वाक्तादिति ज्ञेयम् । गामेति ।
‘ग्रामीणास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि । नागरिकाणां पतीन्हरामि या

१. लिखन्निति । बहुदिनव्यापिमानवर्ती प्रति सख्या इयमुक्तिः । हे कठिने कठिन-
हृदये, तव प्राणा इव दयितः प्रियोऽवनतो नम्रो बहिर्वाह्यशालायां भूमिं लिखन्त्यन्यहृदय-
तया विलिखन्नारते उपविष्टोऽस्ति । तथा सख्यः सर्वा निर्गत आहारो यासां तास्तथाभूताः
सत्यः सततं निरन्तरं यद्वदितं रोदनं तेनोच्छूने जातशोथे नयने यासां तथाभूताः ।
सन्तीति शेषः । तथा पञ्जरसैः शुकैः सर्वं हसितयुक्तं पठितं परित्यक्तम् । तव चेत्यमवस्था
दृश्यमानाल्पतन्त्राक्षरतरा विशिष्य वक्तुमशक्या । अतोऽधुना इदृशातिशये सति मानं विसृज
त्यजेलन्वयः । अत्र शुकैःपि हास्यवर्णनं न विरुद्धम् । ‘विहायसा तेन विहस्य भूयः’ इति
नैषधादौ दर्शनादित्याहुः । अत्र लिखन्निति शत्रुप्रत्ययेन यावदुपवेशनकालिकत्वं लिखनस्य
व्यज्यते । एवमास्त इति वर्तमानत्वार्थकात्मनेपदरूपतया उपवेशनस्य प्रसादरूपफलपर्यन्त-
त्वम् । आसित इत्युक्तौ तदलाभात् । भूमिमिति द्वितीयया तस्या एव लिखनकर्मत्वावगमा-
द्विपूर्वकलिखनाभावव्यक्तिः । विधान्तरेण व्यञ्जकत्वोपदर्शनायोदाहरणान्तरोक्तिः । इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘गामेति’ । कलहे का त्वमसीत्यपिक्षिपन्ती नागरिकस्त्रियं प्रति ग्राम्य-
स्त्रिया इयमुक्तिः । ‘गामरुहन्मि’ इति पाठे ग्रामरुहा ग्रामजातास्मि । वसामि तिष्ठामि ।
नगरस्थितिं वैदग्ध्यरूपां मर्यादाम् । नागरिकाणामित्यनादरे षष्ठी । तथा च नगरे भवा
नागरिका अनादृत्य तासां पतीन्हरामि । वशीकरोमीत्यर्थः । पतिकर्तृकेऽपि तासामनादरे
प्रत्ययाः प्रयोजककर्तृत्वमवसेयम् । यद्यपि ‘षष्ठी चानादरे’ इत्यनुशासनाद्वाच्य एव सः तथापि
तद्व्यञ्जनाद्वारा गर्वरूपव्यभिचारिभावव्यञ्जकत्वं विवक्षितमक्षतमेव । अतएव पदैकदेशेत्यादौ
रसादय इत्येवोक्तम् । एवं सर्वत्रैवंविधस्यले द्रष्टव्यमिति दिक् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्या पतिपदार्थे तादृशकलाभिज्ञतादिरूप उत्कर्षः प्रकाश्यते । 'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्' इत्यत्र लुङ्गतीतकालविहितेनावृत्तं तदीयहिंसायाः सुकरत्वं व्यञ्जयता प्राधान्येन धूर्जटिधनुर्भङ्गजन्मा भार्गव-
क्रोधः प्रकृष्यते ।

वचनविशेषो यथा—

‘ताणँ गुणग्रहणाणं ताणुक्कण्ठाणं तस्स पेम्मस्स ।

ताणँ भणिआणँ सुन्दर एरिसिअँ जाअँ अवसाणम् ॥’

अत्र गुणग्रहणादीनां प्रेमहेतूनां नानाप्रकारत्वेऽपि कार्यं प्रेम एकजातीयमेव न कदाचिदन्यथाभावं प्राप्तमिति बहुवचनैकवचनाभ्यां व्यञ्जयते ।

पुरुषव्यत्ययस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

‘रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-

प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।

किं मन्ये विहरिष्यसे वत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-

मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारानिधौ ॥’

अत्र त्वं मन्ये अहं विहरिष्यसे इति ‘प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम

भवामि सा भवामि ॥’ अत्रेति । नागरिकनायिकासंबन्धित्वेन तत्पतिषु वैदग्ध्यं तद्राजकत्वेन स्वस्मिन्स्तदित्यर्थः । षष्ठ्या अनादरार्थत्वपक्षेऽपि तद्वारा वैदग्ध्यव्यञ्जनमेव ज्ञेयम् । ताणँ इति । ‘तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः । तेषां भणितानां सुन्दरं ईदृशं जातमवसानम् ॥’ पूर्वनिपातादय इत्यादिपदेन

१. ‘ताणँ इति । ‘ईरिसिअँ इति पाठे ईर्ष्यतमिति ज्ञेयम् । सापराधं दयितं प्रति कुपिताया इयमुक्तिः । हे सुन्दर, विशिष्यानिर्वाच्यानां नानाविधानां गुणग्रहणानां तासा-
मसानिधौ उत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः तेषां भणितानां त्वमेव जीवितसर्वस्वमिलादीनां
वचनानामीदृशमेवंविधापराधकलुषितमवसानं पर्यवसानं जातमित्यन्वयः । ईर्ष्यतं संजा-
तेर्ष्यमिति पाठान्तरेऽर्थः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘रे रे इति । शान्तस्य
स्वचित्तं प्रति साक्षेपसंबोधनमिदम् । चञ्चललोचनायामञ्जिता गमिता रुचिरभिलाषो
येन तथाभूतेति चेतोविशेषणम् । चञ्चलाम्बां लोचनाभ्यामञ्जिता आविष्कृता रुचिरा-
न्नायिकायामस्येति चण्डीदासः । रे चेतः, एणनयनां हरिणाक्षीमालोक्य स्मिरं प्रेम
यत्र तादृशं महिमानं माहात्म्यं स्थिरतारूपं प्रमुच्य त्यक्त्वा किं कसामृत्युसि ।
नर्तकवद्वर्षादुल्लोलं भवसीत्यर्थः । हेतुमाशङ्क्य निराकर्तुमाह—किं मन्ये इति । किं
मन्यसे विहरिष्यमीत्यर्थः । वत खेदे । हतां निन्दितामिमामन्तर्विषयमानामाशां मुञ्च
त्यज । खलु यत एषा उपदर्शिता आशा । स्त्रीति कश्चित् । संसार एव वारानिधिः
समुद्रस्तस्मिन्कण्ठतटे कृता वद्धा शिला मञ्जनहेतुत्वात्तद्वत्ता । भवतीति शेषः । इत्थं च
परिणामविरसत्वाद्धर्षो न युक्त इति भावः । अत्र मन्य इति पुरुषव्यत्ययेन प्रहासो
व्यञ्जयते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

एकवच' इतिसूत्रेण युष्मदसदोयोगे उत्तममध्यमयोर्विपर्ययेण विधानं प्रहास-
मभिव्यनक्ति ।

पूर्वनिपातादयः पदैकदेशधर्मत्वात्पदैकदेशा एव गण्यन्ते । पूर्वनिपातस्य
यथा—

‘येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते संमतास्तैरपि

प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः ।

ये क्षमाशक्त पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-

स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥’

अत्र चाटुके पराक्रमनयेत्यत्र नयस्याल्पात्तरत्वेन पूर्वनिपातमभिधाय परा-
क्रमस्य तथाभावोऽभ्यर्हितत्वं द्योतयति ।

उपपदविभक्तिविशेषस्य यथा—

‘प्रधनाध्वनि वीरै धनुर्ध्वनिभृति विशुरैरयोधि तव दिवसम् ।

दिवसेन तु नरप भवानयुद्धविधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥’

अत्र वीररसात्मनि भवान्दिवसेनायुद्धेति ‘अपवर्गो तृतीया’ अपवर्गश्च फल-
प्राप्तौ क्रियापरित्यागः । अतो भवत्पदार्थस्य युद्धरूपक्रियाया यत्फलं विजय-
स्तत्प्राप्तिस्तृतीयया द्योत्यते । यस्तु ‘युद्धविधीत्यादि क्रियाविशेषणम्’ इति
व्याख्यातवान्स च्छन्दोभङ्गमपि नाज्ञासीदिति ।

प्रत्ययरूपस्य प्रकृत्यैकदेशस्य यथा—

‘भूयो भूयः सविधनगरीरध्यया पर्यटन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।

१. ‘येषामिति । येषां राज्ञां दोर्बलं बाहुबलमेव । एवकारेण नीतिबलव्यवच्छेदः । ते
राजानो दुर्बलतया निर्बलत्वेन संमताः । नीतिज्ञानाम् । शूदानामिति शेषः । तैर्दोर्बलमात्र-
शरणैः केवलनीतिरीतिशरणैश्चोर्वीश्वरैः पृथ्वीश्वरैः प्रायः किं कार्यम् । न किमपीत्यर्थः ।
समुच्चयार्थकस्वापिशब्दस्य भिन्नक्रमतया योजनात् । नीतिनीतिशास्त्रम् । तदुक्तवृत्तिप्रकारो
रीतिः । हे क्षमाशक्त पृथ्वीन्द्र, ये पुनः पराक्रमनययोः स्वीकारेण कान्तो रमणीयः क्रमो
व्यवसायो येषां तथाविधास्ते त्रिजगति भुवनत्रयेऽपि नैव स्युर्न स्युरेव । यदि वा स्युस्तदा
परं केवलं भवादृशा भवच्छ्रुत्याः पवित्रा द्वित्राः । न बहव इत्यर्थः । अत्र पराक्रमस्य पूर्वनिपा-
तस्तदर्थस्याभ्यर्हितत्वं गमयति । ‘अभ्यर्हितं पूर्वं’ इत्यनुशासनात् । इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः । २. प्रधनेति । हे वीर, धनुषो ध्वनिं टंकाररूपं विभर्तीति धनुर्ध्वनिभृत् तथाभूते ।
प्रधनं युद्धमेव प्रवेशनिःसरणहेतुत्वादध्वा मार्गस्तसिस्तव विशुरैः शत्रुभिर्दिवसं व्याप्या-
योधि युद्धमकारि । हे नरप नरान्पाति रक्षतीति तथाभूत, भवास्तु दिवसेन विधिना
विधानेन सिद्धस्य न तु कृत्रिमस्य साधुवादस्य कीर्तेः पदं स्थानं यथा स्यात्तथा अयुद्ध ।
युद्धं कृतवानित्यर्थः । अत्र दिवसेनायुद्धेत्यनेन ‘अपवर्गो तृतीया’ इत्यनुशासनादवगतो
युद्धक्रियासमाप्तिरूपोऽपवर्गो युद्धफलस्य विजयस्य प्राप्ति द्योतयति । क्रियायाः फलपवर्गि-
त्वादिति ध्येयम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । ३. ‘वीर’ ख. ४. ‘भूयो भूय’ इति । माल-
तीमाधवे ‘कथितं च नो मालतीधात्रेय्या लवङ्गिकया’ इति चूर्णिकामनुक्रम्य कामन्दकीः

साक्षात्कामं नवमिव रतिमालती माधवं य-
द्वाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गैस्ताम्यतीति ॥'

अत्राङ्गैरिति कस्वरूपतद्धितेनाल्पार्थकेनानुकम्पातिशयो व्यज्यते ।

उपसर्गरूपस्य तदेकदेशस्य यथा—

‘परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपदं यो न गतवान् ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगह्नो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥’

अत्र प्रध्वंसादिति प्रशब्दः प्रकृत्येकदेशः प्रकर्षद्योतकः । उपसर्गाणामवाच-
कत्वात् ।

पूर्वोक्तपुरुषव्यत्ययस्य परिग्रहः । उपसर्गरूपस्येति । तदेकदेशस्य पदैकदेशस्य ।
प्रकृत्यन्तर्गतत्वाभावात्कथं प्रकृत्येकदेशत्वमत आह—प्रकर्षेति । प्रकृत्यर्थ एवा-
स्याप्यर्थ इति पृथगर्थाभावात्तदन्तर्भूत एवेत्यर्थः । पृथगर्थाभावमेवाह—उपस-
र्गाणामिति । चकारस्य पृथगर्थत्वात्कथमेकदेशतेति शङ्कते—यद्यपीति ।
अनुशास्तीत्यस्य शास्त्रमिति शेषः । उपसर्गाणां वाचकत्वपक्षेऽप्येकदेशत्वमुपपाद-

वचनमिदम् । यन्मालती गाढया दृढयोत्कण्ठया औत्सुक्येन लुलितैर्मर्दानैः सङ्गिर्ललितैर्म-
नोहरैरङ्गैस्ताम्यति ग्लायतीति मालत्या धात्रीपुत्र्या लवङ्गिकया कवितमिति चूर्णिकावा-
क्येनान्वयः । किं कृत्वा । भूयो भूयो वारंवारं सविधया निकटस्थया नगरीसंवन्धिन्वा रथ्यया
राजमार्गेण पर्यटन्तं गच्छन्तं नवं युवानं माधवं रतिः काममिव साक्षात् ननु चित्रादौ
दृष्ट्वा दृष्ट्वा पुनःपुनरवलोक्य । तेन रागात्कण्ठलाभः । किंभूता मालती । भवनस्य वास-
शृङ्खलासंवन्धिनी या बलभी उपरितनमण्डपस्तदीये तुङ्गे उभे वातायने गवाक्षे तिष्ठतीति
तथाभूता । न तु रथ्यासंलग्नग्रहान्तरवलनीवातायनस्या तत्र स्थितं पश्यति । पश्यन्ती
मामर्थं पश्येदिति शङ्कया वातायने शरीरस्नानर्पणात् । ‘ललितललितैः’ इति पाठेऽविमर्शो-
रनैरित्यर्थः । अत्रानुकम्पायां कप्रत्ययविधानात्तद्व्यञ्जेन सौकुमार्येण दुःखासहिष्णुत्वा-
मिव्यक्तिद्वारा विप्रलम्भोत्कर्षः” इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

१. ‘परिच्छेदेति । मालतीमाधवं एव मकरन्दं प्रति माधवस्य स्वावस्थाकथनमेतत् ।
मम कोऽपि विकारोऽन्तरन्तःकरणं जडयति स्तम्भयति । विषयाग्राहकं करोतीति यावत् ।
तथा तापं विरहस्तपां च कुरुत इत्यन्वयः । कथंभूतः । परिच्छेद इयत्ता विरामो वा
तमतीतोऽतिक्रान्तः । तद्रहित इत्यर्थः । तथा सकलानां शकलाश्लेषिकव्यञ्जकानां वचनानां
शब्दानामविषयः । शकला लक्षणया व्यञ्जनयापि वा प्राप्तपादयितुमशक्यत्वात् । पुनः-
शब्दोऽत्र कालान्तरमात्रे, न त्वावृत्तौ । तस्या औत्तरकालिकवदार्थाश्रितत्वात् । तथा च
यो विकारोऽसिञ्जन्मनि पुनरन्यदानुभवपथमनुभवगाचरत्वं न गतवानित्यर्थः । ‘पुनरिति
त्वर्थे । असिञ्जन्मनि त्वनुभवपथं न गतवानित्यर्थः’ इति केचित् । पुनः कीदृक् । विवे-
कस्य गुणदोषविषयस्य प्रध्वंसाग्राशादुपचितेन प्रवृत्तेन महता मोहेन विपरीतज्ञानेन गह्नो

निपातरूपपदैकदेशस्य यथा—

‘कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।

तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥’

अत्र चद्वयेन मनोगर्वाभिमुखीकरणशत्रुहननयोरेककालतारूपः समुच्चयो द्योत्यते । यद्यपि चेति भिन्नमेव पदम्, न त्वन्यस्यैकदेशस्तथापि केवलस्य तस्यासाधुत्वात्पदैकदेशत्वोपचारेणोदाहरणम् । अत एवोक्तं भोजराजेनोपमा-प्रकरणे—‘नहीवादेः सार्थकत्वेऽपि पृथक्पदतामनुशास्ति’ इति । एतेन तिष्ठन्त-समभिव्याहृता उपसर्गा अपि व्याख्याताः ।

अथ बहूनां यथा—

‘रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-

मस्मद्भान्यविपर्ययाद्यदिपरं देवो न जानाति तम् ।

व्यास इत्यर्थः । अत्र प्रशब्देन समूलोन्मूलनलक्षणः प्रकर्षस्तद्वारा वा मोहप्रकर्षो व्यज्यते । तेन रागातिशयस्तेन च विप्रलम्भातिशय इति ज्ञेयम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. कृतं चेति । नृपं प्रति मन्त्रिण उक्तिः । हे राजन्, त्वया मनो गर्वस्याभिमुखं न तु गर्वितं कृतं च किमन्यत् । अपेक्षितमिति शेषः । एवं शस्त्रप्रयोगादिकं विना नोऽस्माकं द्विषः शत्रवो निहताश्च । न तु निहनिष्यन्ते । दृष्टान्तमाह—तमांसीति । अंशुमान्मूर्खो यावदुदयाद्रेमौलितां क्षीरोलंकारतां नायाति तावदेव तमांसि तिष्ठन्ति । तस्मिंस्तु तथाभूते न तिष्ठन्तीति वैधर्म्येण दृष्टान्तः । अत्र चकाराभ्यां स्वसमभिव्याहृतक्रिययोस्तुल्यकाल-तारूपः समुच्चयस्तद्वारा वा वीरप्रकर्षो ध्वन्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘रामोऽसा-विति । राघवानन्दे रावणमुद्दिश्य कुम्भकर्णवचनम् । असौ खरदूषणादिहन्तृत्वेन प्रसिद्धो रामो भुवनेषु न तु यत्रकुत्रचित् विक्रमसंबन्धिभिः संधिविग्रहादिभिस्तत्प्रमुखैर्वा धैर्यादिभि-गुणैर्न तु दोषैः परामुत्कृष्टां प्रसिद्धिं प्राप्तः । यदिपरमित्यखण्डो निपातोऽवधारणार्थः । तं रामं देवो भवान्यदिपरं केवलमस्माकं सर्वेषां भाग्यस्य विपर्ययादुर्भाग्यत्वेन परिणामात् जानाति, न तु भाग्याभावात् । तस्मिन्नि सति सत्फलाभावमात्रम्, न त्वसत्फलम् । दुर्भाग्यात्तत्फलमिति विपर्ययपदद्योत्यम् । तं देवो जानात्येव । यदि न जानाति तदा परं केवलं भाग्यविपर्ययादिति वार्थः । ‘यदि पुनः’ इति पाठेऽयमेवार्थः । प्रसिद्धिहेतुभूतविक्र-मगुणोदाहरणमाह—बन्दीवेति । एष मरुदायुर्बन्दी वैतालिक इव सप्तभिः स्वरैः षड्जाद्यै-र्यस्य यज्ञांसि गायत्रीत्युत्प्रेक्षागर्भम् । कीदृशैः । एकवाणाहतौ तन्निमित्तं श्रेणीभूतानां विशालानां विस्तृतानां तालवृक्षाणां विवरै रन्ध्रैरुद्गीर्णाः प्रकाशितास्तैस्तथाभूतैः । एकवाण-स्यादितिर्वत्र एवंभूता इति तालविशेषणम् ।’ इति केचित् । ‘एकवाणाहत’ इति सम्य-कपाठः । रामेण सुग्रीवप्रत्ययाय विसंछुलाः सप्तताला एकवाणेन भिन्ना इत्याख्यानम् । अत्रासाविति सर्वनाम्नः भुवनेष्विति गुणैरिति वचनप्रातिपदिकवचनम् । अस्मादिति सर्वा-क्षेपिणो भाग्यविपर्ययादित्यन्वया परिणाममुखेनाभिधानस्य च व्यञ्जकत्वं सहृदयवेद्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

बन्दीवैष यशांसि गायति मरुदस्यैकवाणाहति-

श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्वीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥'

अत्रासाविति सर्वनाम्नः । भुवनेष्विति न तु देशेष्विति । भुवनेष्वे(ष्व)ति भुवनरूपप्रातिपदिकस्य बहुवचनस्य च विक्रमगुणैरिति न तु गुणेन दोषैर्वेति प्रातिपदिकवचनयोर्व्यञ्जकत्वम् । किंचास्मद्भाष्येत्यत्र न त्वद्भाष्येति न वा मद्भाष्येति कृतम् । तेनास्मादित्यस्य बहुवचनसिद्धतया सर्वाक्षेपकत्वम् । तथा भाग्यविपर्ययादित्यन्यथा संपत्तिमुखेनोक्तम्, न त्वभाग्यादित्यभावमुखेन । अतस्तथाविधानेनाभाग्यविरहेऽपि भाग्यान्येव तादृशत्वेन परिणतानीति व्यज्यते ।

‘तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भुवोः पठत्यग्रे ।

अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥’

अत्र तरुणिमनीति इमनिचस्तरुणत्वपदेन, अनुमदनधनुरित्यव्ययीभावस्य धनुःसमीप इत्यनेन, मौलिमधिवसतीति कर्मभूताधारस्य मौलौ वसतीत्यनेन तुल्यत्वेऽपि वाचकत्वेऽस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकः । तत्र त्वशब्देन प्रकृत्यर्थस्य प्रौढत्वं व्यज्यते । इमनिचा तु तद्व्यतिरेको नवत्वम् । धनुषः समीप इत्यत्र धनुषोऽत्यन्तं गुणीभावः । अव्ययीभावे तु पूर्वपदार्थप्राधान्येऽप्युत्तरपदार्थस्य किंचिदेवाप्राधान्यम् । कर्मभूताधारस्थले तु व्याप्तिरवगम्यत इत्यवसेयम् । एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् ।

वर्णरचनयोर्व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते । प्रबन्धे तु नाटकादौ रसादिव्यञ्जकत्वं द्रष्टव्यम् ।

यत्तु—‘पूर्वं प्रबन्धशब्देन संघटितावान्तरवाक्यसमूहोऽभिहितः । इदानीं तु संघटितमहावाक्यमित्यपौनरुक्त्यम् ।’ इति कश्चिदाह । तदज्ञानात् । पूर्वं इत्यर्थशक्तिमूलमात्रस्य प्रबन्धविषयत्वम्, अत्र त्वसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्येति पौनरुक्त्याभावात् ।

यितुमाह—एतेनेति । वर्णरचनयोरिति । गुणस्वरूपानवगतौ तद्व्यञ्जकनिरूपणासंभवादित्यस्य चार्थस्य वर्णरचनाव्यङ्ग्यस्याभावादत्र तदनिरूपणमिति भावः । इदमेवेमनिजादिपदैकदेशाद्दर्शानां भेदकमित्यपि वदन्ति । वस्तुतस्तत्स्वर्यविशेषेऽननुशि-

१. ‘तरुणिमनीति । इयं चकितस्य भीतस्य हरिणस्येव चले चञ्चले नयने यस्यास्तथाभूता नायिका सकलानां ललनानां स्त्रीणां मौलिमधिवसति । मौलौ तिष्ठतीत्यर्थः । ‘उपान्वध्वाङ्गुः’ इत्याधारस्य कर्मसंज्ञा । कसिरुसति । तरुणिमनि तारुण्ये कलामुपचयं कलयत्याश्रयति सति । तथा भुवोरग्रे शिष्यभूते अनुमदनधनुर्मदनधनुषो गुरुभूतस्य समीपे पठति सति । अर्थात्तत्कौशलं शिक्षति सति । केचित्तु—‘कलां चातुरीं कलयति प्रकाशयति सतीत्यर्थः । पठतीत्यत्रापि कलामित्यनुपपन्नः’ इत्याहुः । अत्रेमनिचा प्रकृत्यर्थस्य नवत्वं पूर्वपदार्थप्राधान्याव्ययीभावेन च धनुषोऽनुगुणतां प्रकाशयता ततोऽप्यधिकं जगद्गोकारकौशलं भ्रूलताग्रस्य प्रत्याप्यते । मौलिमिति कर्मतया व्याप्तिस्वरूपेण सौन्दर्यातिशय इति ज्ञेयम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

भेदास्तदेकपञ्चाशत्

तथाहि—अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ । तौ च प्रत्येकं पदवाक्ययोरिति चत्वारः । विवक्षितान्यपरवाच्येषु मध्येऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः पदवाक्यतदेकदेश-
घटनावर्णप्रबन्धभेदेन षड्विधः । लक्ष्यक्रमेषु शब्दशक्तिमूलस्य द्वौ भेदौ । तौ च प्रत्येकं पदवाक्ययोरिति तस्य चत्वारो भेदाः । अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः । ते च प्रत्येकं पदवाक्यप्रबन्धेष्विति षट्त्रिंशदस्य भेदाः । उभयशक्ति-
मूलस्तु वाक्य एवेति ।

तेषां चान्योन्ययोजनम् ॥ २० ॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

वेदस्वाब्धिवियचन्द्राः

संशयेनाङ्गाङ्गिभावनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधः संकरः । उक्तप्रकार-
त्रयं विना संयोगः संसृष्टिः । एवमेकपञ्चाशतो भेदानामेकपञ्चाशता भेदैर्यो-
जनमिति तावतां तावद्गुणेन सहस्रद्वयमेकाधिका षट्शती च । संयोजनं च
संसृष्ट्यादिचतुःप्रकारैरिति तावतां चतुर्भिर्गुणेन दशसहस्राणि चतुरधिकानि
चत्वारिंशतानि च संपद्यन्ते ।

न चानुग्राह्यानुग्राहकभावेन संकरस्थलेऽनुग्राहकस्याङ्गतया गुणीभाव इति न
ध्वनिसंकरत्वमिति वाच्यम् । तत्र हि स्वतश्चमत्कारिण एव तस्य किञ्चित्परोप-
कारतामात्रम् । न तु शेषशेषिभाव एवेति । नन्वस्त्वेकपञ्चाशन्नेदेष्वेकतराणां
पञ्चाशता योजनम्, स्वस्य तु स्वेन कथं योजनेति चेत् । न । व्यक्तिभेदमादाय
विजातीयवत्सजातीयेनापि संकरादिति सूत्रकर्तुराशयः ।

अत्रार्वाचीनाः—“गणनेयमयुक्ता । अग्रिमाग्रिमभेदस्य योजने एकैकभेद-
ह्रासात् । तथा हि—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्येन योजने
यो भेदः स एवात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्येन योजनायाम् ।
एवमन्यत्रापि । तस्मात्

‘एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु ।

समार्धेनासमो गुण्य एतत्संकलितं लघु ॥’

एवमेकं भेदकं वर्णरचनयोः । पदैकदेशादेरिति बोध्यम् । स्वतश्चमत्कारिण
एवेति । यथा—“राघवविरहज्वालासंतापितशैलसह्यशिखरेषु । शिशिरे सुखं
शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥” इति पण्डितराजपथे ज्ञानकीकुसल-
वेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिण एव सतो हनुमद्विषयक-

१. क. पुस्तके ‘तेषां चान्योन्ययोजनम्’ अस्मादनन्तरं ‘तेषामिति । भेदानामित्यर्थः ।
इत्यधिकमस्ति. २. ‘संकरेणेति संशयेन’ क.

इत्युक्तदिशा द्विपञ्चाशदर्थेन षड्विंशत्या एकपञ्चाशतं गुणयेत् । तथा च 'रसद-
स्त्राग्निमेदिन्यः' इति त्रयोदशशतानि षड्विंशत्यधिकानि जायन्ते । योगश्चतुः-
प्रकार इति तेषु चतुर्भिर्गुणितेषु 'वेदाभ्रदहनेषवः' इति पञ्चसहस्राणि चतुरधिकं
शतत्रयं संकीर्णमेदा इत्येव ज्यायः" इति वदन्ति ।

अत्र ब्रूमः—अनुभवसिद्धौ तावत्पुण्ड्रकादीक्षुरसेष्विव ध्वनिष्वपि हृद्यत्वा-
तिशयानुशयौ । तथा चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य यत्रातिशयस्तत्रात्यन्ततिरस्कृत-
वाच्येन तद्योजनम् । यत्र तु तद्वैपरीत्यं तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्येति तरेण योजन-
मिति व्यपदेशः । एवमन्यत्राप्युद्धम् । एतदेव प्राधान्यमादाय गणना सौत्री ।
नन्वेवं यत्रोभयोस्तुल्यमेव चारुत्वं तत्र मेदान्तरं स्यादिति मैवम् । अपकर्षा-
भावस्यातिशयपदेन विवक्षितत्वात् तत्रोभयमेदसंकरस्वीकारात् । एतादृशे चा-
स्थाने पदालम्बनमात्रमेव महत्पर्यारूपमिति सहृदयभावमास्थायालोचनीयमिति ।

शुद्धमेदैः सह

शरेषुयुगखेन्दवः ॥ २१ ॥

तेषु दिव्यात्रमुदाह्रियते—

'छणप्राणुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिदा ।

रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिजउ वराई ॥'

अत्रानुनयतेर्वाच्योऽनुनयः किमुपभोगत्वलक्षणे लक्ष्ये संक्रमितः, आहोस्वि-
द्विवक्षित एवोपभोगस्य व्यञ्जक इत्यविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्ययोः
संदेहः संकरः ।

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिसवियता बेल्लइलाका घना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

पिकुलकोपोपपादकत्वेऽपि न ध्वनित्वव्याहतिः । वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वादेर्हि कचिदेव
गुणीभूतव्यञ्जकत्वापादकत्वम्, यत्र न चमत्कारातिशयः । न तु तत्सद्भावेऽपीति
भावः । वस्तुतो रसाद्यपेक्षया गुणीभावेऽपि वाच्यापेक्षया प्राधान्याच्च ध्वनित्वक्ष-
तिरित्यवधेयम् । छणेति । 'क्षणप्राणुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति पश्चाद्भागवलमीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥' क्षणे उत्सवे प्राणुणिका अतिथिः ।
किमप्यवाच्यम् । अत्रेति । कोपस्याभावाद्वाजरूपतयोच्यमानोऽनुनयो लक्षणयो-

१. 'छणेति । देवानुरक्तामुपनायिका मुत्सवागतां तत्पत्न्या कटूक्तामनुनेतुं देवरं प्रति
कस्याश्चिदुक्तिरियम् । पडोहरशब्दो गृहपश्चाद्भागे देशी । प्रतिपक्षिवाचीत्येके । हे देवर
सुभग, क्षणे उत्सवे प्राणुणिका अभ्यागता काचित्ते तव जायया पत्न्या किमप्यवाच्यं
भणिता उक्ता सती गृहस्य पश्चाद्भागे यद्वलमीगृहमुपरितनगृहं तत्र रोदिति । अतएव
वराकी दीनानुनीयतां समाधीयतामित्यर्थः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'ल्लिखेति ।
विरहिणो रामस्येवमुक्तिः । लिख्वा श्लक्ष्णा श्यामला च वा कान्तिस्तया लिप्तं संपृक्तं वियदा-
काशं वैः । तथा बेल्लन्तो विलासेन खेलन्त्यो बलाका वक्रपङ्क्त्या येषु तथाभूता घना मेधा

कामं सन्तु हृदं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥'

अत्र मुख्यार्थवाधाद्विषयपदं संपर्कं लक्ष्यदतिशयं व्यनक्ति । पयोदे चाचेतने सौहृदाभावात्सुहृत्पदमुपकारित्वं लक्ष्यत्तदतिशयं प्रतिपादयति । पयोदानां मयूरनिष्ठकेकाद्युपकारशीलत्वात् । रामपदं च सर्वसहत्वानुपयुक्तशक्यार्थतया सकलदुःखभाजनत्वं लक्ष्यस्तीतां विनापि जीविष्यामीति व्यञ्जयदेव विप्रलम्भं व्यनक्ति । तत्र लिखेति पयोदसुहृदामित्यनयोरत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह राम इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन संकरः । तयोरुद्दीपकत्वात् । रामपदेन चैकव्यञ्जकानुप्रवेशनार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः संकरः । रामोऽस्मीत्यनेनैव लक्षणामूलस्य विप्रलम्भस्य च व्यञ्जनाद्विप्रलम्भे वाक्यव्यञ्जनेऽप्यस्य प्राधान्यात् । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे ध्वनिप्रभेदविभागश्चतुर्थ उल्लासः ।

पमोगप्रतिपादकः । उपमोगगतसामञ्जस्यं व्यञ्ज्यम् । अथवा बाधाभावाद्वाच्य एवोपमोगव्यञ्जक इत्यर्थः । उभयथाप्युपमोग एव तात्पर्यपर्यवसानात्संदेहस्यादोषत्वम् । लक्षणामूलस्येति । सीतां विनापि जीविष्यामीति व्यञ्ज्यस्येत्यर्थः ॥ इति श्रीमत्तत्सदुपाख्यरामचन्द्रभट्टसूरिवरसूनुवैद्यनाथभट्टकृतायां प्रदीपप्रभायां चतुर्थ उल्लासः ॥

एव घना निविडाः कामं यथेष्टं सन्तु । तथा शीकरिणोऽम्बुकणशालिनो वाताः । शीकरिण इति नित्ययोगे । तेन मान्यलाभः । एवं पयोदो मेघः सुहृत्केकाद्युपकारजनको येषां ते तथाभूताः केकापदसांनिध्यान्मयूराः । तेषामानन्देन केका वाण्यः । अतएव कला अव्यक्तमधुराः । आनन्देन कण्ठजाब्ध्यात्कामं सन्तु । सुहृदमतिशयितं कठोरहृदयोऽहं रामः सकलदुःखपात्रत्वेन प्रसिद्धोऽस्मि । अतएव सर्वमुक्तोद्दीपकातिशयजनितं क्लेशं सहे । वैदेही विदेहराजपुत्री तु सुकुमारतया दुःखाक्षमा कथं भविष्यति जीविष्यति । तस्या जीवनं न संभाव्यत इत्यर्थः । हहाहेति त्रयो निपाताः खेदातिशये । भावनोपनीतां सीतां संबोध्याह—देवीति । धीरा भव धैर्यं कुरु । अतएव देवीति संबोधनम् । देवत्वेन धैर्यस्योचितत्वात् । यत्तु—‘सीतामरणं संभाव्य पृथ्वीं प्रत्याह—हे सर्वसहे वसुधे देवि, धीरा भव दुहितृशोकेन त्वं मा विदीर्णा भूरित्यर्थो मदीयः’ इत्युक्त्वा पूर्वोक्तायैऽज्ञानकृतत्वाभिधानं कस्यचित्तत्काव्यहृदयानभिज्ञतया जल्पितमिति सहृदयैरुपेक्ष्यम् । अत्र द्रवद्रव्यसंयोगस्य लेपस्य हितकारित्वस्य सुहृत्त्वस्य कान्तिमेषयोर्बाधादुक्तार्थलक्षणा । लेपसुहृत्त्वयोः सर्वधान्वयाननुप्रवेशादत्यन्ततिरस्कृतत्वम् । लक्ष्यातिशयो व्यञ्ज्यौ । तयोस्मिन्नूपसंकराभावात्संसृष्टिः । रामपदेन च सर्वसहत्वानुपयुक्तार्थतया उक्तार्थसंक्रमितवाच्येन पीडासहस्यसंपातेऽपि प्राणधारणादात्मनि न्यक्कारो व्यज्यते । तत्र च धनकेकाचिरस्यायित्वयोल्लिखसुहृत्पदव्यञ्जयोरनुग्राहकत्वं व्यक्तमेव । एवमेकेन रामपदेन दुःखभाजनत्वलक्षणया राज्यत्यागवतवासजयावल्कलधारणस्त्रीवियोगादिपात्रतया तदतिशयव्यक्तिः । तद्वारा च सीतां विनापि जीविष्यामीति शोकावेगनिर्वेदाद्यभिष्यक्तिमुखेन विप्रलम्भपरिपोष इति लक्षणामूल-तिशयध्वनिरसध्वन्योः संकर इति दिक् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

प्रथम उल्लासः ।

एवं ध्वनौ भेदप्रभेदाभ्यां निर्णति गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदानाह—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।

संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ १ ॥

व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा मताः ।

वाच्यापेक्षया अचमत्कारकारित्वेन व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः । तच्च स्वत एवा-
सुन्दरत्वेन, अगूढत्वादिविशेषणसप्तकेन वेत्यर्थः । अगूढं चासहृदयैरपि वेद्यम् ।
त्रादृशं वाच्यायमानतया च तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकलझवद्भूषम् ।
एवमन्येष्वपि भेदेष्वनुभव एव साक्षी । अपरस्याङ्गमपरस्य रसादेः स्वनैरपेक्ष्येण
लब्धसिद्धेरुपकारकम् । वाच्यसिद्ध्यङ्गं वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तत् ।
अस्फुटं सहृदयानामपि दुःखसंवेद्यम् । संदिग्धतुल्यप्राधान्य इति । संदिग्ध-
प्राधान्यं तुल्यप्राधान्यं चेति द्वयमित्यर्थः । काकाक्षिप्तं यथा काका बिना
वाक्यार्थ एव नात्मानं लभते तथा प्रकाश्यम् । काका हृटेनोपस्थापितमिति
वा । असुन्दरं स्वभावादेव वाच्यापेक्षया अचारु ।

तेष्वगूढं यथा—

‘यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-

सूचीवधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।

अवसरसंगतिं दर्शयितुमाह—एवमिति । अगूढमिति । व्यङ्ग्यमेवंप्रकारम् ।
तेन गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य काव्यस्याष्टौ भिदा मता इत्यर्थः । अथवा व्यङ्ग्यमगूढत्वादिध-
र्मवत् । एवं सत्यष्टौ भिदा मता इत्यर्थः । अपराङ्गत्वादेर्नियमेन गुणीभावप्रयो-
जकत्वव्यावृत्त्यर्थमाह—वाच्यापेक्षयेति । तथा च वाच्यादतिशयचमत्काराभावे
सत्येव मध्यमत्वम् । न तु तदसत्त्वे केवलापराङ्गत्वादिनेति भावः । वाच्यातिशायि-
यत्वाभावस्यापराङ्गप्रयुक्ततायामनुभवं प्रमाणयति—एवमिति । एवं च यत्र नाल-
भवस्तत्र न मध्यमभेदान्तर्भाव इति सूचितम् । अपरस्येति । द्विविध इत्यनन्तरं

१. ‘चमत्कारकारि’ क. २. ‘वृहन्नलदशायां स्वास्त्युदयाय किमिति न चेष्टस
इत्युक्तेऽर्थनोक्तिरियम् । असुहृदा वैरिणा कृता तिरस्कृतिर्यस्य तथाभूतो नृपो यस्य मम
यस्य । शरणमिति शेषः । तप्तया सूच्या यो व्यधो वेधस्तस्य व्यतिकरेण संबन्धेन कर्णौ
युनक्ति संबन्धति । शरणागतस्य तप्तलौहशलाकया कर्णवेधो देशाचार इति स्वयमेव शर-
णागतत्वसूचनाय तथा करोतीत्यर्थः । स एष ऐश्वर्यभ्रष्टोऽहं कात्र्या गुणेन प्रकर्षेण यद्वधनं
तस्य भाजनं पात्रमसि । तत्र नियुक्त इति यावत् । अतः संप्रत्यधुना न तु पूर्वं जीवन्न,
भवामि । अश्वाप्यजीवन इत्यर्थः । किमावहामि किं करोमि । अथवाऽसुहृत्कृततिरस्कृतिस्तदातां
तप्तसूचीवधव्यतिकरेण कर्णौ युनक्ति । कर्णयोस्तादृन्दुःखमुत्पादयतीत्यर्थः । असीलहमर्थ-
वा । कात्र्योगुणप्रयन्नभाजनं स एषोऽहमित्याद्यन्वय इति ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि

जीवन्न संप्रति भवामि किमावहामि ॥'

अत्र जीवन्नित्यभिमतकार्यशक्तत्वे संक्रमितवाच्यम् । तस्य च मरणमेव श्रेय इति व्यङ्ग्यमसहृदयैरपि वाच्यवत्प्रतीयते इति गुणीभूतम् ।

‘उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्किताङ्गा

गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।

एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-

पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥'

अत्र चुम्बतेर्वक्रसंयोगो मुख्योऽर्थोऽचेतने बाधित इति संयोगमात्रं लक्ष्यतोऽस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् । व्यङ्ग्यश्चास्योपःकालो वाच्यायमानतया गुणीभूतः । नन्वत्र लक्ष्यतावच्छेदकस्य संयोगत्वस्य वक्रसंयोगेऽपि सत्त्वात्कथमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वमिति चेत्, लक्ष्यतावच्छेदकस्य सत्त्वेऽपि वाच्यस्य संयोगविशेषस्यान्वयाप्रवेशात् ।

‘अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्या भवद्देवरे

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहतः ।

व्यङ्ग्योऽर्थ इति शेषः । प्रथमे अलक्ष्यक्रमरूपापराङ्गभेदे । रसादेर्वाच्याङ्गता त्वसंभवाद्भोदाहृतेत्याहुः । यत्र तु ‘तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी । निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥’ इत्यादौ रामगतवीररसस्यारण्योत्कर्षकतया तदङ्गत्वं तत्रोदात्तालङ्कारो वक्ष्यते । महतां चोपलक्षणमिति महतां

१. ‘उन्निद्रेति । नायकेन सह सुप्तां रतिश्रमालसतयानाकलितप्रबोधसमयां सखीं प्रति तत्सूचनाय सख्या इत्यमुक्तिः । मधुपा भ्रमरा गृहसंबन्धिनीषु दीर्घिकासु वापीषु मञ्जु मनोहरं यथा स्यात्तथा गायन्ति । एतद्वेर्विम्बं चकास्ति दीप्यते चेत्यन्वयः । तथा च सूर्योदयप्रतीक्षणमप्यनाशङ्क्यमिति भावः । गृहेत्यनेनातिनिकटस्थतया सकलगृहजनवेद्यतयानौचित्यप्रकाशनम् । कीदृशा मधुपाः । उन्निद्रं विकसितं कोकनदं रक्तोत्पलं तस्य रेणुना परागेण पिशङ्कितानि कृष्णरक्तयोर्मिश्रणात्पिङ्गलवर्णान्वङ्गानि येषां ते तथाभूताः । अङ्गपदोपादानात्सर्वाङ्गन्यापि तद्वर्णलभः । कीदृशं बिम्बम् । उदयस्य संबन्धिनमचलं पर्वतं चुम्बति स्पर्शतीति तथाभूतम् । अत एवेषदुदितत्वान्नवस्य नूतनविकसितस्य बन्धुजीवाख्यपुष्पस्य च्छदं पत्रं तद्वदामा यस्य तथाभूतम् । रक्तत्वात्सूक्ष्मत्वाच्चेति । अत्र चुम्बतेरत्यन्ततिरस्कृतवाच्यव्यङ्ग्यमुपःकालरूपमगूढम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका. २. ‘अत्रेति । रावणं हत्वा विमानेनायोध्यामागच्छतो रामस्य सीतां प्रतीयमुक्तिः । ‘एकस्या एव समरमुवस्तत्तत्कर्माधारतया प्रत्येकं नवनवायमानाद्भूतरसालम्बनत्वेन पुनः पुनरत्रेत्यस्योपादानम् । यद्वा ‘भिन्नान्येव स्थानान्यत्र पदैरुक्तानि’ इति दीपिकायाम् । फणिपाशो नागपाशस्तेन यद्वन्धनमर्थादावयोस्तस्य विधिरासीत् । विधेरलङ्घ्यत्वादनपकर्ष इति सूचनाय विधिग्रहणम् । शक्यायुधविशेषेण भवत्या देवरे लक्ष्मणे वक्षसि गाढं दृढं ताडिते सति

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रार्पितः

केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥'

अत्रानुनायकोपनायकप्रतिनायकेषु निर्दिष्टेषु चतुर्थवाक्येऽनुक्तोऽपि नायको राम एवार्थशक्त्या प्रतीयते । स च केनापीत्युपादानेन वाच्यायमानतया अगूढः कृतः । 'तस्याप्यत्र' इति पाठे गूढतया ध्वनित्वमव्याहतमेव । अत्र श्लोके प्रतिवाक्यमत्रेत्युपादाने प्रत्येकमेवाद्भुतत्वं व्यनक्ति ।

अपरस्पररसादेर्वाच्यस्य वा प्रधानस्याङ्गमलक्ष्यक्रमः, अनुस्वानाभलक्ष्यक्रमो वेति द्विविधः । तत्र प्रथमे रसस्याङ्गभावेन गुणीभूतत्वं यथा—

‘अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः ॥’

अत्र भूरिश्रवसश्छिन्नं हस्तमासाद्य तद्वधूनां प्रलापे शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् । निष्पन्नस्य रसस्यापराङ्गत्वाभावादसपदेनात्र स्थायिभावो द्रष्टव्यः ।

रसस्यैव भावाङ्गता यथा—

‘कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-

व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।

हनुमता द्रोणाद्रिदिव्यौषधीयुक्त आहत आनीत इति तत्पराक्रमप्रकाशनम् । भव-
द्देव इति संबन्धप्रदर्शनमुपकारप्रकाशनार्थम् । इन्द्रजिद्रावणपुत्रः । दिव्यैर्दिवि भवैः ।
तादृशैरित्यर्थः । लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं स्वर्गं प्रार्पितः । दिव्यानां तत्प्रापकत्वस्योन्वितत्वात् ।
मृगाक्षीति सर्ववाक्यार्थान्वयि । केनापीत्यभिर्हृत्याम् । राक्षसपते रावणस्य कण्ठरूपाटव्य-
रण्यं कृत्ता छिन्नेत्यर्थः । अत्रेन्द्रजित्वेनोपन्यासाद्धन्तुरुत्कर्षलाभः । लक्ष्मणशरैरिति शरणां
कर्तृत्वप्रदर्शनं लक्ष्मणस्यावहेलनसूचनार्थम् । अङ्कारप्रकटनभयाद्दीरोदात्तनायकेन केनापी-
त्युक्तम् । छिन्नस्य पुनःपुनरुद्धतस्य च्छेदनादटवीत्युक्तम् । अत्र केनापीत्यर्थशक्तिमूलं
संलक्ष्यक्रमं रामरूपं व्यङ्ग्यमगूढम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'अयमिति । रणभूमिपतितं भूरिश्रवसश्छिन्नं हस्तमादाय तद्वधूप्रलापेक्तिरियम् ।
अयं दृश्यमानावस्यः पूर्वमनुभूतावस्यः कर इत्यन्वयः । पूर्वावस्थामेवाह—रशनेत्यादि ।
रशनां काञ्चीमुत्कर्षत्याकर्षतीति तथा । पीनयोः स्तनयोर्विमर्दनकारी । नाभिश्च ऊरु च जघनं
चैतानि स्पृशतीति तच्छीलः । नीव्या वसनग्रन्थैर्विस्त्रंसनो मोचक इति । एवं चैवंविधशृङ्गा-
रलीलापात्रभूतस्येदृशदुरवस्थाप्राप्तिरिति करुणपरिपोषः । तेन शृङ्गाररूपं व्यङ्ग्यमपराङ्गत्वा-
द्गुणीभूतम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'कैलासेति । गिरिभुवः पार्वत्याः सा पाद-
नखानां धृतिः कान्तिर्वा युष्मान्सदा त्रायतां रक्षत्विति संबन्धः । कीदृशी । कैलास आलयः
स्थानं यस्य तथाभूतस्य शिवस्य भालसंबन्धिलोचनस्य रुचारुणकान्त्या निर्वर्तिता निष्पादि-
तालक्तकस्य लाक्षारसस्य व्यक्तिः प्रकटता यस्यां तथाभूता । मानिन्याः पादपतने सानि-
ध्येन लाक्षारुणललाटनेत्रप्रभासंपर्कात् । सा का । यथा धृत्या मुदुर्धं यथा स्यात्तथा रुद्धा प्रवृद्धा
कोकनदस्य रक्तोत्पलस्यानुकारेणानुकरणेन सरसातिशयिता नेत्रयोः कान्तिः कोपजनिता
शोणा धृतिः सद्यस्तत्क्षणं सम्यङ्निःशेषं यथास्यात्तथोत्सार्यते दूरीक्रियते । पादपतनगतस्यो

स्पर्धाबन्धसमिद्धयेव सुदृढं रुढा यया नेत्रयोः

कान्तिः कोकनदामुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥'

अत्र वक्तुर्देवीविषयकरतिरूपभावेनैवोः शृङ्गारोऽङ्गम् ।

भावे भावस्याङ्गत्वं यथा—

'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्मोधय-

स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः ।

आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिमां प्रस्तौमि यावद्भव-

स्तावद्विभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥'

अत्र भूविषयो रतिभावो राजविषयस्य रतिभावस्याङ्गम् ।

आभासस्याङ्गत्वं यथा—

'वन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां

क्षिप्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।

अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारानिधे

विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥'

त्सारणकर्तृत्वस्य तदनुभावरूपायां तादृशप्रतापुपचारो वक्ष्यमाणोत्प्रेक्षार्थः । तदाह—
स्पर्धायां विजिगीषायां बन्धेन सातत्येन समिद्धयातिदीप्तयेवेति । अत्र भाललोचनरुचिसंप-
र्ककृतं दीप्तत्वं स्पर्धाबन्धहेतुत्वेनोत्प्रेक्षितं वेदितव्यम् । अत्र पादपतनाभिव्यक्तमहादेवरत्ना-
स्पदत्वेन पार्वतीविषयो भावः प्रकृत्यत इति तत्प्राधान्यम् । एवमन्यत्राप्यङ्गाङ्गिभावः सुधी-
भिरुद्गनीयः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'अत्युच्चा इति । राजानं प्रति कवेरियमुक्तिः । परितः समन्ततः । स्फारा विस्तीर्णा
इत्युभयान्वितम् । अम्मोधय इत्यनन्तरं स्फुरन्तीत्यनुषङ्गः । अपिभिन्नक्रमः । बिभ्रत्यपि धार-
यन्त्यपि किमपि किञ्चिदपि न क्लान्तासि श्रान्तासीति हे पृथ्वीति संबोधनपदाभ्याहारैणा-
न्वयः । एवंविधगिर्यादिधारणेऽप्यङ्गमादाश्चर्येण यावद्भवः पृथिव्या इति पूर्वार्थोक्तां स्तुतिं
मुहुर्वारं वारं प्रस्तौमि प्रसंजयामि । करोमीति यावत् । तावदिमां भुवं विभ्रत्पालयन्नेव तव
भुजो न तु भुजौ स्मृतः । ततो भुजसरणाद्वाचो मुद्रिताः संकुचिता इत्यर्थः । अत्र भूविषय-
करतिभावो राजविषयस्य तस्याङ्गम्' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'वन्दीति । हे नृप, ते
तव सैनिका येषां द्विषां शत्रूणां मृगदृशः कातरनेत्रतया मृगनेत्रसमानदृष्टयः स्त्रियो वन्दी-
कृत्य हठादौकृत्य पश्यतां प्रेयसां पश्यतः प्रियाननादृत्य ताः क्षिप्यन्त्यालिङ्गन्ति । हठाकेश-
जमितस्य क्रोधस्य शान्तये प्रणमन्ति । लान्ति गृह्णन्ति आत्मसंत्कुर्वन्तीत्यर्थः । 'लालय-
न्तीत्यर्थः' इत्येके । परितः कामशास्त्रानुक्तस्थलेऽपि चुम्बन्ति मत्तत्वात्वरवेशाच्च । इत्यमनौ-
चित्यप्रवर्तयितापि त्वं तैः प्रत्यर्थिभिः शत्रुभिरिति स्तूयसे इत्यन्वयः । स्तुतिप्रकारमाह—
अस्माकमित्यादि । हे औचित्यवारानिधे औचित्यसमुद्र, अस्माकं सर्वेषां सुकृतैः पुण्यैर्दृशोः ।
मौचदे इति शेषः । निपतितोऽसि । तत्तस्मात्त्वदर्शनादखिला विपदो विनष्टा ध्वस्ता इति ।
अत्र पूर्वार्थे शृङ्गारोऽभ्युपगमविषयत्वादाभासः । उत्तरार्थे शत्रुविषयत्वादतिभावभासः । तौ
तव कविगतराजविषयकरतिभावाङ्गम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र प्रथमार्धे शृङ्गारोऽनुरक्तविषयतया, द्वितीयार्धे तु रतिरूपो भावः शत्रुविषयतया आभासः । तौ च राजविषयकरतिभावस्याङ्गम् ।

भावशान्तेर्यथा—

‘अविरलकरवालकम्पनैर्भुङ्कुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः कापि तवेक्षणे क्षणात् ॥’

अत्र वैरिणो गर्वरूपो भावः । तस्य शमो राजविषयकरतिभावेऽङ्गम् ।

भावोदयस्य यथा—

‘साकं कुरङ्गकदशा मधुपानलीलाः

कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।

अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं

केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥’

अत्र विषमावस्थायव्यङ्ग्यस्य त्रासस्वरूपभावस्योदयो राजविषयरतिभावस्य ।

भावसंधेर्यथा—

‘असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः

कथानां विस्मम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।

वीरादीनामुपलक्षणत्वमितराङ्गत्वं चेत्तदप्युदात्तमित्यनुवृत्तेरान्वयादित्यर्थः । गर्वरूपो भाव इति । गत इत्यनेन मुख्यार्थबाधाच्छमो लक्ष्यते । तत्प्रकर्षस्तु

१. ‘अविरलेति । हे राजन्, अविरलं निरन्तरं करवालस्य खड्गस्य कम्पनैः, भुङ्कुटीपूर्वकैस्तर्जनैश्छिन्धिभिन्वीत्यादिवाक्यैः, गर्जनैर्दुर्कारसिंहनादरूपैर्लिङ्गैस्तव वैरिणां यो मदोऽस्माभिर्मुहुर्ददृशे दृष्टः स मदो गर्वस्रवेक्षणे दर्शने सति क्षणात्कापि गतः पलायित इत्यन्वयः । अत्र गतः इत्यनेनात्रेतरने मदे मुख्यार्थबाधाशो लक्ष्यते । तदतिशयस्य व्यङ्ग्ये राजविषयभावस्याङ्गम् । अत एवोक्तं वृत्तिकृता—‘प्रशमः’ इति इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

२. ‘साकमिति । हे विभो प्रभो, तव वैरिणि कुरङ्गकदशा बालकुरङ्गनेत्रया कान्तया सुहृद्भिरपि साकं सार्धं मधुपानाद्या लीलाः कर्तुं प्रवृत्ते सति अन्याभिधायि अनेकार्थैतवाग्यामि प्रायकं केनापि जनेन हेतुना वा गृहीतमुच्चारितं तव नाम कर्तुं तत्र वैरिणि विषमां कम्पादिकर्त्रीमवस्थामकरोदित्यन्वयः । अत्र च त्रासरूपव्यभिचारिभावोदयो राजविषयभावस्याङ्गम् इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

३. ‘असोढेति । तपः कुर्वती पार्वती बटुवेषेण च्छलयतो महादेवस्य वर्णनमिदम् । कपटेन च्छलेन यो बटोर्महाचारिणो वेषस्तस्यापनयने मोचने त्वराशैलित्याभ्यां युगपत्समकालमभियुक्त आक्रान्तः सरहरः शिवो यो युष्माकं प्रभोदं दिग्बाह्वादित्यन्वयः । त्वराशिथिलतयोर्हेतुगर्भे विशेषणे क्रमेण चरणद्वयेनाह—असोढेत्यादि । तपस इति कर्मणि षष्ठी । तत्काले बटुप्रादुर्भावकाले च्छसन्प्रादुर्भवन्नसहभावो दुःसहत्वमर्थाद्वीर्यास्य तादृशस्य तपसोऽसोढा तपः सोढुमसमर्थः । ‘तपोबलाकृष्टत्वेन स्वरूपमदर्शयित्वा स्थापुमसमर्थः’ श्लोके । ‘ल्लसदसमभावस्य’ इति पाठे ल्लसत्तत्त्वमभावो निरुपमत्वं व्यञ्जित्यर्थः । अथचेति समुदितं समुच्चयार्थकम् । शैलदुहितुः पार्वत्याः कृमानां विस्मम्भेषु विस्मम्भे

प्रमोदं वो दिश्यात्कपटवदुवेषापनयने

त्वरशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः सरहरः ॥'

अत्र सरहरगतयोरारवेगधैर्ययोः संधिः शिवविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

भावशबलताया यथा—

‘पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराहं कुमारी

हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः कासि यासि ।

इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः

कन्या कंचित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥’

अत्र पश्येत्कश्चिदिति शङ्का । चल चपल रे इत्यसूया । का त्वरेति धृतिः । अहं कुमारीति स्मृतिः । हस्तालम्बं वितरेति श्रमः । हहहेति दैन्यम् । व्युत्क्रम इति विबोधश्चैतन्यागमरूपः । कासि यासीत्यौत्सुक्यम् । एषां शबलता नृपविषयरतिभावेऽङ्गम् ।

एते च गुणीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकारव्यपदेशं लभन्ते । ननु गुणीभूतो रसो रसवत्, भावस्तु प्रेयः, रसभावाभासावूर्जस्त्रि, भावशान्तिः समाहित इत्यस्त्येव पूर्वेषामलंकारव्यवहारः, न पुनर्भावोदयादिषु । तत्कथमेतदुच्यत इति चेत् । यद्यन्यवचनं विना मद्वचसि नादरस्तर्हि कश्चित्प्रेक्षावानवश्यं ब्रूयात् ‘रसादिना तुल्यन्यायत्वात्’ इति । ननूदाहृतेषु ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्भेदेषु ध्वनिभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदैरलंकारभेदैर्वावश्यं संकरः संसृष्टिर्वा वर्तते । तत्कथं ध्वनिरिति क्वचित्, क्वचिद्गुणीभूतव्यङ्ग्य इति । तत्रापि क्वचिदलंकारध्वनिरिति,

व्यङ्ग्य इत्याशयः । कश्चित्प्रेक्षावानिति । तदुक्तं चालंकारसर्वस्वकृता—‘भावो-

सेषु । विलम्बकथास्त्विति यावत् । रसिकः प्रीतिमांश्चेत्यर्थः । अत्र त्वराशैथिल्याभ्यामवगतयोरारवेगधैर्ययोः संधिः शिवविषयरतिभावोऽङ्गम्’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘नृपविषय’ क. २. ‘पश्येदिति । हे पृथ्व्याः परिवृढ प्रभो, अरण्ये वृत्तिवर्तनं यस्यैवंभूतस्य भवद्विद्विषः शत्रोः कन्या फलानि किसलयानि कोमलपल्लवांश्च भक्षणार्थमाददाना गृह्णीती कंचिदाक्रान्तुकामं पुरुषं जातानुरागा इत्थमभिधत्त इत्यन्वयः । कथमभिधत्ते तत्राह—पश्येदित्यादि । कश्चिज्जनः पश्येदिति शङ्का । तद्धेतुश्च संगोपनीया पुरुषचेष्टाभिव्यङ्ग्या । रे चपल स्वच्छन्दाचरणाच्चञ्चल, चल अपसरेति काकुविशेषसाहित्याद्रागानुविद्धासूया । का त्वरेति धृतिः सत्त्वरजिगमिषावारणाय । अहं कुमारी । असीति शेषः । तेन कुमार्या मम नैवं स्वातन्त्र्यमुज्जितमिति सरणम् । हस्तरूपमालम्बमवलम्बनं वितर देहीति श्रमस्तदुपमर्दकः । हहहेति भावजन्यं दैन्यम् । व्युत्क्रमो विपरीताचरणम् । जायत इति शेषः । सोऽयं विबोधः । असीति त्वमित्यर्थः । त्वं क यासि गच्छसीत्यौत्सुक्यम् । एषामुक्तीत्या । पूर्वपूर्वोपमर्देनोत्तरोत्तरोदयरूपा शबलता । ‘तिलतण्डुलन्यायेन समप्राधान्येन चर्यमाणतारूपाः’ इत्यन्ये । सा च राजपराक्रममूलकतया तदभिव्यक्तिद्वारा राजविषया रतिमुदीपयन्ती तदङ्गमिति बोध्यम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

कचिद्रसादिवचनिरित्यादि । एवं तद्गुणीभूतव्यङ्ग्य इत्यादिव्यपदेशानां निषम इति चेत्, प्राधान्यात् । यत्र हि यत्प्रधानं तत्र तेन व्यपदेशः । प्राधान्यं चातिशयितश्चमत्कारः । स च सहृदयहृदयैकवेद्य इति नासिद्धः ।

अथ वाच्याङ्गभावेन शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमस्य गुणीभावो यथा—

‘जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्वितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदञ्च प्रलपितम् ।

कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना

मयासं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥’

अत्र पादत्रयद्योत्यापि रामेण सहोपमा मयासं रामत्वमित्यनेन वाच्यतां नीता । तदङ्गं च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो द्वितीयोऽर्थः ।

दयभावसंधिभावशबलताश्च पृथगलंकाराः’ इति । यत्र हीति । तथा च ‘अयं स रशन—’ इत्यादौ करुणजन्यचमत्कारातिशये स्मर्यमाणशृङ्गारस्य प्राधान्येन प्रयोजक-त्वाद्विगुणीभूतव्यङ्ग्यमिति व्यवहार इति भावः । वाच्यतां नीतेति । रामत्वमित्यस्य मुख्यार्थवाधाद्रामसादृश्यमित्यर्थ एव पर्यवसानादिति भावः । कथं सादृश्यमित्यपेक्षायां चास्मिष्टशब्दोपस्थितार्थाद्वयस्यैकत्वाध्यवसायादिति । व्यङ्ग्यस्य द्वितीयार्थस्य तदङ्गत्वमित्याह—तदङ्गं चेति । प्रकाशे तु ‘वाच्यतां नीतः’ इत्येतावदेवोक्तम् । तदङ्गं तु व्यङ्ग्यं स्फुटत्वाच्चोपन्यस्तम् । अन्ये तु—‘वाच्यस्याङ्गतां नीतः’ इति प्रकाशपाठः । उपमानोपमेयभावश्च व्यङ्ग्य एव । रामत्वं प्राप्तमिति रामधर्मप्राप्तिमात्राभिधानात्तावता चोपमाया अप्रतीतिः । वाच्यश्च व्यतिरेकालंकारः । राम-

१. जनस्थान इति । कस्यचित्कवेरियमुक्तिः । मया रामत्वं रामरूपत्वमाप्तं प्राप्तम् । कुशलवसुता तु नाधिगता न प्राप्ता । कुशलं परिणामसुरसमुद्रेगनिरासे निपुणं वा वसु धर्मस्य तत्ता । कुशलवो मुतो यस्याः सा तथाभूता च । कथं रामत्वं प्राप्तमित्याकाङ्क्षायां माह—जनस्थान इत्यादि । कनकस्य मृगो मार्गणं प्रार्थना वा तत्र तृष्णयान्विता विवेकरहिता धीर्यस्य । कनके मृगतृष्णया निष्फलाशयान्विता वा धीर्यस्य तथाभूतेनैव । कनकमृगे मारीचे तृष्णयान्वितधिया । अन्वितया धियेति कर्मधारयो वा । जनानां स्थाने ग्रामनगरादौ भ्रान्तमेव । जनस्थाने दण्डकारण्ये भ्रान्तमिति छेपोपस्थितयोरभेदोपाद्रामत्वोपपत्तिः । ‘विद्वन्मानसहंस’ इत्यादिवत् । एवमग्रेऽपि । वै निश्चितं देहीति वचो वचनं प्रतिपदं प्रतिस्थानमुद्रतमञ्च यत्र तथा प्रलपितम् । रामपक्षे—वैदेहीति वचः । वैदेही सीता । भर्तुर्भरणकर्तुर्धनिकस्य परिपाटीषु सेवारचनासु का घटना अलमत्यर्थं न कृता तद्वदेति । अथवा कामर्तुः कुत्सितस्य भर्तुर्वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकारेषु घटना उपपत्तिरलमत्यर्थं कृतेत्यर्थः । ‘वदनपरिपाटीषु मुखविवलनादिषु सत्सु तदुन्नयनार्थं घटना उपायः कृत इत्यर्थः’ इत्यन्ये । रामपक्षे तु लङ्कायां भर्तुं रावणस्य वदनानां मुखानां परिपाट्यां पञ्चाविधूणां शराणां घटना संयोजना कृतेत्यर्थः । अत्र शब्दाशक्तिमूलानुरणनरूपस्य द्वितीयार्थव्यङ्ग्यस्य ।’ इत्यादाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

वाच्य एवार्थशक्तिमूलस्याङ्गभावो यथा—

‘आगत्य संप्रति वियोगविसंघुलाङ्गी-

मम्भोजिनीं कचिदपि क्षपितत्रियामः ।

एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते

तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥’

अत्रार्थशक्तिमूलो नायकनायिकावृत्तान्तो वाच्यरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारो-
पेण तदङ्गतयैव स्थितः । समासोक्तौ ‘उपोढरागेण विलोल-’ इत्यादौ सर्वत्र
प्रतीयमानार्थोपस्कृतवाच्यस्यैव प्राधान्यात् । अयं च पादपतनेनेति श्लिष्टशब्द-

सादृश्येऽपि तस्मादाधिक्यस्य कुशलवस्तुता न त्वधिगतेत्यनेनोक्तेः । न चानेन
न्यूनत्वमेवेति शङ्क्यम् । दुःखित्वेनोपमायां तस्याधिक्यप्रयोजकत्वात् । सादृश्यस्व-
रूपायाश्चोपमाया व्यतिरेकाङ्गत्वं स्पष्टमेव’ इत्याहुः । तत्र सम्यक् । रामत्वमित्यनेन
शक्त्या रामधर्ममात्राप्रत्यायनात् । लक्षणया तु सादृश्यप्रतीतिरपि स्फुटैवेति न
किञ्चिदेतत् । किञ्च वाच्यस्य व्यतिरेकालंकारस्य सादृश्यं विना सिद्ध्यभावाद्वाच्य-
सिद्ध्यङ्गमेवोपमारूपं व्यङ्ग्यं स्यान्नापराङ्गमिति ज्ञेयम् । आगत्येति । वियोगविसं-
घुलाङ्गी क्षपितत्रियाम आगत्य प्रसादयतीति साधारणार्थसामर्थ्यव्यङ्ग्योऽप्रकृतो नाय-
कनायिकयोर्वृत्तान्तः पादपतनेन प्रसादनरूपो व्यवहारे वाच्ये किरणपतनेन कमलि-
नीविकासनरूपे वृत्तान्तेऽध्यारोपेण वाच्यवृत्तान्तोत्कर्षकतयैव स्थितो नतु प्रधान-
तयैत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—समासेति । ‘उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं
शक्तिना निशामुखम् । यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽनुरागाद्भक्तितं न लङ्घि-
तम् ॥’ इत्यादावित्यर्थः । वृत्तान्तद्वयप्राधान्ये हि वाक्यभेदः स्यादतो विशिष्टबोधे
तात्पर्यम् । तत्र चमत्कारानुरोधात्प्रकृतत्वाच्च प्रकृतवाच्योपस्कारकतया अप्रकृत-
वृत्तान्तस्यैव विशेषणत्वमुचितमिति भावः । अतएव समासेन संक्षेपेणोक्तिरित्यु-
च्यते । प्राधान्येनेति । अर्थानामेव वियोगाङ्गीनां बहुत्वेनेत्यर्थः । अन्यथासि-

१. ‘आगत्येति । मामिनीं प्रति स्वापराधात्पत्वसूचनायान्यनायकनायिकावृत्तान्तमा-
रोप्य दर्शयतो नायकस्योक्तिरियम् । हे तन्वङ्गि, सहस्ररश्मिः सूर्यः कश्चिद्दीपन्तर एव
कश्चिन्नायिकान्तरगृहे क्षपिता नीता त्रियामा रात्रियेन तथाभूतोऽपि प्रभात-एव आगत्य
संप्रत्यधुना कुपितां प्रति त्वरानौचित्याच्छनैरम्भोजिनीं कमलिनीमेव नायिकां पाशानां
किरणानां पतनमधःसंयोग एव पादे चरणे पतनं प्रणामस्तेन प्रसादयति विकासयत्येवामु-
नयत्येतत्पश्येत्यन्वयः । कीदृशीम् । वियोगः संबन्धाभाव एव वियोगो विरहस्तेन विसंघु-
लाङ्गी संकुचिताङ्गीमेव विसंघुलाङ्गी संतापकादर्यादिना विषमाङ्गीमित्यर्थः । तथाच खण्डि-
तापि पादप्रणामेन प्रसीदति न पुनर्बन्धतीति तात्पर्यम् । अत्र श्लिष्टपादादिपदाभावेऽपि सह-
स्ररश्मिः कचिदपि क्षपितत्रियाम इत्यम्भोजिनीं विकासयतीत्येतावतापि नायकनायिकावृ-
त्तान्तव्यक्तिसंभवाद्द्विष्टपदबाहुल्याच्चावैशक्तेः प्राधान्यात्तन्मूलत्वन्यपदेश इति ज्ञेयम्’ इत्यु-
दाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

सद्भावेऽपि न शब्दशक्तिमूलत्वेन व्यपदेश्यः, किं त्वर्थशक्तिमूलत्वेन । प्राधान्येन व्यपदेश इति न्यायात् । तद्व्यतिरेकेणापि नायकनायिकावृत्तान्तव्यक्तिसंभवाच्च । न चोपमात्र व्यङ्ग्या । 'उल्लास्य कालः' इत्यादिवच्छेषाभावात् । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गरवम् । रविकमलिनीवृत्तान्तस्यैतच्चैरपेक्ष्येणैव सिद्धेरिति ।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं द्विधा—एकवक्तृकपदवाच्याङ्गमन्यवक्तृकपदवाच्याङ्गं च ।

‘अमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।

मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

अत्र हालाहलरूपो विषशब्दार्थो व्यङ्ग्यः । जलेऽभिधानियमनात् । स च जलदभुजगेति रूपणस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोति । अन्यथोपमासंदेहसंभवात् ।

दत्त्वादपि न पादपदप्राधान्यमित्याह—तद्व्यतिरेकेणापीति । श्लेषाभावादिति । तथा च नायिकाद्युपस्थापकपदाभावाद्भ्यज्यमानवृत्तान्तावच्छेदकत्वेनैव तत्प्रतीतेर्नोपमाध्वनिरिति भावः । न चाप्रकृतवृत्तान्तारोपस्य समासोक्त्यलंकारत्वात् 'वस्तुरूपः' इति प्रकाशानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अप्रकृतवृत्तान्तारोपविषयप्रकृतवृत्तान्तस्य समासोक्तिरूपतया तदेकदेशस्यालंकारत्वाभावात् । एकवक्तृकैति । व्यञ्जनपदसमानकर्तृकेत्यर्थः । अमिमिति प्रलय इन्द्रियचेष्टाविरहः । तमोऽन्वकाररूपदर्शनम् । रूपणस्य रूपकस्य । सिद्धिं निश्चयम् । अन्यथेति । हालाहलरूपव्यङ्ग्याभावे हि भुजगसदृशजलदजन्यत्वस्य जलेऽन्वयसंभवादुपमा समञ्जसैव । भुजगाभिन्नजलदजन्यत्वस्यापि संभव इति तयोः संदेहः स्यात् । हालाहले तु व्यङ्ग्यत्वे सति जलाभिन्नत्वेनाध्यवसिते भुजगाभिन्नजलदजन्यत्वस्यैव संभवः, न तु भुजगसदृशजलदजन्यत्वस्येति रूपकनिश्चय इति भावः । न च व्यङ्ग्यहालाहलाभिन्नत्वेनावगते जले भुजगसदृशजलदजन्यत्वं संभवतीत्युपमाया अपि संभव इति वाच्यम् । अत्राद्यष्टविधकार्योत्पादकत्वसामञ्जस्याय हालाहलप्राधान्यस्यैवोचितत्वात् । यद्यपि प्रसिद्धार्थसंभवेन प्रकरणेनाप्रसिद्धेऽर्थेऽभिधा नियन्तुं शक्यते । तथा सति निहतार्थत्वस्य दोषत्वानुपपत्तेः, तथाप्यप्रकृतोपस्थितिर्नान्वयबोधोपपिबि । तद्विषयस्योत्सर्गतस्तात्पर्याविषयत्वात् । अतः प्रकृतोपस्थित्यावश्यकत्वाद्भ्यजनया

१. 'अमिमिति । जलदो मेघ एव प्राप्तकत्वाद्भुजगः सर्पस्तज्जं विषं जलमेव हालाहलं कर्तुं वियोगिनीनां अन्यादि कुरुत इत्यन्वयः । अमिर्दिशां अमणामिव दर्शयन्कश्चिदान्तरो विकारश्चेतसोऽनास्था वा । अरतिर्विषयानभिलाषः । अलसं हृदयं यासां तत्ता । प्रलयो नष्टचेष्टता । मूर्च्छां बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियवृत्तिनिरोधः । तमस्तमोगुणस्योद्रेकेणान्वयम् । मूर्च्छां च तम इति रूपकमिति कश्चित् । शरीरस्य सादोऽवसादः । पीडित्वर्थः । मरणं प्रसिद्धम् । मरणपदेन तत्पूर्वावस्थोच्यत इति केचित् । अत्राप्रकृतेन व्यङ्ग्यं हालाहलं जलदभुजगेतिरूपकस्य वाच्यसिद्धिकृत् । अन्यथा जलदस्य भुजगत्वायोगेन भुजग इव जलद इति पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासाश्रयणेनोपमालंकारापत्तेः । व्यङ्ग्याभिन्नत्वेनाध्यवसिते तु जले भुजगत्पोपपत्तेरुत्तरपदार्थप्रधानरूपकसिद्धिरिति विभावनीयम्' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

यथा वा सम—

‘तादृग्भूतरसप्रसादकतकक्षोदाम्बुधारायिता

जीयासुः कविरत्न खान भवतस्तास्ता वचोभङ्गयः ।

अर्यान्विग्रहिणः पुरातनतरान्सद्यो नवान्कुर्वती

याभिः कल्पमहौषधीभिरगदंकारायते भारती ॥’

अत्र रसप्रसाद इत्यत्र जलप्रसादरूपोऽर्थो व्यङ्ग्यः । स च वाच्यायाः कतकक्षोदाम्बुधारोपमाया अङ्गम् ।

अन्यवक्तृकशब्दवाच्यस्य सिद्धञ्च यथा—

‘गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते

किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।

इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-

माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्जितवपुर्गोपी हरिः पातु वः ॥’

अत्राच्युतेत्यनेन सोल्लुण्ठेन त्वं मद्विषये च्यवस इति व्यर्थमेवावस्थानमिति । यद्वाच्युतो धैर्यादस्खलितस्वमतो व्यर्थमवस्थानमिति । दर्शनेनेत्यादिना संभोगेनैव तृप्तिरिति । किं त्वेवमित्यादिना द्वयोरकीर्तिर्जातैव तद्व्यैवात्मानं वञ्चयाव इति खेदश्च व्यज्यते । तच्च ‘इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसां’ इत्येतद्वाच्यस्य सिद्धिकृत् । तस्मात्किं विनैतद्विशेषणपदार्थस्य शरीरालाभात् ।

पश्चादप्रकृतोपस्थितिरिति युक्तम् । दोषता तु निहृतायत्वस्य प्रकृतोपस्थितिविलम्बकृतान्यत्र । प्रकृते तु विवक्षितरूपकानुगुणत्वान्न दोषत्वमित्यूह्यम् । तादृग्भूतेति । खानेति यवनप्रभोः कस्यचित्संबोधनम् । कविषु रत्नभूतेति तद्विशेषणम् । भवतस्तास्ताः प्रसिद्धा वचसामुक्तीनां भङ्गयो रचनाप्रकारा जीयासुरुत्कर्षेण वर्तन्ताम् । किंविधाः । तादृग्भूतेऽनिर्वाच्ये रसस्य शृङ्गारादेः प्रसादे गुणविशेषे कार्ये कतकस्य निर्मलीसमाख्यौषधिविशेषस्य क्षोदश्चूर्णं तद्युक्ता याम्बुधारा तद्वदाचरणशीलाः । ताः काः । याभिः कल्पोक्तमहौषधीरूपाभिर्भारती अगदंकारो वैद्य इवाचरति । आचारमेवाह—पुरातनतरानतिजीर्णान्विग्रहः शरीरं तद्वतोऽर्थान्सद्यो नवान्कुर्वतीत्यन्वयः । सोल्लुण्ठेन सामिप्रायेण । एतद्विशेषणेति । इत्यामन्त्रणेत्यादिविशेष-

१. ‘गच्छामीति । गोपीमाश्लिष्यन्नालिङ्गन्हरिवो शुष्मान्पातु रक्षत्विति संबन्धः । कीदृशः । पुलकानां रोमाञ्चानामुत्करेण समूहेनाञ्जिता व्यासा तनुर्यस्य सः । कीदृशीं गोपीम् । इति पूर्वार्थोक्तं यदामन्त्रणं संबोधनमच्युतेत्येवंरूपं तस्य या भङ्गी रचना तथा स्खलितत्वव्यञ्जनद्वारा सूचितं यद्व्यावस्थानं स्थितिस्तेन यः खेदस्तेनालसाम् । अथ वामन्त्रणभङ्गिभ्यां सूचिता यौ व्यावस्थानखेदौ ताभ्यामलसामित्यर्थः । भङ्गिरुक्तिरचना दर्शनेन भवत इत्यादिरूपा । इतीति किम्, हे अच्युत नाम कृष्ण, अहं गच्छामि । कुत इत्यत आह—दर्शनेनेत्यादि । भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते, अपि तु नेत्यापाततोऽर्थः । तथा च निष्फलमवस्थानमिति भावः । अवस्थाने बाधकमप्याह—कित्विति । एतच्च प्रत्युतेत्यर्थ-

अस्फुटं यथा—

‘अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदमीरुता ।

नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥’

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगदुःखं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति व्यङ्ग्यं सहृदयस्यापि न स्फुटमवभासते ।

संदिग्धप्राधान्यं यथा—

‘हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥’

अत्र चुम्बितुमैच्छदिति व्यङ्ग्यम् । युगपल्लोचनत्रयव्यापारणं वाच्यम् । तयोश्च प्राधान्ये साधकबाधकमानाभावेन संदेहः । वाच्यस्याप्यलौकिकत्वेन चमत्कार-कारित्वादुत्कण्ठातिशयव्यञ्जकत्वाच्च ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

‘ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥’

कम् । एवं विजनस्योरेकान्तगतयोरावयोः सतोः प्रत्युत हतजनः कुत्सितो लोकोऽन्यथा संभावयति रत्यर्थं गताविति संभावयतीति वाच्योऽर्थः । व्यङ्ग्यस्तु—हे अच्युत विजनेऽस-द्रिधनायिकादर्शनेऽपि धैर्यच्युतिरहित, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते, अपि तु संमो-गेनैव । किं त्वेवमित्यादिनान्यथा संभावनमावश्यकम् । तद्दृष्टेवात्मानं वञ्चयाव इति वृथाव-स्थानसहितखेदः । तत्रोत्पद्यत इत्येतेन वृथावस्थानम् । किं त्वेवमित्यादिना खेद इति । संचेत्यामन्त्रणेत्युत्तरार्धस्य सिद्धिर्कृत् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘अदृष्ट इति । कस्याश्चित्प्रियं प्रत्युक्तिः । भवत्यदृष्टे सति दर्शनस्योत्कण्ठा । दृष्टे सति विच्छेदमीरुता । जायत इति शेषः । विच्छेदो वियोगस्तद्विषये भयशीलतेत्यर्थः । इत्थं चादृष्टेन दृष्टेन वा भवता कृत्वा सुखं न लभ्यते । मयेति शेषः । भवतेति हेतौ तृतीया । अत्राद-र्शनं वियोगमयं चेत्युभयं परिहरणीयमिति व्यङ्ग्यमस्फुटम् ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘हरस्त्विति । कुमारसंभवे पथमिदम् । चन्द्रोदयसारम्भ उत्पत्तिकालेऽम्बुराशिरिव किञ्चिदीषत्परिवृत्तं च्युतं धैर्यं यस्य तथाभूतो हरस्तु बिम्बफलवदधरोष्ठो यत्र तथाविधे, बिम्बफलमधरयतस्तौ बिम्बफलाधरौ । तथाभूतावोष्ठौ यत्र तथाविधे वा उमायाः पार्वत्या मुखे विलोचनानि व्यापारयामास संचारयामासेत्यन्वयः । अत्रोदयाधिक्ये धैर्यच्युतेराधिका-दारम्भपर्यन्तानुधावनम् । विलोचनानीति बहुवचनेनोत्कण्ठातिशयो व्यज्यते । ओष्ठद्वयं मुखं चेति त्रिषु त्रयाणां संचारणलाभाय तदिति कश्चित् । अत्र चुम्बितुमैच्छदिति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च संदिग्धं प्राधान्यम् । युगपल्लोचनत्रयसंचारणस्योत्कण्ठातिशयपर्यवसानतया सौन्दर्यात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘ब्राह्मणेति । परशुरामदूतस्य रावणं प्रति वचनम् । ब्राह्मणानामतिक्रमोऽवमानस्तस्य त्यागो भवतामेव भूतये । भवतीति शेषः । न तु ब्राह्मणानाम् । जामदग्न्ये जीवति तेषामनिष्टस्यासंभवादिति भावः । भवतामिति

अत्र जामदग्नयः क्षत्राणामिव रक्षसामपि क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यमिव वाच्यमपि प्रधानमेव । दुर्मनायत इति गम्भीरोक्त्या चमत्कारिष्वात्, विग्रह-
वत्संधेरपि विवक्षितत्वाच्च ।

काकाक्षिसं यथा—

‘ममामि कौरवशतं समरे न कोपा-
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु
संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥’

अत्र ममामीति व्यङ्ग्यम् । तच्च वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव व्यव-
स्थितम् । तादृशकाकुं त्रिना वाच्यस्य बाधितत्वेनाप्रादुर्भावात् । इष्टेनैव
तदाक्षेपाद्व्युक्तं प्राक् ।

असुन्दरं यथा—

‘वाणीरकुडकुडुणीणसडणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावदाए बहुए सीक्षन्ति अज्जाइ ॥’

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिद्वृत्तागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यम् । तस्माद्वाच्यं चम-

णेत्यर्थः । वाणीरेति । ‘वाणीरनिकुजोडुनीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः । गृहक-

बहुवचनेन सकलसमाक्षेपः । अन्यथा बाह्याणातिक्रमस्यात्यगे तथा तादृशम् । जन्मप्रभृति
सकलरहस्यवेदीत्यर्थः । मित्रं जामदग्न्यो दुर्मनायते क्षुब्धान्तःकरणो भवतीत्यर्थः । सामीप्याभि-
प्रायेण वर्तमाननिर्देशः । तथा च तत्क्षोमे सकलराक्षसक्षयरूपोऽनर्थो दुर्वारः स्यादिति व्यङ्ग्यते ।
अत्र जामदग्नयः क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यं दुर्मनायत इति वाच्यं च
गम्भीरोक्त्या तुल्यप्रधान्यम् । विग्रहवत्संधेरपि विवक्षितत्वाच्च इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

३. ‘ममामीति । वैणीसंवरणे संधिश्रवणकुपितस्य भीमसेनस्येयमुक्तिः । अत्र प्रतिज्ञात-
कुरुकुलक्षयस्य भीमस्य न ममामीत्युक्तिर्विरुद्धेति नवा काकुः प्रतीयते । तथा च नवार्था-
न्तरं व्यज्यमानमुच्चारितनप्रार्थान्वितं प्रतीयत इत्यभावाभावरूपं ममान्येवैत्यवधारणं गम्यते ।
एवमग्रेऽपि । उरस्तो हृदयात् । सुयोधनस्योरु इति द्वितीयादिवचनम् । भवतां नृप-मम-
प्रजानां वा । स्वबुद्ध्या राज्यलागात् । अत्र क्रोधातिशयेन ममनादिक्रियासु वर्तमानताभि-
मानः । भविष्यत्सामीप्ये वा वर्तमानवक्ष्यपदेशः । दुःखेन योधनीयत्वाभावाभिप्रायेण दुर्व-
धनपदं विहाय सुयोधनपदप्रयोग इति द्रष्टव्यम् । अत्र नक्काका इष्टेनाक्षितत्वाव्यङ्ग्यं गुणीभू-
तम् इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘वाणीरेति । गृहपार्थवतिवेतसनिकुजे दत्तसंकेताया
निकुजोडुनीनपक्षिकोलाहलतर्कितनायकप्रवेशाया गुरुजनप्रारतव्येण गृहकर्षेण रम्भनाक्षी-
क्यापृताया अवस्थावर्णनमिदम् । सीदन्तीति वर्तमाननिर्देशादन्नप्रादस्याविरामः सूच्यते ।
तथा श्रवणसमकालं तत्कार्यस्यावसादस्य क्रयत्तरूपातिशयोक्त्या वृत्तकठातिशयो व्यङ्ग्यते ।
अत्राभनि सीदन्तीति वाच्यदत्तसंकेतो लताग्रहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यमस्फुटम् । इत्युदाह-
रणचन्द्रिकासंक्षेपः.

त्कारंकारि । शब्दश्रवणसमकालमेव सर्वाङ्गावसादसंतन्यमानतारूपस्य तस्याति-
सौन्दर्यादुत्कण्ठातिशयपर्यवसन्नत्वात् ।

एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ २ ॥

पूर्ववच्चूनेरिव । चकारो भिन्नक्रमः । पूर्ववच्चेत्यर्थः । यथायोगं यथासंभवम् ।
तेनायमर्थः—न केवलमेत एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदाः किं त्वर्थान्तरसंक्रमित-
वाच्यत्वादिभिर्यथा ध्वनेर्भेदास्तथा असंभविनो विहायास्यापि तैरुपाधिभिः शुद्ध-
भेदाः । संकरसंसृष्टिभ्यां योजने च तेषामेषां च संकीर्णभेदा अपि बोद्धव्याः ।
असंभविनश्च वस्तुमात्रेणालंकारव्यक्तिनिबन्धनाः । तदुक्तं ध्वनिकृता—

‘व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ।

ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥’ इति ।

अत्र ध्वन्यङ्गता व्यङ्ग्यतया । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता ध्वनिनैव ता व्यज्यन्ते ।
तद्व्यङ्ग्यस्य ध्वनित्वमेवेत्यर्थः । कुतः, काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्काव्यवृत्तेस्तदभि-
संधानपूर्वकत्वात् । वस्तुमात्रापेक्षयालंकारस्य चारुतानियमादित्यर्थः । ननु
यद्यलंकारापेक्षया वस्तुमात्रस्य नातिशयनियमस्तदा कथमलंकारेण वस्तुमात्र-
व्यङ्ग्ये ध्वनित्वमिति चेत्, उच्यते—स एवार्थो वाच्यः सन्न तथा चमत्करोति
यथा व्यङ्ग्यतापन्न इत्यनुभवसिद्धम् । अतो वाच्यता अपकर्षहेतुः, व्यङ्ग्यता
तत्कर्पायेति स्थितम् । यत्र चालंकारेण वस्तुमात्रं व्यङ्ग्यं तत्रालंकारस्य वाच्य-
त्वेन किञ्चिदपकर्पात् । वस्तुमात्रस्य च व्यङ्ग्यत्वेन किञ्चिदुत्कर्षाद्युज्यत एव
ध्वनित्वम् । यत्र तु वस्तुनालंकारो व्यज्यते तत्र वस्त्वलंकारयोर्वाच्यत्वव्यङ्ग्य-
त्वान्यामतिशयेनैवोत्कर्षापकर्षाविति कुतो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वावकाशः । इदं तु
चिन्त्यम् । एवं चारुत्वाभावनिबन्धनं गुणीभूतत्वं मा भूत् । अगूढत्वादिनि-
बन्धने तु तस्मिन्को वारयितेति । यत्पुनरष्टानामेव भेदानां संकीर्णत्वमात्राति-
देशकमिदं सूत्रमिति व्याख्यानं तदबोधात् । तथासति हि यथायोगमित्यनेन
वस्तुव्यङ्ग्यालंकाररूपभेदपर्युदासवैयर्थ्यम् । संकरादीनां तथाप्यव्याहतेः ।

पूर्वं सजातीययोगो ध्वनेरुक्तः । इदानीं विजातीययोगमाह—

सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः ।

सालंकारैरिति विभिन्नाथैकरूपनानाशब्दैकशेषः । एकत्रालंकारपदस्य भाव-

मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यङ्गानि ॥’ संतन्यमानतेति । अनुपरम इत्यर्थः ।
वर्तमाननिर्देशात् ।

ननु वस्तुव्यङ्ग्यालंकृतीनां प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकतया ध्वन्यङ्गत्वेऽपि तासां गुणी-
भूतव्यङ्ग्यत्वस्य न क्षतिरत आह—व्यङ्ग्यतयेति । तथाप्यव्याहतेरिति ।
पर्युदासाभावेऽपि संभवादित्यर्थः । वस्तुमात्रव्यङ्ग्यालंकृतेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यान्तर्भावेऽप्यु-

प्रधानत्वात् । तथा च तैरेवालंकारैरलंकारसहितैश्च तैरित्यर्थः । तेन ध्वनिना गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालंकारेण च ध्वनेर्योग इति पूर्वापराभ्यामुक्तं भवति । तदुक्तं ध्वनिकृता—

‘सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालंकारैः सह प्रमेदैः स्वैः ।

संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥’ इति ।

स ध्वनिः सालंकारैर्गुणीभूतव्यङ्ग्यैः स्वैः प्रमेदैः सह संकरसंसृष्टिभ्यां बहुधा पुनरप्युद्योतते इत्यन्वयः ।

अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥ ३ ॥

एवं ध्वन्यादिभेदैस्तत्प्रमेदैश्च योजनेऽतिप्रभूता संख्या भवतीत्यर्थः । एतैः प्रमेदैरुपनिबध्यमानः पुरातनोऽप्यर्थो नवीभवतीति सप्रयोजनं ध्वनिभेदोप-दर्शनम् ।

यदुक्तं ध्वनिकृता—

‘ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यात्मा निदर्शितः ।

एतेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥’ इति ।

तदेवमनन्तायां ध्वननव्यापारयोगिनां ध्वनीनां गुणीभूतव्यङ्ग्यानां च काव्य-भेदानामनुगतौपाधिना संकलने त्रयो भेदाः । व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात् । तथा हि किञ्चिद्व्यङ्ग्यं वाच्यसह किञ्चिच्च तदसहम् । वाच्यत्वसहत्वं त्वभिधया प्रति-पाद्यमानस्यापि चमत्कारकारित्वम् । तयोराद्यं वस्तुमात्रमलंकारश्च । अलंकारस्य प्राधान्येऽपि यथालंकारत्वं तथोक्तं प्राक् । रसादिलक्षणस्त्वर्थो न कदाचिदपि वाच्यत्वं सहते । स हि सामान्यतो रसभावादिपदैर्विशेषतः शृङ्गारनिर्वेदादि-पदैर्वाभिधीयमानश्चमत्कारकारी स्यात् । न त्वेवम् । अभिधानेऽपि विभावाच्च-प्रतीतौ चमत्काराभावात् । विभावादिप्रतीतौ त्वनभिधानेऽपि व्यक्तस्य चमत्का-रकारित्वादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावादिमुखेनैव प्रतीयमानस्तथेति निर्णी-यते । तेनासौ व्यङ्ग्य एव चमत्कारी । ननु विभावादिवाचकपदैर्लक्ष्य एवास्तु रसादिः । न हि विभावादिवाचिपदं विना तत्प्रतीतिरिति चेत्, न । मुख्यार्थ-

काष्टभेदसंकरादेः संभवादिति भावः । पूर्व चतुर्थोक्तासे । तैरेवेति । गुणीभूतव्य-ङ्ग्यैरेव । समासोच्चारसवदाद्यलंकाररूपैरुपमाद्यलंकारसहितैश्चेत्यर्थः । पूर्वापराभ्यां चतुर्थपञ्चमगतप्रन्थाभ्याम् । स्वैः प्रमेदैरर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादिभिः । ध्वनेर्य इति । यो ध्वनेरात्मार्थान्तरसंक्रमितवाच्यादिप्रकारः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि प्रद-र्शित इत्यर्थः । एतैश्च भेदप्रदर्शनेन । ध्वननव्यापारो व्यङ्ग्यना । तद्वत्त्वं च ध्वनेर्गु-णीभूतव्यङ्ग्यस्य चेत्युभयं ध्वनिपदेनोक्तम् । व्यङ्ग्यत्रैरूप्यस्योभयत्र सत्त्वात् । उक्तं प्रागिति । ब्राह्मणश्रमणन्यायेनेति चतुर्थ उक्तमित्यर्थः । रसादीत्यादिना अलंकारकमः सर्वोऽपि संगृह्यते । वृत्तिगतस्य ‘स्वप्नेऽपि’ इत्यस्य व्याख्यानं कदाचि-

बाधादिविरहात् । ननु व्यञ्जनायाः शशविषाणायमानत्वात्कुतो व्यङ्ग्यत्रैरूप्य-
कृतो भेद इति चेत्, उच्यते । लक्षणामूले वस्तुमात्रं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न
संभवतीति प्राक्प्रतिपादितम् । अभिधामूलेष्वपि शब्दशक्तिमूलो द्वितीयोऽर्थ-
स्तेन सममुपमा वा व्यङ्ग्यैवेति निर्विवादम् । अभिधाया नियमनात् । अर्थ-
शक्तिमूलेऽप्येवमङ्गीकर्तव्यम् । यतः पदेभ्यः प्रथमं पदार्थस्मृतिः । अथ पदार्थ-
विशेषणार्थमन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य प्रत्ययः । ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति
तृतीयकक्षायां कुतोऽभिधायाः प्रसरणम् । द्वितीयकक्षायामेव तदनपेक्षणात् ।
यतोऽभिहितान्वयवादेऽशक्य एवान्वय आकाङ्क्षादिवशेन प्रतीयते । शब्दबुद्धि-
कर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति च सर्वसिद्धम् । येऽप्यन्विताभिधानवा-
दिनः “देवदत्त गामानय” इत्यादिप्रयोजकवृद्धवाक्यं श्रुत्वा तदनन्तरं प्रयो-
ज्यवृद्धेन साम्रादिमन्तमर्थमाननीयमानमालोक्य अयमेतद्विषयकैतत्किवागोचर-
कार्यताज्ञानवास्तद्विषयकचेष्टावत्त्वाद्विषयकप्रवृत्तिमत्त्वाद्वा मद्बुद्धिं प्रयोज्य-
वृद्धस्य ज्ञानमनुमिमीते । ततः कारणं विना कार्यानुपपत्त्या अखण्डवाक्यस्या-
न्वयव्यतिरेकाभ्यां तज्ज्ञानेन कार्यत्वकारणत्वरूपां शक्तिमवधारयति । अथ
ज्ञेयसंबन्धं विना वाक्यस्य सा शक्तिरनुपपद्येत्यर्थापत्त्या अखण्डवाक्यार्थेनाखण्ड-
वाक्यस्य वाच्यवाचकभावरूपं संबन्धमवधारयति ।

यदुक्तम्—

‘शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥’

दपीति । बाधादीति । आदिना रुढिप्रयोजनसंग्रहः । तेन यथैत्यादिवत्तात्पर्या-
नुपपत्त्यापि न लक्षणसंभवः । विभावादिवाचिनां रसादिवाचकत्वप्रसिद्धभावेन
रुढ्यभावात् । रसादीनामानन्दमयसंविद्धिश्रान्तिरूपतया प्रयोजनान्तरस्याप्यभा-
वात् । अतो वृत्त्यन्तरमावश्यकमित्यर्थः । उपमा वेति । वस्तुमात्रध्वनानुपमाया
लक्षणात्कचिदुपमेति दर्शयितुं वाशब्दः । पदार्थविशेषाणां गवादिपदार्थगोत्वादिसा-
मान्याक्षिप्तगवादिव्यक्तीनाम् । अन्वयविशेषरूपस्य गवाद्यन्वितकर्मत्वादिरूपस्य ।
सर्वसिद्धमिति । अन्यथा वाक्यभेदस्य दोषत्वानापत्तेरिति भावः । येऽपीति ।
प्राभाकरा इत्यर्थः । एतच्च ‘इत्याहुः’ इत्युत्तरप्रन्धेनान्वितम् । अयमिति । प्रयो-
ज्यवृद्ध इत्यर्थः । एतच्छब्देन गवादिरुच्यते । द्वितीयेन तेनानयनोद्विष्टया । तथा
च गोविषयकानयनक्रियामोचरकार्यताज्ञानमिति स्वार्थः । क्रियाजनकप्रवृत्तेः सविष-
यत्वात्तज्जन्यचेष्टया अपि याचितमण्डनन्यायेन सविषयत्वम् । प्राचीनतार्किकमते
इच्छादीनामेवेति ज्ञेयम् । तद्विषयकेति । गोविषयकचेष्टावत्त्वादित्यर्थः । एवं
चेष्टया साक्षाद्ज्ञानानुमानमुक्तम् । कदाचिच्चेष्टयानुमितया प्रवृत्त्या तदनुमानमिच्छाह—
तद्विषयकेति । अत्र च यो यद्विषयकचेष्टवान् यद्विषयकप्रवृत्तिमान्वा स तद्विष-
यकतत्क्रियामोचरकार्यताज्ञानवानिति सामान्यतो व्याप्तौ मद्बुद्धिं दृष्टान्तः । अत्रैव
वृद्धसमितिमाह—यदुक्तमिति । प्रत्यक्षपदं करणपरम् । तत्र श्रोत्रेण शब्दं पश्यति

‘अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।

अर्थापत्त्यावबुध्येत संबन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥’ इति ।

त्रिप्रमाणकमिति जालपेक्षया त्रित्वं न तु व्यक्त्यपेक्षया । एवमखण्डयोः संबन्धमवधार्य विशेषतो व्युत्पाद्यते । कथम् । इत्थम्—अनन्तरं तेनैव प्रयोजकेन ‘चैत्र, अश्वमानय’, ‘देवदत्त, गां नय’ इत्यादिवाक्येषु कस्यचिदन्यस्य पदस्यावापे कस्यचिदुद्दारे सति यस्य वाक्यभागस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां यस्य वाक्यार्थभागस्यान्वयव्यतिरेकावुपलभते तत्र तस्य शक्तिमवधारयति । तच्च शक्त्यवधारणमन्वित एव पदार्थे । प्रथममन्वय एव वाक्यस्य शक्तिग्रहात् । पदार्थमात्रशक्त्यावुपजीव्यविरोधात् । व्यवहारेणान्वितज्ञानस्यैवोपस्थापनाच्च । न च वाक्यं विना क्वचिदाद्यव्युत्पत्तिः । व्यवहारेणैवाद्यव्युत्पत्तेः । व्यवहारस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपस्य पदमात्रेण कर्तुमशक्यत्वात् । अतो वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितेष्वेव पदार्थेषु संकेतग्रहादन्विता एव पदशक्याः । त एव च वाक्यार्थमिति न वाक्यार्थबोधे शक्तेर्विरामः । न त्वभिहितानां पदार्थानामन्वयोऽशक्य एव प्रतीयते योग्यतादिवशादिति युक्तम् । ननु तथापि संसर्गविशेषोऽशक्य एव । पदार्थसामान्यान्वित एव शक्तिग्रहात् । अन्यथा ‘गामानय’ इति पदं श्रुत्वा ‘अश्वमानय’ इत्यादिवाक्ये तदेवेदमानयपदमित्यादि प्रत्यभिज्ञा न स्यात् । पूर्वस्य गवान्वितानयनपदस्याश्वान्वितानयनेऽशक्तत्वेनार्थभेदेन भेदा-

साक्षात्करोतीत्यर्थः । तथा चक्षुषा वृद्धैरभिधेयान्गवानयनादींश्च साक्षात्करोतीत्यर्थः । श्रोतुः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्वं कार्यताज्ञानवत्त्वं चेष्टालिङ्गरूपेणानुमानेनावबुध्येतेत्यग्रेतनेनान्वयः । अन्यथानुपपत्त्या कारणं विना कार्यानुपपत्त्या द्वयात्मिकां कार्यकारणत्वरूपां शक्तिं बोधेज्जानीयादित्यर्थः । अर्थापत्त्या तदर्थसंबन्धं विना वाक्यस्य तज्ज्ञानजनकत्वानुपपत्त्या संबन्धं वाच्यवाचकभावरूपमवबुध्येतेत्यर्थः । संबन्धाभावे हि तद्वाक्यादर्थान्तरस्यापि बोधः स्यादित्यतिप्रसङ्ग इति भावः । त्रिप्रमाणकमिति । प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयमूलकमित्यर्थः । जातीति । प्रत्यक्षत्वाद्युपाधिविवक्षयेत्यर्थः । प्रत्यक्षद्वयमर्थापत्तिद्वयमनुमानं चेति प्रमाणव्यक्तीनां पञ्चत्वादिति भावः । वाक्यभागस्येति । गोपदादेरित्यर्थः । वाक्यार्थभागस्य गवाद्यर्थस्य । उपजीव्येति । वाक्यादन्वितज्ञानकल्पनमुपजीव्यम् । तत्तिष्ठत्यर्थं संबन्धकल्पनमुपजीवकम् । उपजीव्येन तद्विरोधो न युज्यते । तन्मूलत्वादित्यर्थः । नन्वलभ्यतयान्वयंशे न शक्तिकल्पना किं तु पदार्थस्वरूपांश्च एवेति न विरोध इत्यत आह—व्यवहारेणेति । उपस्थापनादनुमानात् । तथा च प्रवृत्त्यनुमितेऽन्वितज्ञानेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यस्य शक्तिग्रहात्तद्भागस्यापि तत्तदन्वयभाग एवावापोद्वापाभ्यां शक्तिग्रहः । अन्यलभ्यत्वे शाब्दत्वानुपपत्तेरिति भावः । तदाह—नन्विति । सामान्यान्वित एवेति । कारकान्वि-

दिति चेत्, न । पदार्थत्वेन सामान्येन विशेषाणामन्वये शक्तिग्रहात् । अन्वि-
तानां च विशेषरूपत्वात् ।” इत्याहुः । तेषामपि मते सामान्येनैव रूपेण विशेषः
शक्यो न तु विशेषरूपेण । तथा च पदार्थान्तरसामान्यान्विते पदानां शक्तिः ।
गवादिविशेषान्वितस्तु विशेषो वाच्य एव । तस्मादभिहितान्वयवादेऽनन्वित
एव । अन्विताभिधाननये तु पदार्थसामान्यान्वितः स्वार्थः संकेतविषयः
गवादिविशेषान्वितानयनादिरूपस्त्वसंकेतित एवेत्यवाच्य एव वाक्यार्थः ।

यदपि कैश्चिदुच्यते—‘शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थः प्रतीयते तत्र सर्वत्रापि
शब्द एव निमित्तम् । यतो नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते’ इति ।
तदप्युक्तम् । शब्दस्य ह्यर्थं निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा । न प्रथमम् ।
शब्दस्यार्थानुत्पादकत्वात् । चरमं पुनरनुमन्यते परं तु संकेतवत्त्वेन ज्ञातस्य ।
अज्ञातस्य स्वरूपमात्रेण ज्ञातस्य वा ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । न चान्वयविशेषे
संकेतग्रहः । अस्तु विशेष एव संकेतग्रह इति चेत्, लोष्टान्वितानयनादेर्वि-
शेषस्योपस्थापकान्तराभावेन शब्दादेवोपस्थितिर्वाच्या । तथा च तत्र संकेतग्रहे
शब्दात्तदुपस्थितिः शब्दाच्च तदुपस्थितौ संकेतग्रह इत्यन्योन्याश्रयात् । तस्मा-
न्नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्त इत्यविचारिताभिधानम् ।

अथ “सोऽयमिषोरिव ‘दीर्घदीर्घतरो व्यापारः’ इति, ‘यत्परः शब्दः स
शब्दार्थः’ इति च ‘निःशेष-’ इत्यादौ विधिरेव वाच्यः” इति भट्टमतोप-
जीविनः । अस्यार्थः—यथा बलवता प्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण
वर्मच्छेदमुरोभेदं प्राणहरणं च रिपोर्विधत्ते तथैक एव शब्द एकैवैवाभिधास्य-
व्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थानुभवं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते । अतो व्यङ्ग्य-
त्वाभिमतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव । किंच यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ इति
‘निःशेष-’ इत्यादौ तात्पर्यविषयतया विधिर्वाच्य एवेति । ते तात्पर्यवाचो-
युक्तेस्तात्पर्यमजानन्तः पशवः । तद्वाक्यवर्तिपदोपस्थापित एव हि तात्पर्यमुच्यते
न प्रतीतमात्रे । तथाहि भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इति

तानयनशक्तमानयनपदं क्रियान्वितगोशक्तं गोपदमित्यर्थः । विशेषाणामिति ।
गवानयनादीनां विशेषाणामेव हि सामान्यरूपेण शक्तिग्रहविषयत्वम् । तेन प्रत्य-
भिज्ञाया विशेषबोधस्य च प्रवृत्त्यङ्गस्योपपत्तिरित्यर्थः । अवाच्य एवेति । किंतु
सममिव्याहृतपदानामाकाङ्क्षादिवशादेव प्रतीयत इति भावः । शब्दस्य निमित्तत्वे
मानमाह—यत इति । कल्पनायां चोपस्थितत्वाच्छब्द एव निमित्तं कल्प्यत इति
भावः । उपस्थापकान्तराभावेनेति । लोष्टान्वितानयनं कदाप्यगृहीतवतः
पुरुषस्येत्यर्थः । तात्पर्यवाचोयुक्तेरिति । यत्पर इत्यादिवाक्यस्येत्यर्थः । किं
तर्हि तद्वाक्यतात्पर्यं तदाह—तद्वाक्येति । तद्वाक्यवर्तिपदोपस्थापितेष्वनेकेष्वर्थेषु
यत्परो विधिः स शब्दस्य विधिवाचकस्यार्थः । स्वार्थान्वितवत्त्वेन प्रतिपाद्य इत्यर्थः ।
एतदेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना । सिद्धानां लोहितोष्णीषदद्यादिद्रव्याणां

सिद्धान्तः । अस्यार्थः—भूतं सिद्धं भव्यं साध्यं तयोः समभिध्याहारे भूतं सिद्धं
 भव्याय साध्यायोपदिश्यत इति । कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः
 सिद्धा अपि प्रधानक्रियानुकूलया साध्वीभूतया स्वक्रियया योगात्साध्यतया
 तामामुवन्ति । स्वरूपेण सिद्धा अपि साध्यक्रियाविशिष्टतया साध्या इव
 भवन्ति । ततश्च यथा दहनेनादग्धमात्रं दह्यते न तु दग्धमपि तथा यावदेक
 प्राप्तं तावदेव शब्देन विधीयते न तु प्राप्तमपि । यथा ऋत्विक्प्रचरणेऽन्वयः
 प्राप्ते 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यनेन लोहितोष्णीषस्वमात्रं विधी-
 यते न तु ऋत्विक्प्रचरणं वा । उष्णीषस्यापि प्राप्तौ तु लौहित्यमात्रम् ।
 हवनस्यान्यतः सिद्धौ च 'दध्ना जुहोति' इत्यनेन दध्नः करणत्वं न तु दधि हवन्
 वा । एवं 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ रक्तत्वपदवयवनामं मध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां
 वा असिद्धावेकविधिद्विविधस्त्रिविधैर्वा । ततश्च यावदेव विधेयं तावत्येव
 तात्पर्यम् । विधेयं च शब्दोपात्तमेवेति सुष्ठुक्तं 'शब्दोपात्त एव तात्पर्यम्'
 इति । यदि च प्रतीतमात्रे तात्पर्यं तदा 'पूर्वो धावति' इत्यादौ पूर्वविसमान-
 संवित्संवेद्यतया प्रतीतेऽपराधभेदेऽपि कदाचित्तात्पर्यं स्यात् । ननु तद्वाक्यवर्ति-
 पदोपस्थापित एव तात्पर्यमिति न स्याति । 'विषं भुङ्क्थ्व, मा चास्य गृहे
 भुङ्क्थाः' इत्यत्र विषं भुङ्क्थ्वेति वाक्यस्य मा चेत्यादिवाक्यार्थे तात्पर्यादिति ।
 मैवम् । यत एतदेकमेव वाक्यम् । चकारलैकवाक्यतासुचकत्वात् । अन्यथा
 तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न चाख्यातवाच्यक्रिययोः साक्षादन्वयः संभवति । 'गुणानां
 च पदार्थत्वादसंबन्धः समत्वात्स्यात्' इति न्यायात् । सुहृद्वाक्यं चेतत् । अतो
 भवितव्यमत्रान्वयेन । ततो विषभक्षणादप्येतद्गृहभोजनमनिष्टहेतुरस्तः सर्वथा
 नास्य गृहे भुङ्क्था इति वाक्यार्थः । तथा च तद्वाक्यस्य पदोपस्थापित एव

कर्तव्यतारूपविध्यन्वयसंभवाय कर्तव्यक्रियाज्ञत्वम् । तस्य व्यापारं विनोदासीतना-
 मसंभवाच्छिरोवेष्टेनावदानप्रवृत्तादिक्रियायोगं चोक्तसाध्यक्रियायोगेन साध्यायमान-
 त्वात्तेषां विध्यन्वये नियामकं तात्पर्यम् । तच्च 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इति न्याया-
 दप्राप्ते पर्यवस्यतीति सदृष्टान्तमाह—ततश्चेति । ऋत्विजां प्रचरणं तत्तदनुष्ठानम् ।
 अन्यत इति । श्येनयागे ज्योतिष्टोमातिदेशादित्यर्थः । हवनस्येति । 'अग्निहोत्रं
 जुहोति' इत्यनेन प्राप्तावित्यर्थः । न तु दधीति । केवलमित्यर्थः । दधिवत्प्रचर-
 णताया अप्यप्राप्तेः । प्रकाशेऽपि 'दध्यादेः करणत्वमात्रम्' इति मात्रैवा हवनव्या-
 वृत्तिर्बोध्या । वेद इव लोकेऽपि विधेरप्राप्तांश एव तात्पर्यमित्याह—यथमिति ।
 गुणानां चेति । गुणानामज्ञानां परार्थत्वात्फलवत्प्रधानार्थत्वात्परस्परमसंबन्धः ।
 कुतः । समत्वात् । गुणप्रधानभावेन सर्वत्रान्वयो भवति न तु गुणयोः प्रधानबोधा
 गुणत्वस्य प्रधानत्वस्य बोधयत्र समत्वादाकाङ्क्षाविरहादिति त्रैमिनि सूत्रार्थः । सुहृ-
 दिति । अतो विषमित्यादिवाक्ये स्वातन्त्र्येण स्वार्थपरत्वायोगान्मा चास्येति मुख्य-
 वाक्यार्थे गुणस्त्वेन स्वार्थान्वयो वाच्यः । स त्रैवमित्याह—तत इति । मा चेति

तात्पर्यमिति सिद्धम् । तस्मात् 'यत्परः शब्दः' इत्यादि यदुक्तं तत्तात्पर्या-
ज्ञानात् ।

यद्यपि 'सोऽयमिषोरिव-' इति तदप्ययुक्तम् । यतः शब्दश्रवणानन्तरं
यावानर्थः प्रतीयते तावति सर्वत्र यदि शब्दस्याभिधैव स्यात्तदा 'चैत्र, पुत्रस्ते
जातः, कुमारी ते गर्भिणी' इत्यादिवाक्यानन्तरं हर्षविषादयोः प्रतीतेस्तयोरपि
तद्वाक्यस्याभिधा स्यात् । अथ तच्छब्दप्रतिपाद्ये सर्वत्राभिधा हर्षादयस्तु न
तत्प्रत्याख्या इत्युच्यते तर्हि लक्षणीयेऽप्यभिधैव स्यादिति लक्षणोच्छेदः ।
किमिति च 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये परदौर्बल्यमर्थ-
विप्रकर्षात्' इति सूत्रेण भगवान्नेमिनिः श्रुत्यादिषु पूर्वबलीयस्त्वं प्रतिपादय-
न्बभूव । सर्वत्रैवाभिधाप्रसङ्गे उत्तरस्य दौर्बल्ये बीजाभावात् । सूत्रं तु प्रकृतार्थ-
विच्छेदकत्वेऽपि बहुपकारकत्वादुरुहत्वाच्च व्याक्रियते—श्रुतिलिङ्गादयः पठिह
विनियोजकाः । तत्र विरुद्धयोरेकत्रोपनिपाते समुच्चयो न संभवतीत्येकेनापरस्य
बाधो वक्तव्यः । स च बलवता दुर्बलस्येति स्थिते दौर्बल्यप्रतिपादकं सूत्रं
श्रुतिलिङ्गेत्यादि । अस्यार्थः—श्रुत्यादीनां समवाये एकत्रोपनिपाते तेषां मध्ये
यदपेक्षया यत्परं तदपेक्षया तदुर्बलम् । कुतः, अर्थविप्रकर्षापूर्वापेक्षया विलम्बे-
नार्थप्रत्यायकत्वात् । यथा चैतत्तथोदाहरणे स्फुटीकरिष्यते । तत्र निरपेक्षो रवः
श्रुतिः । यथा—'व्रीहीनवहन्ति' इति । अत्र क्रियाफलभागित्वं कर्मत्वं बोध-
यन्ती द्वितीया निरपेक्षैव व्रीहीणामवघातशेषित्वं प्रतिपादयति । अर्थविशेष-
प्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम् । यथा—'बहिर्देवसदनं दामि' इति । अत्र लब्धव्य-
प्रकाशकतया बहिर्लवने विनियोगः । परस्पराकाङ्क्षानवशात्कचिदेकस्मिन्नर्थे पर्यव-
सितानि पदानि वाक्यम् । यथा—'देवस्य त्वा सखिबुः प्रसवेऽग्निनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यामग्रये जुष्टं निर्वपामि' इत्यत्र लिङ्गेन निर्वपे विनियुज्यमानस्य
समवेतार्थभागस्यैकवाक्यतावलेन 'देवस्य त्वा' इत्यादि भागस्यापि तत्र विनि-
योगः । लब्धवाक्यभावानां पदानां कार्यान्तरापेक्षावशाद्वाक्यान्तरेण संबन्ध-
वाक्यरूपपर्यवसानं प्रकरणम् । यथा—'समिधो यजति' इत्यादी । अस्य हि

निरपेधेन बलवदनिष्टहेतुत्वस्यावगतेरधिकत्वरूपप्रबलत्वस्यावधिसाकाङ्क्षात्तत्त्वेन विष-
भोजनस्यान्वय इत्यर्थः । न तत्प्रत्याख्या इति । न पुत्रस्त इत्यादिशब्दप्रत्याख्या
इत्यर्थः । शब्देन हर्षप्रतीतिद्वारा हर्षादयो जन्यन्ते न तु तत्प्रतीतिः । सा तु हर्षा-
दिलिङ्गेनैत्रविकासादिमिरिति भावः । ननु गङ्गाद्यैरप्रतिपादनद्वारा तीरादिप्रतिपा-
दनस्याभिधयैव संभवाच्चास्मन्मते लक्षणा नामातिरिक्तवृत्तिरिति तदुच्छेदो न दूषण-
मित्यतो दूषणान्तरमाह—किमिति चेति । सर्वत्रैवेति । श्रुतिस्थल इव
लिङ्गादिस्थलेऽपि शब्दश्रवणानन्तरं प्रतीयमानानां सर्वेषामर्थानामभिधयैव प्रतीतौ
लिङ्गादीनां दौर्बल्यहेत्वभावादित्यर्थः । एतच्चोदाहरणे स्पष्टीकरिष्यते । विनियोजका
अज्ञात्रित्वरूपविनियोगबोधकाः । निरपेक्ष इति । स्वार्थबोधकशब्दान्तरानपेक्ष

दर्शपौर्णमासकथं भावाकाङ्क्षायां पाठवशाच्छेषत्वम् । स्थानं क्रमः । स चाने-
कस्याज्ञातस्य संनिधिविशेषाज्ञानम् । यथा—‘द्विधरसि’ इत्यत्राग्नेयाग्नीषो-
मीयोपांशुयागाः क्रमेण ब्राह्मणेषु पठिताः । मन्त्रभागोऽपि क्रमेणानुमन्त्रणत्रयं
पठितम् । तत्राग्नेयाग्नीषोमयोर्लिङ्गेनैव द्वयोर्विनियोगसिद्धिः । ‘द्विधरसि’
इत्यत्र तु न लिङ्गादि विनियोजकम् । किं तु यस्मिन्प्रदेशे ब्राह्मणे उपांशुयाग-
विधानं तस्मिन्नेव प्रदेशे मन्त्रेऽप्यस्य पाठ इति क्रमादुपांशुयागानुमन्त्रणेऽस्य
विनियोगः । समाख्या योगबलम् । यथा—हौत्रमौद्गात्रमित्यादि । तत्र हि
होतुरिदं हौत्रमित्यादियोगबलेन हौत्रादिसमाख्यातानि कर्माणि होत्रादिभिर-
नुष्ठेयानि । अथैषां विरोधोदाहरणानि—तत्र श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधे लिङ्गस्य दुर्ब-
लत्वं यथा—‘कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्वसि’ इत्यादिकाया ऋचो विनियो-
जिका श्रुतिः ‘ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते’ इति । अत्र चेन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपा-
लिङ्गादिन्द्रोपस्थापने विनियोगः प्रतिभाति । अन्यप्रकाशस्यान्यत्र विनियोगा-
योगात् श्रुत्या गार्हपत्योपस्थापने स प्रतीयते । गार्हपत्यमिति द्वितीया हि
कर्मविभक्तिकतया कामपि क्रियामपेक्ष्य प्रकृत्यर्थस्य शेषित्वं बोधयति । क्रिया-
जन्येष्टफलभागित्वस्य तदर्थत्वात् । एवमैन्द्रेति तृतीया प्रकृत्यर्थस्य शेषत्वम् ।
क्रियां प्रति साधकतमत्वरूपकरणत्वस्य तदर्थत्वात् । तदत्र श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधः ।
न च वाच्यं निरपेक्षया द्वितीयया शेषित्वमात्रं प्रतीयते न त्वैन्द्रीमृचं प्रति ।
तच्चाग्नेयीमृचं प्रत्यपि संभवतीति कुतो विरोधः । ऐन्द्रेति पदमपेक्ष्य विशेष-
बोधनाद्विरोध इति चेत्, न तर्हि श्रुतेर्विरोधः किं तु वाक्यस्य । तच्च लिङ्गा-
पेक्षया दुर्बलमेवेति । यतः शेषशेषिभावः सामान्यतः श्रुत्यैवावगम्यते । पदा-
न्तरप्रक्षेपात्तु विशेषे व्यवस्थाप्यते विशेषसंबन्धमात्रस्य पदान्तरसंबन्धात्प्रतीतेः ।
तस्माच्छ्रुत्या सामान्यतः प्रतिपाद्योऽसौ वाक्यलभ्यं विशेषमपेक्ष्य लिङ्गप्रतिपाद्येन
विरुध्यते । तत्रायं पूर्वपक्षः—सामर्थ्यज्ञानमपेक्ष्य श्रुतिर्विनियोजिका । नह्य-
समर्थं श्रुतिसहस्रेणापि विनियोक्तुं शक्यते । यथा वह्निः प्रसेके । जलं वा
दाहे । अतो लिङ्गस्य बलवत्त्वादिन्द्रस्योपस्थानेऽस्या विनियोगः । तदनुरोधितया

इत्यर्थः । स्थानं क्रम इति । स्थानक्रमशब्दावेकार्थतया प्रसिद्धावित्यर्थः ।
संनिधिविशेषेति । कर्मान्तरव्यापृतेनोपलक्षितमित्यर्थः । तच्च द्विविधं समा-
नदेशत्वं समीपदेशत्वं चेति । तत्राद्यमुदाहरति—यथेति । अन्यं तु विरोधो-
दाहरणे वक्ष्यते । विशेषसंबन्धेति । शेषत्वशेषित्वयोर्निरूपकसंबन्धमात्रस्ये-
त्यर्थः । अयं भावः—प्रधानभूतशेषशेषित्वबोधकतया श्रुतिस्तत्र प्रधानम् । वाक्यं
तु तदपेक्षितविशेषसमर्पकं तदङ्गम् । प्रधानेन च व्यपदेशो न तु गुणभूतेनेति
श्रुतिलिङ्गयोरेवायं विरोध इति । किं च लिङ्गे बलीयसि सति यस्य बाधस्तेन लिङ्गस्य
विरोधो वाच्यः । न च लिङ्गस्य प्राबल्येऽत्र वाक्यबाधः । तस्य गार्हपत्यपदस्येन्द्र-
लक्षकतया द्वितीयायाः सप्तम्यर्थलक्षकतयाप्युपपत्तेः । किंतु श्रुतिरेव यथाशक्तप-

द्वितीया सप्तम्यर्थतया व्याख्येया । गार्हपत्यसमीपेऽनया इन्द्र उपस्थातव्य इत्यर्थः पर्यवस्यति । सिद्धान्तस्तु—श्रुतिः स्वरूपसत्सामर्थ्यमपेक्षते न तु तद्वोध-
मपि येन लिङ्गं बलवद्भवेत् । तस्य च पूर्वं सत एव ज्ञानं विनियोगान्यथानु-
पपत्त्या पश्चादुपजायते । लिङ्गं तु विनियोजने श्रुतिमपेक्षते । नह्यनेनेन्द्र
उपस्थातव्य इति लिङ्गात्स्वरसतः प्रतीयते । किं त्वीदृगिन्द्र इत्येतावन्मात्रम् ।
तथा च प्रकरणान्नानसामर्थ्यादिन्द्रप्रकाशनसमर्थाया ऋचोऽन्यथानुपपत्त्या
विनियोगः कल्पनीयः । तथा चार्थविप्रकर्षः । तथाहि—श्रुतार्थापत्तिसाधक-
न्यायेन शब्दोपस्थापितेनैव शब्दी आकाङ्क्षा पूर्यत इति लिङ्गेनानया इन्द्र
उपस्थातव्य इति श्रुतिः कल्पनीया । ततस्तया विनियोगो भवेत् । ततो
यावद्विङ्गं श्रुतिकल्पनायै प्रक्रान्तव्यापारं तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्ये विनियोगः
सिद्ध एवेति प्रकरणे निराकाङ्क्षे कथानुपपत्त्या श्रुतिः कल्पनीया । तस्माच्छ्रुते-
र्बलवत्त्वात्तदनुगुणतया सामर्थ्यं नीयमाने इन्द्रपदं परमैश्वर्यवाचकतया गार्ह-
पत्यतात्पर्यकमित्यवधार्यते । लिङ्गवाक्ययोर्यथा पुरोडाशस्य स्थानकरणस्थापन-
स्वरूपयोः सदनसादनयोः प्रकरणे 'स्योनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया
सुशेवं कल्पयामि तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेदः सुमनस्यमानः' इति
मन्त्रः पठितः । तत्र कल्पयामीत्यन्तः पूर्वभागः सद्ने, शेषभागस्तु सादने
प्रयोक्तव्य इति लिङ्गात्प्रतिभाति । अयं मन्त्र एकं वाक्यम् । यत्पदाक्षेपेण
यत्कल्पयामि तस्मिन्सीदेत्येकार्थावच्छिन्नत्वाद्विभागे साकाङ्क्षत्वाच्च । ततश्चैक-
वाक्यत्वात्समस्त एवोभयत्र विनियोक्तव्यः 'देवस्य त्वा-' इत्यादिवत् । इति
वाक्यादवगम्यते । तदनयोर्विरोधः । अत्र पूर्वपक्षः—अस्यैकवाक्यत्वे निश्चिते
पश्चात्तदुपपत्तयेऽभिधानसामर्थ्यं कल्पनीयम् । यत्कल्पितया श्रुत्या विनियोगो
भवेत् । यथा 'देवस्य त्वा-' इत्यादिमन्त्रे 'अग्नये निर्वपामि' इति पदयोः
समवेतार्थयोरेकवाक्यतया अतादृशां पदान्तराणां सामर्थ्यकल्पना । तथा चैक-
वाक्यत्वनिर्वाहाय क्लृप्तं सामर्थ्यं न तद्व्याहन्तुमर्हति । किं तु विनियोजिकां
श्रुतिं कल्पयत्समस्तमन्त्रविनियोजिकामेव कल्पयतीति वाक्यस्योपजीम्यत्वेन
बलवत्त्वात्समस्तस्यैवोभयत्र विनियोग इति । सिद्धान्तस्तु—यद्येकवाक्यतामव-

दरूपा बाध्यत इति तयैव लिङ्गस्य विरोध इति । स्वरूपसदिति । अन्यथा
प्रामाण्यानुपपत्तेरिति भावः । न त्विति । अयोग्यतानिश्चयाभावस्यैव शब्दबो-
धहेतुत्वादिति भावः । पश्चादिति । गौणसामर्थ्यस्य ज्ञानमुपजायत इत्यर्थः ।
विनियोजनेऽङ्गत्वबोधने । निराकाङ्क्षे श्रुतिकल्पनापेक्षारहिते । सर्वत्र शब्दस्याभिधेति
मते तु मन्त्रश्रवणानन्तरमुक्तप्रनाञ्च्या तेनेन्द्र उपस्थातव्य इत्यर्थस्याप्यभिधयैवावगतेः
श्रुत्यध्याहारानपेक्षणेन विप्रकर्षाभावाद्दौर्बल्यं न स्यादित्यवधेयम् । उभयत्रेति । सद्ने
सादने चेत्यर्थः । प्रधानानुरोधेनाज्ञावृत्तेर्न्याय्यत्वादिति भावः । समस्त इत्यंशे दृष्टान्तः
'देवस्य त्वेत्यादिवत्' इति । तत्र हि निर्वपामिपदैकवाक्यतया देवस्य त्वेत्यादीनां

गम्यैव सामर्थ्यमवधार्येत तदोपजीव्यत्वाद्वाक्यं बलवद्भवेत् । न त्वेवम् । प्रत्युतावधृतसामर्थ्यानां संनिहितपठितानां पदानां सामर्थ्यवशेन प्रयोजनैकतया चैकवाक्यत्वावधारणम् । यावन्ति पदानि प्रधानमेकमर्थं प्रतिपादयितुं समर्थानि विभागो साकाङ्क्षाणि भवन्ति तावन्त्येकं वाक्यं भवति । अनुष्ठेयश्चार्थो मन्त्रे प्रकाशमानः प्रधानम् । सदनसादने चात्र तथाभूते । तथा च सदनप्रकाशन-समर्थः पूर्वभागः सादनप्रकाशनसमर्थः शेषभाग इति प्रतीताभ्यां तत्सामर्थ्याभ्यां कृत्सेन श्रुतिद्वयेन द्रानेव तद्भागयोः प्रत्येकं त्रिनियोगे सिद्धे तावतैव प्रकरणपाठोपपत्तौ समस्तमन्त्रस्यैकवाक्यताबुद्धिरुपज्ञाप्याभासीभवति । लिङ्गेन बाधात् । तथा कृत्समर्पि सामर्थ्यं न श्रुत्यन्तरं कल्पयितुमर्हतीत्यर्थविप्रकर्षाद्वाक्यं दुर्बलम् । तस्माद्यत्रावान्तरवाक्यविरोधि लिङ्गं नास्ति तत्र समवेतार्थकेनैकेन पदेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा सहैकवाक्यता पदान्तराणामपि सामर्थ्यं विनियोजक-श्रुतिकल्पनानुकूलं कल्पयति । यथात्रैव 'स्योनं ते' इत्यादिभागानाम् । वाक्य-प्रकरणयोर्यथा दर्शपौर्णमासप्रकरणे 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' इत्यादिकः सूक्तवाकनिगदः पठितः । तत्र च 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुपेतामवीवृधेतां महो-ज्यायोऽक्रातां अग्नीषौमाविदं हविरजुपेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्' इत्यवन्तरवाक्यद्वयं श्रूयते । तत्र पौर्णमास्यामिन्द्राग्नी न देवते इति लिङ्गा-त्तत्पदमपनीयते । अमावास्यायां तु समवेतार्थत्वात्तत्प्रयुज्यते । तत्रैवं संदि-ह्यते—इन्द्राग्निपदैकवाक्यतापन्नानि अवीवृधेतामित्यादिपदानि तत्रापनेयान्यथवा प्रयोक्तव्यान्येवेति । तत्र प्रकरणात्प्रयोगः प्रतिभाति । असमवेतार्थतया देवता-मात्रस्यापनयनात् । वाक्यात्तु तान्यपनेयानीति प्रतीयते । येन सह यदेक-वाक्यतापन्नं तेन सहैव तदपनयनौचित्यात् । तदनयोर्विरोधः । तत्र प्रकरण-मेवाङ्गसंबन्धप्रतिपादकम् । अतस्तस्य बलवत्त्वाच्छेषभागः प्रयोक्तव्य एवेति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः । प्रकरणं विनियोज्यस्वरूपसामर्थ्यमनपेक्ष्य न विनियोजकम् । येनैवं भवेत् । किंतु तदपेक्षमेव । कथमन्यथा 'पूष्णोऽहं देवयज्वया प्रजया पशुभिश्च जनिषीय' इति पूषानुमन्त्रणमन्त्रं तदेवताविरहिणोर्दर्शपौर्णमासयोनं विनियुक्ते । 'तिष्ठ एवोपसदः साहस्य द्वादशाहीनस्य' इत्यत्र चैकाहविधेयसो-

विशेषणद्वारा विधिष्टनिर्वापप्रकाशकत्वाद्यथा समस्तमन्त्रस्य निर्वापाज्ञत्वं न तु निर्व-पामीलेतावन्मात्रस्य तथात्रैतल्यर्थः । दृष्टान्ते निर्वापरूपायैक्यादेकवाक्यत्वनिर्णयः । इह तु सदनसादनयोरनुष्ठेयार्थयोर्भेदादेकवाक्यत्वं बाधितम् । अत्रैकलिङ्गवशाद्भि-न्नवाक्यत्वस्यैव निर्णयात् । अतो विभज्यैव विनियोगः पूर्वोत्तरार्थयोरिति सिद्धान्तः । पूर्वोत्तरार्थयोरैकवाक्यताक्वशेन सामर्थ्यस्य कल्पनीयत्वात् । तत्तद्भागस्य सदनार्थ-प्रकाशनसामर्थ्यस्य कृत्स्नत्वादिति विप्रकर्षादित्यूह्यम् । सूक्तवाकेति । सूक्तवाक-संज्ञको नितसमुच्चैर्गद्यते पठ्यते तादृशो मन्त्रसमूहः । प्रकरणादिति । इतिकर्त-व्यताकाङ्क्षारूपप्रकरणस्यामावास्यापूर्णमासीष्टवोः समत्वादित्यर्थः । पूषेति । पूषदै-

मयागस्वरूपे साह्ये ज्योतिष्टोमादौ द्वादशोपसत्तां न बोधयति । सा पुनर्बहु-
दिवसविधेया सोमयागरूपाहीननामक्रतुविशेषं नीयते । 'अह्नः सः कर्तौ'
इत्यनुशासनात् । स्वरूपालोचनायां तु श्रुत्या लिङ्गेन वाक्येन वा झटिति
प्रवृत्तिकेन यद्रूपमपनीयते यद्वा अन्यत्र नीयते तद्विहास्रावशिष्टेन प्रकरणाकाङ्क्षत-
पूर्वते । यत्र तु विरोधिभ्रुत्यादिकं नास्ति तत्र प्रकरणं विनियोजकम् । यथा—
'समिधो यजति' इत्यादिबोधितस्य समिधादेः । अत्र तु यथा लिङ्गेनेन्द्रादि-
भागोऽपनीयते तथा वाक्येन तच्छेषभागोऽपीति क पश्चात्प्रवृत्तिकस्य प्रकरणा-
स्यावकाशः । न च तथात्वमस्यासिद्धम् । यतो वाक्ये पदानां संबन्धः
प्रत्यक्षसिद्धः । प्रकरणे त्वाकाङ्क्षनावशात्कल्पनीयः । तथा च वाक्ये प्रथममेवा-
भिधानसामर्थ्यं कल्प्यते ततस्तेन श्रुतिस्तथा विनियोग इति तृतीयः कालो
विनियोगस्य । प्रकरणेन तु प्रथमं वाक्ययोः संबन्धः कल्प्यते ततः सामर्थ्यमस्य
श्रुतिरथ विनियोग इति चतुर्थः कालः । ततो वाक्यात्प्रथमं शेषभागास्यापनये-
सिद्धे कृतापि श्रुतिरकिञ्चित्करी । वाक्यविरोधादिति । प्रकरणस्थानयोर्व्या-
राजसूयस्य प्रधाननानाकर्मात्मकस्य प्रकरणे प्रधानादभिषेचनीयादनन्तरं शौत्रः-
शेषोपाख्यानमाश्नातम् । तत्र किं समस्तराजसूये तदङ्गमाहोस्विदभिषेचनीय-

वत्यनुमन्त्रणाख्यं मन्त्रम् । यागमनु पश्चान्मन्त्रं प्रकाशनमिति तदर्थः । उपसत्ता-
मिति । उपसत्तामका इष्टिविशेषाः । साहस्याह्ना सहितस्यैकाहस्य ज्योतिष्टोमस्याह्नां
तत्संबन्धियागानां समूहोऽहीनः । विशेषमिति । सत्रसंज्ञकयागभित्तमित्यर्थः ।
सत्राणां यागसमूहरूपत्वेऽप्यहीनसंज्ञत्वाभावात् । एकवचनमहीनत्वसामान्यामि-
प्रायम् । द्विरात्रत्रिरात्रादीनां बहूनां तथात्वात् । श्रुत्येवहीनोद्गाहणे तत्राहीनश्रुत्या
द्वादशत्वं ज्योतिष्टोमादपनीय द्विरात्रादौ नीयते । पूषानुमन्त्रं च पूषयागे लिङ्गेन
नीयते । प्रकृते तु पूर्णमास्यां लिङ्गेनेन्द्राभिपदमपनीयते । वाक्येन च तदेकवाक्यतापन्नं
'इदं हविः' इत्याद्यपीति बोध्यम् । समिदिति प्रथमप्रयाजनाम । तथात्वमिति ।
पश्चात्प्रवृत्तिकत्वमित्यर्थः । तथा चेति । वाक्य इत्यस्य विनियोजके सतीति शेषः ।
प्रथममेव पदानां समसिव्याहारमकल्पयित्वा । अभिधानेति । इदं हविरित्यर्थ-
विशिष्टेन्द्राभिदेवताभिधानसामर्थ्यमित्यर्थः । श्रुतिरिति । इदं हविरित्यादिनेन्द्रा-
भिदेवताप्रकाशनीयेत्येवंरूपेत्यर्थः । प्रकरणे तु विनियोजके सतीति पूर्ववत् ।
वाक्ययोरिन्द्राभिपदसहोच्चरितेदं हविरित्यभिषोमाविदमित्यनयोः संबन्धो विशिष्ट-
कार्थप्रतिपादकत्वरूपः । ततस्तत्रैव सामर्थ्यम् । तत् इदं हविरित्यादिना दर्शपूर्ण-
मासोपकारं दृष्ट्वा दृष्टरूपं यथासंभवं कुर्यादिति श्रुतिकल्पनं तथा च विनियोगबुद्धिरिति
विप्रकर्ष इत्यर्थः । अत्रापि मन्त्राक्षराणां श्रवणमात्रेण प्रकरणादर्शपूर्णमासाज्ञत्वप्रतीतेर-
भिधेयैव सिद्धेर्वाक्यलिङ्गादिकल्पनाया अप्रसक्तेर्न दौर्बल्यं वाक्यात्प्रकरणस्य परमते
भवेदिति ज्ञेयम् । एवमग्रेऽपि नानाकर्ममिति । इष्टिपशुसोमयागात्मकस्येत्यर्थः । अभि-
षेचनीयाख्यः सोमयागः । शुनःशेफो नाम ऋषिपुत्रः तस्योपाख्यानमाश्नातं पठितं चीनः-
शेफमाख्यापयतीति । शुनःशेफः किल हरिश्चन्द्रपुत्रेण पुरुषमेधार्थं पशुत्वेन कीतः ।

मात्र इति संदेहः । तत्र प्रकरणस्य बलवत्त्वात्सर्वाङ्गतावगम्यते । स्थानस्य तु बलवत्त्वेऽभिषेचनीयाङ्गता । तदनयोर्विरोधः । यद्यप्याकाङ्क्षसत्तोरुभयोरपि तुल्यबलता 'अयमेति पुत्रो राज्ञः' इत्यादौ 'गामानय', 'प्रासादं पश्य' इत्यादा-
 बुभयविरहेणान्वयाबोधात् । तथापि विनिगमनाविरहादुभयोस्तुल्यबलत्वाच्च विकल्पेनाङ्गतास्त्विति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः । आकाङ्क्षासंनिधी द्वे अपि विनियोग-
 प्रयोजिके इत्युभयसंमतम् । राजसूये च कथं स्यादित्याकाङ्क्षा क्षत्रियस्य धृतिं यावदनुवर्तते । संनिधानं च प्राकरणिकत्वेन सर्वदा बुद्धिसंनिहितत्वादस्त्येव ।
 अभिषेचनीये च सत्यपि संनिधाने आकाङ्क्षा उत्थाप्या । तथा च यदोत्थिता-
 काङ्क्षेन प्रकरणेनैकवाक्यत्वं कल्पनीयं तदा संनिधानादाकाङ्क्षोत्थापनम् । तथा
 चैकत्र सामर्थ्यकल्पनं श्रुत्युन्नयनं विनियोगः । अपरत्रैकवाक्यताकल्पनं साम-
 र्थ्योन्नयनं श्रुतिकल्पनं विनियोगश्चेत्यर्थविप्रकर्षात्स्थानस्य दुर्बलत्वात्प्रकरणेन
 सर्वत्र राजसूये शौनःशेफोपाख्यानस्य विनियोगो न तु विकल्प इति । स्थान-
 समाख्ययोर्थथा—दर्शपौर्णमासप्रकरणे पौरोडाशिकसमाख्याते काण्डे साम्नाय्य-
 क्रमे 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इति मन्त्रः श्रूयते । स च प्रकरणादर्शार्थः ।
 तथात्वं च तस्य समवेतार्थत्वेनौचित्यात्कस्यचिच्छुन्धने विनियोगाद्भवेत् । शुन्ध-

स च वरुणाय खस्यालम्ने क्रियमाणे तं तुष्टाव । स चैनं ररक्षेत्युपाख्यानस्वरूपम् ।
 ननु स्थानस्यासत्तिरूपस्याकाङ्क्षारूपप्रकरणाद्बलवत्त्वमसंभवि । द्वयोरप्यन्वयबोधहेतु-
 त्वाविशेषात् । अतः कथं स्थानादभिषेचनीयमात्राङ्गत्वपूर्वपक्ष इत्याशङ्कते—यद्य-
 पीति । अयमेतीत्यादौ पुत्रपदार्थेन जनितान्वयबोधत्वेनाकाङ्क्षाविरहाच्च राज्ञः पुरुषा-
 न्वयबोधः । गामित्यस्य चासत्यभावाच्च पश्येत्यनेनान्वयबोध इत्यर्थः । समाधत्ते—
 तथापीति । अन्यतरस्वारस्यत्यागाङ्गीकारयोर्विनिगमकाभावात्सर्वाङ्गत्वे चाभिषे-
 चनीयसंनिधिस्वारस्यभङ्गापत्तेरभिषेचनीयमात्राङ्गत्वे च प्रकरणस्वारस्यभङ्गापत्तेरुभ-
 यानुग्रहाय विकल्पेनाङ्गत्वं भवत्विति पूर्वपक्षाशय इत्यर्थः । कथं स्यादिति । राज-
 सूयेन स्वाराज्यं कथं स्यादित्याकाङ्क्षेत्यर्थः । क्षत्रियस्य धृतिर्नाम सोमयागविशेषस्त-
 त्पर्यन्तमित्यर्थः । पवित्राख्यसोमयागादारभ्येति बोध्यम् । उत्थाप्येति । अभिषेचनी-
 यत्वेन स्वाराज्यसाधनत्वस्य शब्देनानुक्तेस्तेन रूपेणेतिकर्तव्यताकाङ्क्षा न सिद्धेत्यर्थः ।
 उत्थितेति । राजसूयत्वेन रूपेणोत्थिता कृताङ्गाकाङ्क्षा यस्य तेन प्रकरणेन ।
 तद्गतयागसमूहेनेत्यर्थः । एकत्र प्रकरणे । अपरत्र स्थानस्थले । अत्र पूर्वपक्षे पवित्रा-
 ख्यसोमयागे समूहान्तर्गते यस्मिन्पक्षेऽङ्गत्वं तदा तद्विकृतावतिदेशतः प्राप्तिः ।
 यदा तु केवलमभिषेचनीयाङ्गत्वं तदा पवित्राख्ययागानङ्गत्वात्तद्विकृतौ नातिदेशतः
 प्राप्तिरिति प्रयोजनं ज्ञेयम् । साम्नाय्यं दधिपयसी । तयोः क्रमे समीपस्थे ।
 पौरोडाशेति । पुरोडाशसंबन्धीनि पौरोडाशीनि पात्राणीत्याहस्य तत्पात्राणि
 प्रतिमन्त्रणाङ्गत्वं समाख्ययोक्तमित्यतिशयार्थमीदृशार्थकथनम् । वस्तुतः पुरोडाशम-
 धिकृत्य प्रवृत्तं काण्डं पौरोडाशिकमित्येव व्युत्पत्तिः । अन्यथा पात्रासंबन्धिमन्त्राणां
 तत्समाख्या न स्यादित्युच्यम् । अत एव सिद्धान्ते पुरोडाशमन्त्रविशेषयोः

नीयं चात्र द्वयमुपस्थितम् । साम्राज्यपात्रं पुरोडाशपात्रं च । तत्र समाख्या-
वशात्पुरोडाशपात्रशुन्धने विनियोगः प्रतिभाति । स्थानवशात् साम्राज्यपात्रा-
णाम् । तदनयोर्विरोधः । तत्र पूर्वपक्षः—पौरोडाशशब्देन पुरोडाशसंबद्धान्यु-
च्यन्ते । तान्यधिकृत्य प्रवृत्तं काण्डं पौरोडाशिकमिति । अतः समाख्या श्रुतित
एव साक्षाद्विनियोजिका । क्रमस्तु प्रकरणाद्युच्चयनद्वारा तथेति समाख्या बलव-
तीति । सिद्धान्तस्तु—पौरोडाशिकपदं न पुरोडाशमन्त्रविशेषयोः संबन्धमाह किं
तु पुरोडाशविशिष्टं काण्डम् । वैशिष्ट्यानुपपत्त्या तु संबन्धस्तत्र कल्प्यते ।
सोऽपि न शेषशेषिभावः किं तु संबन्धमात्रम् । तद्वारेण तु मन्त्रभेदस्यापि
तदनुमानम् । तथा च समाख्ययापि क्रमादिकमुद्धीय विनियोगो न तु श्रुत्यैव ।
एवं च समाख्यया क्रमोऽनुमेयस्तेन प्रकरणं तेन वाक्यं तेन लिङ्गं तेन श्रुतिस्तथा
विनियोग इति समाख्यायां षष्ठः कालो विनियोगस्य । स्थाने तु क्रमः प्रत्यक्ष
एवेति न कल्पनीयः । तथा च तेन प्रथमत एव प्रकरणमनुमेयं तेन च वाक्यं
तेन लिङ्गं तेन श्रुतिस्तथा विनियोग इति पञ्चमः कालः । तस्मादर्थविप्रकर्षात्स-
माख्या स्थानतो दुर्बलेति न पुरोडाशपात्रशुन्धनेऽस्य विनियोगः । कथं तर्हि
काण्डस्य पौरोडाशिकसंज्ञा । पुरोडाशसंबन्धिबहुमन्त्रघटितत्वादित्यवेहि । तदर्थं
निर्गलितोऽर्थः—

‘एकद्वित्रिचतुष्पञ्चवस्त्वन्तरपकारितम् ।

श्रुत्यर्थं प्रति वैषम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयते ॥

बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा ।

मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया ॥’

इत्यलमतिविस्तरेणेति प्रकृतमनुसरामः ॥

पूर्वोक्त इषुदृष्टान्तो वैषम्यादनुपपन्नः । तथाहि तत्र वेगव्यापारश्च स्वरूपमत
एव जनकतया दीर्घदीर्घतरत्वं संभवति । अभिधायास्तु ज्ञातया एवानुकूल-
त्वाभ्यङ्ग्यनिष्ठतया चाज्ञानादित्यन्विताभिधानवादेऽपि ‘निःशेष—’ इत्यादौ विधे-
र्यङ्ग्यत्वमेवेति स्थितम् । किं च यदि वस्तुगत्या पदार्थान्तरेण योऽन्वितः

संबन्धेऽस्मिधानमेव निरस्य पुरोडाशविशिष्टकाण्डस्याभिधेयत्वमाह—किं त्विति ।

‘सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते । नहि संबन्धवाच्यत्वं संभवत्यगौरवात् ॥’

इति वार्तिकोक्तेरिति भावः । संबन्धस्तत्रेति । अयमेवोपस्थापकतया स्थानपदार्थः ।

मन्त्रभेदस्य शुन्धध्वमित्यादिमन्त्रविशेषस्य । वस्त्वन्तरपेति । श्रुत्यर्थं विनियोगं

प्रत्येकादिसंख्या वस्तुव्यवधानप्रयुक्तं लिङ्गादीनां वैषम्यमर्थाच्छ्रुत्यादिभ्यः प्रतीयत इति

योजना । अपेक्षयेति । पूर्वापेक्षया बाध्यत्वम् । यथा लिङ्गस्य श्रुत्यपेक्षया वाक्या-

पेक्षया तु बाधकत्वमित्यर्थः । विधेरिति । तस्यान्तिकं न गतासीति वाच्यनि-

षेधविपरीतस्य गतासीति विधिरूपस्यार्थस्येत्यर्थः । नन्वभिधाव्यापारस्य दीर्घादी-

र्घतरत्वोक्त्यैवेतरसहकारिसापेक्षत्वावगमाच्छ्रुत्यादिपूर्वपूर्वसापेक्षतयैव लिङ्गादेर्बाधक-

त्वाङ्गीकाराच्चेत्सूत्रविरोधः । तात्पर्यविषयः शब्दाभिधेय इति च सामान्यतः

सोऽभिधयोपस्थाप्यत इत्यन्विताभिधानं तदावश्यं व्यञ्जना स्वीकार्या । अन्यथा 'रुचिं कुरु' इत्यादिशब्दस्य दुष्टत्वं न स्यात् । दुष्टिहेतोरसभ्यार्थोपस्थितेस्तत्राभावप्रसङ्गात् । तदर्थस्यान्यानन्वितत्वात् । किं च वाच्यवाचकभावातिरेकी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यवश्यं काव्यज्ञदृष्ट्यापि स्वीकर्तव्यम् । अन्यथा कष्टत्वादयोऽनित्यदोषाः असाधुत्वादयो नित्यदोषा इति विभागो न स्यात् । वाच्यस्याविशेषेण कष्टत्वादीनामपि सर्वत्र दुष्टत्वस्यादुष्टत्वस्य वा प्रसङ्गात् । व्यञ्जनभ्युपगमे तु व्यञ्जनीयस्य बहुविधत्वेन रौद्रादौ व्यङ्ग्येऽनुकूलत्वं शृङ्गारादौ तु दुष्टत्वमिति युज्यते विभागव्यवस्था । एवं पर्यायेषु मध्ये कस्यचिदेव कुत्रचित्काव्यानुगुणत्वमित्यपि व्यवस्था न स्यात् । दृश्यते चासौ । यथा—'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।' इत्यादौ न पिनाक्यादिपदमनुकूलम् । किं तु जुगुप्साव्यञ्जकतया कपालिपदमेव । ननु द्वयमप्येतदयुक्तम् । व्यङ्ग्यत्वेनाभिमतस्य वाच्यत्वस्वीकार एवानुकूलत्वप्रतिकूलत्वयोर्व्यवस्थोपपत्तेरिति चेत्, न । अभिधास्वीकारे संकेतग्रहं विना तदनुपस्थितिप्रसङ्गस्योक्तत्वात् । किं च काव्ये शास्त्रे वा वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रतिपत्तिहेतुव्यापारभेदनिबन्धनो भेदोऽवश्यं स्वीकर्तव्यः । वैधर्म्यदर्शनात् । वाच्यो ह्यर्थः सर्वैरेक एव प्रतीयत इति नियतः । व्यङ्ग्यस्तु वक्तृप्रकरणादिवशादनियतः । तथा हि 'गतोऽस्तमर्कः' इति वाक्ये राज्ञः सेनापतीन्प्रति शत्रूणां हठेनामर्दनावसर इति, दूतीनामभिसारिकाः प्रति अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, सह्या वासकसज्जां प्रति प्राप्तप्रायस्ते प्रेष्यामिति, कर्मकरस्य सहकर्म कुर्वतः प्रति कर्मकरणाज्जिवतामह इति, भृत्यस्य धार्मिकं प्रति सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, आसस्य कार्यवशेन बहिर्गच्छतः प्रति दूरं मा गा इति, गृहिणो गोपालकं प्रति सुरभयो गृहं

संकेतग्रहाच्च तदग्रहदोषः । अत एव निःशेषेत्यादौ तदन्तिकमेवेति विधौ तात्पर्यादभिधैव । प्राथमिकार्थस्तु न मुख्यतया तात्पर्यविषयः । किं तु विध्युपायतयैवेति न तन्मात्रेण वाक्यपर्यवसानमित्यतो दोषान्तरमाह—किं चेति । अन्यानन्वितत्वात्तत्त्वेनातात्पर्यविषयत्वात् । नन्वतात्पर्यविषयाननुभावकत्वेऽप्यसभ्यार्थस्मरणमात्रेण दुष्टत्वोपपत्तिरत आह—किं चेति । अयं भावः—व्यञ्जनानभ्युपगमे दोषाणां वाच्यार्थधीप्रतिबन्धकत्वेन वाच्यार्थापकर्षकत्वेन वा यथायथं दोषत्वं वाच्यम् । तथासति वाच्यार्थस्य सर्वत्रैकरूपत्वाच्छृङ्गार इव रौद्रेऽपि दुष्टत्वं स्यात् । अदोषत्वे शृङ्गारेऽपि तथात्वं स्यात् । रतिकोधादिव्यङ्ग्यभेदेन तु प्रतिकूलत्वानुकूलत्वाभ्यां व्यवस्थोपपत्तेरिति । ननु किंचेत्यादिनोक्तं दोषद्वयमयुक्तम् । व्यङ्ग्यत्वेनाभिमतस्यैजोगुणादेर्मया वाच्यत्वस्यैवाभ्युपगमेन रौद्रादावदोषत्वस्य शृङ्गारादौ दोषत्वस्य चोपपत्तेः । एवं कपाल्यादिपदस्यापि व्यङ्ग्यत्वेन भवदभिमताया जुगुप्साया वाच्यत्वस्यैवाङ्गीकारानुकूलप्रतिकूलत्वानुपपत्तिरिति शङ्कते—नन्विति । सेनापती-

प्रवेश्यन्तामिति, दिवसेऽतिसंतप्तस्य बन्धून्प्रति संतापोऽधुना न भवतीति, आपणिकानां भृत्यान्प्रति विक्रेयवस्तुनि संह्रियन्तामिति, नायकागमनप्रसावे प्रोषितभर्तृकायास्तत्कथं प्रति नागतोऽद्य प्रेयानिति, एकस्यैव वा वक्तुर्बहून्प्रति तत्तत्प्रकरणवशादेवमादिरनवधिव्यङ्ग्योऽर्थः प्रकाशते । वाच्यस्तु सर्वान्प्रत्यविशिष्ट एव । ननु नैतद्वाच्यवैधर्म्यम् । नानार्थसैन्धवादिपदे नानार्थावगतिदर्शनादिति चेत्, न । एकवाक्यवर्तिनस्तस्याप्यर्थैक्यनियमात् । यदग्रे वक्ष्यति—‘लक्षणीयार्थस्य नानात्वेऽप्यनेकार्थपदाभिधेयवन्नियतत्वमेव’ इति । तथापि यत्र लवणाद्यधिकारिणः प्रति सकलस्वामिनः ‘सैन्धवमानय’ इति पदप्रयोगस्तत्रानियतत्वं दुर्वारमिति चेत्, न । तात्पर्याज्ञानात् । न ह्यत्र सर्वैर्वाच्यैः समं सर्वव्यङ्ग्यानां भेदः प्रतिपाद्यते । किं तु ‘गतोऽस्तमर्कः’ इत्यस्य वाच्यव्यङ्ग्ययोः । तथा च तद्वाच्यस्य नियतत्वम् । तदर्थपुरस्कारेणैव सर्वेषां व्यङ्ग्यस्यापि प्रतीतेः । तदयं नियतत्वानियतत्वरूपविरुद्धधर्मसंसर्गोऽभिहितः । एवं विलक्षणस्वरूपकालादिभेदोऽपि भेदको द्रष्टव्यः । वैधर्म्यसत्त्वेऽपि यद्यभेदः स्यात्तदा नीला-नीलादेरपि न कचिन्नेदः स्यात् । वैधर्म्यस्याविशेषात् । यदुक्तम्—‘अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च’ इति । सुप्रसिद्धश्च तत्र तत्र स्वरूपभेदे भेदः । तत्र ‘निःशेष-’ इत्यादौ,

‘मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्गाः समर्थादमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥’ इत्यादौ ।

नृप्रतीत्यादि प्रत्यन्तेषु सर्वेषु वाक्ये इत्यस्यान्वयो द्रष्टव्यः । तत्कथं प्रति नायकागमनकथं प्रति । अयमेवेति । विरुद्धधर्मस्याध्यास आश्रयत्वं यदयमेव भेदो न ततोऽन्य इति प्राचीनानां केषांचिन्मतम् । यदिति सामान्ये नपुंसकम् । अयमेवेति विधेयाभिप्रायं पुंस्त्वम् । ‘सा वैश्वदेवी’ इतिवत् । तथा कारणभेदो भेदस्य विरुद्धधर्मरूपस्य हेतुः । स्वरूपभेदोऽपि निषेधत्वविधित्वादिरूपविरुद्धधर्मे सति भेदः सुप्रसिद्धः । सर्वेषां प्रतीतिविषय इत्यर्थः । स्वरूपभेद इति । विरुद्धे यद्विषयतावच्छेदकं रूपं तद्रूपो भेद इत्यर्थः । वक्तरि प्रतिश्लोकवक्तरि । आश्रयो निमित्तम् । पदेति । पदं च शब्दैकदेशभूतकाकादि च तदर्थः । शब्दार्थो वर्णाः संघ-

१. ‘प्रकरणादि’ ख. २. “हे आर्या विद्वांसः, भूधराणां पर्वतानां नितम्बा मध्यभागाः किमु सेव्या भजनीया उत स्मरेण कंदर्पेण सेराः सितयुक्ता या विलासिन्यः प्रमदास्तासां नितम्बाः कटिप्रदेशाः सेव्या इति संशये मात्सर्यमेकतरपक्षेणेतत्रास्यामुत्सार्य त्यक्त्वा मयि वा प्रश्नोत्तरपरिश्रमदानान्मात्सर्यमपहाय विचार्य न त्ववहेलनया समर्थादं मर्यादासहितं यथा स्वात्तथा । सप्रमाणमिति यावत् । कार्यं कर्तव्यमुदाहरन्तु । सयुक्तिकं कथयन्त्वित्यर्थः । किन्त्विति उतेति च संशयार्थकं सप्तम्यन्तम् (?) ‘इदं वदन्तु’ इति पाठे निर्धार्यत्वध्याहृत्येदं कोटिद्वयं निर्धार्य वदन्त्वित्यर्थः । उत्तरार्थमार्थोत्तरत्वेन व्याचक्षाणानां त्वमिप्रायं न विद्यः । अत्र वाच्यः संशयः । व्यङ्ग्यस्तु शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चय इति स्वरूपवैलक्षण्यम्’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।

ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥’

इत्यादौ च स्वरूपभेदः । प्रथमे हि वाच्यो निषेधरूपो व्यङ्ग्यस्तु विधिरूपः । द्वितीये वाच्यः संशयरूपो व्यङ्ग्यस्तु शान्ते शृङ्गारिणि वा वक्तरि तदुचितैक-
कोटिनिश्चयः । तृतीये वाच्यो निन्दारूपः । प्रतीयमानस्तु स्तुतिरूपः । कालमे-
दस्तु सर्वत्र । पूर्वं हि वाच्यः प्रतीयते पश्चात्तु व्यङ्ग्य इति वाच्यस्य शब्दमात्र-
माश्रयः । प्रतीयमानस्य तु पदशब्दैकदेशीभूतकाकादितदर्थवर्णसंघटना इत्या-
श्रयभेदः । वाच्यस्य व्याकरणकोषादिमात्रेणावगमः । प्रतीयमानस्य तु प्रतिभा-
नैर्मल्येनाप्यधिकेनेति ज्ञापकभेदः । वाच्येन व्युत्पन्नमात्रस्य प्रतीतिमात्रम् ।
अन्येन तु विदग्धपदवाच्यस्य सहृदयस्य चमत्कृतितिरिति कार्यभेदः । ‘गतोऽ-
स्तमर्कः’ इत्यादौ दर्शितनयेन वाच्य एकः । प्रतीयमानस्तु नानेति संख्याभेदः ।

‘कैस्स व ण होइ रोसो ददूण पिआएँ सव्वणं अहरम् ।

सभमर पढमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एहिम् ॥’

टना रचना चेत्पर्यः । काकोर्ध्वन्यात्मकशब्दविकारत्वात्तदेकदेशत्वम् । एवं प्रत्य-
यादिरप्येकदेशो बोध्यः । कस्सेति । ‘कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः
सत्रणमधरम् ॥ सभमरपद्माप्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥’ सखी नायिका ।

२. ‘हे अवनिप अवनिं पाति रक्षतीति तथाभूत राजन्, यद्विषां श्रीः शत्रूणां लक्ष्मीः
स्वीकृता गृहीता तत्तस्माद्वैतोर्दर्पो गवंः कथं युक्त इति शेषपूर्णेनान्वयः । ‘दर्पोऽयं’
इति पाठे स्वीकृतेऽयं दर्पः कथमिति संबन्धः । कथंभूतानां विद्विषाम्, निशातया तीक्ष्ण-
यासिधारया यदलनं छेदनं तेन गलिताः पतिता मूर्धनो येषां तादृशानाम् । कथम-
युक्तो दर्पस्तत्राह—नन्वित्यादि । नन्विति यत इत्यर्थः । यतो निहतारेमारितशत्रोरपि तव
बल्लभा प्रियासौ प्रसिद्धा कीर्तिरेभिर्वैरिभिः किं त्रिदिवं स्वर्गं प्रति न नीता । अपि तु
नीतैवेत्यर्थः । कीदृशैः, अपगताङ्गैः । हीनाङ्गैरित्यर्थः । तथा च जीवत्येव त्वयि त्वद्वल्ल-
भाया हीनाङ्गैः शत्रुभिरपहरणाद्भवोऽनुचित इति निन्दामुखेन स्तुतौ पर्यवसानाभाजस्तु-
तिरलंकारः । अत्र निन्दा वाच्या स्तुतिर्व्यङ्ग्येति स्वरूपभेदः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘कस्सेति । परपुरुषखण्डितारतया कुपिते प्रोष्यागते पत्नौ संख्या निरपराधत्वबो-
धनाय प्रतारणोक्तिरिवम् । वारिता अधरदशनपर्यवसायिसभमरपद्माप्राणं निधुवनं त्र
मा कथा इति निवारितापि वामा निवारिताचरणात्प्रतिकूला । सहस्वेत्यनन्तरं पत्युर्ग-
अनमिति शेषः । इदानीमविचारदशायासुपनायिकासंनिधौ च । तदा सर्वं सुखायासीद-
धुना तु दुःखदमिति भावः । अत्र वाच्यार्थस्य संबोध्या सखी विषयः, व्यङ्ग्यार्थस्य तु
तत्त्वान्तः । अमस्कृतोऽयं व्रणो न तूपपतिकृत इति तं प्रति बोधनात् । अतो विषयभेदः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

इत्यादौ वाच्यार्थस्य संबोध्या सखी विषयः । तत्र हि वाच्योऽर्थः श्रोतव्य-
वतिष्ठते । प्रतीयमानस्य तु भ्रमरेणास्या अधरः खण्डितो न तूपपत्तिनेति
तत्कान्तः । ममैवं वैदग्ध्यमित्यस्य प्रतिवेशिनी । इदं मया समाहितं पुनरेवं
त्वया न विधेयमित्यस्योपपत्तिः । एवं सपत्न्यादिविषयोऽपीति विषयस्य भेदः ।
एवं स्वरूपादिभेदादवश्यमङ्गीकर्तव्यो वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेदः । किं च वाचकव्यञ्ज-
कयोरपि वैधर्म्याद्भेदो वक्तव्यः । यतो वाचकस्य संकेतितार्थापेक्षा । संकेतित
एव ह्यर्थेऽभिधा प्रवर्तते । न त्वेवं व्यञ्जकः । अन्यत्रापि व्यञ्जनया प्रत्यय-
जननात् । यच्चोक्तम्—‘तात्पर्यविषये शब्दः प्रमाणं’ इति तदितोऽप्यनुपपन्नम् ।
यतो व्यङ्ग्यस्य वाच्यताभ्युपगमेऽपि नानार्थन्यायेन तात्पर्यादेव नियमो वाच्यः ।
अन्यथा सर्वत्र सर्वव्यङ्ग्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा च यत्र ‘वाणीरकुडङ्ग—’ इत्यादौ
व्यङ्ग्यप्रतीतावपि वाच्य एव चारुत्वविश्रामस्तत्र तात्पर्याविषयो व्यङ्ग्योऽर्थः
कथं प्रतीयेत । ‘यत्परः शब्दः’ इत्युक्तमते ‘तु सुतराम् । एतेन ‘तात्पर्यमेव
व्यङ्ग्यप्रतीतौ व्यापार’ इत्यपि निरस्तम् । तस्मात्तात्पर्यमभिधा वा न प्रतीय-
मानेऽर्थे व्यापारः । नन्वस्तु लक्षणा । नहि वाच्यवल्लक्ष्योऽपि व्यवस्थितो
विशेषव्यपदेशाहेतुर्वा । यतः ‘रामोऽस्मि सर्वं सहे’ इत्यत्र रामपदेन सर्वदुःख-
भाजनत्वम् ।

‘प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा

सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।

उपपतिर्जारः । इतीति । इत्यस्य प्रतीयमानस्येत्यर्थः । तत्कान्तस्तस्या नायिकायाः
पतिः । सपत्न्यादिरिति । प्रियाया एवं दर्शने रोषो नाप्रियाया इति व्यङ्ग्यस्य
विषय इत्यर्थः । स्वरूपादिभेदादिति । तत्प्रतीतेरित्यर्थः । ननु वाच्यवैधर्म्येण
सङ्गदेऽपि सिद्धिः । नानात्वार्थान्तरसंक्रमितवाच्याल्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वशब्दार्था-
न्वयव्यतिरेकानुविधायित्वप्रकरणादिसापेक्षत्वादिलक्ष्यसाधर्म्यस्य व्यङ्ग्येऽपि सत्त्वा-
दिति शङ्कते—न त्विति । अन्यत्रापि व्यङ्ग्यत्वाभिमतेऽपि भाक्तेऽपि । तस्माद्-
भिधेयादन्यो भक्तिर्लक्षणा तथा मार्गणं प्रकाशनं यस्य स इत्यर्थः । प्रकरणादी-
त्यादिपदेन वक्तादिवैशिष्ट्यपरिग्रहः । नियतत्वमेवेति । एकस्मिन्वाक्य इति

१. ‘प्रत्याख्यानरुचेरिति सीतां प्रति रामस्योक्तिः । हे प्रिये, इति भावनोपनीतां प्रति
संबोधनम् । प्रत्याख्याने निराकरणे रुचिर्यस्याः । तत्पराया इत्यर्थः । ते तव क्रूरेण
रक्षसा रावणेन समुचितं क्रूरयोग्यं कर्म कृतम् । तच्च त्वया तथा सोढं यथा कुलस्यो
जनो मङ्गलक्षण उच्चैरुन्नतं शिरो धत्ते । रूपाणीयत्वात् । अन्यथा लज्जतेन नञीभावा-
पत्तेः । रामेण तु मया प्रेम्ण उन्नितं योग्यं न कृतम् । किंभूतेन, प्रियं जीवितं यस्य तथा-
भूतेन । पुनः किंभूतेन, संप्रत्यस्यां दशायां व्यर्थमिदं धनुर्विभ्रता धारयता । प्रतीकारा-
समर्थत्वात् । तथा तव व्यापदां विपत्तीनां साक्षिणा द्रष्टा । खेहातिशयेन तन्मयीभावा-
दिति भावः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

व्यर्थं संप्रति विभ्रता धनुरिदं त्वव्यापदः साक्षिणा

रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ॥'

इत्यत्र कातरत्वम् 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः—' इत्यत्र खरदूषणादिह-
न्तृत्वं च लक्ष्यते । अतो रामपदस्य लक्ष्य एवानेको भवति । अर्थान्तरसंक्रमि-
तवाच्यादिविशेषण्यपदेशहेतुश्च भवति । एवमन्यत्रापि स्यात् । तदुक्तम्—
'भाक्तमार्गस्तदन्यः' इति । लक्षणीयविशेषावगमश्च प्रकरणादिसापेक्षेण शक्या-
र्थेन स्यात् । अतो नास्त्यतिरिक्तः प्रतीयमानः । नैवम् । लक्षणीयस्य नाना-
त्वेऽपि हि नानार्थसैन्धवादिपदाभिधेयस्येव नियतत्वमेव । न खल्वनियत-
संबन्धो मुख्येनार्थेन लक्ष्यितुं शक्यते । प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशे-
न नियत-
संबन्धोऽनियतसंबन्धः संबद्धसंबन्धश्चेति तत्स्वरूपं सोदाहरणमग्रे दर्शयिष्यते ।
किं च 'अत्ता एत्थ णिमज्झइ—' इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये कथं लक्षणा ।
मुख्यार्थबाधाभावात् । ननु तत्रापि तात्पर्याधीनान्वयानुपपत्तिः । 'छद्मिणो
यान्ति' इत्यादाविवेति चेत्, न । लक्षणायां प्रयोजननियमात् । तस्य च
व्यापारान्तरागम्यत्वात् । तदर्थं व्यञ्जनास्वीकारे किं प्रथमतोऽपि लक्षणया ।
अथ निरूढलक्षणायामिवान्यत्राप्यस्तु प्रयोजनानपेक्षेति चेत्, न । यथा हि
संकेतग्रहसापेक्षाभिधा तथा मुख्यार्थबाधतद्योगरूढिप्रयोजनान्यतरस्य मुख्यार्थ-
संकेतग्रहस्य च सापेक्षा लक्षणा । तत्कथं रूढेः प्रयोजनस्य वा भावे भवेत् ।
यतः संकेतग्रहसापेक्षात एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः । किं च न लक्षणा-
व्यञ्जनयोरभेदः । लक्षणामुपजीव्यातव्यापारात् । नापि लक्षणानुगतमेव ध्वन-
नमिति ध्वनेस्तल्लक्षणमिति वाच्यम् । अभिधोपजीवनेनापि भावात् । न च
लक्षणाभिधोभयानुसार्येव । वर्णमात्रानुसारेणापि हि दृश्यते रसादिव्यञ्जना । न
च वर्णमात्रेऽभिधा लक्षणा वा । नापि शब्दानुसार्येव । विकसन्नर्तकीनेत्रत्रिभौ-
गालोकनादावपि प्रसिद्धेः । तस्मादभिधालक्षणातात्पर्यविलक्षणस्तुरीयो ध्वनन-
व्यञ्जनद्योतनप्रकाशनादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्वनीय एव । तत्र 'अत्ता एत्थ

शेषः । व्यञ्ज्यस्य त्वेकत्रैव वाक्ये 'गतोऽस्त' इत्यादावनियतत्वमुदाहृतम् । ननु लक्ष-
णाप्यनियते कुतो न स्यादत आह—न खल्विति । सामीप्यादिनियतसंबन्धिन्येव
लक्षणाश्रयणादिति भावः । लक्षणामुपजीव्येति । तथा निमित्तप्रयोजनयोरभे-
दासंभव इति भावः । नापीति । लक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाव्यञ्जनस्य ध्वने-
व्यञ्ज्यस्य यच्चननं तल्लक्षणमेवास्वीकर्तुं युक्तमित्यर्थः । न चेति । तथा चान्यतरा-
नुसारित्वनियमादून्यतरस्वरूपैव व्यञ्जना न तु व्यतिरेकेत्यर्थः । वर्णेति । 'मूर्ध्नि
वर्गान्त्यगा—' इति वक्ष्यमाणवर्णानां माधुर्यगुणद्वारा रसभावव्यञ्जकत्वस्य वक्ष्यमाण-
त्वादवश्यं शकिलक्षणात्यतरभेदसिद्धावन्यत्रापि व्यञ्जनयैव बोधसंभव इत्यर्थः ।
ननु वर्णानामप्येकाक्षरकोषादितो वाचकत्वमस्त्येवेत्यत आह—नापि शब्देति ।
व्यञ्ज्यं नियतसंबन्धादित्रयात्मकमुदाहरिष्यत इत्युक्तं तदुदाहरति—तत्रेति । निय-

णिमज्जह—' इत्यादौ व्यङ्ग्योऽर्थो नियतसंबन्धः । 'कस्स व ण होइ रोसो—' इत्यादावनियतसंबन्धः । 'नियतसंबन्धत्वं च वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योरेकविषयतात्मकम् । प्रथमे तस्य भावः । पथिकरूपैकविषयकत्वात् । द्वितीये तु तदभावः । सखीतत्कान्तादिविषयभेदात्' इति केचित् । तन्न सम्यगाभाति । लक्ष्यस्य नियतसंबन्धत्वमेव, व्यङ्ग्यस्य तु तथात्वमन्यथात्वं चेति पूर्वप्रतिपादितस्य हीदमुदाहरणमिति लक्ष्यसाधारणं नियतसंबन्धत्वं वाच्यम् । न चोक्तं तथा भवति । अन्ये तु 'प्रथमे सर्वेषामेव सत्यताप्रतीतिः, द्वितीये तु कान्तस्यैव सत्यतयान्येषां त्वसत्यतयेति नियतानियतसंबन्धत्वम्' इत्याहुः । तदपि न मनोरमम् । यत एव वाच्यप्रतीतेरेव सत्यत्वासत्यत्वप्रतीतिविषयत्वरूपं वैलक्षण्यमात्रमुच्यते । न तु व्यङ्ग्यप्रतीतेः । तस्मान्नियतसंबन्धत्वं तेन वाक्येन सह ज्ञाप्यत्वरूपसंबन्धनियम इति युक्तमुत्पश्यामः ।

संबद्धसंबन्धो यथा—

‘विवरीभरए लच्छी बहं दहुण णाहिकमलट्टम् ।

हरिणो दाहिणणअणं रसाउल्लासति ढकेइ ॥’

अत्र हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकत्वे तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः । तेन पद्मसंकोचः । ततो ब्रह्मणः स्थगनम् । तस्मिन्सति गोपनीयस्याङ्गस्यादर्शनेन निर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति संबद्धसंबन्धानि द्योत्यन्ते ।

वेदान्तिनस्तु—“क्रियाकारकादिपुरस्कारेण शब्दानां प्रवृत्तिर्धर्मधर्मिभावम-
पुरस्कृत्य न संभवति । धर्मधर्मिभावश्च प्रपञ्चगोचरो वा स्याद्ब्रह्मगोचरो वा ।
नाद्यः । प्रपञ्चस्य बाध्यत्वात् । नान्यः । ब्रह्मणो धर्मशून्यत्वात् । अतः पद-

तसंबन्धादिषु मध्ये । एकविषयतेति । एकसंबन्धित्वप्रकारकेच्छाविषयत्वमित्यर्थः । न चोक्तमिति । लक्ष्यप्रतीतिस्थले वाच्यस्य बाधादप्रतीतेरिति भावः । तेन वाक्येनेति । तद्वाक्यजन्यज्ञाने विषयत्वनियम इत्यर्थः । अत्रेत्यादौ व्यङ्ग्यं नियमतस्तद्व्यङ्ग्यम् । अन्यस्याप्रतीतेः । कस्स वेत्यादौ तु सर्वेषामेकव्यङ्ग्याप्रतीतेर्न तथा नियम इति भावः । विवरीपति । ‘विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नास्मि-
कमलस्थम् । हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥’ निर्यन्त्रणं शङ्कारहितम् । क्रियाकारकादीति । आदिना तद्विशेषणानां संप्रहः । पुरस्कारेण तद्व्यङ्ग्यद्वारेण प्रवृत्तिर्वाक्यार्थबोधकता । धर्मेति । अपुरस्कृत्यानादित्य । कारकाणां क्रियाधर्मत्वस्य विशेषणानां नेत्यादीनां च कारकविशेषणत्वस्यावश्यकत्वात् । बाध्यत्वादिति । तथा च सत्यादिवाक्यं बाधितार्थकं स्यादिति भावः । धर्मशून्यत्वादिति ।

१. ‘विवरीपति । रसेन सुरतरसावेशेनाकुला सुरतान्निवर्तितुमक्षमा । स्थगयत्याच्छा-
दयति । शेषं स्पष्टार्थम् । अत्र हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता तन्निमीलनेन च सूर्या-
स्तमयत्वेन च पद्मसंकोचस्तेन ब्रह्मणः स्थगनं तस्मिन्सति गोप्याङ्गदर्शनशङ्काविरहेणाप्रति-
रुद्धं निधुवनविलसितमिति संबद्धसंबन्धानि व्यज्यन्ते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

पदार्थविभागमन्तरेणैव 'सत्यं विज्ञानं' इत्यादिवाक्यमखण्डमेवाखण्डब्रह्मवाचकम्" इत्यादिष्ठन्ते । अतस्तन्मतानुसारेण प्रतीयमानेऽपि वाक्यस्य शक्तिरेवेत्यपि न वाच्यम् । यतो व्यवहारमार्गे तैरपि पदपदार्थकल्पनावश्यमङ्गीकर्तव्या । व्यवहारे तेषां भट्टनयस्वीकारात् । यदि च पदार्थकल्पनाविद्यादशायामपि नाङ्गीक्रियते कुतस्तर्हि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नविभागः, । वाक्यार्थ एव वाक्यस्य संकेतग्रहमाश्रित्येति चेत्, न । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेनानन्त्यात् । तत्र संकेतग्रहस्याशक्यत्वात् । अविद्यामोर्गतिरस्कारे च कथमखण्डयोरपि वाच्यवाचकभावः । पारमार्थिकमेदाभावात् । तस्मात्तन्मतेऽपि विध्यादिव्यङ्ग्य एव ।

महिमभट्टास्तु—'न तावदसंबद्ध एव वाक्यात्प्रतीयते । सर्वस्मात्सर्वोपलब्धिप्रसङ्गात् । संबद्धाच्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भवन्नानियताद्भवतीति प्रतिबद्धरूपादेव भवतीत्युपेयम् । प्रतिबद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाज्ञाते व्यङ्ग्यं प्रतिपादयति । सर्वत्र तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । एवं च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽनुमेयानुमापकभाव एव पर्यवसन्नः । यतो व्याप्तत्वेन सकलपक्षनिष्ठत्वेन च सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वपक्षसत्त्वलक्षणरूपत्रयवतो लिङ्गाद्धिज्ञानमेवानुमानम् । तदेतदुक्तमनुमानं यत्तद्रूप इति तेनानुमानेनानुमित्या रूप्यते न त्वतिरिक्तया व्यक्त्येति हि तस्यार्थः । एवमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः ।

तथाहि—

‘भ्रमं धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ भज्ज मारिओ तेण ।

गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥’

अद्वितीयेन सत्यत्वादिधर्मशून्यत्वादित्यर्थः । इयं च तन्मते वाक्यमखण्डार्थवाचकमिति भ्रान्तस्य शङ्केति ज्ञेयम् । तैर्लक्षणाया एवाङ्गीकारात् । वस्तुवस्तु 'येऽप्याहुः' इत्यादिदृष्टिप्रन्थो वाक्यस्फोटाङ्गीकर्तृवैयाकरणमताभिप्राय एव समञ्जसः । यथाहुः—'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले । देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्थिरनर्थकाः ॥' इति । अविद्यापदेल्यस्य च प्रक्रियादशापचैरित्यर्थः । तदप्युक्तं तैरेव—'असत्ये वर्तमाने स्थित्वा ततः सत्यं तमीहते' इति । असत्यतया च प्रक्रिया अविद्यापदेनोक्ता । तत्पदश्रवणाच्च वेदान्तिमतमुक्तमित्यभिमान इति ज्ञेयम् । व्याप्तत्वेनेत्यादि । व्याप्तेरव्यभिचारितया सामानाधिकरण्यरूपत्वाद्विपक्षादृष्टित्वसपक्षसत्त्वित्वयोर्लक्षणम् । रूप्यतेऽनुमापकत्वेन व्यपदिश्यते । न तु व्यञ्जकतयेत्यर्थः । भमेति । 'भ्रमं धार्मिकं विस्मयः स शुनकोऽथ मारितस्तेन । गोदानरीकच्छनि-

१. 'व्यवहारः' ख. २. 'आनन्त्याच्च' क. ३. 'भमेति । कुसुमाधवचचार्य धार्मिकपरिभ्रमणेन खण्डितसंकेतावास्तविककरणयोक्तिरियम् । हे धार्मिक, विस्मयो निःशङ्कः संभ्रमः । भ्रम इति शेषः । धार्मिकेति साक्षेपोक्तिः । परश्रेयोघातकस्य तत्त्वायोगात् । कुत इत्यत आह—स आ यद्गयाद्भ्रमे भ्रमणं त्यक्तमासीदद्य तेन गोदानयोः कच्छं जलप्रायो देशस्तत्संबन्धिनिकुञ्जवासिना दर्पयुक्तेन सिंहेन मारितः । तेनेति प्र-

संकेतनिकेतनीभूतं गोदावरीतीरनिकुञ्जं पुष्पावचयादिहेतोः कदाचित्संचरतो धार्मिकस्य तस्मिन्निवारणायाविनयवत्या इयमुक्तिः । तत्र निकुञ्जवासिसिंहकृतया शनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधिर्वाच्यः । स एव निकुञ्जभ्रमणयोग्यतानुमित्यै प्रभवति । यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्व्यकरणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् । निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धौ पर्यवसनाद्भ्रमणस्य रूपापिका भय-
कारणाभावोपलब्धिः प्रतीता । तद्विरुद्धं यद्व्यकरणं तदुपलब्धेः । यथा नात्र तुषारः स्पर्शो वह्निः । अनुमानं च—इदं गोदावरीनिकुञ्जं शमीरुभ्रमणयोग्यम् । सिंहवत्त्वादिति । अत्रोच्यते—शमीरोरवीरस्वभावस्य भ्रमणयोग्यत्वमत्र साध्यं वीरस्वभावस्य वा । विशेषौदासीन्येन तत्सामान्यस्यैव वा । आद्ये व्यभिचारः । प्रभोगुरोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण निधिलाभादिशङ्कया वा तादृशस्यापि तत्र भ्रमणदर्शनात् । अत एव नान्त्योऽपि । मध्यमे तु विरोधः । स्पर्शादिशङ्कया अपौरुषेयतया वा श्रुतो विभ्यतोऽपि मृगयादिकुतूहलेन सिंहवद्देशे वीरस्य भ्रमणात् । किं च पक्षे सिंहसद्भावो न मानान्तरेणावधारितः । किं तु पुंश्रुती-
वाक्यादवधारितः । न च तद्वचनं निश्चायकम् । अर्थेन समं संबन्धानियमात् । इत्यनिश्चयरूपा सिद्धिः । एवं 'निःशेषच्युत-' इत्यादौ चन्दनच्यवनादीन्युप-
भोगव्यञ्जकतयोपात्तानि । न च तानि तद्व्याप्यानि । कारणान्तरतोऽपि संभ-
वात् । अत एवात्र ज्ञानकार्यत्वेनोपात्तानि । अतो नैकान्तिकात्कथमनुमानं

कुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥' व्यापकविरुद्धो व्यापकभावः । प्रतीतेति । शनिवृत्ते-
भ्रमणहेतुत्वोक्त्या अर्थात्करणभूताया भयहेतुशनिवृत्त्युपलब्धेः कार्यं भ्रमणं प्रति
व्यापकत्वप्रतीतिरित्यर्थः । अत्र चोपलब्धिपदमुपलभ्यमानभयकारणाभावपरमनुपल-
भ्यमानभयहेतुमतिव्यभिचारवारकं ज्ञेयम् । अत एवानुमाने सिंहवत्त्वादिति हेतुं
वक्ष्यति—यथेति । तुषारस्पर्शव्यापको हि वह्निभेदस्तदभावे वह्नित्वे वह्नितादात्म्ये
वा तुषारस्पर्शाभावानुमितिरित्यर्थः । अत्र च भ्रमणभयकारणाभावयोः सहचार-
स्तद्गृहे निश्चित इति सपक्षसत्त्वम् । विपक्षासत्त्वं व्याप्तिग्रहादेव ज्ञातम् । व्यापका-
भावस्य च भयहेतु सिंहवत्त्वस्योत्तरार्धेन निकुञ्जरूपपक्षधर्मत्वं गृहीतमित्यूष्यम् ।
व्यभिचार इति । यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तदुपलभ्यमानभयकारणाभावपूर्वकमिति
व्याप्तिरेवासिद्धेति भावः । अत एव व्यभिचारादेव । विरोध इति । यत्र सिंह-
स्तत्र सर्वत्र शमीरोरपि वीरस्य भ्रमणयोग्यतासत्त्वात्साध्वहेतुसामानाधिकरण्यस्यै-
वाभावादित्यर्थः । ननु यद्यप्युपलभ्यमानभीरुभयकारणवत्तद्भीरुभ्रमणयोग्यमित्युक्तौ
नोक्तदोष इति चेत्तत्राह—किं चेति । पक्षे निकुञ्जे । अर्थेनेति । आन्तादिवच-

सिद्धार्थकेन मिथ्या मया नोच्यत इति ध्वन्यते । अत्र निकुञ्जे सिंहसत्त्वात्तथाभ्रमणनिवृत्ति-
व्यञ्ज्यते इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'तदत्र' ख. २. 'यद्भीरु' ख. ३. 'तद्व्य' ख. ४. 'व्यापक' ख. ५. 'तुषारस्पर्शो
वह्निः' ग. ६. 'एवं' ख. ७. 'सामान्यमेव' ख. ८. 'अनुमितिः' ख.

स्यात् । ननु व्यक्तिरपि कथं तैरिति चेत् । अधमपदसाहित्यादिति ब्रूमः । अस्माकमपि तत्साहित्येनानैकान्तिकताव्यतिरेक इति चेत् । भवेदप्येवं यद्यधमत्वं प्रमाणादवधारितं भवेत् । नत्वेवमस्ति । व्यक्तिरपि कथं तादृशाद्भवेदिति चेत् । विष्णुर्ह । व्यञ्जनायां न व्यासेनापि पक्षधर्मताया निर्धारणमङ्गम् । किं तु संभावितादप्येवंविधादेवंविधोऽर्थः प्रतीयत इति मूकीभव ।

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसंकीर्ण-
निर्णयो नाम पञ्चम उल्लासः ॥

षष्ठ उल्लासः ।

एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदे निर्णीते चित्रभेदं दर्शयितुमवसरः । तत्र यद्यपि शब्दचित्रार्थचित्ररूपभेदद्वयं प्रथमोल्लास एव दर्शितं तत्प्रभेदाश्चालंकारप्रभेददर्शनेनैव प्रदर्शिता भविष्यन्तीति न किञ्चिदस्ति तत्र प्रदर्शनीयम् । तथापि प्रदर्शितभेदद्वयमेव तावदनुपपन्नम् । शब्दार्थालंकारयोरन्योन्यनैरपेक्षेणानुपलम्भात् । उपलम्भेऽपि बोभयसद्भावे तृतीयभेदप्रसङ्गादिति तदुपपादयति—

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।

गुणप्रधानतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥ १ ॥

शब्दार्थालंकारयोरेकैकमात्रावस्थानपुरस्कारेण न विभागः । किं तु प्राधान्य-
पुरस्कारेण । तथा च न काचिदनुपपत्तिरिति भावः । ननु तथापि विभागोऽनु-
पपन्न एव । यतः केचिच्छब्दालंकारमात्रं केचिच्चार्थालंकारमात्रमुदीचक्रे ।
तत्कस्य मतमाश्रित्य विभाग इति चेत्, सन्त्येव केचिदुभयाङ्गीकारिणः । तथा
चोक्तम्—

‘रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥

नस्वार्थे व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः । अस्माकमपीति । अधमपदार्थालोचनेन हि
चन्दनच्यवनादेः संभोगाङ्गजातीयत्वावगमान्न व्यभिचार इति भावः ॥ इति श्रीमत्त-
त्सदुपाख्यारामचन्द्रभट्टसूरिवरसूनुवैद्यनाथभट्टकृतायां प्रदीपप्रभायां पञ्चम उल्लासः ॥

नैरपेक्ष्येणेति । परस्परासंकीर्णत्वेनेत्यर्थः । ‘स्वच्छन्द-’ इत्यादौ नयन्तरादा-
धिक्यरूपव्यतिरेकस्य, ‘विनिर्गतं-’ इत्यादौ च ससंभ्रमेन्द्रन्तुतेत्यनुप्रासस्यापि सत्त्वा-
दिति भावः । ननु ‘तारतारतरैरेतैरुत्तरोत्तरतो रुतैः । रतार्ता तित्तिरी रौति तीरे
तीरे तरौ तरौ ॥’ इत्यत्र केवलानुप्रासस्य, ‘मध्येव्योम-’ इति खयमुदाहृते पदे

तदेतदाहुः सौशब्धं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥' इति ।

अस्यार्थः—अर्थस्यैव विभावादिरूपत्वेन रसव्यञ्जकत्वात्तन्निष्ठो रूपकादिरे-
वालंकारः कैश्चिदुक्तः । केचित्तु 'काव्यस्यालंकारो वाच्यः । काव्यं च कविकर्म
शब्द एवेति तदाश्रिता सुसिद्धां विशिष्टोत्पत्तिरलंकारः । रूपकादिस्वर्याश्रितो-
ऽलंकारो बाह्यः । अलंकारप्रयोगस्तु तत्र गौण एव' इति वाञ्छन्ति । व्युत्पत्ति-
रेव कथं नार्थालंकार इत्यत आह—तदेतदाहुरित्यादि । शब्दाभिधेयेति ।
शब्दवदर्थस्यापि कविसंरम्भज्ञाप्यत्वमर्थस्यैव शब्दस्यापि रसप्रतीत्युपयोगित्वमत
उभयाश्रितोऽप्युभयरूपोऽलंकार इति ।

तत्र शब्दचित्रं यथा—

‘प्रथममरुणच्छायास्तावत्ततः कनकघुति-

स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलप्रभः ।

उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे

सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥’

अत्रार्थालंकार उपमा गुणीभूता । शब्दालंकारस्त्वनुप्रासः प्रधानम् । आस-
मासि कवेस्तत्रैव संरम्भात् । प्राधान्यस्य कविविवक्षामात्रनिबन्धनत्वात् ।

अर्थचित्रं यथा—

‘ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र

क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।

नीचाः सदैव सविलासमलीकलप्रा

ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥’

केवलार्थालंकारस्य रूपकस्य चोपलम्भोऽस्तीत्याशङ्क्याह—उपलम्भेऽपि वेति । उभ-
येति । वक्ष्यमाणोदाहरणे उपमानुप्रासयोः सत्त्वे तृतीयभेदस्य शब्दार्थोभयचित्रस्य

१. ‘वा’ २. ‘प्रथममिति । मालतीमाधवे चन्द्रोदयवर्णनमिदम् । मृगलाञ्छन-
श्चन्द्रः क्षणदामुखे रजनीप्रारम्भे प्रथमं तावदरुणच्छायोऽरुणकान्तिः । तावदित्यवधारणे ।
अरुणच्छाय एवेत्यर्थः । ततस्तदनन्तरं कनकप्रभः पीतः । तदनु पश्चादिरहेणोत्ताम्यन्ती
या तन्वी तस्याः कपोलतलस्येव घुतिर्यस्य सः पाण्डुरवर्णः । ततः सरसायाः खिन्धाया वि-
सिन्याः कन्दो मृगालं तस्य च्छेदवच्छविः कान्तिर्यस्य । अतिथवल्त्वात्तथाभूतः । अत एव
ध्वान्तस्यान्धकारस्य ध्वंसे क्षमः समर्थः । अत एव विपक्षजयादुदयतीति । अत्र स्वभावो-
क्त्युपमयोः सत्त्वेऽपि तकाराद्यनुप्रासप्राधान्याच्छब्दचित्रता ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-
रे. त इति । ते प्रसिद्धाः पक्ष्मले पक्ष्मबहुले दृशौ यासां तथाभूतानां कामिनीना-
मलकाः केशास्तथा खला दुष्टजनाश्च दृष्टिमात्रे पतिता दृष्टिगोचरा अपि न पुनर्ननसा
भावितस्वरूपा व्यवहारगोचरा वा अत्र लोके कस्य क्षोभाय धैर्यनाशाय सुखत्वाभावाय
च न । भवन्तीति. शेषः । अपि तु सर्वस्य क्षोभाय भवन्ति । ते के, ये कुटिलतामिव

अत्र शब्दालंकारोऽनुप्रासः स गुणीभूतः । अर्थालंकारस्तु समुच्चयः प्रधानम् । आरम्भादा समाप्ति तन्निर्वाहणात् । यथा चात्र किञ्चिद्व्यङ्ग्यसत्त्वेऽप्यधमकाव्यत्वं तथोक्तं प्रथमोल्लास एव । एषां भेदाश्चालंकारभेदाद्भवन्तीत्यलंकारनिर्णयेनैव ते निर्णेष्यन्त इति ।

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे चित्रकाव्यनिर्णयो
नाम षष्ठ उल्लासः ॥

सप्तम उल्लासः ।

एवंधर्मिणि काव्ये सप्रभेदे निरूपिते प्राप्तावसरतया दोषाभावादीनि लक्षण-
स्थानि विशेषणानि विवेचनीयानि । तेषु च दोषाभावः प्रधानम् । सति दोषे
गुणादेरप्यकिञ्चित्करत्वात् । यदाह—‘स्याद्वपुः सुन्दरमपि शिन्नेनैकेण दुर्भगम्’
इति । सति तु दोषाभावे गुणादिकं विनापि किञ्चिदाह्लादसंभवात् । ‘अपदोष-
तैव विगुणस्य गुणः’ इति न्यायात् । अतः प्रथमं तस्मिन्निरूपणीयेऽभावस्य
स्वरूपतो निरूपणानर्हत्वा प्रतिगोमिनिरूपणाधीननिरूपणीयत्वादेयापरिचये
तद्वानासंभवाच्च दोषा निरूपणीयाः । न च सामान्येऽविज्ञाते विशेषे जिज्ञासेति
तत्सामान्यलक्षणमाह—

प्रसङ्गादित्यर्थः । चित्रार्थेति । चित्रौ च तावर्थशब्दौ च तयोरित्यर्थः । समु-
च्चयः प्रधानमिति । ‘तत्तिसिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत्’ इति वक्ष्यमाण
इत्यर्थः । क्षोभरूपैककार्येऽलकखलयोः समुच्चयोक्तेः श्लेषोपमयोस्तदङ्गत्वात्तस्यैव
प्राधान्यम् । नन्वत्र शृङ्गाररसाभिव्यक्तेः कथमव्यङ्ग्यचित्रभेदोदाहरणत्वमित्याश-
ङ्काह—यथा चेति । ‘चित्रस्यैवोद्भूततया चमत्कारित्वेन कवितात्पर्यविषयला-
द्रसरूपव्यङ्ग्यस्य चातथात्वाच्चित्रव्यवहारः’ इत्युक्तमित्यर्थः । एवं चोभयचित्रेऽपि
प्रत्येकभेदसंकरमात्रं न त्वतिरिक्तप्रभेदत्वमित्यूह्यम् ॥ इति श्रीमत्तत्सदुपाख्यरामचन्द्र-
भट्टसूरिवरसूनुवैयनाथभट्टकृतायां प्रदीपप्रभायां षष्ठ उल्लासः ॥

प्रधानमिति । आवश्यक इत्यर्थः । चित्रं कुष्ठम् । ननु दोषत्वस्यापकर्षकत्वस्य
पस्य प्रसिद्धत्वात्तदवच्छिन्नाभावत्वेन निरूपणं स्यादेवेत्यत आह—हेयेति । तथा
च विशेषतः प्रतीतिं विना काव्ये तद्वानं न संभवतीति दोषविशेषनिरूपणमावश्यक-
मित्यर्थः । तत्सामान्येति । काव्यदोषसामान्येत्यर्थः । ‘हृतिरपकर्षः’ इति प्रका-

कालतां न त्यजन्ति । यथा कुटिलतां न त्यजन्ति तथा कालतामित्यर्थः । कुटिलता कुञ्चि-
तत्वं वक्रता च । कालता क्लेशमता यमरूपता च । कीदृशाः, नीचा हस्ताः क्षुद्राश्च ।
कुञ्चिमविनयाय नीचाङ्गतां प्राप्ता वा । सदैव सर्वदेव शिलासेन विभ्रमेण सहितं यथा
स्यात्तथा अलीके ललाटे लज्जाः । खलपक्षे—विङ् रव्यम् । नवयोरभेदात् । तत्रासन-
मासः प्रसारतत्सहितं यथा स्यात्तथा अलीके मिथ्यावचने लज्जाः । सत्ता इत्यर्थः ।
अत्रार्थेऽप्युच्चययोः प्राधान्यादर्थचित्रता । इत्युदाहरणवन्दितासंक्षेपः ।

मुख्यार्थहतिदोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ १ ॥

मुख्यार्थस्य हतिर्यस्मादिति व्यधिकरणत्वेऽपि गमकत्वाद्बहुव्रीहिः । करण-
साधनो हतिशब्द इत्येके । मुख्यत्वमर्थस्य न शक्यत्वलक्षणम् । येनार्थासंगतिः
स्यात् । किंत्वन्यदित्याह—रसश्चेति । रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसशब्देन भावादि-
रप्युपसंगृह्यते । नन्वेवं नीरसेषु न कश्चिदोषः स्याद्विघात्याभावादित्यत आह—
तदाश्रयादिति । आश्रयणमाश्रयः । तथा च तेन रसेनाश्रयणादुपकारित्वेनापेक्ष-
णाद्वाच्योऽपि मुख्य इत्यर्थः । न चैवम् । मुख्यशब्दार्थस्य नानात्वेनानुगमः ।
काव्ये प्राधान्येनोद्देशाप्रतीतिविषयत्वेनानुगमात् । तदेवं रसवति सर्व एव
दोषाः, नीरसे त्वविलम्बितचमत्कारिवाक्यार्थप्रतीतिविघातका एव हेया इति
मन्तव्यम् । नन्वेवं तयोरेव दोषाधारत्वमुचितं, न तु शब्दादीनामित्यत
आह—उभयोपयोगिन इत्यादि । अत्र शब्दपदं प्रतिपादनात्मकशब्दनाव्यापार-
वतोः पदवाक्ययोर्वर्तते । ते नाद्यप्यपदाद्वर्णरचने संगृहीते इति प्रकाशका-
स्वरसः । न च तत्र बीजाभावः । अन्यथा वर्णस्यापि शब्दपदेनैव प्राप्तौ
शब्दाद्या इति बहुवचनासंगतेः । स्यादेतत् । हतिर्विनाशः । न च दोषेण रसो
नाश्यते । तस्मादलक्षणमेतत् । मैवम् । हतिशब्दस्यापकर्षवाचित्वात् । नन्वेवं
रसानुत्पत्तिप्रयोजकेष्वव्याप्तिः । अथानुत्पत्तिरेव हतिशब्दार्थः । तर्हि यत्र रस
उत्पद्यत एव परं स्वपकृष्यते तत्राव्याप्तिः । तदेतल्लक्षणमतिदरिद्रदंष्ट्रोः कृश-
तरनिशावगुण्ठनीयसनमिवैकेनापकृष्यमाणमपरं परिहरति । किं चार्थरूपस्य
मुख्यार्थस्यानुत्पत्तिरपकर्षो वा न दोषाधीन इति ।

अत्र ब्रूमः—उद्देश्यप्रतीतिविघातलक्षणोऽपकर्षो हतिशब्दार्थः । उद्देश्या च
प्रतीती रसवत्यविलम्बितानपकृष्टरसविषया च । नीरसे त्वविलम्बिता चमत्का-
रिणी चार्थविषया । तथा च तादृशप्रतीतिविघातकत्वं सर्वेषामविशिष्टम् । यतो

शीयव्याख्यानानुरोधादाह—मुख्यार्थस्येत्यादि । करणेति । हन्यतेऽपकृष्यतेऽ-
नेनेत्येवमित्यर्थः । एवं च मुख्यार्थापकर्षकत्वं दोषत्वमिति मतद्वयेऽपि लक्षणम् ।
प्रकाशविरोधोऽस्वरस एके इत्यनेन ध्वनितः । अर्थासंगतिर्लक्षणासंगतिः । रसादि-
दोषेष्वव्याप्तिः (सिं दर्शयति) । विघात्येति । विघात्यस्यापकर्षणीयस्य रसस्याभावा-
दित्यर्थः । काव्य इति । काव्ये प्राधान्येन चमत्कारित्वेनोद्देश्याभिप्रेता या प्रती-
तिस्तद्विषयत्वमित्यर्थः । तयो रसवाच्ययोः । शब्दपदमिति । शब्दयते शब्दबोध-
विषयीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्येति भावः । न च तत्रेति । शब्दस्योक्तव्युत्पत्त्या
पदवाक्यपरत्वे । उद्देश्यप्रतीतीति । उद्देश्या या प्रतीतिस्तस्या विघातोऽनुत्पत्ति-
रपकर्षो नाम तत्प्रयोजकत्वं दोषत्वमित्यर्थः । एवं सति सर्वत्र लक्षणासमन्वय
इत्याह—उद्देश्या चेत्यादिना । अविलम्बितचमत्कारिप्रतीतेरुद्देश्यत्वाद्विशेष्यभूत-

दुष्टेषु कचिद्रसस्याप्रतीतिरेव, कचित्प्रतीयमानस्याप्यपकर्षः कचित्तु विलम्बः । एवं नीरसे कचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव, कचिद्विलम्बेन प्रतीतिः, कचिदचमत्कारितेत्यनुभवसिद्धम् । इत्युद्देश्यप्रतीत्यनुत्पादो व्यक्त एव । तद्विघातकता च कस्यचित्साक्षात् । यथा रसदोषाणाम् । कस्यचित्परम्परया । यथा शब्दार्थदोषाणाम् । तेष्वपि कस्यचिदर्थोपस्थितेरभावात् । यथा-समर्थत्वादेः । कस्यचिद्विलम्बात् । यथा निहतार्थत्वादेः । कस्यचिद्वाक्यार्थबोधाभावात् । यथा च्युतसंस्कृत्यादेः । कस्यचित्तत्र विलम्बात् । यथा क्लृष्टत्वादेः । कस्यचित्सहृदयवैमुख्यव्यप्रताद्यापादानेन । यथा निरर्थकत्वादेः । कस्यचिद्विरोध्युपस्थापनेन विपरीतोपस्थापनेन वा । यथा विरसविरुद्धमतिकृत्वादेरित्याद्युहनीयम् । विघातकत्वं च कस्यचिज्ज्ञातस्य । यथा व्याहतत्वादेः । कस्यचित्तु स्वरूपसत एव । यथा निहतार्थत्वादेः । स चायं द्विविधः—नित्योऽनित्यश्च । तत्रानुकरणादन्येन प्रकारेण समाधातुमशक्यो नित्यः । यथा च्युतसंस्कृत्यादिः । अन्यादृशस्वनित्यः । यथाऽप्रयुक्तादिः । अथ विशेषलक्षणानि वक्तव्यानि । तत्र द्विविधोऽप्ययं त्रिविधः । शब्ददोषोऽर्थदोषो रसदोषश्चेति । तत्र शब्दार्थरसानां यथापूर्वमुपस्थितिः प्राथमिकीति तत्क्रमेणैव दोषभेदा निरूपणीया इति शब्ददोषाणां प्राथम्यम् । शब्दस्तु त्रिधा—पदं तदेकदेशो वाक्यं च । एवं च तदाश्रितः शब्ददोषोऽपि त्रिविधः । तत्र पदानां वाक्यघटकत्वेन प्राथम्यात्प्रथमं तद्दोषनिरूपणमिति परमार्थः । तत्रेदं निरूप्यते । एवं पदैकदेशस्य पदापेक्षयापि प्राथम्यात्तद्दोषनिरूपणस्यैव प्राथम्यमर्हति । अत्र भास्करः—‘सत्यमुच्यते । परं पददोषेष्वेव यथासंभवं केचित्पदैकदेशदोषाः’ इति समादधे तज्जातिमनोरमम् । अस्त्येवम् । तथापि पदैकदेशदोषत्वेन प्रथमाभिधानापादाने किमुत्तरमिति । वयं त्वाल्लोचयामः—उपदेशे तावत्प्राथम्यादिविचारणा । अतिदेशस्तूपदेशानन्तरमेव । न च पदैकदेशे दोषोपदेशः । अतिदेशेनैव तल्लामे लाघवात् । न च पदैकदेश एवास्तूपदेशः, पदे स्वतिदेश इति वाच्यम् । पदैकदेशावृत्तीनामपि केषांचित्पदवृत्तित्वेन तदर्थं पदेषूपदेशस्यावश्यकत्वादिति ।

प्रतीत्यनुत्पत्त्या वा विशेषणानुत्पत्त्या विशिष्टप्रतीत्यनुत्पत्तिः सर्वत्र दुष्टेष्वस्तित्यर्थः । रसदोषाणामिति । स्वशब्दवाच्यत्वादीनामित्यर्थः । कस्यचिदिति सामान्याभिप्रायेमेकवचनम् । वाक्यार्थेति । नाथत इत्यादावसाधुत्वज्ञानस्य शब्दबोधप्रतिबन्धकत्वम् । याचनरूपार्थोपस्थितिस्तु धातुतो भवत्येवेत्याशयेनेदम् । अथ वा पदार्थानुपस्थितिप्रयुक्त एव वाक्यार्थबोध इति द्रष्टव्यम् । विरसेति । अमतपरा-र्थत्वमित्यर्थः । यथापूर्वमिति । पूर्वमनतिक्रम्येत्यर्थः । एवमिति । सतीति शेषः । न च पदैकदेशत्वस्य पदघटितत्वात्पदस्यैव प्राथम्यमिति शङ्कनीयम् । प्रकृतिप्रलयत्वादिना निरूपणस्य पदानपेक्षत्वादिति भावः । अर्हतीत्यस्य प्राथम्यमेव कर्तृ । नातीति । अतिदेशानुकूलत्वान्मनोरममपि तस्यावश्यकव्यस्यावचनाज्ञा-

पददोषविशेषलक्षणमाह—

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।

निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाश्लीलम् ॥ २ ॥

संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लृष्टम् ।

अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥ ३ ॥

दुष्टं पदमिति प्रत्येकमभिसंबध्यते । ननु श्रुतिकटुप्रभृतिशब्दानां लक्षण-
परत्वे विभागपरत्वाभावाल्लक्ष्यानुपस्थितौ कथं लक्षणवाक्यत्वनिर्वाह इति ।
उच्यते—रूढियोगाभ्यामुभयार्थोपस्थितौ लक्ष्यलक्षणयोरुभयोरपि प्रत्ययः ।
यथा—‘प्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः’ इतीन्द्रियलक्षणसूत्रे
गौतमीये । अथैषां लक्षणवाक्यत्वे त्रिधाश्लीलमित्यत्र त्रिधेति निरर्थकम् । तस्य
विभागमात्रार्थत्वेन लक्षणेऽनुपयोगादिति चेत् । न । अश्लीलशब्दस्य व्रीडादि-
व्यञ्जकत्रितयसाधारणैकावयवशक्तिविरहेण नानार्थतया लक्षणत्रयार्थत्वमित्यस्य
तदर्थत्वात् । तत्र श्रुतिकटुत्वं यद्यपि श्रुत्युद्देशकत्वं तच्च पुरुषभेदेनानियतं तथापि
तज्जनकतावच्छेदकरूपवत्त्वं विवक्षितम् । तच्च परुषवर्णत्वम् । तच्च दुर्वचत्वम् ।
उदाहरणम्—

‘अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।

तन्वङ्ग्यालिङ्गितः कण्ठे कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥’

अत्र कार्तार्थ्यमिति पदं परुषवर्णप्रायम् । किं पुनरस्य दूषकताबीजम् । उद्वे-
गजनकत्वमिति चेत् । न । रौद्रादावपि दोषत्वप्रसङ्गात् । माधुर्यव्यञ्जकरचना-
मध्यगुम्फितमेव तदुद्देश्यतीति चेत्तर्हि तादृशत्वेन ज्ञातं तत्तथा, उत स्वरूप-

तिसमीचीनमिति भावः । कथमिति । लक्षणवाक्यस्य लक्ष्यलक्षणसंबन्धबोधक-
त्वादिति भावः । रूढीति । तथा च रूढ्यर्थो लक्ष्यः योगार्थो लक्षणमित्यर्थः । अत्र
दृष्टान्तमाह—यथेति । जिप्रतीति प्राणमित्यादिरूपयोगार्थो लक्षणं बोध्यः । तद-
र्थत्वात्तत्प्रतिपाद्यत्वात् । परुषत्वं निर्वक्ति—तच्चेति । तादृशत्वेन माधुर्यव्यञ्जक-

१. ‘अनङ्गेति । अत्र लोचनैरित्यध्याहार्यम् । तृतीया चोपलक्षणे । तथा च तैरुपल-
क्षितया तन्वङ्ग्यालिङ्गितः स नायकः कदा कार्तार्थ्यं कृतार्थतां लभते प्राप्स्यतीत्यन्वयः ।
कदाशब्दयोगे लट् । कीदृशैर्लोचनैः । अनङ्गस्य मङ्गलगृहं चासावपाङ्गश्च तस्य भङ्गिभिः
प्रकारविशेषैस्तरङ्गितानि संजाततरङ्गाणि तैस्तथाभूतैः । यद्वा तरङ्गितैरिति जिज्जन्ताद्भावे
क्तः । तेनापाङ्गभङ्गीनां तरङ्गयुक्तीकरणैर्लक्षितयेति तन्वङ्ग्येत्यस्य विशेषणम् । अथवा
आचारकिबन्ताद्भावे क्तः । तेनापाङ्गभङ्गीनां तरङ्गवाचरणैरुत्तरोत्तरविच्छेदरूपैर्लक्षितये-
त्यर्थः । कारणे वा तृतीया । तन्वङ्ग्यालिङ्गितः संस्तरङ्गितैः कार्तार्थ्यं कदा लभत इति
तन्वङ्ग्या तरङ्गितैर्द्वारं (?) भूतैरालिङ्गित इति वार्थ इति । अत्र कार्तार्थ्यमिति कठोरवर्णव-
दित्वाश्रुतिकटु १ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

सदेव । नाद्यः । रसविशेषव्यञ्जकत्वाज्ञानेऽपि प्राथमिकतादृशपदश्रवणेनोद्वेगा-
भावं प्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । अनुभवविरोधात् । अन्ये तु सत्यादयः प्रमा-
णम् । न ह्यविदितविशेषानपि तत्रैव तदुद्वेजयति नान्यत्रेति प्रमाणमस्ति । किं
चैवं वैयाकरणादौ वक्तुरि किं निबन्धनो दोषत्वाभावः स्यात् ।

अत्रोच्यते—स्वायत्ते शब्दप्रयोगे कर्णोपतापकशब्दप्रयोगेण श्रोतुरुद्वेगो रसा-
पकर्षायेति स एव तद्वीजम् । अत एव प्रतिकूलवर्णादस्य भेदः । तस्य कर्णोप-
तापाहेतुत्वात् । अत एव चानुकरणे वैयाकरणादौ वक्तुरि श्रोतरि वा रौद्रादौ
रसे व्यङ्ग्ये नीरसे च काव्येऽस्य दोषत्वाद्भावः । आद्ये तस्यैवानुकरणीयतया
स्वायत्त्यभावाद्धितीये च तत्स्वभावावगमेनोद्वेगाभावात् । तृतीये च श्रोतुस्तेना-
नुद्वेगात् । चतुर्थे तदनुगुणत्वेनोद्वेगाहेतुत्वात् । पञ्चमे मुख्यार्थहृतेरभावात् ।
एवमर्थौचित्यप्रकरणादिवशेनाप्यनुद्वेजकतया दोषत्वाभाव उपपद्यते ।

च्युतसंस्कृति च्युता स्खलिता संस्कृतिः संस्करणं व्याकरणलक्षणानुगमो
यत्र । यद्भाषासंस्कारकव्याकरणलक्षणविरुद्धं यत्तत्तद्भाषायां च्युतसंस्कृतीयर्थः ।
देश्यं तु न लक्षणविरुद्धं किं तु तदविषयः । संज्ञाशब्दानां बहुलवचनेन संस्कृ-
तत्वाच्च तत्रातिव्याप्तिः । यथा—

‘एतन्मन्दविपकतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर-

प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।

रचनामध्यगुम्फितत्वेन । अन्त्य इति । वस्तुगत्या माधुर्यव्यञ्जकरचनामध्यगुम्फितं
न तु तत्त्वेन ज्ञानमिति पक्ष इत्यर्थः । सत्यादय इति । ‘सत्येन शापयेद्विप्रं’
इत्यादि स्मृत्युक्ताः शपथा इत्यर्थः । नान्यत्रेति । न रौद्रादिरस इत्यर्थः । ननु
माधुर्यव्यञ्जकरचनामध्यगतत्वेन ज्ञातमेवोद्वेजकमित्येवानुभव इत्यतो दोषान्तर-
माह—किं चैवमिति । दोषत्वाभाव इति । वक्ताद्यौचित्यवशादित्यग्रे वक्ष्य-
माण इत्यर्थः । यद्भाषेति । संस्कृतभाषाव्याकरणवत्सौरसेन्यादिप्राकृतभाषाव्याक-

२. ‘एतदिति । पङ्क्तिपतिपुत्र्याः कुचयुगं दिदृक्षोः कस्यचिद्विदग्धस्योक्तिरियम् । हे पङ्क्ति-
पतिपुत्रि, पङ्क्ति वीथी क्षुद्रग्रामो वा । तत्स्वामिनः पुत्रि, एतदृश्यमानमर्थात्तव कुचयुगं
पुलिन्दानां शबराणां मध्ये सुन्दरस्तस्य करस्पर्शं क्षमं योग्यं यतो लक्ष्यते तत्तत्सात्कुञ्ज-
राणां करिणां कुलं समूहस्त्वां पत्रैरावृतमाच्छन्नं मा कृथा इत्यनुनाथते याचते इत्य-
न्वयः । याचनाहेतुगर्भं कुञ्जरकुलविशेषणमाह—कुम्भेत्यादि । कुम्भवोरभयस्याभयार्थना
तया दीनम् । तथा च कुचयोः पत्रानावृतत्वे तदासक्तचेतसः शबरस्य मृगयावैमुख्याद-
भयलाभ इति भावः । तदासक्तमनसः प्रहारपाटवं न स्यादिति वा । कीदृशं कुचयुगम् ।
मन्दमीषत्पकं तेन कठिनं पाण्डुरं च यत्तिन्दुकफलं तद्वच्छयाममुदरो मध्यभागे यस्य तं
तथाभूतं च तदापाण्डुर ईषत्पाण्डुरः प्रान्तो यस्य तथाभूतम् । हन्तेति इधं लक्ष्यत इत्य-
नेनान्वयि । सत्त्वाभयदानयोग्यत्वात्पङ्क्तिपतिपुत्रीत्यनेन भीतप्राणीचित्तं ध्वन्यते । अत्र
नाभय इति व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृति । ‘आक्षिपि नाथः’ इति नाथेराक्षिप्येवात्मने-
पदविधानादत्र च याचनार्थत्वात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

तत्पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-

दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पद्मावृतं मा कृथाः ॥'

अत्र नाथत इति याचत इत्यर्थे च्युतसंस्कृतिः । सामान्यतः 'तिप्-' आदि-
सूत्रेण प्राप्तस्यात्मनेपदस्य नियामकेन 'आशिषि नाथः' इति सूत्रेणानाशिषि
तन्निषेधात् । तस्मात् 'नाथति स्तनयुगं' इति पठनीयम् । ननु नाथत इति
स्वरूपं संस्कृतमेव । तथा चार्थविशेषेण तथेति वक्तव्यम् । एवं चार्थदोषत्वं
प्राप्तमिति । मैवम् । यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि यो दोषोऽनुवर्तते तस्यार्थदोषत्वम् ।
यस्तु तथासति निवर्तते तस्य शब्ददोषत्वमिति विभागात् । अत्रार्थाप्रतीतिदू-
षकताबीजमिति नित्यदोषत्वम् । अनुकरणे त्वर्थपरत्वाभावाद्दोषत्वाभावः ।

अप्रयुक्तं तथानुशासनसिद्धमपि कविभिर्न प्रयुक्तम् । यथा—

'यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।

तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा ॥'

अत्र 'दैवतानि पुंसि वा' इत्यनेनाज्ञातोऽपि पुंलिङ्गो दैवतशब्दः कविभिर्न
क्वापि प्रयुक्तः । नन्वत्र किं दूषकताबीजम् । न तावच्छक्तिविरहः । तत्सत्त्वात् ।
शक्तिस्मृतिविरह इत्यपि नास्ति । शब्दानुशासनेन तद्गृहे स्मृतौ प्रतिबन्धकाभा-
वादिति चेत्, पदार्थोपस्थितिविलम्बस्तद्बीजम् । अत एव श्लेषयमकादावदोष-
त्वम् । उद्गटालंकारसंपत्त्या प्रतीत्यविलम्बस्य तत्रानुद्देश्यत्वात् । वस्तुतस्तु तादृ-
शकविसमयविलङ्घनप्रयोजनानुसंधानव्यग्रतया मुख्यार्थविच्छित्तिदूषकताबीजम् ।
अत एवानुकरणे दोषत्वाभावः । यमकादावप्यदोषत्वम् । अन्यत्राप्रयुज्यमान-
स्यापि तदर्थं कविभिः प्रयोगस्य दर्शनेन व्यग्रताभावादिति ।

असमर्थमित्यल्पायं नञ् । तेन यत्तदर्थं परिपठितमपि प्रकृतस्थले विवक्षि-
तार्थसामर्थ्यरहितमित्यर्थः । समर्थस्यैवासामर्थ्यं विरुद्धमिति चेत् । न । उपसं-
दानोपजीवित्वात्सामर्थ्यस्य । यथा हनधातोः पद्धतिजघनजङ्गादिषु पदादिपदो-
पसंदानेन मार्गाद्यर्थोपसंदानेन वा गतौ सामर्थ्यम्, न पुनरविशिष्टस्य । यथा—

रणस्यापि सत्त्वादित्यर्थः । देश्यं तत्तद्देशभाषारूपम् । संज्ञाशब्दा ङित्यादयः । लङ्हा-
दयश्च प्राकृताः । 'उणादयो बहुलम्' इतिवत् 'लङ्हादयो बहुलम्' इति प्राकृतसू-
त्रात् । अर्थाप्रतीतिर्वाक्यार्थाप्रतीतिः पदार्थाप्रतीतिर्वा । उभयानुभवाकारे तु सहद-
यवैमुख्यं बोध्यम् । पदार्थोपस्थित्यविलम्बेऽपि दोषत्वानुभवादाह—वस्तुत-

१. 'यथेति । अयं यथा यादृशो दारुणाचारः क्रूरचरणः । सर्वदैव न कदाचिद्भिभाव्यते
दृश्यते तथा तदनुक्तोऽस्य दैवत उपास्यः पिशाचोऽथवा राक्षस इति मन्ये इत्यन्वयः ।
'यथा यतस्तथा तत इत्यर्थः' इति केचित् । 'दैवतानि पुंसि वेत्याज्ञातेऽपि दैवतशब्दः (पुंलिङ्गे)
कविभिरप्रयुक्तत्वं दोषः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।

सुरस्रोतस्विनीमेव हन्ति संप्रति सादरम् ॥’

अस्यार्थानुपस्थितिर्दूषकताबीजमिति नित्यता ।

निहतार्थं निहतः प्रसिद्धेनार्थेनाप्रसिद्धतया व्यवहितो विवक्षितोऽर्थो यस्य तत् । गूढेऽप्यर्थे कचिद्व्ययोगान्नाप्रयुक्तसंकरः । उदाहरणम्—

‘यावत्करसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।

मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥’

अत्र शोणितपदम् । अस्य रुधिरं प्रसिद्धिः । अप्रसिद्धिस्तूज्वलीकृतस्वरूपे विवक्षितार्थे । दूषकताबीजं प्रसिद्धस्यैव द्रागुपस्थित्या विवक्षितस्य विलम्बोपस्थितिः । अतो यमकादावदोषत्वम् । तत्रोपस्थितिविलम्बस्यापि सहृदयसंमतत्वेनाविलम्बानुद्देश्यत्वात् ।

अनुचितार्थमनुचितो विवक्षितार्थतिरस्कारकोऽर्थो यस्य तत् । यथा—

‘तपस्विभिर्या मुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सन्निभिरिष्यते च या ।

प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥’

स्त्विति । मार्गाद्यर्थेति । मार्गाद्यर्थोपस्थितिसहकारेणेत्यर्थः । कचिदिति । श्लेषयमकादिव्यतिरिक्तस्थलेऽपि कचिदित्यर्थः । अप्रयुक्तस्य तु श्लेषयमकादिनिर्वाहार्थं एव प्रयोग इति ततो भेदः । उज्ज्वलीकृतत्वेति । आरक्षीकृतत्वेत्यर्थः । शोणं करोतीति प्यन्तात्कप्रत्ययेऽयमर्थो विलम्बितः । रुद्ध्या रुधिरस्यैव द्रागुपस्थितेः । विवक्षितेति । विवक्षितार्थस्य शौर्यादेस्तिरस्कारो बुद्धिप्रतिबन्धस्तज्जनको जनकज्ञानविषयोऽर्थो यस्येत्यर्थः । प्रतिबन्धकत्वं च कातरत्वादेः शौर्यविरोधिनी

१. तीर्थेति । सत्कृतिः पुण्यं तद्रशाल्लुराणां स्रोतस्विनी नदी गङ्गा तां प्रति हन्ति । गच्छतीत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । अत्र ‘हन हिंसागल्योः’ इत्यनुशासनेऽपि केवलस्य हन्तेर्गतिबोधनेऽसमर्थत्वम् । पद्धतिरित्यादिषु पदादिपदोपसंदानसापेक्षत्वात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः २. ‘सक्रियः’ ख-ग-पुस्तकयोः । ३. ‘यावत्केति । यावत्कस्या-कृत्कस्य रसेनाद्रौ यः पादस्तेन यः प्रहारस्तेन शोणिता आरक्षीकृताः कचाः केशा यस्य तथाभूतेन दयितेन प्रियेण रुधिरभ्रमात्साध्वसेन भयेन तरला व्याकुला अंत एव मुग्धा विलोक्येयं साध्वसाकुलेल्यालोच्य सहसा अप्रसाधैव परिचुम्बितेत्यर्थः । सहसा शीघ्रमिति वा । विलम्बे भ्रमापगमसंभावनात् । अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरत्वविशिष्टे प्रसिद्धिबाहुल्यादारक्षीकरणरूपेऽर्थे निहतार्थत्वम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ४. ‘तपस्विभिरिति । या गतिस्तपस्विभिः मुचिरेण त्रिरकालेन लभ्यते या च प्रयत्नतः प्रयत्नेन सन्निभिरनेकेदिनसाध्यसन्नाख्ययज्ञकारिभिरिष्यते कालान्तरभावि-त्वात् पुनस्तदैव लभ्यते तां गतिं रणः सङ्ग्राम एवाश्वमेधस्तत्र पशुतां वध्यतामुपागता अत एव यशस्विन आशु शीघ्रं प्रयान्तीत्यन्वयः । अत्र पशुतामित्यनुचितार्थम् । कातरत्वाभिव्यक्त्या वर्णेनीयस्य शौर्यस्य तिरस्कारात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

अत्र शौर्यं प्रतिपाद्ये पदान्तरानपेक्षमेव पशुपदं कातरतामभिव्यनक्ति । तदर्थे तस्या दर्शनात् । विरुद्धमतिकृतु पदान्तरसापेक्षं तथेति तस्मान्नेदः । दूषकता-
बीजं च विवक्षिततिरस्कारकार्योपस्थितिः । अतोऽस्य नित्यदोषत्वम् ।

निरर्थकमविवक्षितार्थकम् । वृत्तनिर्वाहमात्रप्रयोजनकमिति यावत् । अत एव वाक्यालंकारभूतं यमकादिनिर्वाहकं च खल्वादिपदमदुष्टम् । तच्च निपात-
रूपं चादिपदं बहुवचनादि च । उदाहरणम्—

‘उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरघुते मम हि गौरि ।

अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥’

अत्र हिपदम् । अर्थस्याविवक्षितत्वात् । दूषकताबीजं त्वस्य चिन्त्यताम् । तद्धि न तावदर्थानुपस्थितिः । पदान्तैरेव यावदभिधेयोपस्थापनात् । न चैव-
मवाचकादौ । तत्र तदभिधेयस्य वाक्यार्थघटकस्य पदान्तैरेनुपस्थापनात् । नापि प्रतिकूलवर्णवद्रसविरोधिता । चादीनां सार्थकत्वस्थलेऽपि रसविरोधित्व-
प्रसङ्गात्स्वरूपस्य ताद्रूप्यादिति । उच्यते—निरर्थकं प्रयुञ्जानस्य वचसि सहृद-
यानां वैमुख्यं दूषकताबीजम् । प्रयोजनानुसंधानव्यग्रता वा ।

अवाचकं विवक्षितधर्मविशिष्टस्य विवक्षितधर्मिणः कापि न वाचकं यत्तदि-
त्यर्थः । अत एवासमर्थाद्नेदः । तस्य कचिच्छक्तिस्वीकारात् । एतादृशविशिष्ट-
विरहश्च कचिद्धर्मिणि शक्तावपि विवक्षिते प्रकारे शक्तिविरहात् । कचित्प्रकारे
शक्तावपि धर्मिणि शक्तिविरहात् । कचित्प्रकारधर्मिणोरुभयोरपि शक्यभावात् ।
तत्रार्थं द्विधा—अपेक्षितयोगमनपेक्षितयोगं च । तयोरार्थं यथा—

‘अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥’

अत्र पूर्वार्धे दारिद्र्यरूपापद्विघातकतया दातृत्वं विवक्षितमिति द्वितीयार्धे

व्यञ्जनादित्याह—अत्रेति । तदर्थं पशुपदार्थे । तस्याः कातरतायाः । बहुवचना-

१. ‘उदिति । उत्फुल्लं विकसितं यत्कमलं तस्य केसराणां परागो धूलिस्तद्गौरा इति-
र्यस्यास्तथाभूते इति गौरीविशेषणम् । ममाभिवाञ्छितं प्रसिध्यत्विति संबन्धः । अत्र हि-
शब्दो निर्वर्त्यकः । छन्दः पूरणमात्रप्रयोजनकत्वात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अव-
न्ध्येति । दुर्गन्धनिग्रहाय युधिष्ठिरमुद्रोधयन्त्या द्रौपद्या इत्यमुक्तिः । देहिनः शत्रुमित्ररूपा
यथाक्रमम् । अवन्ध्यः सफलः कोपो यस्य तथाभूतस्य । एवमापदां निहन्तुर्नाशयितुः ।
दातुरिति यावत् । स्वयमेव प्रयत्नं विना वश्या भवन्ति । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेनापि द्रष्ट-
यितुमाह—अमर्षेत्यादि । अमर्षः क्रोधः स चावन्ध्यो बोध्यः । तच्छून्येन भवादृशेन
विद्विषा शत्रुणा अर्थाच्छत्रुरूपस्य दरो भयं न भवति । तथा जातं हार्दं कोहो यस्य तेन
मित्रेण जन्तुना जन्तुमात्रेण । अदात्रेति यावत् । जनस्यार्थान्मित्ररूपस्यादरो न भवतीत्य-
कारप्रक्षेपार्थः । भयादरयोश्चाभावकथनेन भङ्गान्तरेण वश्यत्वाभाव एवोक्त इति द्रष्टव्यम् ।
अत्र जन्तुपदं विवक्षितेनादातृत्वेन रूपेणावाचकम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तद्वैपरीत्यप्रदर्शकं जन्तुपदमदातरि प्रयुक्तम् । तत्र च जायत इति योगमपेक्ष्य
सस्य शक्तत्वेऽपि न विवक्षितया अदातृतया प्रकारेण सेत्यवाचकम् । अनपेक्षि-
तयोगं तथा—

‘हा धिक्सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विश्लेषरुजान्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥’

अत्र दिनपदं प्रकाशमयमित्यर्थे विवक्षितम् । तामसीत्यनेन लब्धस्य तमो-
यत्वस्य वैपरीत्याभिधानायोपादानात् । तत्र च धर्मिणि योगमनपेक्ष्यैव रूढ्या
दिनत्वेन शक्तम्, न पुनः प्रकाशमयत्वेनेत्यवाचकम् । द्वितीयं यथा—

‘जलं जलधरे क्षारमयं वर्षति वारिदः ।
इदं बृंहितमश्वानां ककुद्गानेष हेपते ॥’

अत्र जलधरशब्दस्य जलधारकत्वे प्रकारे सामर्थ्येऽपि न समुद्रे धर्मिणि
सामर्थ्यम् । यद्यपि योगशक्तिस्तत्राप्यस्यैव तथापि रूढ्या प्रतिबन्धादनस्ति-
कल्पैव ।

तृतीयं तूपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतमन्यथा च । तयोराद्यं यथा—

‘जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।

१. ‘हा धिगिति । रात्रौ स्वप्ने उर्वशीं दृष्टवतः पुरुरवस उक्तिरियम् । यत्र रात्रौ सा
उर्वशीरूपा शशिमुखी मया दृष्टा सा किल तामसी तमस्विनी कल्पितेति लिङ्गविपरिणामेन
संबध्यते । धात्रेति विभक्तिविपरिणामेन । किलेत्युच्चावलीके वा । शशिसत्त्वे तमस्वि-
त्वानौचित्यात् । अत एव हेति खेदे । धिगिति निन्दायाम् । तथा तस्या विच्छेदो विरहस्त-
द्रूपया रुजा व्याधिनान्धकारितं संजातान्धकारमिदमनुभूयमानं कालरूपं वस्तु दग्धं दुः-
खदायित्वेन निन्द्यम् । दिनं प्रकाशमयं कल्पितम् । हा धिगित्यत्रापि योज्यम् । इत्थं
धाता विधिः कुशलेऽभीष्टे सदैव सर्वदैव विधुरः प्रतिकूलः । किं कुर्मः । विधेर्वर्जनीय-
त्वादिति भावः । न चेद्विधुरस्तत्तदाधुना मे मम जीवलोको जीवनाखिलकालस्तादृग्याम-
वतीमयः पूर्वोक्तप्रियादर्शनयुक्तरात्रिस्वरूपः कथं नो न भवतीत्यर्थः । कल्पितेत्यत्र मये-
त्यस्य कर्तृत्वेनान्वयप्रदर्शनं तु केषाञ्चिद्विचारितरमणीयमेव । ‘किल संभाव्यवार्तयोः ।
हेत्वैरुच्योरलीके च’ इति हैमः । अत्र दिनपदं विवक्षितप्रकाशमयत्वविशिष्टावाच-
कम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. एतदुदाहरणमुदाहरणचन्द्रिकायां न व्याख्यातम्.
३. ‘जङ्घेति । भर्तुः शिवस्य नृत्तानुकारे ताललयाश्रितनर्तनानुकरणदशार्था भवान्या
अभिनव इदं प्रथमतया नृत्यप्रवृत्तो दण्डपादः प्रसङ्गोर्ध्वीकृतोऽत एव दण्डाकारः पादो
जयतीति संबन्धः । ‘नृत्यं पदार्थाभिनयो नृत्तं ताललयाश्रयम्’ इति संगीतरत्नाकरः ।
‘प्रसङ्गोर्ध्वीकृतः पादो दण्डपादोऽभिधीयते’ इति च । कीदृशः । नित्रा भवानीसंबन्धिनी
तनुरेव स्वच्छा लावण्यस्य वापी तत्संभूतं यदम्भोजं तस्य शोभां विदधत् । विशेषतो

भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
संभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥'

अत्र विदधातिधारणे प्रयुक्तः । न च धारणे धारणत्वे वा समर्थः । स्वसंसर्गेण करणे नियमितशक्तित्वात् ।

अन्यस्तु वाक्यनिष्ठावाचकतायां 'प्राभ्रभ्राह्—' इत्यादाबुदाहरिष्यते । तदेवं निर्दूषणे प्रकाशे यत् 'असमर्थं धर्मधर्मिणोर्द्वयोरपि शक्तिविरहः । अवाचके तु धर्ममात्रे सः । विदधदित्युदाहरणं त्ववाचकप्रकरणमध्ये समर्थस्यैव' इति प्रलपितं तद्वाक्यावाचकत्वोदाहरणानवलोकननिबन्धनं संदर्भविरुद्धं चेत्यनादेयम् । दूषकताबीजं तु विवक्षितार्थानुपस्थितिरिति नित्य एवायम् ।

त्रिधाश्लीलमिति । अश्रीरस्यास्तीत्यर्थे सिध्मादित्वाल्लक्षप्रत्ययः । कपिलकादि-
त्वाद्नेफस्य लत्वम् । तथा च कान्त्यभाववदिति पर्यवसन्नम् । कान्त्यभावश्चाति-
प्रसक्त इति व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यक्तिहेतुकस्तद्विशेषो वक्तव्यः । न चैतन्नयेऽन-
तिप्रसक्तमनुगतं रूपमस्तीति व्रीडादिहेतुकाकान्तिमत्सु नानार्थोऽयमश्लीलशब्द-
इत्यर्थः । तच्च प्रत्येकं त्रिविधम् । कचिद्विवक्षितस्यैवार्थस्य व्रीडाद्यालम्बनत्वात् ।
कचिद्विवक्षितस्य निर्वाहिणस्तथात्वात् । कचित्तादृशार्थस्यानिर्वाहिणोऽपि स्मृति-
मात्रहेतुत्वात् । एषु कचिर्किंचिदुदाह्रियते । तत्र व्रीडाव्यक्तावर्थान्तरस्य
तथाभावो यथा—

'साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।

तस्य भीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भुवम् ॥'

सीति पदैकदेशोदाहरणविषयम् । स्वसंसर्गेणेति । वीत्युपसर्गसंबन्धेनेत्यर्थः
करणे विधाने । निर्वाहिणः प्रकृतार्थान्वयिनः । तत्रेति । अर्थान्तरस्येत्यनन्तरं नि-

विभ्रदित्यर्थः । एतदेव जह्व्यादिना विशेषणचतुष्टयेन समर्थयति—जह्वाकाण्डमेवोर मह-
शालं यत्र । जह्वाकाण्डं चोरुक्ष तयोः समाहारो जह्वाकाण्डोर तदेव शालं यत्रेति वार्थः ।
एवं नखकिरण एव लसन्ति केसराणि तेषामाल्या पङ्कथा करालो दन्तुरः । प्रत्यग्रस्यार्द्र-
स्यालक्तकस्य भानां कान्तीनां प्रसरा एव किसलयानि नवपत्राणि यस्य तथाभूतः । किसल-
यपदस्य पत्रपत्रेऽपि गौण्या प्रयोगः । मञ्जु मनोज्ञं मञ्जीरं नूपुरमेव मृज्जो यत्र सः । एवं
च सत्युपमानधर्मस्याम्भोजशोभाया दण्डपादे समारोपः समर्थितो भवति 'ज्योत्स्नाभस-'
इत्यादिरूपैकैव रात्रौ कापालिकी समारोपः । तत्र प्रधानीभूतस्यारोपस्योपमानारोपरूपत्वा-
द्रूपकत्वम् । इह तु तदभावाद्निदर्शनारूपत्वमित्येतावान्परं विशेषः । न चोपमानाप्रसिद्धा
उपमायाः कल्पनासंभवात्कथमेता निदर्शनेति वाच्यम् । वस्तुतोऽप्रसिद्धावपि कविसमयबलेन
बहुश उपमानदर्शनात् । अत्र निजपदं विवक्षितां पार्वतीतनुं न बोधयति । निजादिपदानां
स्ववाक्यमुख्यविशेषगामित्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'विसंसर्गेण'. २. 'साधनमिति । यस्य राक्षः सुमहत्साधनं सैन्यं विलोक्यते

अत्र सैन्यार्थस्य साधनशब्दस्य पुंव्यजनमर्थान्तरम् ।

जुगुप्साव्यक्तौ तथाभूतार्थस्मृतिमात्रहेतुत्वं यथा—

‘लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदृष्टाधरः

कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।

मुग्धा कुब्जालिताननेन ददती वायुं स्थिता तस्य सा

आन्त्या धूर्ततयाथवानतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥’

अत्र वायुशब्दोऽपानवायुं स्मारयति । न तु तदर्थतया वाक्यमुपपद्यते ।

अमङ्गलव्यक्तौ विवक्षितसैवार्थस्य तथात्वं यथा—

‘मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशा-

इनरुचिरकलापो निःसपन्नोऽद्य जातः ।

रतिविलुलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः

सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष्टु बह्वीं ॥’

अत्र विनाशशब्दस्य विवक्षित एवार्थोऽमङ्गलः ।

एवं त्रिषु भिन्नभिन्नप्रकारोदाहरणेन प्रत्येकं त्रिप्रकारत्वमूहनीयम् । न्याय-
साम्यात् । दूषकताबीजं त्वनुभवसिद्धरसापकर्षकतादृशार्थोपस्थितिः । नीरसे तु

वाहिण इति शेषः । तथाभावो हेतुत्वम् । तथाभूतार्थेति । जुगुप्सालम्बनेत्यर्थः ।

यदन्यस्य न विलोक्यते । असाधारणमित्यर्थः । तस्य धीशालिनो नीतिश्रुत्यारालितां कोपेन
कुटिलीकृतां भुवं कोऽन्यः सहेतेत्यर्थः । अत्र साधनशब्दः पुंव्यजनरूपार्थान्तरोपस्थापक-
तया व्रीडादायी । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘लीलेति । अन्यस्य वनितया न त्वन्यया वनितया । तदै‘(यै)’व क्रोधातिशयाग्निःशङ्कं
दष्टोऽधरो यस्य तथाभूतः । कश्चिद्लीलार्थेन तामरसेन कमलेनार्थात्स्ववनितया आहतः
सन्केसरैस्तल्लभपरगैर्दूषिते आकुले ईक्षणे यस्य तथाभूत इव च्छलेन नेत्रे व्यामील्य
स्थितः । ततस्तदीयधूर्तत्वानभिज्ञतया कुब्जालितेन तदाकारीकृतेनाननेन तस्य नायकस्य ।
‘तत्र’ इति पाठे नेत्रयोः । वायुं फूत्कारं ददती स्थिता सा मुग्धा तेन नायकेन नतिमृते
प्रणामं विनैवानिशं विरं चुम्बिता । तत्र हेतुः—आन्त्या धूर्ततयाथवेति । अस्याः
कोपोऽपगत इति भ्रान्तिः । कोपानपगमेऽपि सापराधत्वदशायामपि निराबाधं चुम्बेयमिति
धूर्तता । अत्र वायुशब्दोऽपानवायुसारकतया जुगुप्सादायी । इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः. २. ‘मृद्विति । विक्रमोर्वशीये उर्वशीविरहिणः पुरुरवस उक्तिरियम् । मृदुना
मन्देन पवनेन विभिन्नो विकसितः । घनो निबिडश्चासौ रुचिरश्चासौ कलापो मयूरपिच्छं
मत्प्रियाया उर्वरया विनाशाददर्शनादद्य निःसपन्नः सदृशरहितो जात इत्यन्वयः । सुकेश्याः
शोभनकेश्या उर्वश्याः केशपाशे सलेष बह्वीं मयूरः कं हरेदनुरजयेत् । न कमपीत्यर्थः ।
विस्तृतकलापसाम्याय विक्षिणष्टि—रतौ विलुलितः क्षिणिलो बन्धो यस्य तथाभूते । तथा
कुसुमैः सनाथे युक्ते । तेन चन्द्रकसाम्यम् । ‘बह्वीं’ इति त्वपपाठः । ‘पिच्छबह्वे’ नपुंसके
इत्यनुशासनात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘विलित’ ख-ग. ४. ‘बह्वीं’ ख-ग.

चमत्कारापकर्षकत्वं तस्याः । अथवा तादृशार्थोपस्थित्या श्रोतुर्वैमुख्यं तद्वीजम् । अतः शमकथायां दोषत्वाभावः । तादृशोपस्थितेः शमपोषकत्वात् । भाव्यमङ्गलादिसूचने कामशास्त्रस्थितौ च न दोषत्वम् । वैमुख्याभावात् । शिवलिङ्गभगिनीब्रह्माण्डादिशब्देषु तु 'संवीतगुप्तलक्षितेष्वसभ्यार्थानुपस्थितेः ।

संदिग्धं विवक्षिताविवक्षितोभयार्थोपस्थापनानुकूलस्वरूपद्वयसंदेहविषयः । यथा—

‘आलिङ्गितस्तत्रभवान्संपराये जयश्रिया ।

आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥

अत्र वन्द्यामिति पदं बन्दीशब्दे सप्तम्यन्तं वन्द्याशब्दे द्वितीयान्तं वेति संदेहः । प्रथमे इठगृहीतमहिलायां कृपां कुर्विति, द्वितीये नमस्यामाशीःपरम्परामित्यर्थोपपत्तौ साधकबाधकप्रमाणाभावात् । दूषकताबीजमुद्देश्यनिश्चयाभावः । अतो यत्र संदेह एवोद्देश्यस्तत्र यत्र च वाच्यादिमहिम्ना प्रकरणादिवशेन वा निश्चयस्तत्र चादोषत्वम् ।

अप्रतीतमिति नञोऽल्पार्थतया शब्दानुशासनातिरिक्तशास्त्रमात्रप्रसिद्धमित्यर्थः । अत एवाप्रयुक्ताद्भेदः । तस्यान्यत्रापि प्रसिद्धेः । उदाहरणम्—

‘सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्गलिताशयताजुषः ।

विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥’

अत्राशयशब्दो मिथ्याज्ञानजन्यवासनार्थः । स चैवं योगशास्त्र एव प्रसिद्धः । एवं शास्त्रान्तरप्रसिद्धमप्यूह्यम् । दूषकताबीजं तच्छास्त्रानभिज्ञस्यार्थानुपस्थितिः । अत एव यत्र तच्छास्त्राभिज्ञ एव प्रतिपाद्यः स्वयमेव वा परामर्शस्तत्र न दोषत्वम् । प्रत्युत व्युत्पत्तिसूचकतया गुणत्वम् ।

मात्रपदेन प्रकृतार्थान्वयित्वव्यवच्छेदः । संवीतेति । शिवपदार्थेन संवीतमाच्छादितमिवेत्यर्थः । केवलस्यैव लिङ्गपदस्याश्लीलत्वं न तु शिवपदसंबन्धस्येत्यनुभवात् । भगिनीपदे तु रुढ्याश्लीलार्थो गुप्तः । ब्रह्माण्डपदे त्वण्डपदेन गौण्या लक्षितस्य जगतः प्रतीतेर्नाश्लीलतेति ज्ञेयम् । ‘समुचीत’ इति त्वपपाठः । सरस्वतीकण्ठभरणे ‘संवीत’ इत्येव पाठस्य दर्शनात् । स्वरूपद्वयेति । कवितात्पर्यविषयत्वेन सप्तम्य-

१. ‘समुचीत’ ख. २. ‘आलिङ्गित’ इति । संपराये युद्धे जयश्रियालिङ्गितस्तत्रभवान्पूज्यस्त्वमाशीःपरम्परामाशीर्वादपरम्परामार्थोज्जितशत्रुप्रयुक्तां कर्णे कृत्वा आकर्ष्य कृपां कुर्विति संबन्धः । तत्र संपराय इति वा । अत्र वयोरभेदाद्वन्दनीयामित्यर्थकवन्द्याशब्दस्य द्वितीयान्तं रूपं किं वा गृहीतमहिलायामिति कृपाविषयसमर्पकबन्दीशब्दस्य सप्तम्यन्तमिति संदेहः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘सम्यगिति । सम्यग्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं तदेव महाज्योतिस्तो न दलितो नाशित आशयो मिथ्याज्ञानवासना यस्य । तत्ताजुषो नरस्य विधीयमानं क्रियमाणमप्येतत्कर्म विहितनिषिद्धरूपं बन्धनं बन्धजनकं न भवेदित्यर्थः । अत्राशयशब्दो मिथ्याज्ञानवासनार्था योगशास्त्रमात्रे प्रयुक्त इत्यप्रतीतत्वम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ग्राम्यं ग्रामे केवले लोके प्रसिद्धं न तु शास्त्रेऽपि । अत एवाप्रयुक्ताद्भेदः^१ इत्येके । अपरे तु 'देश्यमनेन संगृह्यते । कटिशब्दादयस्तु नोदाहर्तव्याः । किं तु गालभल्लादयः' इत्याहुः । तदुभयमभ्यसत् । कटिशब्दस्य शास्त्रेऽपि प्रसिद्धस्य व्युत्पन्नस्य चोदाहरणत्वेन दर्शितत्वात् । तस्मात्समस्तलोकप्रसिद्धम् । तस्मिन्देशे सर्वलोकैर्यदाख्यया यद्वस्तु व्यवहियते तदित्यर्थः । तेन देश्यमपि संगृहीतम् । अत एवाग्रे खादनपानगाल्लादय उदाहरणीयाः । कमलमहिषीदध्यादयश्च प्रत्युदाहर्तव्याः । उदाहरणम्—

‘रौकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम् ।

तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥’

अत्र कटिशब्दः । लोकानभिज्ञं प्रति तदर्थानुपस्थितिर्दूषकताबीजमिति ऋजवः । वस्तुतस्तु नागरोपनागरौ विहाय ग्राम्यशब्दप्रयोगाद्वक्तुरवैदग्ध्योश्चयनेन श्रोतुर्वैमुख्यं तदित्यालोच्यते । अत एव विदूषकादावधमेव कटिर्न दोषत्वम् । तस्य तथैवौचित्येन वैरस्याभावात् । कटिशब्दे तु ग्राम्यताप्रयोजकं नाश्लीलत्वमिति न तत्संकरः ।

नेयार्थं नेयोऽर्थो यस्य तत् । नेयत्वं च—

‘निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् ।

क्रियन्ते चाधुना काश्चित्काश्चिन्नेव त्वशक्तितः ॥’

इत्यनेन रूढिप्रयोजनाभ्यां विना या लक्षणा निषिद्धा तद्विषयत्वम् । यथा—

‘शैरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम् ।

करोति ते मुखं तन्नि चपेटापातनातिथिम् ॥’

अत्र चपेटादिपदं निर्जितत्वे लक्षणया प्रयुक्तम् । न च तत्रास्य रूढिर्न वा

न्तद्वितीयान्तत्वादिरूपद्वयप्रकारको यः संदेहस्तद्विषय इत्यर्थः । समस्तेत्यस्य विवरणं तस्मिन्देश इत्यादि । नागरो विदग्धमात्रप्रसिद्धः । तत्सदृशस्ततः किञ्चिदून उपनागरः । ग्राम्यताप्रयोजकमिति । ग्रीढालम्बनत्वरूपमश्लीलत्वं न ग्राम्यताप्रयोजकम् । अपि तु विदग्धाविदग्धसाधारणप्रयुक्तत्वमेवेति न सांकर्यशङ्केत्यर्थः । तेन क्वचिदुपधेयसंकरेऽप्युपाधेरसंकराच्च दोष इति भावः । चपेटादीति । तत्रैकं

१. ‘राकेति । राका पूर्णचन्द्रा पूर्णिमा तत्संबन्धी यो विभावरीकान्तश्चन्द्रस्तस्य संक्रान्ता द्युतिर्यत्र तथाभूतं तव मुखं, तपनीयस्य सुवर्णस्य शिलायाः शोभा यत्र सा कटिर्नितम्बश्च मनो हरत इत्यन्वयः । अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः । पामरसाधारण्येन प्रयुज्यमानत्वात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘शरदिति । हे तन्नि, ते तव मुखं कर्तुं समुल्लासी यः पूर्णिमासंबन्धी शर्वरीप्रियश्चन्द्रस्तं चपेटापातनस्य करतलप्रहारस्यातिथिं पात्रं करोतीत्यन्वयः । अत्र मुख्यार्थबाधाचपेटाशब्देन निर्जितत्वं लक्ष्यते । तथा निर्जितत्वस्य यदापातनं संबन्धस्तत्पात्रं करोतीत्यर्थः पर्यवस्यति । रूढिप्रयोजनान्यतरविरहेणानिषिद्धालक्षणिकत्वरूपं नेयार्थम्’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

प्रयोजनम् । मुख्यशब्दार्थान्तिरेकिणोऽर्थस्याप्रतीतेः । दृष्टकतावीजं च वृत्त्यभावे-
नार्थानुपस्थितिरिति नित्योऽयं दोषः ।

अथ भवेत्किष्टमित्यादि किष्टादिकं दुष्टं प्रदं समासमात्रमेवेत्यभिसंबन्धः ।
तदयमर्थः—किष्टवादिदोषप्रत्ययं प्रदान्तरसाहित्येनैव संभवति । तथा च यदि
तयोः पदयोः समासस्तद्वत् समासेनैकपत्रात्पदद्वयोपत्ता । अस्मासे वाक्यदोषत्व-
मेव । इतरेषां तु समासेऽसमासे च पदद्वयोपत्वम् । द्वितीयपदत्तरपेक्ष्येणैव
दुष्टत्वादिति ।

तत्र किष्टमर्थप्रतीतौ केशवत् । यतो विवक्षितस्यान्वितविशेषस्य प्रतिपत्ति-
विलम्बिता तदित्यर्थः । निहत्वाद्यौ तु प्रदार्थोपस्थितिरेव विलम्बितेति ततो
मेदः । विलम्बश्चाप्रत्यासत्तेर्वा, सामान्यशक्त्याप्यकरणाद्यभावे विवक्षितविशेषस्य
द्रागनुपस्थितेर्वा । आद्ये वाक्यमात्रदोषत्वम् 'अस्मिन्नस्य—' इत्यादौ । अन्ये
तु पददोषत्वमपि । तद्यथा—

‘अत्रिलोचनसंभूतज्योतिरुद्गमभासिभिः ।

सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल तव चेष्टितम् ॥’

अत्रात्रिलोचनसंभूतेत्यादौ सामान्यतोऽन्वयबोधाविलम्बेऽप्यत्रिलोचनसंभूते-
त्यादिना चन्द्रादेर्न द्रागनुपस्थितिः । अन्यस्यापि तथाभावान्नियामकस्याभावाच्च ।
अतः कुमुदैरित्यस्य व्यवधानेनोपस्थितिः । इदमेव च ‘अत्रिदृष्टेः समुद्भूतस्यो-
ज्योतेनावभासिभिः’ इति पाठे द्वितीयप्रमेदे वाक्यदोषोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।
दूषकतावीजं प्रतीतिविलम्बः । प्रहेलिकादौ तु तस्येष्टत्वादोषत्वम् । मत्तो-
क्त्यादौ तु गुणत्वमपि तदौचित्यात् ।

‘अविमृष्टविधेयांशम्’ अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत् ।
प्राधान्यं च विधिप्रतीतियोग्यता । सा चानुपसर्जनीभूतत्वे सत्युद्देश्यान-
न्वयम् । अतो ‘न्यकारो ज्ञायमेव—’ इत्यादौ ‘क्षणमप्यमुक्त—’ इत्यादौ वा

लक्षकमितरसात्पर्यग्राहकमिति भावः । मुख्यशब्दार्थेति । निर्जितमिति मुख्यश-
ब्देन प्रतिपाद्यो योऽर्थस्तद्व्यतिरिक्तस्येत्यर्थः । मुख्यशब्दप्रयोगादलभ्यं हि शैल्यपाव-
नत्वं प्रयोजनं, न चेह तथा प्रतीयमानमस्ति । वृत्त्यभावेनेति । उक्तहेतुकलक्ष-
णाया एव वृत्तित्वव्युत्पत्तेरिति भावः । अर्थप्रतीतौ वाक्यार्थप्रतीतौ । पदार्थोप-
स्थितिरेवेति । शक्यतावच्छेदकरूपेण प्रकृतपदार्थोपस्थितिरेवेत्यर्थः । इह तु
शक्यतावच्छेदकस्य प्रकृताप्रकृतसाधारण्यात्तेन रूपेणोपस्थितावप्यन्वितविशेषानुप-
स्थितिमात्रमित्यर्थः । अन्यस्यापीति । चक्षुर्ज्योतिषोऽपीत्यर्थः । आदिना चन्द्रोद्-

८. ‘अतीति । हे भूपाल, तव चेष्टितं चरित्रमत्रेमुनिविशेषस्य लोचनात्संभूतं यज्योति-
शब्दस्य तस्योद्गमेनोदयेन भासनशीलैरर्थात्कुमुदैः सदृशमलङ्घनमस्ति शयेन शोभत इत्यर्थः ।
अत्र पूर्वोक्तं कुमुदरूपार्थबोधे केशादिदृष्टव्यम्’ इत्यादिपद्यन्तर्निहितसंक्षेपः ।

नाव्यासिः । प्रथमे उक्तरूपप्राधान्याभावेन द्वितीये विधेयस्य प्रसज्यप्रतिषेध-
स्यानिर्देशेन विशिष्टविरहसत्त्वात् । उदाहरणम्—

‘मूर्ध्नामुद्धृत्तकृत्ताविरलगलगद्रक्तसंसक्तधारा
धौतेशाङ्गिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदुर्पोदुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥’

अत्र नगरीरक्षण एव यत्प्रयासस्तन्मूर्ध्ना महिमा मिथ्येति मिथ्यात्वं विधे-
यम् । अप्राप्तत्वात् । अत एव च नानुवाचम् । प्राप्तत्वे तु मिथ्यामहिम्नामफल-
त्वमेवोचितम् । अतः किमेतत्फलमित्यादिना नाभिसंबन्धः स्यात् । तच्च बहुव्री-
हावन्यपदार्थे गुणीभूतम् । विशेषणप्राधान्ये समासाननुशासनात् । किं चोद्देश्यं
विधेयं च यदि पृथक्पदाभ्यामुपपत्तिष्ठते तदा प्राप्तमुद्दिश्याप्राप्तं विधीयते । न च
समासे पृथक्पदादुपस्थितिः । अपृथगुपस्थितौ च न तथा व्युत्पत्तिरिति । एवं
समासान्तरेऽप्यविमृष्टत्वं द्रष्टव्यम् । तत्र कर्मधारये यथा—

‘स्त्रेष्ठां नितम्बादवरोपयन्तीं पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कामुकस्य ॥’

मभासित्वेन कुमुदस्यापि न द्रागुपस्थितिः । चन्द्रविकास्यकुसुमान्तरसाधारण्यादि-
त्युक्तम् । तच्चेति मिथ्यात्वं चेत्पर्यः । विशेषणेति । एकार्थीभावभङ्गप्रसङ्गा-
दित्यर्थः । वैरूप्यादप्येकस्मिन्समस्तपदे उद्देश्यविधेयभावो न संभवतीत्याह—किं
चेति । प्राप्तत्वेनावगतं ह्युद्देश्यम् । अप्राप्तत्वेनावगतं च विधेयम् । न चैकस्मात्पदा-

१. ‘मूर्ध्नामिति । रामसेनया लङ्कायां वेष्टितायां रावणस्योक्तिः । मम मूर्ध्नां दोष्णां
हस्तानां चेद्वासिन्वानरापादानके नगरीरक्षणे यत्प्रयास एतदेव फलं किमित्यन्वयः । किमि-
त्यनेनोक्तमनौचित्यं समर्थयितुं मूर्ध्नां दोष्णां च क्रमेण विशेषणद्वयमाह—उद्धृत्तेत्या-
दिना । उद्धृत्तमुद्धतं यत्कृतं कर्तनं तेनाविरला सान्द्रा गलाद्गच्छन्ती या रक्तस्य संसक्ता
अविच्छिन्ना धारा तथा धौतौ प्रक्षालितौ यावीशाङ्गी शिवचरणौ तत्प्रसादेनोपनतो लब्धो
यो जयस्तेन जगति जातो मिथ्याभूतो महिमा येषामिति मूर्ध्वविशेषणम् । कैलासस्योल्ला-
सने उद्धरणे या इच्छा तस्या व्यतिकरस्य संबन्धस्य पिशुनः सूचकश्चासावुत्सर्पी उत्कटो
दर्पस्तेनोदुराणां समर्थानामिति दोष्णां विशेषणम् । कैलासेन विमानगतिनिरोधे जाते
तमुद्धर्तुमान्दोलितवान् रावण इति पुराणम् । तथा चैवंविधानामेतत्फलमनुचितमित्यतो
महिमा मिथ्येति मिथ्यात्वस्य विधेयत्वं विवक्षितम् । अत एव समासे गुणीभावेन तदनि-
र्वाहादविमृष्टविधेयांशत्वदोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘स्रस्तामिति । कुमार-
संभवे कामस्य हरं प्रत्यभियोगे सहायभूतां पार्वतीं ‘अवृश्यत स्यावरराजकन्या’ इति कुल-
कादिनोपक्रम्यैतत्पुनः । कथंभूता स्यावरराजकन्या । नितम्बात्स्रस्तां विगलितां केसरो बकु-
लस्तत्संबन्धिपुष्पमालारूपां काञ्चीं पुनःपुनर्वारंवारमवरोपयन्ती नितम्बे निवेशयन्ती । कामिव ।
स्मरेण न्यासीकृतां निक्षेपीकृतां कामुकसंबन्धिनीं द्वितीयमौर्वीमिव । अत्रैव किमिति न्यस्ता

अत्र द्वितीयत्वं मौर्व्यामुपेक्ष्य विधेयम् । तच्च समासे गुणीभूतम् । 'मौर्वी द्वितीया' इति पाठे तु निराबाधा प्रतीतिः । नन्वत्र काङ्क्षायां द्वितीयमौर्वीत्वं विशिष्टमेवोपेक्ष्यमतो नोक्तदोषावकाश इति चेत् । न । तथापि हि विशेषणां-
शस्य द्वितीयत्वस्य प्राधान्यम् । द्वितीयसन्नावे एकस्य न्यासीकरणौचित्यात् ।
मौर्वीत्वं तु तस्याप्रयोजकम् । अन्यस्यापि सद्वितीयस्य तदौचित्यादिति वस्तु-
विशेषपरिचायकतामात्रम् । तस्माद्विशिष्टविधावपि विशेषणमत्र प्राधान्येन वक्त-
व्यम् । अत एव 'आ कडारादेका संज्ञा' इत्यत्रैकत्वस्याप्राधान्यप्रसङ्गभयेन
समासो नाकारीति व्याख्यातारः । अन्यथा तत्राप्येकत्र संज्ञिन्युद्देश्ये एकत्व-
विशिष्टसंज्ञाविधाने दोषो न स्यात् ।

बहुव्रीहावेव तद्वितार्थगुणीभूतेऽन्यपदार्थे गुणीभावो यथा—

‘वैपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद्वालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥’

अत्र वरेषु मार्गणीयानां धर्माणां वैकल्यदर्शनप्रस्तावाज्जन्मन्यलक्ष्यत्वं विधि-
त्सितम् । तच्च समासे न्यग्भूतम् । ‘अलक्षिता जनिः’ इति पाठे तु पौर्वापर्य-
विपर्ययसत्त्वेऽपि समासनिबन्धनमप्राधान्यं निवर्तते ।

नञ्समासे यथा—

‘आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित-

संदाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।

दनेकरूपेणोपस्थितिरित्यर्थः । अयमेव चैकप्रसरताभङ्ग इत्युच्यते । यथा—‘वषट्कर्तुः
प्रथमभक्षः’ इत्यत्र प्राप्तभक्षानुवादेन प्राथम्यविधौ । तत्राप्येकार्थीभावभङ्गप्रसङ्गेन

नान्यत्रेत्यत आह—स्थानविदेति । आश्रयसाद्रूप्येन गुणप्रकर्ष इत्येतदेव स्थानं समर्पणयोग्य-
मिति जानतेत्यर्थः । अत्र न्यासीकरणौचित्येन पर्यवसानगत्या द्वितीयस्यैवोपेक्षणीयत्वात्तस्य
च समासे गुणीभावादविधेयत्वदोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘वपुरिति । तत्रैव बहुवेषधारिणः शिवस्य पार्वतीं प्रति वचनम् । मो बाल-
मृगाक्षि, वरेषु यद्रूपकुलधनादि समस्तं मृग्यतेऽन्विष्यते त्रिलोचने हरे तद्व्यस्तमेकै-
कमपि किमस्ति । अपि तु नेत्यर्थः । बालमृगाक्षीविसंबोधनेनैवंविधसौन्दर्य-
शालिन्यास्तव विरूपवरप्रार्थनमनुचितमिति व्यज्यते । एकैकस्याप्यभावं दर्शयति—
वपुरित्यादिना । विरूपाणि विपमाणि सोमसूर्यांश्चिरूपत्वाद्भीषणानि बाक्षीणि यस्य तथा-
भूतं वपुः । अलक्ष्यमर्ह्यं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता । अस्तीति शेषः । दिगम्ब-
रत्वेन नञ्तया वसु धनं निवेदितम् । कथितमित्यर्थः । अत्र जन्मनि विधित्सितम-
लक्ष्यत्वं समासे गुणीभूतम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘आनन्देति । विरक्तं
नायकं प्रति नायिकासखीनामियमुक्तिः । यस्मात्सखी भवता सर्वदैव क्षणमप्यमुक्ता न
त्यक्ता तस्या उदन्तो वार्ता तच्चिन्तापि तव संप्रत्यधुना तान्ति ग्लानिं तनोति ।
वैराग्यात् । अतोऽस्मान्निधिकृ । एवंविधसखीदुःखदर्शित्वादतिशोच्या वयमित्यर्थः । किंभूता

या सर्वदेव भवता तदुदन्तपिन्ता
तान्ति तनोति तव संप्रति विन्धिगंक्षान् ॥'

अत्रावान्तरवाक्येऽमुकेत्यनेन ।

'नैवजलधरः संनद्धोऽर्थ न इतिनिशाचरः

सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।

अयमपि पटुधारासारो न बाणपरम्परा

कनकनिकषस्त्रिधा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥'

इत्यत्रेव प्रसज्यप्रतिषेध एव विधेयो न तु—

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।

अगृह्णुराददे सौऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥'

इत्यत्रात्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मगोपनादिवदमुक्तानुवादेनाभ्यस्तिकविद्विधैवमस्ति ।
न च समासे नञः प्रसज्यप्रतिषेधोऽर्थः किंतु पर्युदास एव । तदुक्तम्—

'विधेर्यत्र प्रधानत्वं प्रतिषेधेऽप्रधानता ।

पर्युदासः स विधेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥' इति ।

कथं तर्हि 'अश्राद्धभोजी' इत्यादौ प्रसज्यप्रतिषेधलाभः । पर्युदासेनाक्षेपात् ।
ननु पर्युदासार्योऽभुक्तत्वमेव विधीयतां फलाविशेषादिति चेत् । भवैदं पर्युदासं यदि
तथा सति क्षणमपीत्यनेन संबन्धः स्यात् । स हि मुक्तत्वेनैव प्रतियोगिना

समासानुपपत्तेरुक्तवैरूप्यस्य च प्रसज्यादिति । विधेर्यत्रेति । यत्र विधेः कर्तव्य-
तायाः प्राधान्यं प्रतिषेधे निवर्तनारूपेऽप्रधानता अविवक्षा स पर्युदासः । सखी-
'मैक्षेतोऽद्यन्तं (आदित्यं)' इत्यादावनीक्षणसंकल्पकर्तव्यताप्राधान्यावीक्षणप्रतिषेधस्य
चाविवक्षणात् । एतत्क भवतीत्यपेक्षायामाह—यत्रेति । उत्तरपदेनेति स्वोत्तरना-
मधात्वन्यतरपदार्थेन । संबध्यत इति शेषः । आक्षेपादिति । श्राद्धं न भोक्ष्य

सखी । आनन्दस्य सिन्धुः समुद्रः । अतिचापलशालिनश्चित्तस्य संदाननं बन्धनं तस्यैकं
सदनं स्थानम् । तत्रैव चित्तस्य विश्रान्तिरिति । अत्रामुक्तेति पर्युदासप्रतीतिर्न तु विषे-
यस्य मुक्ता नेति प्रसज्यप्रतिषेधस्यैव विमृष्टविधेयांशत्वदोषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. 'प्रसज्यप्रतिषेधमुदाहृत्य दर्शयति—नवेति । विक्रमोर्वशीये विरहिणः पुरुरवस
इयमुक्तिः । अयं नैवो जलधरः संनद्धः कवची हस्तमुद्यतो वा इतिनिशाचरो न । भव-
तीति शेषः । इवमग्रेऽपि विशेषदर्शनेन पूर्वसंज्ञातमविषयनिषेधो नवो गम्यमानमव-
नक्रियान्वयाद्दृष्टव्यः । इदं सुरधनुरिदं दूराकृष्टं तस्य राक्षसस्य शरासनं न । 'नाम'
इति पाठे वितर्कं नास्ति । अयमपि पटुस्त्रीधौ धारासारो धारावर्षः बाणपरम्परा न ।
कनकस्य निकषः कण्ठरेखा तद्वस्त्रिधा वीतिमती विद्युत् । मम प्रियोर्वशी न भवतीत्यर्थः ।
कनिकु नञ्काका तत्तदारोपपर्यवसितानेव वाक्यार्थानाहुः इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

२. 'जुगोपेति । अगृह्णुराददे । असक्तोऽनासक्तः । शेषः स्पष्टम् । अत्रात्रस्तत्वाद्यनुवा-
देनात्मगोपनादिवदमुक्तानुवादेनाभ्यस्तिकविद्विधैवमस्ति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः

स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथवा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥'

अत्र भवस्य पत्नीत्यर्थे भवानीति सिद्धम् । तथा च भवपत्नीपतौ प्रतीयमाने भवातिरिक्तः स द्राक्प्रतीयते । नहि भव एवामिधेये भवपत्नीपतिरिति प्रयोगो योग्यः सचेतसाम् ।

कचित्समासैक्येऽपि समस्यमानपदयोर्द्व्यर्थतया । यथा—

‘गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।

सविधे निरहंकारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥’

अत्राम्बिकारमणपदयोगौरीप्रीतिकरत्ववन्मातृस्वामिस्त्वमप्यर्थः । दूषकताबीजं विवक्षितार्थतिरस्कारकार्योपस्थितिः । अतो यत्र विरुद्धोऽर्थो विवक्षित एव तत्रादोषत्वम् ।

क्लिष्टादिदोषविशेषेषु समासगतत्वनियमविधानाच्छ्रुतिकटुप्रभृतिष्वनियमोऽभ्यनुज्ञातः । तत्रासमासगतमुदाहृतमेव । समासगतेषु श्रुतिकटु यथा—

‘सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।

बहिर्निर्हादनाहोऽयं कालश्च समुपागतः ॥’

समासादैकपद्यम् । एवं च्युतसंस्कृत्यादयो द्रष्टव्याः ।

उक्तान्पददोषान्पदैकदेशे वाक्ये चातिदिशति—

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदसांशेऽपि केचन ॥ ४ ॥

पतेरत्रासे हेतुगर्भं विशेषणम्—भूतेत्यापि । भूतेषु यः करुणासंतानः कृपासमूहस्तेन शान्त आत्मा यस्य तथाभूतात् । मदान्धो यस्तारकासुरस्तस्य वधाद्विश्वस्य देवगणस्य दत्त उत्सवो येनेत्युत्कर्षगर्भं विशेषणम् । स्कन्द इव प्रिय इत्यनेन धनुर्भङ्गोपेक्षासंभावनाविरहसूचनम् । अहमित्यनेन क्षत्रियकुलान्तकत्वसंक्रमितवाच्येन धनुर्भङ्गकर्तुः साहसकारित्वातिशयो व्यज्यते । अत्र भवानीपतेरिति विरुद्धमतिकृतम् । भवस्त्रीपतिरित्यर्थेकादसात्पत्यन्तरप्रतीतेः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘गोरपीति । सोऽम्बिकाया रमणो महेशो वो युष्मान्पायादित्यन्वयः । स कः, यद्वाहनतां प्राप्तवतो गोरुषस्यापि सविधे निकटे सोऽप्यतिक्रूरतया प्रसिद्धोऽपि गिरिसुतायाः पार्वत्याः सिंहो निरहंकारः सौम्यः । भवतीति शेषः । अत्राम्बिकाया मातृ रमण इति विरुद्धं प्रतीयते । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २ ‘सेति । विरहिणो रामस्यैवमुक्तिः । सुधायाः सान्द्रास्तरङ्गाः सुधासान्द्रतरङ्गाः सुधासान्द्रतरङ्गाः संजाता ययोस्ते सुधासान्द्रतरङ्गिते तथाविधे विलोचने यस्याः सा सीता दूरे । स्थितेति शेषः । अयं बहिर्णां मयूराणां यन्निर्हादनमव्यक्तशब्दस्तदर्थस्तथोग्यः कालो घनसमय एव कालोऽन्तकश्च समुपागत इत्यन्वयः । अत्र समासगतं श्रुतिकटुत्वम् । एवमितरेषामपि समासगतत्वं बोध्यम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

च्युतसंस्कारेत्यादिर्भाषाधानो निर्देशः । एते श्रुतिकट्टादिपदप्रवृत्तिनिमित्त-
भूताः । श्रुतिकट्टत्वादय इत्यर्थः । अत्र यत्र पदान्तरसाहित्येन पदानां दुष्टत्वं
स वाक्यदोषः । न चासाध्वसमर्थनिरर्थकानां दुष्टत्वे पदान्तरसाहित्यापेक्षेति
तन्नितयोपासनमिति संप्रदायः । तदसत् । 'सोऽध्यैष्ट—' इत्यादिश्रुतिकट्टो-
दुष्टत्वे पदान्तरसाहित्यस्यानपेक्षणीयतया तदुदाहरणविरोधात् । न च तत्रापि
तथैवेति वाच्यम् । परुषवर्णारब्धत्वस्य स्वत एव सत्त्वात् । तथात्वेऽपि वा 'स
पातु वो दुश्चयवनः' इत्याद्यप्रयुक्ताद्युदाहरणाव्याप्तिः । न हि तत्रापि दुष्टत्वे पदा-
न्तरापेक्षेति वक्तुमपि शक्यते । किं चावाचकमप्यसमर्थसमानशीलं किमिति
नापास्तमिति सर्वव्याख्यानेषु विनिगमकं वक्तव्यमिति ।

अत्र ब्रूमः—विवक्षितधर्मिप्रत्यायकशब्दवृत्तित्वे सति । नानापदवृत्तित्वमे-
वात्र वाक्यवृत्तित्वमभिप्रेतम् । 'न्यङ्कारो ह्ययमेव—' इत्यत्रापि नाव्याप्तिः ।
उद्देश्यविधेयाभिधायकयोर्द्वयोरपि दुष्टत्वात् । अत एवाविमृष्टविधेयांशमित्यत्रां-
शपदोपादानम् । 'योऽसौ सुभगे तवागतः' इत्युदाहरणे प्रकाशे स्फुटमेतत् ।
एवं च युक्तं च्युतसंस्कृत्यादिव्युदसनम् । न चासमर्थसहोदरस्यावाचकस्यापि
व्युदासो युक्तः । तेनापि केनचिद्विवक्षितधर्मिज्ञापनात् । यथोदाहृतेन जन्तु-
पदेन । व्युदस्तेषु पुनर्न कोऽपि प्रमेदो विवक्षितधर्मिप्रतिपादक इति ।

तत्र श्रुतिकट्टवाक्यगतं यथा—

'सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनताप्सीत्सममंस्त बन्धून् ।

व्यजेष्ट पङ्क्तिर्मरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरीश्व ॥'

व्यक्तम् ।

न च तत्रापीति । सोऽध्यैष्टेत्यादावपि वाक्यस्य श्रुतिकट्टत्वं पदमात्रगतात्तस्माद-
न्यदतः सापेक्षमेवेत्याशङ्क्याह—तथापीति । नहीति । अप्रयुक्तत्वस्य पदमा-
त्रधर्मवदिति भावः । ननु वाक्येऽप्यप्रयुक्तत्वादस्त्येवेति वादिनं प्रत्याह—
किंचेति । सर्वव्याख्यानेषु दर्शितप्रकारेषु । विवक्षितेति । अत्र विवक्षितधर्मि-
प्रत्यायकनानापदवृत्तित्वोक्तौ वाक्यनिष्ठावाचकत्वे 'प्राभ्रभ्राड्-' इत्यादावसंभवः ।
सर्वेषां पदानां विवक्षितधर्मिप्रत्यायकत्वाभावात् । अतः पृथक्सत्यन्तम् । तादृश-
किंचिच्छब्दगतत्वाच्च न दोषः । च्युतसंस्कृत्यादित्रयं तु न तथेति तदपासनम् ।

१. 'च्युतसंस्कृत्यसमर्थनिरर्थकानपास्योक्तदोषान्वाक्यगतत्वेनोदाहरति—सोऽध्यैष्टेति ।
भट्टिकाव्यगतमिदं पद्यम् । स राजा दशरथो वेदानध्यैष्टापीतवान् । त्रिदशान्देवानयष्टा-
पूजयत् । पितृनताप्सीदतर्पयत् । 'अपारीद' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । 'पृ तर्पणे' इति
धात्वनुसारात् । बन्धून्सममंस्त संमानितवान् । पङ्क्तिं कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणां
षण्णां वर्गं समुदायं व्यजेष्ट विजितवान् । नीतावरंस्त रेमे । अरीन्समूलघातं न्यवधीच ।
समूलं हतवानित्यर्थः । अत्रानेकपदगतत्वेन श्रुतिकट्टत्वस्य वाक्यदोषत्वम् । एवमन्येषामपि ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अप्रयुक्तं यथा—

‘स रातु वो दुश्चयवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च यतु दोषैरसंमतान् ॥’

अत्र दुश्चयवनशब्द इन्द्रे, अनेडमूकशब्दश्चैडमूकेऽप्रयुक्तः ।

निहतार्थं यथा—

‘सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपते; ।
अञ्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः ॥’

अत्र सायकशब्दः खड्गे, मकरध्वजशब्दः समुद्रे, क्षमाशब्दो भूमौ, अञ्ज-
शब्दश्चन्द्रे, श्लोकशब्दो यशसि च प्रयुक्तः । न चैतेषामेतेषु प्रसिद्धिभूयस्त्वम् ।
अतः प्रसिद्धैः शरमदनक्षान्तिपद्मपद्मैरर्थैर्निहतार्थाः ।

अनुचितार्थं यथा—

‘कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नृप्रास्तव विभो ।
शरज्योत्स्नाकान्तस्फुटविकटसर्वाङ्गमुभया
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥’

अत्र कुविन्द इति तन्तुवायं, पटयसीति पटं करोषीति, गुणेति तन्तुं नमेति
वस्त्रहीनं, यश इत्यकारप्रश्लेषादयशः, विगताच्छादनमित्यवसनमित्यर्थानुपश्लो-
क्यमानापकर्षद्योतकतयानुचिताप्रकाशयन्ति ।

१. ‘स रात्विति । स प्रसिद्धो दुश्चयवन इन्द्रे वो युष्माकं भावुकानां मङ्गलानां
परम्पराम् । रातु इवातु । च परमसंमतमञ्जवननेडमूकताद्यैर्मूकधिरताद्यैर्दोषैः कर्णभूतै-
र्यतु खण्डयतु । नाशयत्वित्यर्थः । ‘अनेडमूक उद्दिष्टः शठे वाक्छुतिवर्जिते’ इति
मेदिनी । अत्र दुश्चयवनानेडमूकशब्दावप्रयुक्तौ ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘साय-
केति । हे अवनिप राजन्, ते तव श्लोको यशोऽञ्जस्य चन्द्रस्य रुचिर्भास्वरो
भातितरां शोभतेतरामित्यन्वयः । कीदृशस्य, सायकः खड्गः सहायो यस्य तथाविधो
बाहुर्यस्य तथाविधस्य । मकरध्वजेन समुद्रेण नियमिता परिच्छिन्ना या क्षमा भूमिस्तावत्
अधिपतेः । सार्वभौमस्येत्यर्थः । अत्र सायकमकरध्वजक्षमाञ्जश्लोकशब्दनां शरमदनक्षान्-
तिपद्मपद्मेषु प्रसिद्धिबाहुल्यात्प्रकृतार्थतिरोधानम् । ‘सायकः शरखड्गयोः’ इति शिवाः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिका संक्षेपः. ३. कुविन्द इति । राजानं प्रति कवेरुक्तिः । हे विभो, त्वं
तावत्कुविन्दः । कुं पृथ्वीं विन्दति लभते इति कुविन्दः । लब्धपृथ्वीकृत इत्यर्थः । अभितः
ससन्ताडुष्णानां शौर्यादीनां ग्रामं समूहं प्रद्वयसि पट्टवहरोपि । ख्यप्रयसीति शानम् । अल-
प्रसूते नष्टा बन्दिनो दिशि दिशि तव यशो गायन्ति । तद्वाक्येर्वर्जिते वैभवे सात्यपि त्वत्कीर्ति-
र्भ्रमति इह लोके विगताच्छादनमभ्रमणं यत्र तथा भ्रमतीति न्यायस्त्युक्तिः । कुकूपप्र-
दुपेक्षयासङ्गुप परिहरति—शरमिति । शरज्योत्स्नाकान्तस्फुटानि वृष्टयानि विक-
टानि सुन्दराणि ग्रामि सर्वाङ्गाणि तैः सुभक्ता । सुन्दरीत्यर्थः । अत्र कुविन्दस्तन्तुवा-
यस्त्वं गुणग्रामं तन्तुसमूहमभितः सव्यापसव्यतुरीचालनेन पटयसि पटं करोषि । अञ्ज-

अवाचकं यथा—

‘प्राञ्जराद्विष्णुधामाप्सविषमाश्वः कसेत्यम् ।

निद्रां सहस्रपर्णीनां पलायनपरायणाम् ॥’

अत्रे आजत इत्यञ्जराद् जलदः । प्रकृष्टोऽञ्जराद् यत्र तद्विष्णुधामेत्यस्य विशेषणम् । अत्र प्राञ्जरादिति प्रकृष्टजलदे, विष्णुधामेति विष्णुपदे, विषममाश्व इति सप्ताश्वे, निद्रेति संकोचे सहस्रपर्णेति सहस्रदले प्रकृष्टजलदत्वादिना प्रका-
रेणावाचकानि कानिचिच्चात्र धर्मिणि शक्तान्येवेति यथोक्तवाक्यद्वयोपत्वम् ।

अश्लीलेषु व्रीडादायि यथा—

‘भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना कामलोचना ।

तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमाकुचे ॥’

अत्रोपसर्पन्तीति सुरतारम्भं, प्रहरणेति ताडनविशेषं, मोहनमिति निषुवनं चार्थान्तरप्रतिपादयद्व्रीडादायि ।

जुगुप्सादायि यथा—

‘तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गं च भुञ्जते ।

इतरार्थग्रहं येषां कवीनां स्यात्प्रवर्तनम् ॥’

अत्र वान्तोत्सर्गशब्दौ छर्दितपुरीषार्थतया, प्रवर्तनमिति पुरीषत्वात्तार्थान्तर-
त्वम् जुगुप्सां प्रकच्छन्ति ।

एडमूको वाक्श्रुतिहीनः । शक्तान्येवेति । विष्णुस्थानत्वरूपयोगे नाकाशवाचकं

एव त्वत्तो लब्धवस्त्वा एतै नम्रा वस्त्रहीना दिशि दिशि तव यशो गायन्ति तथाप्यैवं
वस्त्रसमृद्धावपि त्वत्कीर्तिरूपा स्त्री विंगताच्छादनं वस्त्ररहितं अमतीत्यर्थान्तरं स्तूयमानस्य
राज्ञोऽपकर्षगमकं प्रतीयत इत्यनुवितार्थत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘प्राञ्जरेति । अश्वं विषमाश्वो विषमसंख्या अश्वो यस्य सः सप्ताश्वः । सूर्य इति यावत् ।
विष्णुधाम विष्णुपदमाकाशमाश्व प्राप्य सहस्रं पर्णानि पञ्चानि येषां तेषां कामलोचनां निद्रां
संकोचं पलायनतत्परां करोति । पञ्चानि विक्रासयतीत्यर्थः । कीदृशं विष्णुधाम, अत्रे
आजत इत्यञ्जराद् जलदः प्रकृष्टोऽञ्जराश्च तथाभूतम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘भूपतेरिति । कम्पना सेना उपसर्पन्त्यागच्छन्ती कामं भुक्नुतीविषमं लोचनं
यस्मास्तादृशी । तत्तत्प्रहरणैः शस्त्रैस्ताडयती च मोहनं व्याकुलीभावमर्थाच्छत्रूणामादये
शकार । अत्र रमणायोगच्छन्ती कम्पयुता सुन्दरलोचना तत्तत्प्रहरणैः कामशास्त्रो-
दितजम्बनादिताडनैस्ताडयती मोहनं सुरतमादवावित्यर्थान्तरं व्रीडाजनकं प्रतीयते ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘तेऽन्यैरिति । येषां कवीनामितरार्थग्रहे इतरनिबद्धार्थग्रहे
प्रवर्तनं प्रवृत्तिः स्यात्तेऽन्यैर्वान्तं छर्दितं समश्नन्ति भक्षयन्ति परोत्सर्गं पुरीषं च
भुञ्जते इत्यन्वयः । अत्र प्रवर्तनशब्दः पुरीषोत्सर्गरूपमर्थान्तरं जुगुप्सितं व्यजयति ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अमङ्गलार्थं यथा—

‘पितृवसतिमहं ब्रजामि तां सह परिवारगणेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥’

अत्र पितृगृहं पावने वंश इति च विवक्षिते पितृवसतिपावकान्वयशब्दौ
श्मशानवह्निसंबन्धरूपामङ्गलार्थान्तरौ ।

संदिग्धं यथा—

‘सुरालयोद्धासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्वृत्तिरेष विलोक्यताम् ॥’

अत्र सुरालयेति देवगृहमदिरामन्दिरयोः प्राप्तपर्याप्तकम्पन इति प्राप्तसैन्य-
त्वप्राप्तकम्पत्वयोरुपस्थापकम् । एवमग्रेऽपि ।

अप्रतीतं यथा—

‘तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥’

१. ‘पितृवसतिमिति । शोकपीडितायाः कस्याश्चिदिवमुक्तिः । अहं परिवारजनेन
सह तां पितृवसतिं गृहं ब्रजामि गच्छामि । यत्र पितृवसतौ पावकान्वये पवित्रे
वंशे पावकानां पावित्र्यकारकाणां पित्रादीनामन्वये संबन्धे सतीति वा । हृदयं न
शेषितं शोकरूपं शल्यकं कुत्सितं शल्यं यस्य तथाभूतं सपदि तत्कालं भवतीत्यन्वयः ।
पितृवसतिपावकान्वयशब्दौ श्मशानवह्निसंबन्धरूपामङ्गलार्थगमकौ ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः.

२. ‘सुरेति । सुरालयो देवगृहं मदिरामन्दिरं वा । तत्रोद्धासो हर्षस्तत्परः ।
प्राप्ता पर्याप्ता पूर्णा कम्पना सेना येन । प्राप्तं पर्याप्तं बहु कम्पनं वा येन
सः । मार्गणा बाणाः । मार्गणं याचनं वा । तत्र प्रवणो रतः । भास्वन्ती उज्ज्वला भूतिः
समृद्धिर्भस्वा वा यस्य पूर्वभूत एष राजा जनो वा विलोक्यतामिति संदेहः ।’ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘तस्येति । कस्यचित्सखायं प्रति मित्रवृत्तान्तोक्तिरियम् । हे सखे,
तस्यासन्मित्रस्य स नायिकाविशेषसंगमविषयको यत्नः प्रियस्य तन्नायिकासंगमस्य प्राप्तौ
सत्यां फलितः । किंभूतस्य । अधिका मात्रा प्रमाणं यस्य तथाविध उपायो दृष्टीसं-
प्रेषणादिर्यस्य तथाभूतस्य । तथा तीव्रः संवेगस्त्वेव यस्य स तथा तत्ताजुषः । कीदृशो
यत्नः । दृढभूमिर्दृढा स्थिरा प्रतिबन्धकानपनेया भूमिविषयः संगमरूपो यस्य स
इति प्रकृतोऽर्थः । इतरस्तु—हे सखे, तस्य पुरुषस्य स चित्तैकाग्रतासितिविषयको
यत्नः प्रियस्वात्मसाक्षात्कारस्य प्राप्तौ सत्यां फलितो मोक्षरूपफलभाग्जातः । फलप्राप्तौ
हेतुगर्भं विशेषणद्वयमाह—अधिमात्रेति । अधिमात्रं प्राग्भवीयसंस्कारादृष्टवशादुत्कट
उपायः श्रद्धादिर्यस्य सः । तथा तीव्रः परमः संवेगो वैराग्यं यस्य स तथा तत्ताजुषः ।
तदुक्तं पातञ्जलभाष्यव्याख्यायां वाचस्पतिमिश्रैः—‘उपायाः श्रद्धादयो मृदुमध्याधिमात्राः
प्राग्भवीयसंस्कारादृष्टवशाद्येषां ते तयोक्ताः । संवेगो वैराग्यम् । तस्यापि मृदुमध्यादी-
नां प्राग्भवीयवासनादृष्टवशादेव’ इति । श्रद्धादयश्च ‘श्रद्धावीर्यसृष्टिसमाधिप्रज्ञापूर्वक
इतरेषाम्’ इति सूत्रोक्ता वेदितव्याः । एवं च मृदुमध्याधिमात्रोपायानां त्रयाणां प्रत्येकं

अधिमात्रो दृढज्ञानवानुपायो यमादिर्यस्य । तीव्रः परमः संवेगो वैराग्यं यस्य
तत्तायुक्तस्य । दृढभूमिर्दृढसंस्कारः । मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपायश्चेति
त्रिविधा अपि योगिनः प्रत्येकं मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्चेति त्रिविधः ।
अत्राधिमात्रादयः शब्दा योगशास्त्रमात्रप्रसिद्धाः ।

ग्राम्यं यथा—

‘ताम्बूलभृतगह्वोऽयं भलं जल्पति मानुषः ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥’

अत्र गह्वभलमानुषखादनपानशब्दा ग्राम्याः ।

नेयार्थं यथा—

‘वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।

निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय सांप्रतम् ॥’

अत्र वस्त्रवैदूर्यशब्देनाम्बरमणोर्विवक्षितत्वाद्वस्त्रशब्देन गगनं विवक्षितम् ।
न चास्य तत्र शक्तिरिति वाचकत्वलक्षणेन शक्यसंबन्धेनाम्बरपदं लक्षयति ।
तस्माच्च गगनप्रतीतिः । यद्वा स्ववाचकवाच्यत्वलक्षणशक्यसंबन्धेन गगनमेव
लक्षयतीति लक्षितलक्षणा लक्षणा वेति वस्तुगतिः । एवं वैदूर्यस्य मणौ चर-

विष्णुधामेति तथा प्राञ्ज्राडिल्यपियोगेन । तथा विषमाश्च इति चेत्यर्थः । लक्षित-

मृदुमध्यतीव्रसंवेगैस्त्रिभिर्भेदैर्नव योगिभेदा भवन्तीति । एवं च ‘तीव्रसंवेगानामासत्रे’
इति सूत्रात्फलप्राप्तिर्युक्तेति भावः । कीदृग्यलः । दृढभूमिः दीर्घकालादनैरन्तर्यसत्का-
रवत्तया दृढा व्युत्थानसंस्कारैरनभिभूता भूमिर्विषयश्चित्काग्रतास्थितिरूपो यस्य सः ।
व्युत्थानं च चित्तस्य समाधिश्च्युतयावस्थानमिति । अत्र च ‘भद्रात्मनः’ इत्यादिवत्प्र-
कृतनायकस्य योगिनिरूपितोपमा व्यज्यते । तत्राधिमात्रादिशब्दा योगशास्त्रमात्रप्र-
सिद्धाः । अत्राधिमात्रादिशब्दानां योगशास्त्रमात्रप्रसिद्धत्वेनाप्रतीतत्वं दोषः । इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘ताम्बूलेति । ताम्बूलेन भृतः पूर्णो गह्वः कपोलो यस्य सोऽयं मानुषः सदैव
यथा खादनं भक्षणं पानं च करोति तथा तु तथैव भलं समीचीनं जल्पति । वदती-
त्यर्थः । नैसर्गिकत्वं चात्र साधर्म्यम् । अत्र गह्वदिशब्दा ग्राम्याः ।’ इत्युदाहरणच-
न्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘वस्त्रेति । सर्वा विबोधयन्त्याः कस्याश्चिदुक्तिः । हे सखि, वस्त्रमम्बरमा-
काशं तस्य वैदूर्यमणिः सूर्यस्तस्य चरणैः पादैः किरणैर्निष्कम्पा निखला भूमिः क्षतं नि-
रस्तं सत्त्वरजोभ्यां परं तमो यस्यास्तथाभूता कृता । सांप्रतमधुना नेत्रयोर्युद्धं द्वन्द्वं वेदय
बोधय । उदाटयेत्यर्थः । अत्र वस्त्रादिशब्दानां स्ववाचकाम्बरादिपदवाच्यत्वरूपशक्य-
संबन्धेनाकाशादिषु लक्षणारूढिप्रयोजनान्यतराभावात्त्रिषिद्धेति । जयवा स्वशक्यवाचकत्व-
संबन्धेनाम्बरादिपदं लक्षयते । तेन च गगनप्रतीतिः । द्विरेफपदलक्षितेन अमरपदेनेव
अमरस्य ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

श्लेषस्य आदे सत्त्वजः प्ररेत्यस्य तमसि शिक्कम्प्रेत्यस्य चान्द्रहायां भूमौ युद्धमित्यस्य
हृन्दे भेदयेत्यस्य शोभने लक्षणैव । न च तद्दीजं रुद्धिः प्रशोजनं वेति नेमाश्रयत्वम् ॥

छिष्टं यथा—

‘धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।

रज्यस्य पूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥’

अत्र कुरङ्गशावाक्ष्या धम्मिल्लस्य शोभां श्रेष्ठ्य ऋस्य स्नानसं न रज्यतीति संबन्धे
प्रतीतिव्यवधानम् ।

अविमृष्टविधेयांशं यथा—

‘न्यकारो ह्ययमेव मे यदस्यस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

१. ‘धम्मिल्लस्येति । कुरङ्गशावाक्ष्या धम्मिल्लस्य केशपाशस्य शोभां प्रेक्ष्य अपूर्वा
अद्भुता या बन्धे व्युत्पत्तिः कौशलं बन्धस्य व्युत्पत्ती रचना वा तस्या हेतोः
कस्य मानसं न रज्यति दृश्यतीत्यन्वयः । अपूर्वा बन्धव्युत्पत्तिर्यस्येति धम्मिल्ल-
विशेषणं वा । अपूर्वबन्धेऽर्थाद्धम्मिल्लस्य व्युत्पत्तिर्निपुणता यस्या इति नायिकावि-
शेषणं वा । अत्रानासन्नतया छिष्टत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘न्यकार
इति । रामेण राक्षसक्षये क्रियमाणे क्षुब्धान्तःकरणस्य रावणस्य स्वाधिक्षेपोक्ति-
रियम् । अरयो यत् । सन्तीति शेषः । अयमेव मे न्यकारो निन्दा । अन्येषां परामवा-
दिमैव पुनर्वशीकृतजगत्रयस्यारिसत्त्वमेव न्यकार इत्यर्थः । बहुवचनेनैतावत्कालमेकोऽपि
रिपुर्नादीत्सांप्रतमकस्माद्भवो जाता इति न्यकारातिशयो ध्वन्यते । तत्रापि तेष्वरिषु
मध्येऽसौ रामस्तापसः । मुख्य इति शेषः । तापसत्वेन निर्वार्यत्वं शस्त्रानभिज्ञत्वं च सू-
च्यते । तथा च त्रपस्त्रिसहस्रभक्षकस्य समैकस्तप्रस्त्री रिपुरित्यत्यन्तमेव न्यकार इति
भावः । सोऽपि तापसोऽप्यत्रैव मत्समीप एव राक्षसकुलं निहन्ति न तु बालवृद्धलीप्सेक-
मपि त्यजतीति न्यकारातिशयः । अहो आश्चर्यम् । एवं सत्यपि रावणो जीवति । अथवा
अहो इति खेदे । रावणो जीवति काका न जीवतीत्यर्थः । शकजितं धिग्धिक् । की-
प्सया निन्दातिशयः । प्रबोधितवतीति गिजन्ताद्भावे क्तः । ततो मतुप् । प्रबोधनकर्मभूते-
नेत्यर्थः । एवंविधेन कुम्भकर्णेन किम् । प्रयोजनमिति शेषः । एवं स्वर्गं एव ग्रामटिका
क्षुद्रग्रामस्तद्विजुगठनेन वृथोच्छ्रूनेवृथा पुष्टैरेभिर्भुजैर्विशितसंख्यैः किं प्रयोजनम् । न किमपी-
त्यर्थः । भुजैरिति बहुवचनेन बहुभिरपि भुजैर्दिसुजं शङ्खं प्रति प्रतीकाराक्षमतया न्य-
कारो व्यज्यते । अत्र च किंपदेन भुजत्रैयर्थ्यं वृथापदेन च तदुच्छ्रान्तत्ववैयर्थ्यमुक्तमिति
न पौनरुक्त्यम् । वृथात्वस्य पूर्वमसिद्धत्वादानुवादासंगतिः वृथोच्छ्रान्ततया तैफल्यसौचित्यतया
तत्त्वात्तदभिधानसंगतिश्च वृत्तिकृतैव दर्शितेति । अवयवप्रदस्यकारपदयोस्तेष्वभिधेयार्थकत्वेन
विवक्षितयोः प्रौढांपर्यविपर्ययो कोष्ठः । ‘सच्छब्दस्योयः प्राप्तस्य’ इत्याद्येतेन लक्षणम् । तथा
‘अनुवाचमनुत्वेन नाभिधेयस्य स्वीयेत’ इत्यादिवद्वचनेन तयोः पौर्वापर्यस्य नियतित्वात् ॥’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

धिग्धिक्कृजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

अत्र प्राप्तमरिसत्त्वमयमित्यनूद्याप्राप्तं न्यक्कारत्वं विधीयते । अतोऽयमेव न्यक्कार इति वाच्यम् । 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव नाभिधेयमुदीरयेत्' इति वृद्धवचनात् । अन्यथा तु वैपरीत्येन विलम्बेन वा तथाभावः प्रतीयेत । अयं न्यक्कार इत्युभयोः पदयोर्दुष्टत्वाद्वाक्यदोषत्वम् । अतएव समासगतमेव दुष्टं पदमित्युक्तम् । अपि चात्र वृथोच्छूनैरित्यसंगतम् । उच्छूनत्वमात्रस्यैवानुवादौचित्यात् । न तु वृथात्वविशेषितस्य । किमेभिरित्यनेन वृथात्वस्यैव विधेयत्वात् । अर्थभेदोपगमेऽपि किमेभिरिति वैफल्यभिधानविरोधात् वृथोच्छूनस्य तदौचित्यात् । ननु न्यक्कारोऽयमित्यत्र वैपरीत्येन विधेयत्वप्रत्ययादर्थदोष एवायं स्यादिति चेत्, न खल्वत्र विवक्षितोऽर्थो दुष्टः । किं तु क्रमविशेषादविवक्षितार्थप्रत्यय एवेति शब्दविशेष एवापराध्यति । शब्दान्तरेण तत्प्रतीतेरवैकल्यात् । यथा विरुद्धमतिकृति ।

न केवलं विधेयस्योपसर्जनत्वव्युत्क्रमत्वाभ्यामेवायं वाक्यदोषः । किं तु विधेयानुपस्थित्यापि । यथा—

‘अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दशोर्भुवोररालान्तविलासवेल्लितम् ।

विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ॥’

लक्षणेति । लक्षितेनाम्बरपदेन गगनबोधनादित्यर्थः । अर्थभेदोपगमेऽपीति । उच्छूनतायाः क्षुद्रस्वर्गलुण्ठनं न फलमिति वैयर्थ्यमन्यत्, भुजवैफल्यं तु स्वपराजयदर्शनादन्यदिति भेदाङ्गीकारेऽपीत्यर्थः । एवं चाप्रयुक्तानुवादत्वरूपोऽर्थदोषोऽपि

१. ‘अपाङ्गेति । नायकागमनोत्सवं निवेदयन्त्याः सख्या इत्युक्तिः । तवेत्यस्य षष्ठ्यन्तत्रयेऽप्यन्वयः । हे सुभगे, यो नायकस्तव दृशोरपाङ्गसंसर्गि नेत्रान्तसंबद्धं तरङ्गितं चालनं तथा भुवोरराले कुटिलेऽन्ते विलासेन वेल्लितं नर्तनं एवं च तनोर्विसारि सर्वाङ्गव्यापि रोमाञ्चनमेव कञ्चुकं च तनोति । यस्मिन्दृष्टे तवैवं भवतीत्यर्थः । असौ नायक आगत इत्यन्वयः । अत्र यस्तनोत्यसावागत इति यच्छब्दार्थानुवादेन तदर्थपरामर्शकतया असावित्यस्य विधेयसमर्पकत्वमभिप्रेतं न संभवति । यच्छब्दसंनिध्येन प्रयुज्यमानस्यादसादेर्यच्छब्दार्थगतप्रसिद्धिवोधकतवानुवाचकोटिप्रविष्टार्थकत्वात् । एवं च यच्छब्दः स्वार्थपरामर्शकतच्छब्दाद्यभावात्साक्षाद् एवावतिष्ठते । तदाहुः—‘यत्तदोनित्यमभिसंबन्धः’ इति । स चायमुपात्तयोः स्पष्ट एव । अनुपादानं तु त्रिप्रकारम्—यच्छब्दस्यैव तच्छब्दस्यैवोभयोरिति । तत्र यच्छब्दानुपादानेऽपि प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थकेन तच्छब्देन यच्छब्दाक्षेपास्तंबन्धः । कचिच्चानुपात्तस्य तच्छब्दस्य यच्छब्देनोत्तरवाक्यगतेनाक्षेपात् । कचिदर्थसामर्थ्यादुभयोरप्यनुपात्तयोरक्षेपादिति । तदेतत्तत्र तत्रोदाहरणे स्फुटीकरिष्यते । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः

अत्र योऽसाविति पदद्वयमुद्देश्यविधेयार्थकतया विवक्षितम् । उद्देश्यवाचिनो यच्छब्दस्य स्वार्थपरामर्शकतच्छब्दापेक्षितत्वात् । न चैतत्तत्प्रतिपादकम् । यच्छब्दसंनिध्येनादसादीनां प्रसिद्धपरामर्शकत्वात् । ननु केवलयोरपि यत्तदोः प्रयोगदर्शनात्सापेक्षत्वमेवानयोरसिद्धम् । उच्यते—अनयोः परस्परार्थापेक्षार्थकत्वं न्नियतमेव । एतदेवोच्यते ‘यत्तदोर्नित्यसंबन्धः’ इति । स चाभिसंबन्धः शाब्दआर्थो वा । तत्र द्वयोरुपादाने शाब्दः । यथा ‘स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः’ इति । एकस्य द्वयोरपि वानुपादाने त्वार्थः । अनुपात्तस्यापि सामर्थ्यादेवाक्षेपात् ।

तत्र तच्छब्देन यच्छब्दाक्षेपः प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थकेन । यथा—

‘कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।

अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥

अत्र स इति प्रक्रान्तं राजानमाह ।

‘द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥’

अत्र सेति प्रसिद्धा ।

‘उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता

ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।

दर्शितः । अत्रेति । उद्देश्यविधेयबोधानुकूलतयामिप्रेतमित्यर्थः । अनुवायधर्मवत्तया यच्छब्दोपस्थितं तच्छब्देन परामृश्यमिह विधेयं बोध्यते । तच्छब्दस्य च तच्छब्दार्थकैत्यर्थः । यथा—‘यो रक्तवासास्तमानय’ इत्यादाविति भावः । यच्छब्दसंनिध्येनेति । यच्छब्दानन्तरत्वेनेत्यर्थः । तथा च यः प्रसिद्ध इत्युद्देश्यस्यैव

१. ‘कातर्यमिति । रघुवंशे राजोऽतिथेर्वर्णनम् । कातर्यं कातरता । केवला शौर्यहीना । केवलेति लिङ्गविपरिणामेन शौर्यमित्यनेनापि संबध्यते । सिद्धिमर्थात्कार्यस्य । उभाभ्यां नीतिशौर्याभ्यामन्वियेषान्विष्टवान् । स प्रक्रान्तो राजा । ‘चापलचेष्टितम्’ इति पाठे चापलं चपलता तत्प्रयुक्तं चेष्टितमित्यर्थः । अत्र प्रक्रान्तार्थकेन तच्छब्देन यच्छब्दाक्षेपादन्वयबोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘द्वयमिति । कुमारसंभवे बहुवेषेण पार्वतीं छलयतो महादेवस्योक्तिरियम् । कपालिनः कपालधारिणः शिवस्य समागमप्रार्थनया हेतुभूतया संप्रति तथैवं निश्चये सति द्वयं शोचनीयतां गतं प्राप्तम् । पूर्वं त्वेकैव चन्द्रकला शोच्यासीदित्यर्थः । कलावतश्चन्द्रस्य सा प्रसिद्धा कला अस्य लोकस्य नेत्रकौमुदी आह्लादकतया नेत्रयोश्चन्द्रिकारूपा त्वं चेत्यन्वयः । अत्र गतमिति भूतनिर्देशेनावश्यभाव्यत्वं सूच्यते । कपालिनो नेत्रकौमुदीत्वेताभ्यां च शोचनीयत्वस्य युक्तता ध्वन्यते । अत्र प्रसिद्धार्थकेन तच्छब्देन यच्छब्दाक्षेपादन्वयबोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. उत्कम्पिनीति । स्खावल्यां वासवदत्तां (सागरिकां) दग्धां संभाव्य तामनुध्याय शोचतो वत्सराजस्योक्तिरियम् । हे प्रिये, क्रूरेण दहनेन दारुणतया त्वं सहसैवाकस्मादग्धा

क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमाश्रितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥'

अत्र ते इत्यनुभूते । त्रिष्वप्येतेषु यच्छब्दोपादानं नावश्यापेक्षणीयम् । तदभावेऽप्याक्षेपादेव यः पूर्वोक्तगुणवान्, या प्रसिद्धा, ये अनुभूते इति च प्रत्ययाविधातात् । यच्छब्दस्तुत्तरवाक्यगत एव सर्वत्र तच्छब्दाक्षेपसमर्थः । यथा—

‘साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥’

यथा च मम—

‘मातर्भारति वत्सवत्सलतया किं नाम नाचर्यते
मित्राणि स्थिरताविवेकविनयाः कार्यं सुहृत्प्रार्थितम् ।
इत्यालोच्य विमुच्य मामिह मनागन्तर्हितं स्वीयतां
यावत्त्वादृशविप्रयोगसुलभा लक्ष्मीर्मया लभ्यते ॥’

पूर्ववाक्यगतस्तु तदाक्षेपासमर्थतया तदुपादानमेवापेक्षते । यथात्रोदाहरणे पूर्वार्धपादयोर्व्यत्यासे ।

ननु पूर्ववाक्यगतोऽप्ययं तदाक्षेपसमर्थः । यथा ‘तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैः’ इत्यादाविति चेत् । सत्यम् । समर्थो न तु सर्वत्र । किं तु यदीत्येतावद्रूपस्य-

समर्पकत्वान्न विधेयसमर्पकतेत्यर्थः । मातरिति । हे मातर्भारति, वत्से शिक्षो या वत्सलता स्नेहवत्त्वं तया किं नाम नाचर्यते किं त्वकार्यमपि क्रियत इत्यालोच्य विचार्य, तथा भो मित्राणि सुहृदः स्थिरताविवेकविनयाः, सुहृदा प्रार्थितं कर्तव्यमित्यालोच्य इह राजसभायां मां विमुच्य मनागन्तर्हितं यथा तथा स्वीयताम् क्रियत्पर्यन्तं तत्राह—यावत्त्वादृशानां विप्रयोगेण विरहेण सुलभा श्रीर्मया लभ्यते । तावदित्यर्थाद्रम्यते । अतस्तदनुपादानेऽपि न दोष इति भावः । नन्विति । अयं यच्छब्दः । तदाक्षेपेति । तत्रैव पथे ‘तदा का सुधा’ इति तच्छब्दाक्षेपसमर्थः

न वीक्षितासि । सौन्दर्यातिशयशालिन्यास्तव दर्शने सति क्रूरेणापि दहनेन दग्धुमशक्यत्वादिति भावः । अदर्शनहेतुमाह—धूमेति । धूमेनाश्रितो युक्तस्तेन । ‘धूमान्वितेन’ इति पाठः स्पष्टार्थ एव । किंभूता त्वम् । उत्कम्पिनी उत्कटकम्पवती । भवेन परिस्खलितोऽशुकांतो वसनप्रान्तो यस्याः सा तथाभूता । प्रतिविधुरे कातरे ते अनुभूते लोचने क्षिपन्ती । अत्रानुभूतार्थकेन तच्छब्देन यच्छब्दाक्षेपः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘साध्विति । पुष्करैः पथैः साधु कृतं यदभिरामतया सौन्दर्येणाधिके चन्द्रमसि सति मीलितं मुकुलितम् । पुनरिति त्वर्थे । तेन चन्द्रेण तु साहसं धाढ्यमनुष्ठितम् । कृतमित्यर्थः । किंभूतेन । जयिन्युत्कर्षशालिनि कामिनीमुखे सत्युद्यतोदयं प्राप्तवता । अत्रोत्तरवाक्यगतेन यच्छब्देन पूर्ववाक्ये तत्साधु कृतमिति तच्छब्दाक्षेपः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

त्पर्यायः । उत्तरवाक्यगतस्तु सकलरूपस्तथेति विशेषः । यद्वा यदीत्यव्ययं न तु यच्छब्दः । तच्च भिन्नस्वभावमेव । एवं चेच्छब्दोऽपि ।

द्वयोरप्यनुपादानेऽप्यर्थो यत्तदोः संबन्धः । यथा—

‘ये^२ नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥’

अत्र य उत्पत्स्यतेऽस्ति वा मम समानधर्मा तं प्रति यत्न इति स्फुटमेवाव-
भ्यस्यते । यथाश्रुते हि न पूर्वार्धेन कथमप्यन्वयः ।

यत्तु ‘प्रकान्ताद्यर्थकस्य तच्छब्दस्य यच्छब्दापेक्षैव न’ इति व्याख्यानं तद्व-
क्तिविवेकाद्यनालोचननिबन्धनं प्रकाशकृद्वदनभिमतं च । यदयं यच्छब्दोपादानं
नापेक्षते’ इत्याह । न तु ‘यच्छब्दं नापेक्षते’ इत्यादि । तस्माद्यथाव्याख्यातमे-
वादरणीयम् । एवं च ‘योऽसौ सुभगे’ इत्यत्र तच्छब्दस्यानुपादानादाक्षेपासंभ-
वाच्च यच्छब्दः साकाङ्क्षः ।

ननु स्यादेवैतत् । यदि तच्छब्दार्थकोऽयमदःशब्दो न स्यादिति चेत्, तत्कि-
मदसस्तच्छब्दपर्यायता । तथा सति

‘असौ मरुत्तुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥’

पूर्ववाक्यगतोऽपीत्यर्थः । द्वयोरपीति तु प्रसङ्गादुदाहृतं न तु प्रकृतोपयोगितयेति
ज्ञेयम् । तस्मादिति । ‘शाब्दी साकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते’ इति न्यायादपेक्षास्त्येव ।
परंतु कचिन्व्यूनपदत्वरूपो दोषो नास्ति । यत्र प्रकान्तार्थकादिषु शीघ्रमध्याहारेण
प्रतीतिरित्येतावन्मात्रमेव सम्यगिति भावः । आक्षेपासंभवाच्चेति । यच्छब्दस्य

१. चेदिति शब्दोऽपि क. २. ‘य इति । भवभूतेरियमुक्तिः । न इति ‘असदो
द्वयोश्च’ इत्येकत्वे बहुवचनम् । तेन ममेत्येकवचनाविरोधः । नामेति क्रोपे कुत्सने वा ।
‘नामप्राकाश्यमङ्गभाव्यक्रोपोऽप्यमकुत्सने’ इत्यमरोक्तेः । ये नाम केचिज्जना इह लोके
समावशासंधीरणं प्रथयन्ति कुर्वन्ति ते किमपि जानन्ति । अपि तु न किमपीति काका
अर्थः । अतस्तान्प्रत्येकं यलो मालतीमाधवाख्यप्रकरणारम्भरूपो न । भवतीति शेषः ।
अत्र ग्रन्थस्य परार्थत्वाद्विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानफलकत्वात्कं प्रतीति जिज्ञासायामु-
त्तरार्थम् । कालोऽयं निरवधिरनन्त इति हेतोः कोऽप्येको मम समानधर्मा य उत्प-
त्स्यते पृथ्वी विपुला विस्तृतेति हेतोश्चास्ति वा तं प्रति यत्न इति यत्तच्छब्दयोर्वाशब्दस्य
चाध्याहारेण योजनीयम् । इयता कालेनानुत्पन्नस्य कथमुत्पत्स्यमानत्वं विद्यमानत्वे वा
क्रममदृश्यत्वमित्याशङ्क्यार्थं क्रमेण हेतुद्वयेन परिहृतम् । अत्र यत्तदोरभावेऽप्यर्थसाम-
र्थ्यादुभयाध्याहारेणान्वयः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘असाविति । असौ दृश्य-
मानत्विद्धो वसन्तकालो लङ्घ्यतो हनुमानिवागतः । कीदृशः । मरुता वायुना तुम्बिताः

इत्यत्रादशशब्दस्तच्छब्दार्थमेवाभिदध्यान्न त्विदमर्थम् । अथात्र वैयात्यादि-
ष्टापत्तिमालम्बसे तर्हि—

‘करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमहः ।

यदि भूपतिना स तत्र कार्यं विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥’

इत्यत्र स इत्येतत्पुनरुक्तं स्यात् । अदशशब्देन तदर्थोभिधानात् ।

नन्वर्थान्तरमस्य न निषेधामः किं त्वनुजानीमस्तदर्थकत्वम् । कथमन्यथा—

‘योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्गुः ।

आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्स्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥’

इत्यत्रेदंशब्दस्यापि तच्छब्दार्थकता । इदमदसोः समानशीलत्वादिति चेत्,
सत्यमात्म । परंतु यच्छब्दाव्यवहितानन्तरवर्ती समानाधिकरणस्तच्छब्दोऽपि
प्रसिद्धिमात्रे निरुद्धः किं पुनरिदमादिः । यथा—

पूर्ववाक्यगतत्वादिति भावः । तच्छब्दार्थमेवेति । एवं च यच्छब्दप्रयोगापत्ति-

संस्पृष्टाः केसरा वकुला नागकेसरा वा यस्मिन्तः । हनूमत्पक्षे मरुता पवनाधिष्ठातृदे-
वतारूपेण पित्रा चुम्बिताः केसराः सद्य यस्य । प्रसन्नं यत्ताराधिपस्य चन्द्रस्य मण्डलं
तदग्रणीरग्रेसरो यस्य, प्रसन्नताराधिप एव मण्डलाग्रणीर्वस्येति वा । तथाभूतो वसन्तः, पक्षे
ताराभिधायाः स्त्रियोऽधिपः सुग्रीवस्तस्य मण्डलं राष्ट्रं सैन्यं वा तत्राग्रणीमुख्यः । विजु-
क्तामी रामानी रमणीभिरातुरया कातरया दृष्ट्या वीक्षितो वसन्तः । विरहोद्दीपकत्वात्,
पक्षे विजुक्तेन रामेणातुरयोत्सुक्या दृष्ट्या वीक्षित इत्यर्थः । अत्रासावित्युक्त्वा-
प्रतीतेर्नादस्तदर्थकत्वम्’इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘प्रतीतौ विवदमानं प्रति बाधकमाह—करवालेति । योऽसौ प्रसिद्धः कर्णः स
भूपतिना दुर्योधनेन यदि तत्र कार्यं सेनापत्ये विनियुज्येत ततस्तदा कृतं पाण्डवराज्यत्या-
गादि कृतं सफलं स्यादित्यर्थः । कीदृशः । करवालेन खड्गेन कराळो भीषणो दोर्बाहुरेव
सहायो यस्य तथाभूतः । तथा युधि सङ्ग्रामे विजयार्जुनयोः पार्थकार्तवीर्ययोरेको महः
प्रतीकारसमर्थः । विजयनामा योऽर्जुनः पार्थ इति वा । ‘विजयार्जुनैकमहः’ इति पाठे
विशिष्टस्य जयस्यार्जने संपादने एकमहः प्राधान्येन समर्थ इत्यर्थः । अत्रासावित्युक्त्वा
पुनः स इति तच्छब्दनिर्देशात्तच्छब्दार्थकत्वं तस्य नास्तीति गम्यते ।’ इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘य इति । परमेश्वरं प्रति भक्तस्योक्तिरियम् । हे ईश, इदं निखिलमर्थ-
मण्डलं प्रपञ्चजातं यः पुरुषोऽविकल्पं विकल्पः संशयस्तद्रहितं यथा स्यात्तथा भवद्गुर्भव-
त्स्वरूपं पश्यति । बाधायां सामानाधिकरण्यम् । परमार्थतोऽसत्त्वेन तद्वोधेन भवन्तमेव
पश्यतीत्यर्थः । यथाश्रुते जडस्य प्रपञ्चस्य परब्रह्मस्वरूपत्वाभावादसंगतेः । अस्यात्मैक्य-
दर्शिनो नित्यसुखिनः प्रकाशमाननित्यानन्दस्यात्मपक्षेणात्मरूपेण जगति प्रपञ्चे परिपूरिते
व्याप्ते आच्छादिते । बाधित इति यावत् । कुतः कस्माद्भयम् । न कुतोऽपीत्यर्थः । ‘द्विती-
याद्वै भयं भवति’ इति श्रुतेः । अत्र यच्छब्दव्यवहितोपात्तत्वादिदंशब्दस्तदर्थपरामर्शकः ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।

दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ॥’

इत्यादौ । तस्मात् ‘योऽविकल्पं-’ इत्यत्रेव व्यवधानेनादःप्रयोगो युक्तः, न स्वव्यवधानेन ।

कथं तर्हि—‘न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पाप-
भाक्’ इत्यत्र तच्छब्दो न प्रसिद्ध्यर्थे इति चेत्, य इत्यत्र विच्छेदेन व्यव-
धानात् योऽसावित्यत्र तु संधिना यच्छब्दैकनिविष्टैकदेशत्वेनाविच्छेदात् । ननु
भवेदेवं यदि यत्तदोर्नित्योऽभिसंबन्धः स्यात् । स एव तु नास्ति । कथमन्यथा
‘यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे’ इत्यत्रैकयत्परास्पृष्ट्यैकेन तदा परा-
मर्शेऽपि द्वितीययच्छब्दाभिराकाङ्क्षा प्रतीतिः । द्वितीयतत्पदाभावात् । न च
तत्राक्षेपोऽपि यदः पूर्ववाक्यगतत्वादिति । मैवम् । न खल्वेकेनैव रूपेण यत्तद्व्यां
परामर्शनियम इति ब्रूमः । किं त्वेकस्य ताभ्यां परामर्श इति । तथा चात्रापि
पापात्मकं वस्तु येनकेनचिद्विशेषद्वयेन यत्पदाभ्यां परास्पृष्टं तत्पदेन तु पापत्वे-
नैकेनेति को विरोधः । वस्तुतस्तु यद्यदिति न पदद्वयम् । किं तु ‘नित्यवीप्सयोः’
इति सूत्रेण वीप्सायां यदो द्वित्वापन्नोऽयमादेशः । तथा चादेशिनैकेन यत्पदेन
तत्पदेन च द्वाभ्यामप्येकेनैव रूपेण पापपरामर्शः । आदेशस्तु साकल्येन संब-
न्धपरताग्राहक इति यत्पदीयेनैव तेन तदुपपत्तौ न तत्पदेऽपि । यत्र तु तत्प-
देऽपि वीप्सा तत्र न यत्पदेऽप्यादेशः किं तूभाभ्यां रूपद्वयेन सर्वोपस्था-
नमिति सारम् ।

रिति भावः । परंत्विति । ‘यत्तया मेलनं’ इत्यादिवारणाय समानाधिकरण इति ।
एवं लिङ्गवचनभेदेऽप्यनेनैव वारणम् । विशेषद्वयेनेति । कामकृतत्वाकामकृत-
त्वादिरूपेणेत्यर्थः । अत्रायं पर्यवसितोऽर्थः—यच्छब्दोपस्थितार्थवृत्तिकिञ्चिन्निष्ठवि-
धेयतानिरूपितोद्देश्यतासंबन्धेनान्वयबोधे यच्छब्दव्यवहितोच्चरिततच्छब्दजन्योप-
स्थितिर्हेतुः । एवं तच्छब्दार्थनिष्ठविषयतयान्वयबोधे यत्पदजन्योपस्थितिर्हेतुः । तत्र
द्वयोरुपादानं मुख्यम् । अनुपादानं तु यत्रैकेनापराक्षेपस्तत्र प्रतीत्यविलम्बाच्च
दोषाय । यथा प्रकान्ताद्यर्थकतच्छब्दप्रयोगे यच्छब्दस्य । उत्तरवाक्यगतयच्छब्द-
प्रयोगे च तच्छब्दस्य । अन्यत्र त्वन्यतरानुपादाने न्यूनपदत्वं दोषः । आक्षेपासा-
मर्थ्येन प्रतीतिविलम्बादिति । यत्र तु ‘यद्यत्पापं’ इत्यादौ यत्पदद्वयं तत्पदं चैकं

१. ‘यत्तदिति । वेणीसंहारे भीमस्योक्तिः । अस्य भूपतेर्बुधिष्ठिरस्य तत्प्रसिद्धं यद्-
जितमुद्भूतमत्युग्रं क्षात्रं तेजः प्रतापरूपम् । आसीदिति शेषः । तदा पृतप्रसङ्गेऽशैः
पाशकैर्दीव्यता क्रीडतानेन राज्ञा नूनं तदपि तेजो हारितम् । अर्थाच्छत्रुभिर्गृहीतः
मित्यर्थः । राज्यं हारितमेव तदैव नूनं तेजोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अत्र यच्छब्दानन्तर-
वर्ती तच्छब्दोऽपि प्रसिद्धिपरामर्शकः । किं पुनरिदमादिरिति योऽसावित्यत्रोक्तशेषो वज्रले-
पायित इति सिद्धम् ।’ इत्यादौहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

असमासवत्समासेऽप्यनेकपदगतत्वेनास्य वाक्यदोषत्वम् । यथा—

‘किं’ लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥’

अत्र कलत्रे तातसंबन्धस्यानुजे चार्यसंबन्धस्योत्कर्षाधायकत्वेन विधित्सितयोः
समासाद्गुणीभावः । वाक्यदोषत्वं तु यथा तदुक्तम् । सोऽयं षष्ठीतत्पुरुषस-
मासः । एवं समासान्तरेऽपि ।

विरुद्धमतिक्रम्यथा—

‘श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालङ्घितमूर्तयः ।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतामुखाः ॥’

तत्र यत्पदद्वयोक्तं धर्मद्वयावच्छिन्नमेकरूपेण तच्छब्देन परामृश्यते । अथवा ‘वीप्सायां
द्विर्भावः’ इत्येकेनैवादेशिना साकल्येनोपस्थितं तत्पदेन परामृश्यते वीप्सा तु तात्पर्य-
आहिकेति न तत्पदेऽप्यपेक्ष्यते । यत्र तु तत्पदेऽप्यावृत्तिसूत्रं नादेशः । उभयत्र
तद्वैफल्यात् । अतो रूपभेदेनाभ्यामुपस्थितिरिति । आदेशपक्षे व्यापकत्वप्रतीतिः
पक्षान्तरे तु नेति विशेष इति । तदुक्तमिति । नानापदवृत्तित्वादिति पूर्वमुक्त-

१. ‘किं लोभेनेति । रामस्य वनवासे हेतुं चिन्तयतो लक्ष्मणस्योक्तिरियम् । स विन-
याजैवादिमत्त्वेन प्रसिद्धो भरतो लोभेन विलङ्घित आक्रान्तः किम् । येन भरतेनैतद्वनवा-
सादिकमेवं कपटेन मात्रा करणभूतया । मातृद्वारेति यावत् । कृतम् । संपादितमित्यर्थः ।
येन पुत्रलोभरूपेण हेतुना मात्रा कर्तृभूतया एतदेवं वरप्रार्थनाच्छब्देन कृतमिति वा । अनौ-
चित्यकारित्वेन कोपाश्रमाग्रहणम् । अथवा मे मध्यमा माता कैकेय्येव स्त्रीणां निसर्ग-
सिद्धां लघुतां क्षुद्रतां गता प्राप्ता किमिति वितर्कः । एवकारेण भरतस्य व्यवच्छेदः ।
पुनर्विमृश्याह—मिथ्यैतदिति । एतन्मम चिन्ताविषयीभूतं द्वितयमपि भरतस्य लुब्धत्वं
मातुः क्षुद्रत्वं च मिथ्या । कुत इत्यत आह—आर्येति । इतिशब्दो हेतौ । असौ
गुरुभरतः । विमर्शेन कोपापगमान्मान्यत्वेन नामाग्रहणम् । आर्यस्य श्रेष्ठस्य रामस्यानुज
इति हेतोरार्यं माता तातस्य दशरथस्य कलत्रं आर्येति हेतोर्द्वितीयं चेत्यर्थः । तर्हि
कैनेतत्कृतं तत्राह—अनुचितमिति । विधात्रानुचितं कृतमिति मन्ये इति संबन्धः ।
अत्रानुचिताकरणे हेतुत्वेन विधित्सितस्यानुजे आर्यसंबन्धस्य कलत्रे तातसंबन्धस्य गुणी-
भावादविमृष्टविधेयांशता दोषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘श्रितेति । सामोपायलब्ध-
सिद्धीनां राज्ञां वर्णनमिदम् । अद्य ते राजानो विग्रहस्य युद्धस्य क्षपणेन त्यागेन
गतमसुखं दुःखं येषां तथाविधाः शेरते । निश्चिन्ततया निद्रां कुर्वन्तीत्यर्थः । कीदृशाः ।
श्रिता आश्रिता क्षमा क्षान्तिर्यैस्तथाभूताः । रक्तानुरक्ता भूलक्ष्णया तद्वतनिखिलजना
येषु तादृशाः । शिवेन कल्याणेनालङ्घिता मूर्तयो येषां तथाभूता इति । अत्र श्रिता क्षमा
भूमिर्दैवस्तथा रक्तस्य रुधिरस्य भुवः स्थानानि शिवाभिः क्रोशीभिरालङ्घितमूर्तयो विग्रहस्य

अत्र क्षान्तिमन्तोऽनुरक्तभुवः कल्याणालिङ्गिता युद्धक्षपणेन दुःखाभाववन्तः शेरत इति विवक्षिते भूमिपतिता रुधिरस्थानानि शिवाभिरालिङ्गिताः शरीर-क्षपणेन गतप्राणेन्द्रियाः शेरत इति विरुद्धं प्रतीयते । अमतपरार्थे विरुद्धोऽप्यर्थो विवक्षित इति ततो भेदः । न च प्रकाशितविरुद्धसंकरः । तत्रार्थस्यात्र तु शब्दस्य व्यञ्जकतया विशेषात् ।

पदैकदेशे यथासंभवमुदाहरणानि तत्र श्रुतिकटु यथा—

‘अलमिति चपलत्वात्स्वप्नमायोपमत्वा-

त्परिणतिविरसत्वात्संगमेनाङ्गनायाः ।

इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-

स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥’

एकत्रपदे वर्णद्वयकटुत्वे पददोषत्वम् । पदस्यैव कटुत्वप्रतीतिः । एकस्यैव तथात्वे पदैकदेशदोषत्वम् । न चैवं ‘सोऽध्यैष्ट-’ इत्यादौ प्रत्येकं पददोषाभावात्कथं वाक्यदोषतेति वाच्यम् । नहि नानापददुष्टत्वे वाक्यदोषता किं तु नानापदवृत्तितामात्रेण । सा च पदावच्छेदेन तदेकदेशावच्छेदेन वेति को विशेषः । त्वादित्यस्य कटुत्वासंमतौ,

‘तद्गच्छ सिञ्चे कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।

अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्धै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥’

अत्र सिञ्च्यै लब्धै इत्युदाहार्यम् ।

निहतार्थं यथा—

‘यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्विभर्ति ।

शरीरस्य क्षपणेन नाशेन गता असवः खानीन्द्रियाणि च येषां तथाभूताः शेरते निद्रान्तीति विरुद्धप्रतीतिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘अलमिति । कस्यांचित्कामिन्यामनुरक्तस्य कस्यचित्कामुकस्येवमुक्तिः । चपलत्वादिहेतवोऽङ्गनासंगमनिष्ठतया योजनीयाः । तथा चातिचपलत्वादस्मिरत्वात्स्वप्नः स्वप्नसृष्टिः मन्त्रादिनासदर्थप्रकाशनं माया तत्सदृशत्वात् । परिणतिविरसत्वाद्विरहादिदुःखानुबन्धित्वाच्चाङ्गनायाः संगमेनालं प्रयोजनाभाव इति तत्त्वं परमार्थं शतकृत्वोऽनेकवारं यदि यथप्यालोचयामस्तदपि तथाप्यन्तरात्मा हरिणाक्षीं न विस्मरतीत्यन्वयः । अत्र त्वादित्येकदेश श्रुतिकटुः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. तद्गच्छेति । कुमारसंभवे कामं प्रतीन्द्रोक्तिः । हे काम, तत्तत्सारस्तिञ्चै कार्यसिञ्च्यं गच्छ । कार्यं किं तत्राह— देवानां सर्वेषां न ममैव कार्यं स्कन्दोत्पत्तिरूपं कुरु । शिवयोः संगमैकलभ्येऽसिञ्च्यं किं मयेति शङ्कयामाह—अर्थोऽयमिति । अर्थान्तरेणोमामहेश्वरसंगमेन लभ्य एव लभ्योऽप्ययं स्कन्दोत्पत्तिरूपोऽर्थोऽङ्गस्य स्वरूपस्य लब्धै लाभाय प्रत्ययं शिवस्य पार्वतीवशतासंपादनेन कारणमर्थोच्चापेक्षते । अत्रोमामहेश्वरसंगमस्य वक्तुमयोग्यत्वाद्धर्तान्तरत्वेनोक्तिः । कः किमिव । बीजाङ्कुर उदयात्प्रागम्भो अलमिव । अङ्गेति कामसंबोधनमिति केचित् । ‘प्रत्ययमुत्तमं त्वां’ इति कचित्पाठः । अत्र चतुर्थ्यन्तपदद्वयैकदेशः कटुः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘यश्चेति । तत्रैव हिमालयवर्णनम् । यश्च

बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥'

अत्र मत्ताशब्दः । स हि क्षीबायां सुप्रसिद्धः ।

निरर्थकं यथा—

‘आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित-

प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः संतापितानां दशाम् ।

संप्रत्येव निपेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो

भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥'

अत्र दशामिति बहुवचनमविवक्षितार्थमेव वृत्तपूरणायोपात्तम् । एकस्याः कुरङ्गेक्षणाया इवबहुत्वाभावात् । ‘अलसवलित-’ इत्यादिवज्जापारभेदाद्बहुत्वमिति चेत् । न । तत्रेक्षणे रिति वदन्न तदनुपादानात् । न च भावसाधनतया इच्छब्द एव व्यापारे वर्तते । विशेषणानन्वयप्रसङ्गात् । एवं कुरुत इत्यात्मनेपदमपि निरर्थकम् । प्रधानक्रियाफलसंबन्धस्य कर्तर्यविवक्षणात् । ननु ‘आशिषि नाथः’ इति वत्कर्त्रभिप्रेतक्रियाफलत्वाभावे आत्मनेपदमसाध्वेव न तु निरर्थकम् । नाथत इत्यपि वा निरर्थकमेव । अविशेषात् । एवं द्वयोरर्थयोर्वहुवचनमसाध्वेवेति । उच्यते—‘आशिषि नाथः’ इत्यनेनाशिष्यात्मनेपदं नियमयतानाशिषि तदभावो बोध्यते । तस्माद्याचने तस्य युक्तमसाधुत्वम् । ‘स्वरित-जितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले’ इत्यनेन तु कर्त्रभिप्रेतक्रियाफलविवक्षायां तन्नि-

मित्यर्थः । प्रधानक्रियाफलेति । पानक्रियाफलं हि जगज्जयरूपं तत्संबन्धो मन्मथगतत्वेन विवक्षितो न कुरङ्गेक्षणागतत्वेनेत्यर्थः । अवयवाभिप्रायेण प्रत्यया-

हिमालयः शिखरैः करणभूतैर्धातुमत्तां गैरिकादिधातुमतो भावस्तत्ता तां विभर्तीत्यन्वयः । कीदृशीम् । अप्सरसां विभ्रमार्थं विलासार्थं मण्डनान्यलंकरणानि तिलकपत्रिकादीनि तेषां संपादयित्रीम् । तथा बलाहकानां मेवानां छेदेषु खण्डेषु विभक्तो रागो यस्यास्तथाभूताम् । अकालसंध्यामिवेत्युत्प्रेक्षा । तदकालेऽपि तद्वद्भासनात् । अत्र मत्तेत्येकदेशः क्षीबार्थं सुप्रसिद्ध इति निहतायता ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘आदाविति । रुदत्या विरहातुरायाः कस्याश्चिद्वर्णनमिदम् । कुरङ्गेक्षणा काममतिशयेनाश्रुपयसा संप्रत्येव दृशां निपेकं कुरुत इत्यन्वयः । उत्प्रेक्षते । चेतोभुवो देवस्य मदनस्य भल्लीनां बाणविशेषरूपाणां पानकर्मवेति । इवशब्दस्यार्थवशाद्विभ्रकमत्वम् । भारतीक्षण्यायाख्यं पङ्केन लिह्वाद्यौ संताप्य पयसा क्षालनं पानकर्मस्वरूपम् । तत्र लेपतापयोः संपादनाय दृशां विशेषणमाह—आदावित्यादि । आदौ प्रथममञ्जनपुञ्जेन लिप्तं वपुः स्वरूपं यासां तथाभूतानाम् । भल्लीनामप्यङ्गारचूर्णाञ्जनेन लेपात्तथाभूतत्वम् । ततोऽनन्तरं श्वासानिलेनोल्लासितः संयुक्षितोऽत एव प्रोत्सर्पन्सावाङ्मवापी यो विरहानलेन संतापितानां चेति भिन्नक्रमश्चकारः । भल्लीनां तु भस्माश्वासानिलोल्लासितेन प्रोत्सर्पता विरहसदृशेनानलेन संतापितत्वमवसेयम् । अत्र दशामिति बहुवचनमनर्थकम् । त्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

यमयता पराभिसंबन्धविवक्षायां तन्निषेधः प्रतिपाद्यत इति तत्रैवासाधुत्वम् । न तु कर्त्रभिप्रेतत्वाभावमात्रे । अत एव 'कर्त्रभिप्राय इति किम् । पराभिप्रेत-क्रियाफले मा भूत्' इत्यवोचत् । न तु कर्त्रभिप्रेतक्रियाफलत्वाभाव इति । न चात्र पराभिप्रेतक्रियाफलत्वं द्योत्यम् । किं तु कर्त्रभिप्रेतक्रियाफलत्वाद्योतनमात्रमिति नासाधुत्वम् । एवं 'बहुषु बहुवचनम्' इत्येतत्सूत्रं बहुवचनं नियमय-द्व्येकयोरुपस्थितयोस्तन्निषेधति । न तु बहुत्वविवक्षामात्रे । दशमित्यत्र च न द्वित्वैकत्वे विवक्षिते येनासाधुत्वं स्यात् । किं तु बहुत्वाविवक्षामात्रमित्यनर्थ-तैवेति युक्तमुत्पश्यामः । एतेन 'अवयवाभिप्रायेण निरर्थकत्वं समुदायाभिप्रायेण स्वसाधुत्वमेव' इति चण्डीदासमतमनादेयम् ।

अवाचकं यथा—

‘चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः

शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।

अस्त्येवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां

बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥’

अत्र विजेय इति यत्प्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थे प्रयुक्तस्तत्रावाचकः ।

अश्लीलेषु व्रीडादायि यथा—

‘अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।

परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥’

अत्र पेलेति पेलवशब्दैकदेशो गुह्याङ्गसारकतया व्रीडादायी ।

शाभिप्रायेण समुदायः पदम् । अनादेयमिति । असाधुत्वस्योक्तरीत्या प्रसक्त्य-भावादिति भावः । न च नाथत इत्यत्रापि पदैकदेशदोषत्वापत्तिरिति वाच्यम् ।

१. ‘चापेति । रावणदूतस्य परशुरामं प्रतीयमुक्तिः । हे राम, तव ‘चापाचार्यो धनुर्वेदाध्यापकस्त्रिपुरविजयी महादेवः । तथा कार्तिकेयः स्कन्दो विजेयो विजितः । शस्त्रेण व्यस्त उत्सारित उदधिः सदनं गृहम् । पृथिव्यां दत्तायां परशुरामस्य निवासाय शस्त्रतापितेन समुद्रेण भूर्दत्तेति पुराणप्रसिद्धिः । इयं भूः पृथ्वी हन्तकारो ग्रासणोदशक-रूपोऽतिथये देवो बलिः । तद्वत्कश्यपाय दत्तेत्यर्थः । एतत्सर्वं प्रशस्तिहेतुरस्त्येव । न कस्याप्यत्र संदेहः । किमु किं तु रेणुकाया स्वमातुः कण्ठबाधां कण्ठच्छेदनं कृतवता तव परशुना बद्धस्पर्धश्चन्द्रहासनामा रावणस्य खड्गो लज्जत इति भङ्गा एवविधनि-न्धकर्मकारिणा त्वया सह स्पर्धितुं रावणो लज्जत इत्युक्तं भवति । अत्र विजेय इति यत्प्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽतीतत्वेऽवाचकः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. अतिपेलवमिति । शठोऽतिपेलवं कोमलमतिपरिमिता अल्पा वर्णा यत्र तथाविधं लघुतरमतिमन्दमुदाहरति वहति । पुनरिति त्वर्थे । परमार्थतस्तु स शठः कालकूटेन विषेण घटितमिव हृदयं वहति । तथा च कृत्रिमतया तद्वाक्यमशब्देयमिति तं प्रत्यासत्योपदेशोऽयम् । अत्र पेलेत्येकदेशो लटभाषायां वृषणरूपगुह्याङ्गबोधकतया व्रीडादायी ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

जुगुप्सादायि यथा—

‘यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्ध-
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन ।
सौजन्यमान्यजनिरुर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥’

अत्र पूयेति पूयव्यञ्जकतया जुगुप्सादायि ।

अमङ्गल्यं यथा—

‘विनयेप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग तादृशः ।
कथमेव स तद्वदीक्ष्यत तदभिप्रेतपदं समागतः ॥’

अत्र प्रेतेति भागोऽमङ्गल्यसारकः ।

संदिग्धं यथा—

‘कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् ।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥’

अत्र चरभागो ‘भूतपूर्वं चरद्’ इति चरदप्रत्ययो वा ‘चरेष्टः’ इति टान्तश्च-
रधातुर्वेति संदेहात्पूर्वं साधुरिति वा साधुषु चरतीति वार्थे इति संदेहः ।

नेयार्थं यथा—

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥’

आशीरूपप्रकृत्यर्थसंभवप्रयुक्ततया प्रत्ययासाधुत्वस्य पददोषत्वस्य तत्राभ्युपग-

१. ‘य इति । कस्यचिन्महापुरुषस्य प्रशंसनमिदम् । सोऽयं पूर्वोक्तगुणवान्महापुरुषः
कस्यचिदेव पुण्यशालिनः पुंसो दृशोः पतति । गोचरीभवतीत्यर्थः । स कः । यः सुरस-
रिद्रक्षा तन्मुखानि तत्प्रधानानि तत्प्रभृतीनि वा तीर्थानि तेषां सार्धं समूहे स्नानेन तथा
शास्त्रस्य वेदान्तादेः परिशीलनेनाभ्यासेन यत्कीलनं संस्कारदाढ्यं तेन पूयते पवित्रो
भवति । कीदृशः । सौजन्यमानयोरर्जनिरूपत्तिस्नानम् । तयोरर्जनिरूपत्तिर्यस्मादिति वा ।
‘सौजन्यमान्य’ इति पाठे सौजन्यमान्या जनिरूपत्तिर्यस्येत्यर्थः । ऊर्जितानां बलवता-
मूर्जितं बलम् । ऊर्जितानां बलानामपि बलमिति वा । अत्र पूयेत्येकदेशो विकृतरुधि-
रूपपूयव्यञ्जकतया जुगुप्सादायि ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘विनयेति । हे अङ्ग,
यः सततं विनयप्रणययोरेकं केतनं स्थानं तादृशस्तच्छृणवत्त्वेन प्रसिद्धोऽभवत् । सोऽस्य
तस्याभिप्रेतमिलपितं पदमर्थाञ्चीचं समागतः प्राप्तः सन् तद्वत्पूर्ववत्कथमीक्ष्यतां दृश्य-
ताम् । नीचपदप्राप्त्या गुणलोपादिति भावः । तदेतत्संस्कारं प्रति कस्यचित्पूर्वप्रवृत्तमै-
त्रीकस्य पुरुषस्य वृत्तान्तकथनम् । अत्र प्रेतेत्येकदेशोऽमङ्गलार्थः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः. ३. ‘कस्मिन्निति । अस्य पुरुषस्य । उत्तपते दीप्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
४. ‘किमिति । भूपालमौलीनां माला तत्त्वेनाध्ववसिता पङ्क्तिस्तत्र महामणेर्यस्या-
नीयमणेरस्य राज्ञः किमुच्यते किं वर्ण्यते । न किमपि वर्णयितुं शक्यम् । यस्य तेजो

अत्र वचोवाणशब्दो गीर्वाणे विवक्षितः । न च तत्र समर्थः । गीर्वाणशब्द-
योरेव समस्तयोस्तदर्थरूढिर्न तु तत्पर्यायान्तराणाम् । अत एव गीःशरादि-
शब्दोऽपि तत्रासमर्थः । पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वात् । तस्माद्वचःशब्देन गीःशब्दो
लक्ष्यते न च तत्र रूढिः प्रयोजनं वेति नेयार्थता । एवं जलध्यादिशब्दोऽपि
पदपरिवर्तनं द्रष्टव्यम् । परं तु तत्रोत्तरपदमेव परिवृत्त्यसहम् । बहवानलादौ तु
पूर्वपदमेवेति तदन्यपरिवर्तनेऽप्यदोषः । नन्वसमर्थत्वं विवक्षितार्थप्रतीतिसा-
मर्थ्यविरह एवोच्यताम् । स च प्रसिध्यभावात्समयाद्यभावाद्देयप्रयुक्तावाचक-
निहतार्थादयोऽप्यसमर्थभेदा एव भवितुमर्हन्तीति किमिति पृथङ्निर्दिष्टा इति
चेत्तथ्यमास्थ । परं त्वन्यैरलंकारकारैर्भेदेन दर्शिता इति तथा निर्दिष्टाः । किं
च वैजात्याभावेऽपि शिष्यबुद्धिवैशद्याय प्रभेदा वक्तव्या एवेत्यतोऽपि विभ-
ज्योक्ता इति ।

अथ वाक्यमात्रदोषलक्षणमाह—

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसंधि हतवृत्तम् ।

न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५ ॥

अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनमिहितवाच्यम् ।

अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहृतम् ॥ ६ ॥

भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

अत्रापि रूढियोगाभ्यामर्थद्वयोपस्थितौ लक्षणवाक्यत्वोपस्थितिः । वाक्यमेव
तथा प्रतिकूलवर्णत्वादिकं वाक्य एव दोषो न तु पदादिष्वपीत्यर्थः ।

तत्र प्रतिकूलवर्णं विवक्षितरसादेः प्रतिकूला अननुगुणा वर्णा यत्र तत् ।
अनुगुणत्वं वर्णानां गुणविवेचनावसरे वक्ष्यते । शृङ्गारे यथा—

‘अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।

कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठातिमुदर ॥’

मात् । अत्र तु प्रकृत्यर्थाभावेन तद्वैलक्षण्यादिति । वाक्यमेवेति । यद्यप्येक-

वचोवाणैर्गीर्वाणैर्देवैः सुदुर्लभं विभाव्यते । ज्ञायत इत्यर्थः । अत्र वचःशब्देन स्वशक्यनिरू-
पितवाचकत्वसंबन्धेन गीःशब्द एव लक्ष्यते । गीर्वाणशब्दयोरेव मिलितयोर्देवेषु रूढत्वात् ।
न च शब्दलक्षणायां रूढिः प्रयोजनं वेति नेयार्थत्वम् ।^१ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘लक्ष्यलक्षण’ क. २. ‘अकुण्ठेति । नायिकासंगमोत्सुकस्य कस्यचिदियमुक्तिः ।
हे कलकण्ठि । कलो मधुरस्वरस्तद्युक्तः कण्ठो यस्यास्तथाविधे इति दूतीसंबोधनम् ।
विरहातुरतया कोकिलायां वा । मां कम्बुकण्ठ्याः । शङ्कसदृशग्रीवायां नायिकायाः कण्ठे-
क्षणं कुरु । तदालिङ्गनशालिनं कुर्वित्यर्थः । कण्ठस्याति तदालिङ्गनोत्सुक्यरूपामुदरापहर ।
कीदृशं माम् । आकण्ठं कण्ठपर्यन्तमकुण्ठाप्रतिहता । उत्तरोत्तरवर्धमानेति यावत् । तथाविधा
योः उत्कण्ठा तथा पूर्णम् । व्याप्तमित्यर्थः । अत्र शृङ्गारे ‘अटवर्गाः’ इत्यादिना प्रतिषेधद्वाराः
प्रतिकूल इति प्रतिकूलवर्णत्वं दोषः ।^१ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र टवर्गः शृङ्गारप्रतिकूलः 'अटवर्गः—' इत्यादिना निषेधात् ।

रौद्रे यथा—

‘देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्हृदाः पूरिताः

क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहात् ।

तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे

यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः ॥’

अत्र मृदवो वर्णाः प्रतिकूलाः । ओजस्विनि रसे विकटवर्णत्वस्य दीर्घसमास-
त्वस्य चानुगुणत्वात् । यथा—

‘प्रागप्राप्तनिशुम्भशांभवधनुर्द्वैधाविधाविर्भव-

त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।

उज्ज्वालः परशुर्भवत्त्वक्षिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-

र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥’

इत्यत्र । यत्र तु न क्रोधश्चतुर्थपादे तत्र क्षिथिल एव प्रयोगः । अपरुषस्यापि
रौद्रादिविरोधितयास्य न श्रुतिकटुभेदत्वम् । न च श्रुतिकटोरेव तद्विशेषत्वम् ।

स्मिन्नपि पदे टकारादिसत्त्वे प्रतिकूलवर्णत्वं प्रसज्यते तथापि वाक्यगतत्वेनैव रसा-

१. ‘देश इति । वेणीसंहारेऽश्वत्थाम्नः कर्णं प्रतीयमुक्तिः । यस्मिन्नरातीनां शङ्खणां शोणि-
तरूपैर्जलैः पञ्च हृदाः पूरिताः । अर्थात्परशुरामेण । सोऽयं कुरुक्षेत्ररूपो देशः । तातस्य द्रो-
णस्य केशग्रहादेतोः क्षत्रात्क्षत्रियादेव धृष्टशुम्नात्तथाविधः कार्तवीर्यार्जुनाज्जमदग्रेरिव परिभवः
अहितानां शङ्खणां या हेतयः शस्त्राणि तेषां घस्मराणि भक्षकाणि अतएव गुरूणि श्रेष्ठानि
मे मम भास्वन्ति भास्वराणि अस्त्राणि ब्रह्मास्त्रादीनि तान्येव यानि मत्तातेन परशुरामाव्या-
प्तानि । अतः क्रोधनो द्रोणात्मजो मल्लक्षणो जनो यद्रामेण परशुरामेण कृतं पितृवैरनिर्या-
तनं तदेव कुरुते इत्यन्वयः । अत्र रौद्रे मृदवो वर्णाः प्रतिकूलाः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

२. ‘प्रागिति । कृतपिनाकधनुर्भङ्गं रामं प्रति भार्गवोक्तिः । स परशुः क्षणात्त्वत्कण्ठपी-
ठातिथिर्भवत्विति संबन्धः । स कः । येनानेन जगत्सु देवो हरः । खण्डपरशुरिति ख्याप्यते
प्रसिद्धः कियते । हरेण स्वपरशोरेकः खण्डः परशुरामाय दत्त इति प्रसिद्धिः । यद्वा
खण्डयतीति खण्डस्तथाभूतः परशुर्यस्येत्येवं ख्याप्यते । रिपुखण्डनेन तन्नामत्वेन प्रसिद्धः
कियत इत्यर्थः । तेन यदनुस्त्वया खण्डितं तत्परशुना त्वमपि खण्डनीय इति ध्वन्यते ।
कीदृशः परशुः । प्राक्पूर्वमप्राप्तो निशुम्भो नमनं भङ्गो वा येन तथाभूतस्य शांभवस्य
धनुषो या द्वेधाविधा द्वैधीकरणं तेनाविर्भवन्त्यः क्रोधस्तेन प्रेरितो यो भीमो भयानको
भार्गवस्य मम भुज एव स्तम्भस्तेनापविद्धः क्षिप्तः । अत एवाक्षिथिलो वेगवत्तरः । तथा
उद्रता ज्वाला दीर्घस्य तथाभूतः । अत्रागच्छतः परशोरनिवारणीयत्वघोतनायातिथि-
त्वोक्तिः । तस्य च पीठारोहणौचित्यात्पीठत्वारोप इति बोध्यम् । अत्र चतुर्थपादे
गुरूस्मरणेन भावोद्रेकात्तदौचित्येन मसृणवर्णविन्यासः । पादत्रये तु रौद्रप्राधान्यात्तदुच्चितो
विकटवर्णविन्यास इति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

तस्य सकृत्प्रयोगोऽप्यात्मलाभात् । अस्य तु वाक्यव्यापित्वेन । अत एवास्य न पददोषत्वम् । एकत्र तादृशवर्णप्रयोगस्य रसाविरोधित्वात् । दोषत्ववीजमप्यस्य रसविरोधित्वमेव । अत एव नित्यदोषोऽयम् । नीरसादावात्मलाभाभावात् । श्रुतिकदोस्तु नीरसादावात्मलाभादनित्यत्वमिति महान्भेदः । इदं तु चिन्त्यम्—रौद्रादिरसे श्लोकार्धपर्यन्तं समासेनैकपदे मृदुवर्णप्रायेऽस्य न कथं पददोषत्वमिति । अधान्यसाहित्येन दोषत्वं वाक्यदोषत्वं निरपेक्षदोषत्वं तु पददोषत्वमिति चेत्, न । एवं हि छिष्टादावपि पददोषत्वं न स्यात् । किं बहुना यादृशविवक्षया छिष्टत्वं पददोषत्वेनोक्तं तथेदमपि तथेति न्यूनः पददोषत्वविभागः ।

उपहृतलुप्तविसर्गम् । उपहृतविसर्गं लुप्तविसर्गं चेति द्वयमित्यर्थः । उपहृता ओत्वं प्राप्ता लुप्ता वा विसर्गा यत्रेति बहुवचनान्तो विग्रहः । एकविसर्गस्य स्यात्वेऽवैरस्यात् । उपघातश्चोत्त्वप्राप्तिः । उपघातान्तरस्य दोषान्तरत्वे प्रवेशात् । तेनै नैरन्तर्येणोत्त्वप्राप्तबहुविसर्गत्वं तथा लुप्तविसर्गत्वं च लक्षणे । द्वयोरेकमुदाहरणम्—

‘धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।

यस्य भृत्या बलोत्सिका भक्ता बुद्धिप्रभान्विताः ॥’

दूषकताबीजं बन्धपारुष्येण सहृदयोद्वेगः । अत एवायं नित्यः । अत्रापीदं चिन्त्यम्—‘भूयो महीयोऽतियशोविभूषितः’ इत्यादौ कथं न पददोषत्वमस्येति ।

विसंधि विरूपः संधिः संनिकर्षो यत्र । वैरूप्यं च त्रिधा—विश्लेषोऽश्ली-
लत्वं कष्टत्वं च । विश्लेषस्तु प्राप्तस्य श्लेषस्य संहिताकार्यस्याभावः । स च ‘अन्यत्र तु विभाषया’ इति वचनादैच्छिक आनुशासनिकश्च । तत्रान्यः प्रगृह्या-
दित्वात्, ‘पूर्वत्रासिद्धम्’ इत्यादिना विसर्गादिलोपासिद्धेर्वा । तेष्वद्यः सकृदपि वर्तमानो दोषाय । इच्छानिबन्धनत्वेनाशक्तिमूलकतया प्रथमत एव सहृदयो-
द्वेजकत्वात् । अन्यौ त्वसकृत् । आनुशासनिकत्वेनाशक्त्यनुज्ञायकतया बन्ध-
पारुष्येणैव हि तस्य दोषत्वम् । तच्चासकृत्प्रयोग एव । त्रैरूप्यवतामनुगमश्चान्य-

नुकूल्यप्रातिकूल्ययोरनुमतसिद्धत्वाद्वाक्यदोषत्वमेवेति तात्पर्यम् । द्वयमित्यर्थ इति । यद्यप्युपहितलुप्तान्यतरविसर्गत्वमेकं लक्षणं संभवति तथापि गौरवाद्वैरस्यस्य भेदेनानुभवाच्च दोषद्वयमित्युक्तम् । बहुवचनान्त इति । वृत्तौ त्वेकवचनं जाल-
मिप्रायमिति भावः । उपघातान्तरस्य स्वरूपभ्रंशस्य । दोषान्तरेति । लुप्तत्वारू-
पाद्यदोषेत्यर्थः । अन्यत्र त्विति । ‘संधिरेकपदे नित्यो नित्यो धातूपसर्गयोः ।

१ ‘तत्तेन’ क. २. ‘धीर इति’ । अत्र स इति सावधारणम् । तेनात्र जगति स एव
चुपो धीरत्वादिगुणयुक्त इत्यन्वयः । वरः श्रेष्ठ आकारो यस्य सः । यस्य भृत्याः सेवका
बलेनोत्सिका वृत्ताः । बुद्ध्या प्रभया तेजसा चान्विता युक्ता इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्धे रोह-
त्वप्राप्तिरूपद्विसर्गोपघातादुत्तरार्धे च तलोपाद्वन्धशैबिल्यम् ।^१ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘तत्रैरूप्य’ क.

तमत्वेन । अश्लीलवन्नार्थत्वमेव वा । एवं त्रिप्रकारके विश्लेषे आद्यप्रकारद्वयं यथा—

‘राजन्विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्धुतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसंपदमेत्य भातः ॥’

अन्यो यथा—

‘तैत उदित उदारहारहारिण्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः ।
निजवंश उदारकान्तकान्तिर्वत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥’

दूषकताबीजमस्योक्तम् । अश्लीलत्वं यथा—

‘वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु ॥’

अत्र ‘चिह्न’ इत्यश्लीलम् ।

नित्यः समासे द्रष्टव्यो ह्यन्यत्र तु विभाषया ॥’ इति वचनम् । अन्यत्र वाक्ये । असकृदित्यत्र दोषायेत्यनुषज्यते । तत उदित इत्यादौ लुप्तविसर्गत्वं नाशङ्कनीयम् ।

१. ‘राजन्विति । हे राजन्, भवतस्तानि चरितानि विभान्ति शोभन्ते । यानि रसातले पातालेऽन्तर्गभीरप्रदेशे इन्दोर्धुतिं दधति धारयन्ति । इन्दुवत्प्रकाशमानानि सन्तीत्यर्थः । धीनीत्यनुसारिणी बुद्धिः । दोर्बलं बाहुबलं ते उमे विजयस्य संपदं संपत्तिमेत्य प्राप्य भातः शोभते । किंभूते । अतितते अतिविस्तृते । उचितयोरवसरयोरनुवृत्ती अनुसरणे आतन्वती कुर्वाणे । यथोचिततावसरानुसारेण प्रवर्तमाने इत्यर्थः । ‘उचितानुवृत्तिम्’ इति कचित्पाठः । अत्र पूर्वार्धेऽनित्यतया ऐच्छिकः संध्यभावः सकृदपि दोषः । उत्तरार्धे तु ‘ईदृदेहिवचनं प्रगृह्यम्’ इत्यानुशासनिकप्रगृह्यसंज्ञाप्रयुक्तत्वादसकृदेव ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘तत इति । पतिवरां प्रति सख्या इत्यमुक्तिः । ततः पूर्वोक्तात्पितुरयमुदित उत्पन्नः । कस्मात्क इव । उच्चैरत्युचादुदयाचलादिन्दुरिव । कीदृशः । उदारेण महता हारेण हारिणी मनोहारिणी शुतिर्यस्य सः । इन्दुस्तूदारहारवद्धारिण्युतिः । एवंविधोऽयं निजवंशे मुक्तामणिवच्चकास्ति दीयते । मुक्तामणेरपि वंशे समुत्पत्तेः । कीदृशः । उदात्ता उत्कटा कान्ता रमणीया कान्तिर्यस्य तथाभूतः । तथानर्घः श्रेष्ठोऽमूल्यश्चेति । अत्र यलोपासिद्धत्वप्रयुक्तं संध्यभावः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३ ‘वेगादिति । नायकाधिष्ठितं संकेतस्थानं बोधयन्त्या दूला इत्यमुक्तिः । हे सखि, अयं पत्री पक्षी वेगादुड्डीय गगने चलभुत्तपते उत्तमो भवति । तत्तत्तस्मादत्रैव प्रवेष्टे रुचिं प्रीतिम् । अवस्थितिमिति यावत् । कुर्वित्यन्वयः । कीदृशः । डामरमुद्भटं चेष्टितं यस्य सः । ‘डामरं डमरवाद्यं तद्वन्नेष्टितं यस्येत्यर्थः’ इत्यन्ये । अत्र चलण्डामरेति रुचिं कुर्वन्ति च संनिकर्षरूपसंध्युपस्थापिताभ्यां लण्डाच्छिक्कुशब्दाभ्यां पुंल्यजन-बोध्यङ्कुरयोः प्रतीतिरित्यश्लीलः संधिः । लाटदेशभाषायां चिक्कुशब्देन योन्यग्राभिधानादिति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

कष्टत्वं यथा—

‘उर्व्यासावन्न तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।

नात्रजुः क्षमते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाह ॥’

अत्र दूषकताबीजं पददोषप्रस्तावे उक्तमिति । अत्रापीदं विन्यम्—समासे-
नैकपद्योऽश्लीलकष्टेच्छानिवन्धनविश्लेषाणामश्लीलकष्टासाधुमध्यप्रवेशे लोपासिद्धि-
निवन्धनविश्लेषस्य पदेऽपि सद्भावात्कथमस्य न पददोषत्वम् । यथा—‘भूय
उच्चैर्मह उदात्तयश उदारः’ इति । वयं तु तर्कयामः—सकलप्रमेदभिन्ना एते
दोषा दूषणान्तरासंकीर्णा वाक्य एवेति वाक्यमेव तथेति नियमार्थः । अतएव
न पददोषविभागन्यूनतापि तादृशस्यैव पदवृत्तेस्तत्र विभागादिति ।

इतद्वृत्तम् । इतं वृत्तं यत्र तत् । इतत्वं चाश्रव्यत्वं गुरुकार्याक्षमपादान्त्य-
लघुवर्णत्वं प्रकृतरसाननुगुणत्वं वा । अन्यतमत्वेनैषामनुगमः । अश्रव्यत्वं च
लक्षणाननुगमाद्यतिभङ्गात्स्थानविशेषे गणविशेषयोगाच्च । यद्वा इतत्वमश्रव्य-
त्वमेव । तच्च गुर्वादिनियमरूपलक्षणाननुगमाद्यतिभङ्गात्स्थानविशेषे गणविशेष-
योगात् । शिखरिण्यादावन्यस्य लघोर्गुरुकार्याक्षमत्वात्प्रकृतरसाननुगुणत्वाच्च ।
तत्राद्यं यथा—

‘यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥’

तत्प्रयुक्तसंध्यभावस्यैव वैरस्याधायकत्वेन दोषत्वात् । असाधुमध्यप्रवेशो-
ऽपीति । ततश्च तेषां पददोषत्वं इष्टापत्तिरित्यर्थः । दूषणान्तरेति । पदे तु
लोपासिद्धिनिवन्धनविश्लेषस्यासंकीर्णत्वेऽप्यश्लीलकष्टेच्छानिवन्धनानामश्लीलादिसंकर-
स्योक्तत्वाच्च सकलप्रमेदानामसंकीर्णता । एवं प्रतिकूलवर्णत्वमपि शृङ्गारे समस्त-
पदगतं श्रुतिकटुत्वेनापदस्थसमासत्वेन च संकीर्णम् । तथोपहतलुप्तविसर्गत्वमप्रयु-
क्तसंकीर्णमिति भावः । तादृशस्यैव दोषान्तरासंकीर्णसकलमेदस्यैव । लक्षणान-
नुगमादिति । वृत्तौ लक्षणानुसरणेऽपीत्यपिना तदननुसरणस्यापि ग्रहणमित्या-
शयः । अन्यथा छन्दोभङ्गेऽप्यदुष्टकाव्यत्वापत्तेः । अश्रव्यत्वस्य सर्वत्रानुभवाज्ज्ञाघवा-
त्तत्त्वमेव दोषः । अन्यत्तु तत्प्रयोजकमित्याह—यद्वेति । यस्मिन्पञ्चेति ।
श्रुतिवाक्यमिदम् । अत्र पञ्चजनशब्देन रूढ्या प्राणचक्षुःश्रोत्राक्षमनांस्युच्यन्ते ।
‘प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमक्षस्यान्त्रं मनसो ये मनो विदुः ।’ इति
वाक्यशेषात् । पञ्चजनाः कतीलपेक्षायां पञ्चेति विशेषणम् । तथा च यस्मिन्परमे-

२. ‘उर्वीति । अध्वगं प्रति कस्यचिदुपदेशोक्तिरियम् । अत्र मरुदेशस्यान्ते समीपे
चारुवस्थितिर्यस्यास्तथाभूता उर्वी महती तर्वाली तरुपङ्क्तिः । अस्तीति शेषः । अत्र
कजु यथा स्यात्तथा गन्तुं न युज्यते । तत्तत्सान्मनागीपच्छिरो नमय नीचैः कुर्वि-
लम्बयः । ‘क्षमते’ इति पाठे जन इत्याध्याहार्यम् । अत्र संघेः श्रुतिकटुत्वम् ।’ इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः । २. एतदुदाहरणं काव्यप्रकाशे नास्तीत्युदाहरणचन्द्रिकायां न व्याख्यातम्.

अत्र श्लोके पञ्चमस्य गुरुत्वाच्छन्दोभङ्गः ।

यतिभङ्गो वर्णवृत्ते यथा—

‘अमृतममृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा

मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।

सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन्नरसान्तरविजनो

वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥’

अत्र हरिणीच्छन्दसि षष्ठे दशमे च यतिरुचिता । चतुर्थे तु पादे तद्भङ्ग इत्यश्रव्यता ।

मात्रावृत्ते स्थानविशेषे गणविशेषयोगो यथा—

‘जं परिहरं तीरङ् मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।

अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहि वि पडिवण्णो ॥’

अत्रार्यायां द्वितीयतृतीयौ सगणभगणौ । तौ च तथाविधौ छन्दःशास्त्रेण दुःश्रवत्वेन प्रतिपादितौ ।

श्वरे प्राणादयः पञ्च पञ्चजनाख्या आकाशश्च प्रतिष्ठितस्तमेव धीरो ब्राह्मणो विशास्य निश्चिन्त्य प्रज्ञां तत्त्वयुद्धभ्यासं कुर्वीतेत्यर्थः । छन्दोभङ्ग इति । ‘श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्’ इति वचनादिति भावः । चतुर्थे त्विति । वदतु यदिहेति षष्ठे हकारे यतिभङ्ग इत्यर्थः । यतिरुपरमः । ‘वदतु मधुरं यत्स्यादन्यत्प्रिया रदन(दशन)च्छदात्’ इति तु युक्तम् । जं इति । ‘यत्परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सौन्दर्यगुणेन । अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥’ [इति च्छाया] ।

१. ‘अमृतमिति । अत्र द्वितीयममृतपदं स्वादुतरत्वरूपार्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् । स्वादुतरत्वायोगव्यवच्छेदो व्यङ्ग्यः । तथा चामृतममृतं स्वादुतरमत्र कः संदेहः । मधून्यप्यन्यथा न अमधूनि न । मधून्येवेत्यर्थः । मधुराण्येवेति यावत् । चूतस्यान्नस्यापि प्रसन्नरसं स्वच्छरसं फलमधिकमधुरम् । कः संदेह इत्यनुषज्यते । पुनरिति परंत्वित्यर्थकम् । परंतु रसानामन्तरं तारतम्यं वेत्तीति तथाभूतो रसानामान्तरं मम वेत्तीति तथाभूतो वा जनो मध्यस्थः पक्षपातरहितः सन्निह जगति प्रियाया दशनच्छदादधरात् । तदपेक्षयेत्यर्थः । स्वादु मधुरं यदन्यत्स्यात्तत्सकृदेकवारमपि वदतु । तथा च जगति न तादृशं विद्यत इति भावः । अत्र हरिणीच्छन्दसि षष्ठवर्णे प्रतिपादे यतिरुचिता । चतुर्थपादगते षष्ठे हेतिवर्णे परपदसंधानेन यतिभङ्गादश्रव्यत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘जं परीति । मानवर्ती प्रति दूत्याः समाधानोक्तिरियम् । तथाविधमेतत्कामचेष्टितं यत्सौन्दर्यगुणेन रमणीयतारूपेण गुणेन मनागीषदपि परिहर्तुं न तीर्यते न शक्यते । अथ च यस्य दोषः पूर्वोक्तापरिहार्यत्वरूपः प्रतिपक्षैरपि ब्रह्मचार्यादिभिः केवलं प्रतिपन्नोऽङ्गीकृतो न तु परिहृतः । त्वत्कान्तस्य तु कैव कथेति तस्य दैवादभ्यवनितासंगमेऽपि कोपातिशयो न विधेय इति भावः । अत्रार्यायां द्वितीयस्य ‘हरिं’ इत्यन्तर्गुरोः सगणस्य ‘तीरङ्’ इति तृतीयस्यादिगुरोर्भगणस्य चाश्रव्यत्वं छन्दःशास्त्रसिद्धम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

पादान्तलघोगुरुकार्याक्षमत्वं यथा—

‘विकसितसहकारतारहारिपरिमलपुञ्जितगुञ्जितद्विरेफः ।

नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥’

अत्र ‘वा पादान्ते’ इति पादान्तस्य गुरुत्वाच्छब्दोभङ्गाभावेऽपि प्रथमपादान्तवर्तिनो रिकारस्य लघोगुरुकार्यकरणाक्षमत्वम् । इन्द्रवज्रादिषु तु तत्कार्यक्षमत्वाददोषः । तस्मात् ‘हारिप्रमुदितसौरभ—’ इति पठनीयम् । न केवलं प्रथमतृतीयपादयोरेवायं दोषः । किं त्वन्ययोरपि । तत्र चतुर्थे यथा—

‘अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा

संभाराः किल तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।

श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थला-

दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥’

अत्र ‘वस्त्राण्यपि’ इति पाठे गुरोरेव संयोगपरतया स्वरवृद्धौ लघुरपि गुरुकार्यकारी संपद्यते । एवं द्वितीयपादेऽप्युक्तम् । एषु चाश्रव्यता सहृदयोद्देजिनी दुष्टतावीजम् । अतो नित्यदोषोऽयम् ।

प्रकृतरसानुगुणत्वं यथा—

‘हौ नृप हा बुध हा कविबन्धो विप्रसहस्रसमाश्रय देव ।

मुग्ध विदग्ध सभान्तररत्न कासि गतः क वयं च तवैते ॥’

सगणेति । वर्णत्रयात्मक एकैको गणः । तत्र ‘हरिउं’ इति द्वितीयो गणः

१. ‘विकसितेति । वसन्तो मुनेरपि मानसं हरतीत्यन्वयः । कीदृशः । विकसितानां सहकाराणामाश्रयवृक्षाणां तार उद्भटो हारी मनोहरश्च यः परिमलस्तेन गुञ्जिता गुञ्जनयुक्ताः गुञ्जिताः पुञ्जीभूताश्च द्विरेफा भ्रमरा यत्र तथाभूतः । अथवा तथाविधः परिमलो यत्र स चासौ गुञ्जितपुञ्जितद्विरेफश्चेति विग्रहः । मुनिमनोहारकत्वसमर्थनाय वसन्तगतप्रकर्षाभावकतया विवक्षितस्य तथाविधपरिमलस्य शब्दतो वसनान्वयसंभवे अर्थतत्तात्संबन्धानुधावनस्यानुचितत्वात् । पुनः कीदृक् । नवकिसलयानि नवपल्लवा एव चारुणि मनोहराणि चामराणि तैः श्रीः शोभा यस्य सः । अत्राशयादान्तस्यस्य रिकारस्य गुरुत्वानुशासनेऽपि तत्कार्याक्षमतयाश्रव्यत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अन्या इति । कस्यचिद्वाशो वर्णनमिदम् । स एष युवा विधिना यैः पदार्थैः सृष्ट उत्पादितस्तास्तदन्तर्गतगुणरूपाणां रत्नानां संबन्धिन्यो रोहणस्य रत्नोत्पत्तिस्थानभूतपर्वतविशेषस्य भुवो भूमयोऽन्याः । विलक्षणा इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । मृदुपादानभूतपार्थिवभागरूपा । संभारा उपकरणानि । स कः । यत्र यस्मिन्दृष्टे सति द्विषां करतलादस्त्राणि पतन्ति स्त्रीणां नितम्बस्थलादस्त्राणि च पतन्तीति योज्यम् । श्रीमदित्यादि मूढेत्यादि च द्विषां स्त्रीणां च विशेषणम् । मोहश्च द्विषां भयप्रयुक्तः स्त्रीणां कामावेशादित्यूहनीयम् । अत्र श्लोकान्यस्य गुरुकार्याक्षमत्वम्’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘हा नृपेति । राज्ञि मृदे तद्वीयानां विलापोऽयम् । मुग्ध सुन्दर, सभान्तरे सभामध्ये रत्नभूत, त्वं क गतोऽसि । तव संबन्धिन एते ईदृगवस्था वयं च क । वनखण्डे गताः स इति शेषः ।

इदं दोषकवृत्तं शोकाननुगुणम् । तद्विरोधिहास्यव्यञ्जकत्वात् । अस्य च प्रतिकूलवर्णत्वं दुष्टताबीजम् । नीरसे च नास्यात्मलाभ इति नित्यदोषता ।

न्यूनाधिकेत्यादि । न्यूनपदमधिकपदं कथितपदं चेत्यर्थः । तत्र न्यूनपदं न्यूनं पदं वाचकशब्दो यत्र तत् । श्रुतकन्यूनतायां त्वनभिहितवाच्यत्वमिति विशेषः । उदाहरणम्—

‘तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां

वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुपितं वल्कलधरैः ।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं

गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥’

अत्र पादत्रयमध्येऽस्माभिरिति, खिन्ने इत्यस्य पूर्वमित्थमिति च पदं नास्ति । आवश्यकं च ते । अन्यथा कर्तुरलाभादेकवाक्यत्वासंभवाच्च तदर्थस्य विवक्षितत्वात् । अर्थश्चैतादृश एव विवक्षित इति शब्दस्यैवायमपराधः । यत्र त्वर्थे एव न तावद्गुरुं विवक्ष्यते तत्रार्थ एव दुष्ट इति साकाङ्क्षत्वं दोषान्तरमिति द्रष्टव्यम् । विवक्षिताप्रतिपत्तिश्च दूषकताबीजम् । अतो झटित्याक्षेपतस्तुल्यभागेऽदोषत्वम् ।

अधिकपदं यथा—

‘स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।

अविरुद्धसैमन्वितोक्तियुक्तः प्रतिमह्नास्तमयोदयः स कोऽपि ॥’

‘सोऽन्तगुरुः’ इति वचनात्सगणः । ‘तीरङ्’ इति च तृतीयो भगणः । ‘भ आदिगुरुः’ इत्युक्तेः । पादत्रयमध्य इति । दृष्ट्वेत्यत्रोषितमित्यत्र स्थितमित्यत्र च कर्तुरपेक्षणात् । इत्थमित्यभावे चैकवाक्यत्वासंभवात् तत्सत्त्वे तु तथाभूतनृपतनयादर्शनादितः खिन्न इत्येकवाक्यतासंभव इत्यर्थः । झटितितीति । ‘मा मा मानद—’

प्रत्येकं हापदेन नृपत्वादेः प्रत्येकं प्राधान्येन शोकोद्दीपकत्वं व्यज्यते । इदं दोषकवृत्तं हास्यव्यञ्जकतया शोकाननुगुणम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘तथाभूतामिति । तृतीयोलासे व्याख्यातमेतत् । अत्र वल्कलधरैरित्यस्य विशेष्यसाकाङ्क्षत्वात् स्थितमित्यस्य च कैरिति कर्तृसाकाङ्क्षत्वादस्माभिरित्यपेक्षितम् । तथा खेदमित्यनन्तरमित्यमित्यपि । अन्यथा खेदपदस्य पूर्वोक्तापेहेतुकत्वात्तन्मेन हेतुसाकाङ्क्षत्वापत्तेर्मात्सर्यान्ौचित्यापरिपोषाच्च न्यूनपदत्वम् । न च दृष्ट्वा खिन्ने इत्यन्वयादित्थमिति व्यर्थमिति वाच्यम् । दृष्ट्वेत्यस्य गुरुष्वैवान्वयात् । अन्यथानौचित्यासंगतेरिति दिक् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘स्फटिकेति । कस्यचिद्विदुषो वर्णनमिदम् । स प्रकृतो विद्वान्कोऽपि । लोकोत्तर इत्यर्थः । कीदृक् । स्फटिकाकृतिवन्निर्मलः स्वच्छान्तःकरणः । अत एव प्रकाममत्यर्थं प्रतिसंक्रान्तं निशातं तीक्ष्णम् । तीक्ष्णमतिवेद्यमिति यावत् । शास्त्रतत्त्वं शास्त्रस्याबाधितार्थं यत्र तथाभूतः । एवमविरुद्धा समन्विता संगता उक्तियुक्तिरुक्तियोजना यस्य सः । पुनः कीदृशः । प्रतिमह्नानां प्रतिवादिनामस्तमयस्य लक्षणया पराभवस्योदयः प्रादुर्भावो यस्मात्तथाविधः । कदापि केनाप्यपरिभूतानामपि पराभवकर्तृत्वार्थः । अत्राकृतिपदमधिकम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘समर्थितोक्ति’ क.

अत्र स्फटिकमेव निर्मलतायामुपमानं विवक्षितम् । उपात्तेऽप्याकृतिपदे यथाकथंचित्तेनैवोपमितिपर्यवसानादित्याकृतिपदमधिकम् । न तु व्यर्थत्वादपुष्टार्थेन संकर इति वक्ष्यते । न केवलं समास एव पदाधिक्यं किं त्वसमासेऽपि । यथा—

‘इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथो विकारः ।

यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥’

अत्र कृतमधिकम् । पूर्वार्धवत्तेन विनैव प्रतीतिपर्यवसानात् । कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति । पूर्वार्धेऽकरणात् । तथा च ‘यदपि च न कुरङ्गलोचनानां’ इति पठनीयम् । निष्प्रयोजनशब्दश्रवणेन श्रोतुर्वैमुख्यं दूषकताबीजम् । अतो हर्पादावभिव्यङ्ग्ये न दोषत्वम् ।

कथितपदं यथा—

‘अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला-

परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।

सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव

सरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम् ॥

अत्र लीलापदं वारद्वयमुपात्तम् । दूषकताबीजं च कवेरशक्युन्नयनेन श्रो-

इत्यादावायासयेत्यादिक्रियायाः शीघ्रं प्रतीत्या दोषत्वाभावो वक्ष्यत इति शेषः । यथाकथंचिदाकृतिपदस्य स्वरूपपरतया । न त्विति । इदं हि व्यर्थम् । तदर्थस्यावयवसंयोगविशेषस्याविवक्षितत्वात् । अपुष्टार्थं तु न तथा । विततत्वाद्यर्थस्य विवक्षितत्वेऽप्यर्थलभ्यत्वेनानुपादेयत्वादिति वक्ष्यत इत्यर्थः । कृतमिति । कृतमि-

१. इदमिति । इह जगति पुंसां जरास्वपि वृद्धावस्थास्वपि यन्मान्मथः कामसंबन्धी विकार इदमनुचितं वैरत्याधायकत्वादयुक्तम् । तथायमक्रमोऽप्रशस्ता परिपाटी । कुसंप्रदाय इत्यर्थः । बाल्ययौवनजरास्तु विषाविषयोपभोगधर्मा इति शास्त्रोक्तसंप्रदायस्यैवावस्थानुरूपतया समीचीनत्वात् । यदपि च नितम्बिनीनां स्त्रीणां जीवितं रतं वा स्तनपतनमवधिरुत्तरावधिर्यस्य तथाभूतं न कृतम् । अर्थाद्विधात्रा । तदप्यनुचितम् । पूर्वोक्तादेव हेतोः । अत एव कुसंप्रदायश्चेति योज्यम् । अत्र कृतमित्यधिकम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।
२. ‘अधिकरतले कपोलमाधाय चिन्तयन्तीं नायिकां प्रति सख्या इयमुक्तिः । हे सुतनु, करतलरूपे तस्ये इत्यधिकरतलतल्पम् । सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः । कल्पिता स्वापलीला यया तथाभूता परिमिलनेन करतलघर्षणेन रक्तिमोदयान्निमीलंस्तिरोभवन्पाण्डिमा यस्यास्तादृशी तव गण्डपाली गण्डस्थली कर्त्री कस्य यूनः सरनृपतेलीलायां वशीकरणरूपायां यौवराज्याभिषेकमजसा तत्त्वतो व्यञ्जयति सूचयतीति कथयेत्यन्वयः । यः सरेण स्वतः कर्तुमशक्यं तवैवंविधं स्वापादि करोति स ध्रुवं वृद्धेन सरेण यौवराज्येऽभिषिक्त इति भावः । अनेन कंदर्पादप्यधिकं वशीकरकत्वं व्यञ्ज्यते । अत्र लीलेत्यस्य द्विःप्रयोगात्कथितपदत्वम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

तुर्वैमुख्यम् । अतो लाटानुप्रासादावदोषत्वम् । अशक्यनुन्नयात् । इदं तु चिन्त्यम्—समासे प्रत्येकस्मिन्नपि पदे व्यवधानाल्लाटानुप्रासविरहेऽप्यस्य संभवात्कथं न पदोपत्वमिति ।

पतत्प्रकर्षम् अलंकारकृतस्य बन्धकृतस्य वा प्रकर्षस्य यत्रोत्तरं पातो निकर्षः ।

यथा—

‘कः कः कुत्र न घुघुरायितघुरीघोरो घुरेत्सुकरः

कं कं कः कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ।

के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः

सिंहीखेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते ॥’

सूकराद्यभिधानेऽपि विकटबन्धकृतोऽनुप्रासकृतश्च प्रकर्षः सिंहाभिधाने पतितः । दूषकताबीजं चाशक्युन्नयनेन श्रोतुर्वैरस्यम् । रसानुगुणतया तत्पातेऽपि न दोषः ।

समासपुनरात्तम् । समासं सत्पुनरात्तम् । वाक्ये समासे पुनस्तदन्वयिशब्दोपादानं यत्रेत्यर्थः । यत्तु समासे वाक्येऽविशेषविधायि विशेषणान्तरोपादानवत्त्वं तल्लक्षणम्’ इति, तन्न । ‘प्रागप्राप्त-’ इत्यादौ वाक्यान्तरारम्भे विशेषणान्तरानुपादाने तल्लक्षणविरहेण तन्नानित्यदोषत्वव्युत्पादनविरोधात् । उदाहरणम्—

ल्यधिकमित्यर्थः । कृतं पठितम् । तत्पातेऽपीति । प्रकर्षपातेऽपीत्यर्थः । यथा—‘प्रागप्राप्त-’ इत्यादौ ‘येनानेन-’ इत्यादि चतुर्थपादे । समासं सदिति । तथा च कर्मधारयसमासः । जनितान्वयबोधं सत्पुनरुपात्तम् । शब्दान्तरस्य स्वेन सहैकवाक्यत्वाय पुनरावृत्तमित्यर्थः । अस्य विशेषं दर्शयति—वाक्य इत्यादिना । तदन्वयिशब्दस्तदन्वयिवोधकशब्दः । कैश्चिद्दर्शितं विषयं दूषयितुमुपन्यस्यति—यत्त्विति । अविशेषेति । प्रकृतोपयुक्तविशेषाबोधकेत्यर्थः । तेन ‘अद्यापि स्तनवैपथ्यं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः’ इत्यत्र प्रमाणेत्यादि विशेषणान्तरोक्तौ न

१. ‘कः केति । कस्कादित्वाङ् कस्क इति युक्तम् । पञ्चाननः सिंहो यतो यस्मात्सिंहाः खेहेन यो विलासः कण्डूयनादिस्तेन बद्धा स्थिरीकृता वसतिः स्थितिर्येन तथाभूतो वर्तते । अतः कः कः सुकरः कुत्र न घुरेद्भीमं शब्दं कुर्वात् । अपि तुत्तममध्यमाधमरूपः सर्व एव सर्वत्र । ‘घुर भीमार्तशब्दयोः’ इति दीपिका । ‘घुरेत्पर्यटत्’ इति महेशः । कीदृक् । घुघुरायिता तादृशशब्दवती या घुरी नासिका । तथा घोरो भीषणः । ‘घुरी घोरं सुकरमुखाग्रम्’ इत्यन्ये । ‘घुरी वाधविशेषस्तद्वद्घोरः’ इत्यपरे । एवं कः करी हस्ती कमलानामाकरमुत्पत्तिस्थानं विगतकमलं कर्तुं नोद्यतः । अपि तु सर्वः सर्वमपि । कै केऽरण्यमहिषाः कानि वनानि नोन्मूलयेयुः । अपि तु सर्वाणि । स्वाश्रयोन्मूलनेन मदौत्कट्यं सूच्यते । एवं च राजनि व्यसनशीले क्षुद्रा अपि भौमिका निर्मर्यादा भवन्तीति प्रस्तुतध्वननादप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । अत्र वाच्यस्य सूकरादेरुत्तरोत्तरमुत्कृष्टतया तथैव समुच्चितस्य बन्धप्रकर्षस्य भङ्गः । उत्तरोत्तरं तदपकर्षस्य स्फुटत्वात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

‘कैंकारः स्मरकामुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो

शंकारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।

तन्व्याः कञ्जुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-

काणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥’

अत्र ‘तनोतु वः’ इति समाप्तमेव वाक्यं ‘नववय-’ इत्यादिविशेषणे-
नोपात्तम् । निराकाङ्क्षत्वं च दूषकताबीजम् । अतश्चातित्यदोषोऽयम् । वाक्यान्त-
सारम्भे तदभावात् ।

अर्धान्तरैकवाचकम् । द्वितीयार्धगतमप्रधानहेत्वाद्यर्थकमेकं वाचकं यत्र
तत् । यथा—

‘मंसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा

विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि धर्मः कठोरः ।

तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः

पथि पथिकवधूभिः शिक्षिता वीक्षिता च ॥’

अत्र भूः सदर्भा तन्मंसृणचरणपातं गम्यतामिति वाक्यम् । तत्र च तदि-
त्यर्धान्तरगतम् । अत्र निराकाङ्क्षता दुष्टबीजम् । श्रुतमात्रस्यैव भूसदभत्त्व-

दोष इत्यर्थः । प्रागप्राप्त-इत्यादौ हि येनेत्यादिना न परशोर्विशेषणान्तरमुच्यते किं
तु परशोरेव प्रकृतपरामर्शित्यपदार्थविशेषणतेत्युक्तलक्षणसंभव इत्यर्थः । अथवा
सामानाधिकरण्यपदार्थरूपविशेषणान्तरोपादानं नास्तीति तात्पर्यम् । तदभावा-
दिति । यच्छब्दादिना निराकाङ्क्षत्वाभावादित्यर्थः । अत एवात्रापि ‘यो नववयो-

२. ‘कैंकार इति । स्वगृहं प्रसितान्पथिकान्प्रति कस्यचित्कवेरियमुक्तिः । तन्व्याः
कञ्जुलिकाया अपसारणेऽर्थाद्भवद्भिः क्रियमाणे सति यो भुजयोराक्षेपो धूननं तेन स्खलतां
कङ्कणानां काणः शब्दो वो शुष्माकं प्रेम प्रीति तनोत्विति संबन्धः । कीदृश इत्यपेक्षायां
कैंकार इत्यादीनि पञ्च रूपकाणि । कैंकार इति धनुर्ध्वनेरनुकरणम् । सुरतक्रीडार्थं पिक्यस्ता
एव वा पिक्यः कोकिलाः । रतिरेव विलासादिफलोत्पत्तिस्थानत्वान्मञ्जरी तत्संबन्धिनानां
मधुलिहां शंकारः । रतिमञ्जरीमधुलिहां लम्पटतया तत्त्वेनाध्यवसितानां कामुकानां शंकारो
हर्षोद्भवचुम्बनादिशब्दः । लीलार्थं वा चकोरी लीलैव वा चकोरीति पूर्ववत् । नववयस्ता-
रूप्यं तस्य लास्याय तत्तद्विलासादिरूपनृत्ताय वेणुस्वनो वंशीध्वनिः । अत्र समाप्तमेव
वाक्यं नवेत्यादिविशेषणेन स्वान्वयाय पुनरुपात्तम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘मंसृणेति ।
जनकपुत्री सीता पथि मार्गे पथिकानां वधूभिरश्रुपूर्णैर्लोचनैर्वीक्षिता इति पूर्वोक्तप्रकारेण
शिक्षिता चेत्यन्वयः । इति किम् । हे बाले, यतो भूः सदर्भा दर्भाङ्कुरसहिता । तस्मान्मंसृणे
मन्दक्षरणपातो यत्र तथा गम्यताम् । एवम् यतो धर्म आतपः कठोरस्तीक्ष्णस्तस्मान्मूर्ध्नि
सिच्येत्स वस्त्रस्यान्तं प्रान्तं विरचयेति । अत्र पूर्वार्धान्वयिनस्तदित्यस्यार्धान्तरगतत्वात्प्रतीति-
विलम्बः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

स्वाक्षेपादिना हेतुत्वप्रतीतेः । यस्य तु कर्त्रादेर्न तथा प्रतिपत्तिस्तस्यार्थान्तरोपादानेऽप्यात्मलाभ एव नास्ति । तल्लाभेऽपि वा न दोषत्वमिति ।

अभवन्मतयोगम् । अभवन्नभिमतो योगो यत्र । न चाविमृष्टविधेयमध्येऽस्यान्तर्भावः । उपजीव्यत्वेन भेदात् । इति केचित् । वस्तुतस्तु तत्र पदार्थयोरुपस्थितयोरन्वयो भवत्येव । परं त्वनभिमतानां प्राधान्यादिना रूपेण । अत्र तु संबन्ध एव तयोर्न प्रतीयत इति महान्भेदः । नन्वेवमभवन्मतयोगमित्यत्र योगो मतत्वविशेषणार्थक्यमिति चेत्, न । एकवाक्यस्थपदोपस्थापितत्वादिरूपस्य योगस्यापि सत्त्वात् । मतत्वं चान्वयबोधविषयत्वमित्यप्रसङ्गः । एतच्च क्वचिद्विभक्तिभेदात् । यथा—

‘येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-

र्लीलापानभुवश्च चन्दनतरुच्छायासु यैः कल्पिताः ।

येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां

किं तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ॥’

अत्र यैरित्यस्य विशेष्यतया क्षपाचारिशब्दार्थो विवक्षितः । न च तेन तत्तत्तथायोगः प्रतीयते । विभक्तिभेदात् । अथ यैर्लीलापानभुवः कल्पिता

लास्याय’ इत्युक्तौ न दोष इति ज्ञेयम् । कर्त्रादेरिति । यथा—‘तव तुल्यः प्रभो नास्ति भुवनत्रितयोदरे । राजा न[य]दयाशीलः—’ इत्यादावित्यर्थः । आत्मलाभ एवेति । अप्रधानेत्युक्तदोषस्वरूपस्यैवाभावादिति भावः । तल्लाभेऽपीति । यथाश्रुत इत्यर्थः । निराकाङ्क्षत्वस्य दूषकतावीजस्याभावादित्यर्थः । योगोऽन्वयबोधः । उपजीव्यत्वेनेति । अविमृष्टविधेयांशत्वस्य मतयोगभावप्रयोजकत्वेनेत्यर्थः । पदार्थयोरिति । परस्परान्वयित्वेन विवक्षितयोरित्यर्थः । तथा च तत्रान्वयविशेषाभावः । इह तु तत्सामान्याभाव इति भावः । नन्विति । अन्वयसामान्याभावविवक्षायां विवक्षितार्थकमतत्त्वविशेषणमन्वये व्यर्थम् । प्रत्युताविमृष्टविधेयांशसंकीर्णतापादकमेव स्यादिति भावः । नात्र विवक्षितार्थकतया मतशब्दप्रयोगः । किं तु शाब्दबोधविषयत्वार्थकतयेति समाधत्ते—नेति । तथान्वयो-

१. ‘येषामिति । हनुमता लङ्कायां दम्पायां वीरराक्षसानधिक्रिपतः कस्यचिद्भावणं प्रतीयमुक्तिः । हे प्रभो, येषां क्षपाचारिणां निशाचराणां प्रतापोष्मभिः कर्तृभूतैस्ताः प्रसिद्धास्त्रिदशानां देवानामिभस्रैरावतस्य दानसरितो मदजलनद्यः पीताः । शोषिता इत्यर्थः । तथा यैर्नन्दनस्येन्द्रक्रीडावनस्य तरुणां छायासु लीलया यत्पानमर्थान्मणस्य तस्य भुवो भूमयः कल्पिता रचिताः । येषां हुंकृतयो हुंकाराः कृतोऽमरपतेरिन्द्रस्य क्षोभो याभिस्तथाभूताः । आसन्निति शेषः । तैः क्षपाचारिभिस्तव परितोषकारि प्रवादोन्वितं सभायां कथनयोग्यं प्रवादस्य स्वख्यातेरुचितं वा किञ्चित्किञ्चिद्विहितम् । अपि तु न किञ्चिदित्यन्वयः । अत्र यैरित्यस्य क्षपाचारिपदार्थेनाभिमतोऽन्वयो न भवति । मित्रविभक्ति-कत्वात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

येषां प्रतापोष्मभिरित्यादिप्रकारेण यच्छब्दाभिधेययोरेव तथान्वयोऽस्तु किं विशेष्यान्तरविवक्षयेति चेत्, न । अनुवाद्यानां हि विधेयेनैव साक्षादन्वयः न तु तदनन्तर्भाव्यनुवाद्यान्तरेण । गुणत्वस्योभयत्र तुल्यतया विशेष्यत्वविनिगमनाया अशक्यत्वात् । तदेतदुक्तम्—‘गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात्स्यात्’ इति । अत एव ‘अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति ।’ इत्यारुण्यादीनां पिङ्गाक्ष्यादिभिर्नान्वयो नापि गवा । तस्या अपि क्रयसाधनत्वेन गुणत्वात् । किं तु क्रयेणैव । कथं तर्हि धर्म्यन्तरस्थैरारुण्यादिभिः क्रय इति चेन्न । आरुण्यादीनां गवान्तानामार्थसमाजात् । तर्हि तद्वदेवात्राप्यार्थ एव समाजोऽस्त्विति चेत्, भवेदेवम् । यदि तद्वत्समानविभक्तित्वं भवेत् । कथं तर्हि भवत्यभिमतो योग इति चेत्, ‘क्षपाचारिभिः’ इति पाठे कथम् । सकल-यत्पदनिर्दिष्टानां तत्पदेन परामर्शे तेषां सर्वेषां क्षपाचारित्वावगतेः । क्वचिद्व्यून-तादिनिबन्धनो यथा—

‘त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः

कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।

अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-

मतः शेषं यत्स्याजितमिह तदानीं गुणितया ॥’

ऽभेदसंसर्गेण विशेषणविशेष्यभावेनान्वयः । ‘यः शुक्रवासास्तमानय’ इत्यादिषु यत्तच्छब्दजन्यतादृशबोधस्य समानविभक्तित्वाभावेऽपि दर्शनादिति भावः । अनुवाद्यानां हीति । यत्पदनिर्देश्यानां हीत्यर्थः । विधेयेन विधेयत्वेन स्वार्थबोधकतच्छब्दार्थेनैव । गुणत्वस्येति । यच्छब्देन यादृशधर्मविशिष्टं निर्दिष्टं तत्तत्पदविधेये गुणभूतम् । यथा—‘यः शुक्रवासास्तमानय’ इत्यादौ शुक्रवसनदेर्विधेयानयनाङ्गत्वेन गुणत्वमित्यर्थः । यथाश्रुतेऽनुवाद्यस्य विधेयं प्रति प्रधानत्वाद्गुणत्वोक्तेरसंगतेः । धर्म्यन्तरस्थैरपीति । ‘वाससा क्रीणाति’ इति वचनात्क्रयसाधनवस्तुपरिच्छेदकतयाप्यारुण्यादि क्रियाङ्गं स्यादित्यर्थः । आर्थसमाजादिति । परस्परकाङ्क्षार्थतः परस्परनियमादित्यर्थः । ननु क्षपाचारिभिरित्युक्तावपि येषामित्यादिष्वध्वन्तान्वयानुपपत्तिरित्याशयेन पृच्छति—कथमिति । भिन्नविभक्तिकेनापि तत्पदेन सक-

१. ‘त्वमेवमिति । नायिकां प्रति दूत्या इत्युक्तिः । हे सुभगे, त्वमेवं दृश्यमानोत्कर्षसौन्दर्यं यस्यास्तथाभूता । स च । प्रकृतनायकोऽपीत्यर्थः । चकारस्याप्यर्थत्वात् । रुचिरतायाः सुन्दरतायाः । परिचितः संबन्धी । इह संसारे कलानां चातुरीणां परां सीमानं काष्ठां युवामेव भजथ आश्रयथः । ‘सीमान्तं’ इति पाठेऽपि स्फुट एवार्थः । तत्तत्सादिलेखविधं वा युवयोर्द्वन्द्वं मिथुनं दिष्ट्या भाग्येन संवदत्यपि परस्परयोग्यमपि भवति । अतः पूर्वोक्ताच्छेषमवशिष्टं समागमरूपं यदि स्यात्तदानीमिह द्वन्द्वे विद्यमानया गुणितया जितं स्यादित्यनुपपत्तेरान्वयः । तदैव गुणितया उत्कर्षोऽन्यथा वैफल्यदपकर्ष इति भावः । अत्र यदीत्यस्याभावाप-दित्यस्य च तदर्थबोधकत्वादभिमतान्वयालाभः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र शेषसंपत्तेर्गुणिता जयप्रयोजकत्वान्वयो विवक्षितः । स च द्विधा संभवति—यदित्यस्य चेदित्यर्थकतया, तद्यदि पदार्थयोर्विवक्षया वा । तयोर्यदि प्रथमे तात्पर्यं तदावाचकता । द्वितीये तु न्यूनपदत्वमिति । न च न्यूनपदस्याप्यत्रैवान्तर्भावः । क्वचिन्न्यूनपदेऽप्यध्याहारादिना मतयोगसंभवे विलम्बादेरदुष्टत्वसंभवात् । क्वचिदाकाङ्क्षविरहाद्यथा—

‘सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते

देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।

कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं

तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥’

अत्र पूर्वार्धाद्येनोत्तरार्धस्य योगो विवक्षितः, न च कथंचित्संपद्यते । तथाहि—अर्थानां वाक्यार्थयोगः क्रियात्वेन वा कारकत्वेन वा संबन्धित्वेन वा पृषां विशेषणतया वा हेतुत्वलक्षणत्वादिना वा तदादिना पूर्ववाक्यार्थमनूय वाक्यान्तरावष्टम्भाद्वाक्यैकवाक्यतया वा भवेत् । तत्र कोदण्डादेः प्रथमतृतीयपञ्चमपष्टाः पक्षास्तद्विशेषणता चासंभाविता एव । कारकत्वमपि कर्मकर्तृभावभ्यामन्यत्र घटते । तत्राकर्णनक्रियायां पदार्थमात्रस्य कर्मत्वे विवक्षिते ‘कोदण्डं शरान्’ इत्यादि स्यात् । अथ परस्परांशान्विता मिलिताः पदार्थाः कर्म, न प्रत्येकम् । अतो न प्रत्येकवाचकात्कोदण्डादिशब्दाद्वितीयेति चेत्, तर्हि शुद्धप्रातिपदिकार्थमात्रार्थकत्वात्कोदण्डः शरा

लयच्छब्दार्थपरामर्शं क्षपाचार्यभेदलाभ इत्याह—सकलेति । तद्यदीति । शेषं यत्तद्यदि स्यादित्यर्थः । अध्याहारादिनेति । आदिपदेन लक्षणापरिग्रहः । तथा च स्वरूपायोग्यविषये प्रकृतदोष इति विषयभेद इति भावः । उत्तरार्धस्य तदर्थस्य । कर्मत्व इति । कर्मविशेषणत्वादित्यर्थः । येनेत्युत्तरवाक्यगतयच्छब्दाक्षिप्तेन हि तच्छब्देन कर्म समर्प्यते तत्राभेदेन कोदण्डादेरन्वये समानविभक्तिकत्वस्यापेक्षितत्वात्प्रत्येकं द्वितीया स्यादित्यर्थः । अथेति । परस्परं कर्तृकर्मभावेनानन्विताः समुदिताः कोदण्डादयस्तच्छब्दोपात्तकर्मविशेषणमिति न प्रत्येकं द्वितीयापत्तिरित्यर्थः । तर्हीति । कर्तृकर्मभावान्वये हि तद्वोधकविभक्तिप्रसङ्गः

१. ‘सङ्ग्रामेति । खण्डप्रशस्तौ पथमिदम् । सङ्ग्राम एवाङ्गणं निर्भयसंचारात् । आगतेन भवता चापे समारोपिते मौर्व्यामारोपिते सति । देवेति संबोधनम् । येन येन सहसा इति यद्यत्समासादितं प्राप्तं तदाकर्णयेति संबन्धः । केन किं समासादितमित्याकाङ्क्षायां मुत्तरार्थम् । तत्र च समासादितमित्यस्य वचनाद्विपरिणामेन समासादिताः समासादितं समासादितः समासादितेत्येवमनुपपन्नो बोध्यः । भूमण्डलेन च राशः समासादनं स्वस्वामित्येवगन्तव्यम् । अत्र कोदण्डादीनां कर्तृकर्मभावान्वयोऽभिमतो न संभवति । विभिन्नलङ्गवचनतया । कोदण्डेन शराः समासादितमित्यन्वयायोगात् । आकर्णनक्रियाकर्मत्वेनान्वये कोदण्डं शरानित्याधापत्तेरभवन्मतयोगत्वं दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

इत्यादि प्रथमा स्यात् । 'माहिषं दधि सशर्करं पयः' इत्यादिवत् । अथ समासादनक्रियायां कोदण्डादीनां कर्तृतया शरादीनां तु कर्मभावेनान्वय इति चेत्, न शराः समासादितमित्यनन्वयात् । किं च येन यत्समासादितं कोदण्डेन शराः समासादितास्तदाकर्णयेति पर्यवसाने कर्त्रोः कर्मणोश्च भेदः प्रतीयेत न चाकाङ्क्षानिवृत्तिः स्यात् । अथ यच्छब्दस्य बुद्धिस्थवाचकतया कोदण्डादिपदार्थ एव यच्छब्दार्थः । तथा च यच्छब्दार्थस्य क्रियान्वये कोदण्डादीनामन्वयो जात एवेति चेत्, न । एवं हि कोदण्डादीनां पुनरुपादानं व्यर्थमेव स्यात् । तस्मादस्ति कश्चित्प्रकारकृतस्तदर्थयोर्भेद इति तदवच्छिन्नतया योगः कथञ्चिदुपपादनीयः । एतेनाक्षिप्ततच्छब्दार्थत्वमपि निरस्तम् । अथ कर्तृकर्मणोर्विशेषणानि कोदण्डादीनीति चेत्, न । कोदण्डेन येन शरा यत्समासादितं तदाकर्णयेति वाक्यार्थपर्यवसाने पुनर्विशेषानुक्तावाकाङ्क्षाया अतिवृत्तिप्रसङ्गात्, शरा यदित्याद्यन्वयबाहुल्यप्रसङ्गाच्च । अत एव 'कोदण्डादिशरादिकर्तृकर्मणी । तद्विशेषणं तु यच्छब्दार्थ इत्यपि व्युदस्तम् । अथ येन

स्यात् । तदभावे तु प्रत्येकं साधुत्वार्था प्रथमा स्यादित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—**माहिषमिति** । 'माहिषं दधि सशर्करं पयः कालिदासकविता नवं वयः । एणमांसमबला च कोमला स्वर्गशेषमुपभुञ्जते जनाः ॥' इत्यत्र हि माहिषदध्यादिसमुदायस्याभेदेन स्वर्गशेषपदार्थे कर्मणि समन्वयः । वृत्तौ वाक्यार्थपदं पदार्थसमुदायपरम् । यथाश्रुते प्रथमाया आपादनासंभवात् । 'परस्परान्विता' इति पाठस्तु प्रामादिक एव । वाक्यार्थकर्मताया अनुपदमेव शङ्क्यमानत्वाच्चेति बोध्यम् । **अथेति** । एवं च कोदण्डादेः प्रत्येकं समुदितस्य वा नाकर्णनक्रियान्वयो येन प्रत्येकं द्वितीया प्रथमा वा स्यात् । किं तु समासादनक्रियायामुपात्तविभक्तिमिरेव वाक्यार्थानां चाकर्णनक्रियायां कर्मत्वेनान्वय इत्यर्थः । समासादितमिति लिङ्गवचनविपरिणामेनान्वयमाशङ्क्याह—**किं चेति** । कर्त्रोः येनेति कोदण्डेनेति पदोपात्तयोः कर्मणोः । यद्यदिति शरा इत्यादिपदोपात्तयोः । **भेद इति** । येन कोदण्डेनेत्येवमभेदान्वयाबोधादित्यर्थः । इष्टापत्तिमाशङ्क्याह—**न चेति** । येन यदित्यस्य विशेषानुक्तेरिति भावः । येन येनेत्यनेनैव बुद्धिस्थकोदण्डादिबोधकेनाकर्णनक्रियाकर्मत्वेन कोदण्डादेरन्वयाच्च तेषामनन्वय इति शङ्कते—**अथेति** । अस्मिन्पक्षे उत्तरार्धवैयर्थ्यम् । यच्छब्दार्थतात्पर्यग्राहकत्वे तु तदेवोपादेयं न येनेत्याशीत्याह—**एवं हीति** । प्रकारकृतो बुद्धिस्थकोदण्डत्वादिप्रकारभेदकृतः । तदर्थयोर्यच्छब्दकोदण्डादिशब्दार्थयोः । **आक्षिप्तेति** । उत्तरवाक्यस्थयच्छब्दाक्षिप्तेत्यर्थः । **अथेति** । कर्तृकर्मणोर्यच्छब्दोपात्तयोः । **विशेषणानीति** । कोदण्डेन येनेत्येवं पूर्वार्धेन वाक्यतापन्नानीत्यर्थः । अत एवोक्तदोषात् । येन कोदण्डेनेति कोदण्डादिविशेषणत्वं यत्पदार्थस्येति पक्षेऽपि साकाङ्क्षत्वम् । शरा यदित्याद्यसामञ्जस्यं च तुल्यमित्यर्थः । **अथेति** । अत्र प्रश्नवशेन कोदण्डादेर्यत्पदार्थाभेदलाभ उत्तरवाक्यस्यासंबद्धान्यकत्वरिहारश्च भवतीति भावः । असौ प्रश्नः । उत्तरेण प्रश्नो

यदिति सामान्यतोऽवगमात्केन किमिति विशेषप्रश्ने कोदण्डेन शरा इत्याद्युत्तररूपाणि वाक्यान्तराणीति चेत्, न । तादृशप्रश्नाश्रवणात् । अथासावुच्यते एवमुत्तरालंकारोऽपि लभ्यत इति चेत्, न । येन यदासादितं तदाकर्णयेति प्रतिज्ञाय प्रश्नं विनापि कोदण्डादिनिर्देशसंभवेन तदुच्यनासिद्धेः । ननु चासादितमित्यस्य क्रियापदस्य वचनादिविपरिणामेनानुपप्लवे कोदण्डेन शराः समासादिता इत्यादिवाक्यान्तरारम्भे को दोष इति चेत्, वाक्यभेदः । पूर्वापरार्धयोरनन्वयतादवस्थ्यात् । लोके तादृशवाक्यभेदेऽपि दोषाभावात्तथा प्रयोग इति ।

व्यङ्ग्यस्यापि विवक्षितयोगाभावेऽस्यावतारो यथा—

‘चापाचार्यश्चिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः

शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।

अस्त्येवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधं

बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥

अत्र रेणुकाकण्ठबाधान्यनिन्दया भार्गवस्य योगो विवक्षितः तन्निन्दा-प्रकरणात् । परशोः स्वक्रियापाटवेनानिन्दनीयत्वाच्च न च तथा प्रतीयते । कृतवतेति तृतीयया परशुनैव संबन्धावगमात् । ‘कृतवतः’ इति पाठे तु भार्गवे निन्दायोगः प्रतीयते, यदि तु परशुनिन्दानन्तरं विदग्धोक्त्या भार्गवेऽपि निन्दावगमस्तदा कृतवत्वस्यानेन योगाद्वाच्यायोगोदाहरणमेवैतत् । तथाहि स्वर्ध्या-योग्यत्वोपपत्तये परशुस्वामिनो महादेवशिष्यत्वादीनि विशेषणान्युपात्तानि तथा तदयोग्यत्वोपपादनाय तस्यैव कश्चिद्धर्मो वक्तुमुचित इति भार्गवेण कृतव-

ञयने उत्तरालंकारो वक्ष्यत इत्ययं पक्षो युक्त इत्यर्थः । दूषयति—नेति । सामान्यतोऽभिहितस्यार्थस्य पर्यवसानाय प्रश्नं विनाप्युत्तरवाक्योपपत्तेः प्रश्नोज्जयनासंभवात् । यत्र प्रश्नोज्जयनं विना वाक्यान्तरानुपपत्तिस्तत्रैव तदुच्यनेनालंकारत्वोपगमात् । यथा—‘वाणिअअ हत्थिदन्ता कुतो अम्हाणं—’ इत्याद्युदाहरणे । तर्हि निर्दुष्ट एवायं पक्षः । आसादितमित्यस्य लिङ्गवचनविपरिणामेनान्वयोपपत्तेरिति शङ्कते—नन्विति । वैरस्याप्रसक्त्या लोके दुष्टत्वाभावेऽपि काव्ये तत्प्रसक्त्या दोषत्वमवर्जनीयमित्याह—लोक इति । संबन्धावगमादिति । निन्दाप्रयोजकरेणुकाकण्ठबाधाकारित्वसंबन्धावगमादित्यर्थः । विदग्धेति । अन्यनिन्दाव्याजेनान्यनिन्दोक्तिरूपेत्यर्थः । अनेन भार्गवेण । ननु कृतवत्वस्य भार्गवान्वयविवक्षायां किं मानमत आह—तथा हीति । परशोर्हि स्पर्धनीयत्वं स्वामिद्वारकमिति तत्प्रयोजकविशेषणानि भार्गव एव यथोक्तानि । तथा तद्व्यतिरेकप्रयो-

१. ‘चापाचार्य इति प्रागेव व्याख्यातम् । अत्र रेणुकाकण्ठच्छेदकारित्वस्य भार्गवेण योगोऽभिमतः । तन्निन्दाप्रस्तावात् । न चासौ संभवति । कृतवतेति तृतीयान्तस्य परशुनान्वयादिति स एव दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

स्वस्यान्वयो विवक्षितो न प्रतीयत इति दुष्टत्वम् । एवं च चण्डीदासादि-
व्याख्यानमनादेयम् ।

कचित्समासाच्छन्नतया मतयोगाभावः । यथा—

‘चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः

सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।

कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं

राजन्योपनिमज्जणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥’

अत्र सङ्ग्रामाध्वरस्य ऋत्विगादिषु सर्वत्रान्वयो विवक्षितो न तु प्रतीयते ।
समासच्छन्नत्वात् ।

कचिद्व्युत्पत्तिविरोधात् । यथा—

‘जङ्घाकाण्डोहनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः

प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।

भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-

संभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥’

अत्र तनुपदार्थस्य पार्वत्या योगोऽभिमतो दण्डपादेन प्रतीयते । वाक्ये
यत्प्रधानं तत्रैव निजादिपदव्युत्पत्तेः । दूषकतावीजमिष्टप्रतीतिविरह इति
नित्यदोषोऽयम् ।

अनभिहितवाच्यमित्यावश्यकं ण्यः । तेनानभिहितं वाचकपदातिरिक्तमव-
श्यवाच्यं यत्र तदित्यर्थः । वाचकपदानभिधाने न्यूनपदत्वव्यवस्थापनात् ।
यत्तु “न्यूनपदेऽप्रतीतिमात्रमत्र तु विरुद्धा प्रतीतिरित्यनयोर्भेदः । ‘अप्राकृत-’

जकमपि तत्रैव वक्तुमर्हम् । अतो विवक्षिताप्रतीतिरिति भावः । एवं चेत्यनन्तरं
सतीति शेषः । वाक्ये यत्प्रधानमिति । प्रधानक्रियाकर्त्रन्वितस्वार्थबोधकत्व-
व्युत्पत्तेरित्यर्थः । आदिपदेन स्वात्मादिपदपरिग्रहः । अनभिहितमनुक्तम् । वाच-

१. ‘चत्वार इति । वेणीसंहारे दुन्दुभिध्वानमाकर्ण्य रणयशः प्रवर्तत इत्युक्त्वा भीम-
स्योक्तिरियम् । चत्वारो युधिष्ठिरव्यतिरिक्ता वयं आतर ऋत्विजः । अर्थात्सङ्ग्रामाध्वरे ।
प्रथमद्वेऽपि योज्यम् । स सर्वशत्वेन प्रसिद्धो भगवान्हरिः श्रीकृष्णः कर्मणामुपदेष्टोपदेशकः
सदस्यापरनामधेयः । सङ्ग्रामाध्वरे दीक्षितो गृहीतनियमो नरपतियुधिष्ठिरः । पत्नी द्रौपदी
गृहीतं व्रतं दुर्योधनवपर्यन्तं वेणीसंयमरूपं यया तथाभूता । सपत्नीकस्यैव यज्ञाचरणौ-
चित्यात् । कौरव्या दुर्योधनाद्याः शतं आतरः पशवः । तत्तुल्यतया वध्यत्वात् । प्रियाया
द्रौपद्याः परिभवः सभायां केशाम्बराकर्षणादिरूपस्तज्जनितस्य क्लेशस्योपशान्तिरेव फलम् ।
राजन्यानां क्षत्रियाणामुपनिमज्जणायान्नाय हतो दुन्दुभिः स्फीतं क्षिग्धं यथा स्वात्तथा
रसति । शब्दायत इत्यर्थः । ताडने क्षिग्धशब्दोदयाज्जयसूचनम् । ‘यशोदुन्दुभिः’ इति
पाठे यश एव दुन्दुभिरिति रूपकम् । स्फीतमिति यशोविशेषणं वा । अत्र ऋत्विगादीनामध्व-
रसंभवस्याभिमतस्यासंभवः स्पष्टः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

इति वक्ष्यमाणोदाहरणे च मत्संबन्धित्वेन वीरशिशुप्राप्तिरेव विरुद्धा प्रतीतिः”
इति कस्यचिद्वाख्यानं तदनुभवविरुद्धम् । तथानुभवस्याप्रतीतिः । इदं चान्य-
थावाच्यस्यान्यथाभिधानाद्वा, अवाचकस्य द्योतकादेरनभिधानाद्वा । आद्यं यथा—

‘अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टे-

रत्याहृतस्य मम नाम तथापि नास्या ।

कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-

सौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥’

अत्राहमपहतोऽस्मीति प्रकारेणापहतत्वस्य विधिर्वाच्यः । तेन वाक्यद्वय-
संपत्तौ तथापीत्युपपद्यते । द्वितीयवाक्यगतत्वेनैव तस्य प्रतीतिः । नन्वयम-
विमृष्टविधेयांश्च एवेति चेत्, न । नहि विधेयाविमर्शमात्रमत्र दूषणम् । किं तु
तथापीत्यस्यासंगतिरपि । तदनुरोधेनैव ह्यपहतत्वस्य विधेयत्वाभ्युपगमो न तु
तत्प्राधान्यात् । एतेन ‘अवान्तरवाक्येन विधेयाविमर्शः’ इति समाधानम-
नादेयम् । बीजाभावात् । ‘क्षणमप्यमुक्त—’ इत्यवान्तरवाक्य एव तदुदा-
हरणाच्च । अस्तु वात्रोदाहरणे विधेयाविमर्शस्तथापि द्वितीयभेदे तदसंकरमात्रेणैव
दोषभेदव्यवस्थितः । यथा—

‘एषोऽहमद्वितनयामुखपद्मजन्मा

प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्ती ।

कपदातिरिक्तमर्थाद्योतकम् । अर्थादेर्वाचकत्वमते तु स्वातन्त्र्येणाप्रयोज्यम् । वाच-
कपदातिरिक्तत्वेनेन विवक्षितमिति ज्ञेयम् । तथानुभवस्य तत्संबन्धितया वीरशि-
शुकानुभवस्य । द्वितीयवाक्येति । तस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैव वाक्यार्थप्र-
तीतेरित्यन्वयः । नन्वास्थाप्रसज्जकतयापहतत्वस्य प्राधान्यमावश्यकमतो विधेयाविम-

१. ‘अप्राकृतस्येति । रामेण धनुर्भङ्गे कृते जनकस्योक्तिरियम् । दृष्ट्वेति भिन्नक्रमच-
कारेण श्रुतत्वसमुच्चयः । अप्राकृतस्य यत्किञ्चित्कौतुकानाकर्षणीयस्यात्यद्भुतैर्दृष्टैः श्रुतैश्च
चरितातिशयैर्यादन्येषां हृतस्य वशीकृतस्य मम तथापि तेषु नास्या । अनादर इत्यर्थः ।
एष पुरोवर्ती रामो वीरशिशुकाकृतिर्वीरबालकाकृतिरप्रमेयस्यापरिमितस्य माहात्म्यस्य
साराणां यः समुदायस्तन्मयः कोऽप्यनिर्वाच्यः पदार्थः । वर्तत इति शेषः । अत्र तथापी-
त्यस्य यद्यपीत्येतत्साकाङ्क्षतया यद्यप्यपहत इति वाच्यं न च तथोक्तमित्यनभिहितवाच्यत्वं
दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘एषोऽहमिति । उपाहरणे स्वप्ने उपानिरुद्धयो-
र्वास्तवं संगमं निगूढं संपाथागतस्य कामस्त्रेयमुक्तिः । एषोऽहं कामोऽसुरराजस्य बाणस्य
मुतामुषाख्यां स्वप्नेऽनिरुद्धेन प्रबुधमुतेन या घटना समागमस्तेनाधिगतं प्राप्तमभिरूपं
योग्यं लक्ष्म्याः सौन्दर्यश्रियः फलं यया तथाभूतां विधाय संपाद्य प्राप्त आगत इत्यन्वयः ।
कीदृशः । अद्वितनयाया मुखपद्माजन्म यस्य तथाभूतः । दाहानन्तरं हरेण वरे दत्ते
गौरीवदनात्कान्तोत्पत्तिरिति पुराणप्रसिद्धिः । पुनः कीदृक् । सुरासुरमनोरथानां दूरवर्ती ।

स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगतानुरूप-

लक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥'

अत्र सुरासुराणामपि मनोरथस्य दूरवर्तीत्यप्यर्थोऽवश्यवाच्यः । अन्यथा-
न्यमनोरथविषयत्वं प्रतीयते । असमासेऽप्येष दोषो यथा—

‘प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसस्त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः ।

कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥’

अत्र लवमपीत्यप्यर्थोऽवश्यवाच्यः । अन्यथा लवनिषेधे स्थूलप्रतीतिप्रस-
ङ्गात् । दूषकताबीजं प्रथमेऽनभिमतप्रतीतिः अन्त्ययोस्तु विरुद्धप्रतीतिरिति
नित्यदोषोऽयम् ।

अपदस्येति । अस्थानस्थपदमस्थानस्थसमासं चेति द्वयमित्यर्थः । अस्था-
नस्थत्वं चायोग्यस्थानस्थत्वम् । तयोराद्यं यथा—

‘प्रियेणै संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।

स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥’

शोऽस्त्येवेत्यत आह—अस्तु वेति । द्वितीयमेदे द्योतकानुक्तिरूपे । अप्यर्थ-
इति । अतश्चापिरवश्यवाच्य इति भावः । एवमप्रेऽपि । अन्वयप्रतियोगिसंनिधि-

सुरासुरैर्मनसाप्यचिन्त्यगतिरित्यर्थः । अन्यथेन्द्रियान्तरगम्यत्वसंभावनापत्तेः । अत्राप्यर्थो-
ऽवश्यवाच्योऽनभिहितः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘प्रणयेति । विक्रमोर्वशीये उर्वशीं प्रति पुरुरवस उक्तिरियम् । हे मानिनि, माम-
कमपराधस्य लवं लेशं पश्यसि । यतो यस्मादपराधलेशाद्दासभूतं जनं मलक्षणं त्यजसी-
त्यन्वयः । कीदृशस्य मम । त्वयि निबद्धरतेः स्थिरानुरागस्य । तथा प्रियवादिनः । एवं
प्रणयभङ्गे पराङ्मुखं तद्गीरु चेतो यस्य तथाभूतस्य । एवं विशेषणत्रयस्यापराधलेशाभावो-
पपत्त्याभिप्रायगर्भत्वात्परिकरालंकारः । अत्रापि लवमपीत्यवश्यं वाच्यम् । अन्यथा लवनिषेधेऽपि
स्थूलसंभावनापत्तेः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. काव्यप्रकाशपुस्तकेष्वसिञ्छोकपूर्वार्धे
प्रथमद्वितीयपादयोर्व्यत्ययः. उदाहरणचन्द्रिकायामपि ‘त्वयीति’ इत्येव प्रतीकं गृहीतमस्ति.

२. ‘प्रियेणेति । किरातार्जुनीये जलक्रीडावर्णने पद्यमिदम् । काञ्चिन्नायिका प्रियेण
कान्तेन विपक्षसंनिधौ सपत्नीसमक्षं संग्रथ्य सम्यग्रग्रथित्वा पीवरौ पीनौ स्तनौ यत्र
तथाविधे वक्षस्युपाहितां निहितां जलेनाविलां म्लानामपि स्रजं मार्जं न विजहौ न
परित्यक्तवतीत्यन्वयः । कुत इत्याकाङ्क्षायामाह—वसन्ति हीत्यादि । हि यस्मात्प्रेम्णि
गुणा वसन्ति न वस्तुनि । प्रेमसत्त्व एव वस्तुन उपादेयत्वचित्ताकर्षकत्वयोर्दर्शनात्तदभावे
चादर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रेमैवोपादेयं चित्ताकर्षकं च भवतीति तदेव गुणवदित्यर्थः ।
तथा च सपत्नीसमक्षं निर्माय प्रेमपूर्वकं कान्तेन हृदि निहितायाः स्रजो जलाविलतया
सौम्याभावेऽपि प्रेमास्पदतयापरित्याज्यत्वं युक्तमिति भावः । अत्र नकारोऽस्थानस्यः ।
न काचित्, अपि तु सर्वा इति विरुद्धप्रतीतिप्रसङ्गात् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र न काचिदिति न योग्यं नञः स्थानम् । प्रतियोगिसंनिधिर्हि तथेति न युक्तम् । तद्व्यवधानेऽपि 'न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्' इत्यादौ निरवद्यप्रयोगदर्शनात् । परं तु न काचिद्विजहौ अपि तु सर्वा एव विजहुरिति विरुद्धप्रतीतिप्रसङ्गादयोग्यं स्थानमेतत् । विरुद्धप्रतीतिजननादिव विवक्षितोपयोगस्य पदस्योपयोगासंभवादपि स्थानस्यायोग्यत्वम् । यथा—

‘लघ्नः केलिकचग्रहश्चजटालम्बेन निद्रान्तरे

मुद्राङ्कः शितिकंधरेन्दुशकलेनान्तःकपोलस्थलम् ।

पार्वत्या नखलक्ष्मशङ्कितसखीनर्मसितव्रीडया

‘ प्रोन्मृष्टः करपङ्कजेन कुटिला ताम्रच्छविः पातु वः ॥’

अत्र कुटिलाताम्रच्छवित्वं नखलक्ष्मशङ्काबीजमिति तत्पूर्वमेव प्रयुज्यमानमुप-
युज्यते न तु पश्चादिति स्पष्टं दुष्टिबीजम् । नित्यश्चायम् ।

अस्थानस्थसमासं यथा—

‘अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि

स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिबालोहितः ।

१. ‘लघ्न इति । शितिकंधरस्य महादेवस्येन्दुशकलेन चन्द्रखण्डेन निद्रान्तरे स्वापमध्येऽन्तः-
कपोलस्थलं कपोलस्थलमध्ये लघ्नो मुद्राङ्कस्तदाकारचिह्नं वो युष्मान्पातु रक्षस्विति संबन्धः ।
कपोलस्थलं तु महादेवस्येति केचित् । पार्वत्या इत्यन्ये । शितिकंधरपदोपादानस्वार-
स्यात् चरमपक्ष एव युक्तः प्रतिभाति । कीदृशेनेन्दुशकलेन । केल्या क्रीडया यः
कचग्रहस्तेन कथा शिथिला या जटा तस्यां लम्बो लम्बनं यस्य तथाभूतेन । एवं च कपो-
लसंबन्धोपपत्तिः । कीदृशो मुद्राङ्कः । पार्वत्या नखलक्ष्मणि नखनिह्ने शङ्किता संजातशङ्का
या सखी तस्या नर्मसितेन लीलासितेन या व्रीडा लज्जा तथा हेतुभूतया करपङ्कजेन
प्रोन्मृष्टो मार्जितः । तथाविधसितेन व्रीडा यस्या इति पार्वत्या विशेषणमित्यन्ये ।
पुनः कीदृक् । कुटिलश्चासावाताम्रच्छविरीषदारक्तकान्तिः । इदमेव च नखलक्ष्मशङ्काबीज-
मिति । ततः पूर्वमेवैतत्पदस्यानं युक्तम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अद्यापीति ।
असौ दृश्यमानः शशी तत्क्षणे उत्फुल्लद्रिकसचत्कैरवं कुमुदं तस्य कोषः कुञ्जल एव
कोषः खड्गपिधानं तस्मान्निःसरतामलीनां भेणी पङ्क्तिरेव कृपाणः खड्गस्तं कर्षती-
त्यन्वयः । कुत इत्याकाङ्क्षायां हेतुमुत्प्रेक्षते—अद्यापीत्यादि । एष मानः सीमन्ति-
नीनां हृदि अद्यापि मत्संनिध्येऽपि स्थातुं वाञ्छति । धिक्किन्धमिदमिति क्रोधादिवेत्यर्थः ।
अतएवालोलित आरक्तः । कोपेन रक्तिमोदयात् । हृदि तिष्ठासायां हेतुगर्भे तद्विशेषण-
माह—स्तनेति । स्तनावेव शैलौ तद्रूपेण दुर्गेण विषमेऽनाक्रमणीये । शशी कीदृक् ।
प्रोद्यन्तो दूरतरं प्रसारिताः कराः किरणा एव करा हस्ता येन तथाभूतः । खड्गाकर्षणेऽपि
हस्तस्य तथात्वात् । ‘प्रोद्यन्’ इति पाठे भिन्नमेव शशिविशेषणम् । ‘तत्क्षणात्’ इति पाठे
तत्क्षणात्कर्षतीत्यन्वयः । अत्रास्याने दीर्घसमासः । पूर्वार्ध एव कुब्जोक्तौ तदौचित्यात् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

उद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणो-

त्फुल्लकैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाणीं शशी ॥'

अत्र पूर्वार्धं कुदस्य शशिन उक्तिरिति तत्समासस्य योग्यं स्थानं न पुनः कवेरुक्तिरुत्तरार्धमित्यस्थानसमासता । न च प्रतिकूलवर्णत्वान्तर्भावः । समासस्यावर्णरूपत्वात् । नापि पतप्रकर्षता । प्रथमवृत्तस्य प्रकर्षस्याग्रे त्यागे हि तत्संभवः । अत्र तु तद्वैपरीत्यम् । किं चोभयत्रोचितस्यैव प्रकर्षस्याभावे तत्संभवः । अत्र त्वेकतरत्रैव समासौचित्यमिति । दूषकताबीजं सहृदयवै-
मुख्यम् ।

संकीर्णं वाक्यान्तरपदेन मिश्रम् । यथा—

‘किमिति न पश्यसि कोपं पादनतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।

ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥’

अत्र पादनतं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि, इमं कण्ठे गृहाण कोपं मुञ्चेति वाक्यत्रयेऽन्योन्यवाक्यस्थपदमादायानभिमतं प्रतीयते । इदमेव च दुष्टिबीजं प्रतीतिविलम्बो वा । एकवाक्ये छिष्टत्वमिति ततो भेदः ।

गर्भितं जातगर्भम् । अन्तःस्थितवाक्यान्तरं वाक्यमित्यर्थः । तैत्तु वाक्यं कचि-
त्स्वभावत एवैकम् । कचित्तु वाक्यैकवाक्यतयैकीभूतम् । तत्राद्यं यथा—

‘पैरापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ।

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥’

अत्र वदामि भवतस्तत्त्वमिति वाक्यान्तरं प्रथमवाक्ये स्थितम् । द्वितीयं
यथा—

‘ल्लभं रागावृताङ्गा सुचिरमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे

मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता

भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥’

१. ‘किमितीति । मानिनीं प्रति सख्या इयमुक्तिः । अत्र पादगतं पादप्रणतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि । इमं कण्ठे गृहाण । मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चेति वाक्यत्रयं परस्परपदसंकीर्णम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘तत्र’ ख. ३. ‘समा-
सतः क. ४. ‘परेति । स्पष्टम् । अत्र संगतिर्न विधेयेति वाक्यं वदामीत्यादि-
वाक्यान्तरेण गर्भितम् । एवं च संगतेः सदसत्त्वसंशयः अन्यपादे कर्म साका-
ङ्क्षत्वं चेति दूषकताबीजमिति केचित् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ५. ‘लभमिति ।
अत्रासियष्टिरसतीत्वेन श्री राजपत्नीत्वेन कीर्तिश्च दूतीत्वेनाध्यवसिता बोध्या । यस्य
राज्ञः कीर्तिरम्बुधिं प्रति गतेत्यन्वयः । फलमुत्प्रेक्षते—अयो नियोगादाज्ञया इति
तत्संदेशं गदितुं वक्तुमिवेति । संदेशस्वरूपं लभमित्यादि भृत्येभ्य इत्यन्तम् । तदर्थस्तु—हे
अम्बुधे, रागो रुधिरलौहित्यमेव रागोऽनुरागस्तेनावृतं व्याप्तमङ्गं यस्यास्तथाभूतया ययै-

अत्र तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्वर्णयति तेन भृत्येभ्यो दत्तास्मीति वाक्यैकवाक्यमध्ये विदितं तेऽस्त्विति वाक्यान्तरं स्थितम्, प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकारित्वात्प्रकाशितविरुद्धम् । प्रतीतिविच्छेदोऽत्र दुष्टिवीजम् । अतो न यत्र प्रतीतिर्विच्छिद्यते तत्र नायं दोषः ।

प्रसिद्धिहृतमिति ।

‘मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्नितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥’

इति । प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

‘महाप्रलयमारुतधुमितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकंदरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥’

रवो मण्डूकादिशब्दे कविप्रसिद्धो न तूक्तविशेषणे सिंहनादे । न चावाच-

योग्यत्वं तदभावश्चायोग्यत्वमिति मतं दूषयति—प्रतियोगीति । विरुद्धमतिकारित्वादिति । एतत्परित्यागे ममापराध इति बुद्धिर्न कार्येत्येतदर्थं मयैतज्ज्ञापितमिति पर्यवसानात् । विदितमित्यनुक्तौ हि जामातृशिक्षाप्रकारश्चिन्तनीय इत्ये-

वासियष्टया खड्गयष्ट्येह सङ्ग्रामेऽरीणां कण्ठे सुदृढं यथा स्यात्तथा लभ्यम् । या चासि-
यष्टिरिह सङ्ग्रामे मातङ्गा गजा एव मातङ्गाश्चण्डालास्तेषामुपरि पतन्ती परेषां शत्रूणां
पुरषैरेव प्रकृष्टपुरषैर्दृष्टा । तेन प्रकृष्टसाक्षितत्त्वान्मिथ्यात्वशङ्कानिरासः । तस्यां खड्गयष्ट्यां
सक्तः संबद्ध एव तस्यां सक्तोऽनुरक्तोऽयं मम भर्ता राजा न किञ्चिदुक्तायुक्तं गणयति
विचारयति । यथाश्रुते तु किञ्चित्पाङ्गुण्यादिकं न गणयतीत्यर्थः । तेन युक्तायुक्तगणना-
भावेन हेतुमाह भृत्येभ्यो दत्तास्मीदं ते मत्पितुर्विदितमस्त्विति । तेन राज्ञेति कर्तरि
तृतीयेति केचित् । खड्गपक्षेऽङ्गं रेखाविशेष इति दीपिकायाम् । एवमनया भङ्गा शौर्यघा-
तुत्वयशसामुत्कर्षो वर्णितः । अत्र भृत्येभ्य इत्यन्तवाक्यैकवाक्यमध्ये विदितमित्यादिवाक्यान्तरं
प्रविष्टमिति विशेषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘महाप्रलयेति । वेणीसंवरणे रणकोलाहलमाकर्णयतोऽश्वत्थाम्न इयमुक्तिः । अथायं
समरोदधेः सङ्ग्रामरूपाब्धेः संबन्धी तत्सकाशाद्वा पूर्वमभूतोऽभूतपूर्वो रवः सिंहनादो
मुहुर्बारंवारं कुतः कस्मादितोरस्तीति प्रश्नः । कीदृशः । महता प्रलयमारुतेन धुमितानां
पुष्करावर्तकानां मेघविशेषाणां प्रचण्डमुग्रं घनं निबिडं च यद्गर्जितं तस्य प्रतिरवस्य
प्रतिध्वनेरनुकारी सदृशः । तथा श्रवणयोर्भैरवो भीषणः । एवं स्थगिता आच्छादिता ।
व्याप्तेति यावत् । रोदसी धावापृथिव्योरन्तरालमेव कंदरा गुहा येन तथाभूतः । अत्र
रवशब्दस्य मण्डूकादिशब्द एव कविप्रसिद्धिर्नैवविधे वीराणां गर्जित इति तदतिक्रमः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

कसंकरः । तुल्येनैव रूपेणोभयत्र शक्तिसत्त्वेऽप्येकत्रैव कविप्रयोगनियमात् ।
अत एवायं वाक्यदोषः । विशेषणविशेष्यसंविधानेन विशेषपरत्वादिति ।

भग्नप्रक्रममिति । भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावौचित्यं यत्र तत् । तच्चानेकधा
व्यवस्थितम् ।

तत्र प्रकृतेः क्रमभङ्गो यथा—

‘नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्संगते हन्त निशापि याता ।

कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥’

अत्रास्संगत इति गमेः प्रकृतेः प्रस्तावे यातेति यातेः प्रकृतिक्रमभङ्गः ।
भिन्नाभ्यामुपस्थापितं भिन्नवद्भातीति कुलाङ्गनानां स्वामिसदृशावस्थाप्रतीतिर्न
संभवति । तस्मात् ‘गता निशापि’ इति युक्तः पाठः । ननु ‘नैकं पदं द्विः
प्रयोज्यं प्रायेण’ इति वामनसूत्रम् । अत्रापि कथितपदं दुष्टमनुपदमेवोक्तम् ।
तथा च पुनर्गमेः प्रयोगो दुष्टः स्यादिति चेत्, न । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यातिरिक्तं
श्लोकं पदं द्विःप्रयोगनिषेधविषयः । तादृशे तु विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य
सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः । यथा—

तदर्थः संदेश इत्येव स्यादिति भावः । अत एवेति । वक्ष्यमाणहेतोरेव ।
तमेवाह—विशेषणेति । संनिधानं समभिव्याहारः । औचित्यमिति । यथाश्रुते
कथितपदस्य प्रक्रमभङ्गदोषवारकतया गुणत्वमेव सर्वत्र स्यात् । औचित्यस्य तु
कचिदेव सत्त्वादप्यत्र कथितपदत्वस्य दोषवत्त्वमुपपन्नमित्याशयः । प्रक्रमपदस्य
पूर्वोपक्रान्तपरत्वे ‘महीभृतः पुत्रवतः’ इत्यादौ पुत्रपदे प्रक्रमभङ्गो न स्यादतः
प्रस्तावः प्रक्रमपदार्थतयोक्त इति ज्ञेयम् । यातेरिति । पाठादिति शेषः ।
भिन्नाभ्यामिति । संज्ञाभेदेऽर्थभेदप्रत्ययस्यौत्सर्गिकत्वादिति भावः । उद्दे-
श्येति । उद्देश्योक्तस्यैव पुनः कथनं प्रतिनिर्देशः । तच्च कचिदुद्देश्यतयोक्तस्य
विधेयतया, कचिद्विधेयतयोक्तस्योद्देश्यतया । तत्र नाथ इत्यत्र चन्द्रास्तगमने निमित्ते
निशाया अपि तद्विधीयते । उदेतीत्यादौ विधेयतयोक्तस्य ताम्रत्वस्य ताम्र एवास्त्र-
मेतीत्युद्देश्यतया निर्देशः । इदं चोपलक्षणम् । लाटानुप्रासेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये चाहु-
ष्टत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ‘ते हिमालयं—’ इत्यादावस्मै इत्युद्देश्यस्य तच्छब्देन प्रति-

१. ‘नाथ इति । निशाया नाथे चन्द्रे नियतेर्देवस्य नियोगादस्तं गते सति निशापि
तद्भूरस्तं याता । हन्तेति हर्षे । स च दशानुरूपत्वात् । इदमेवार्थान्तरन्यासेन समर्थ-
यति—कुलाङ्गनानामिति । हि यस्मात्कुलाङ्गनानां दशानुरूपं पतिविनाशदशायोग्यमतो-
नुगमनारपरमन्यद्भद्रतरं शोभनतरं न समस्ति । नास्तीत्यर्थः । अत्र गते इति गमघातोः
प्रक्रमादभेदस्य तत्प्रयोग एवोचितो न तु यातेति याघातोरिति प्रकृतेः प्रक्रमभङ्गः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥’

अत्र ‘रक्त एवास्तमेति च’ यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपाद्यमानः स
एवार्थो भिन्न इव प्रतीयमानः प्रतीतिं व्यवदधीत । प्रत्ययस्य यथा—

‘येशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्गमुपैति लक्ष्मीः ॥’

अत्र तुमुनः क्रमे सनोऽभिधानमेकरूपताप्रतीतिं स्थगयति । ‘सुखमीहितं
वा’ इति युक्तः पाठः । सर्वनाम्नो यथा—

‘ते’ हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥’

अत्रास्मै इतीदमा प्रक्रमात्तद्विसृष्टा इत्यत्राप्यनेन विसृष्टा इत्येव वाच्यम् ।
न च तदिदमोरार्थभेदः । इदमः प्रस्तुतप्रत्यक्षपरामर्शकत्वात् । अन्यथा तयोः
पर्यायतापत्तेः । पर्यायस्य यथा—

‘महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥’

निर्देशो हेयः । एकरूपतेति । यशःप्रभृतिफलार्थिनां निरुत्सुकत्वादिविशिष्टानां

१. उदेतीति । निगदव्याख्यातम् । एवं चोद्दिष्टप्रतिनिर्देशरूपतया कथितपदत्वा-
ख्यदोषानवताराद्यथाप्रक्रान्तमेव ताम्रपदं प्रयुज्यते तथा दर्शितोदाहरणेऽपि प्रक्रान्तमेव
प्रयोज्यमुचितमिति सिद्धम् ।^१ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘यश इति । किरातार्जु-
नीये द्रौपथा इयमुक्तिः । यशोऽधिगन्तुमित्यादीनामभियोगभाजामित्यनेनान्वयः ।
अधिगन्तुं लब्धुम् । मनुष्येषु संख्यां गणनामतिवर्तितुमतिक्रम्य वर्तितुम् । मनुष्यदुर्ल-
भमुत्कर्षं प्राप्नुमिति वाक्यम् । निरुत्सुकानामौत्सुक्यरहितानाम् । अभियोगभाजामुद्यो-
गवताम् । अङ्गमुत्सङ्गम् । अत्र सन्प्रत्ययप्रयोगाच्चुमुन्प्रत्ययप्रक्रमभङ्गः ।^२ इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘त इति । कुमारसंभवे पथमिदम् । ते मरीच्यादयो मुनयो हिमाल-
यमामन्त्र्य पृष्ट्वा पुनः शूलिनं महादेवं प्रेक्ष्यासौ शूलिने सिद्धमर्थं गौरीविवाहघटनारूपं
प्रयोजनं निवेद्य कथयित्वा तेन शूलिना विसृष्टा आश्रप्ताः खमाकाशमुद्ययुरूपेतुरित्यर्थः ।
अत्रेदमः प्रक्रमभङ्गः ।^३ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘महीभृत इति । इदमपि तत्रत्यमेव
पथम् । पुत्रवतोऽपि महीभृतो हिमाचलस्य दृष्टिस्तस्मिन्गौरीरूपेऽपत्ये तृप्तिं दिदृक्षापूर्तिं न
जगाम । न प्रापेत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—अनन्तेत्यादि । हि यतः अनन्तपुष्पस्य मधो-
र्वसन्तस्य संवन्धिनी द्विरेफाणां भ्रमराणां माला पङ्क्तिश्चूते आत्रे सविशेषः सातिशय-
सङ्गा आसक्तिर्यस्यास्तथाभूता । भवतीति शेषः । अत्र द्विरेफमाला सादृश्यातिश-
यादसन्तदृष्टित्वेनाव्यवसिता बोध्या । अत्र पुष्पसामान्यसत्तायां तद्विशेषादरदृष्टान्तेन
दार्ष्टान्तिकेऽप्यपत्यसामान्यसत्ताभिधानार्थमपत्यवत् इत्येव वक्तुमुचितं न तु विशेषतः
पुत्रवतः इति । दृष्टान्तवैषम्यापत्तेः । अतः प्रक्रमभङ्गः । पर्यायत्वं त्वेकधर्मिवाचकतया

अत्रापत्येषु बहुषु सत्यपि तस्मिन्नपत्ये स्नेहातिशयविवक्षणादपत्यशब्दे प्रयोक्तव्ये पुत्रशब्दप्रयोगात्पर्यायप्रक्रमभङ्गः । केचित्तु 'असति पुत्रे सुतायां स्नेहो युक्तस्तस्य तु सत्यपि पुत्रे तस्यां सोऽभूदिति विवक्षणाश्चात्र दोषप्रतीतिः' इति समादधरे । तदयुक्तम् । अनन्तपुष्पस्य चूते इति दृष्टान्तवैषम्यप्रसङ्गात् । तत्र च सामान्यविशेषभावेनोपादानादार्ष्टान्तिके तथैवौचित्यात् । तस्मात् 'अपत्यवतोऽपि' इति युक्तः पाठः । न चात्रापि बहुत्वालाभाद्दृष्टान्तवैषम्यम् । अपत्यान्यस्य सन्तीति बह्वर्थ एव मतुपो विधानात् । एतेन "साधुरेव 'पुत्रवतः' इति पाठः इत्यतः केचिदित्यनेन सांप्रदायिका इत्यर्थकेन वृत्तिकृतोऽत्रानुमतिरेव" इति चण्डीदासमतमनादेयम् । अथापत्यपुत्रशब्दयोः कथं पर्यायता । तत्र केचित्, 'अपत्यपर्यायोऽपि पुत्रशब्दः । अन्यथा पुत्रीत्यत्र स्त्रीप्रत्ययस्य कुत्रान्वयः' इत्याहुः । तन्न युक्तम् । तथा सति दोषस्यैवाप्रसङ्गात् । अपत्यार्थकत्वाविशेषात् । तस्मात्पर्यायत्वमेकार्थप्रतिपादकत्वमात्रम् । न त्वेकप्रकारकप्रतीतिजनकत्वमपीति । अत एव लघुतामुपक्रम्यागरीयानित्युक्तावपि पर्यायक्रमभङ्ग उच्यते । यथा—

‘विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।

नियता लघुता निरायतेरगरीयाञ्च पदं नृप श्रियः ॥’ इति ।

अत्रैव विपदापदोरुपसर्गप्रक्रमभङ्गो द्रष्टव्यः । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम् । लघुतां भजते निरायतिर्लघुताभापदं नृपश्रियाम्' इति पाठो युक्तः । यदि न च्छन्दोभङ्गः ।

नियतलक्ष्मीप्राप्तेरेकरूपतया विवक्षितत्वादिति भावः । तथा सतीति । पुत्रशब्दस्यापत्यसामान्यार्थत्वे सतीत्यर्थः । अयं भावः—अत्र हि दृष्टान्तानुरोधेन सामान्यविशेषभावेनापत्यप्रतीतिर्विवक्षिता । सा च शब्दभेदेऽन्युपपद्यते न दोषप्रसक्तिः । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यस्थल एवैकरूपताप्रतीत्यनुरोधेन शब्दभेदे दोषोपगमात् । इह च तदभावादिति । अत एव उक्तपर्यायरूपत्वोपगमादेव । विपदित्यादौ कारणमालायां पूर्वविहितविपदादेरुक्तस्त्रानुवाद्यत्वादुद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव इति शब्दभेदे पूर्वस्योत्तरत्र हेतुत्वप्रतीतेः स्थगनं न दोष इति ज्ञेयम् । वृत्तौ युक्तमित्युक्तम् । छन्दोभङ्गप्रसङ्गात् । अतः शेषं पूरयति—यदि नेति । कर्मकारकवाचकस्येत्यनन्तरं प्रस्तावौचित्यभङ्ग

गौणं न तु मुख्यमिति बोध्यम् । एतेन 'पुत्रे सत्यपि कन्यायामधिकप्रतीतिरिति विवक्षणात्र दोषः' इति समाधानं निरस्तम् । इति कृतं पङ्क्तिरेव । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'विपद इति । किराजुंतीये द्रौपद्या इयमुक्तिः । अविक्रमं पराक्रमरहितम् । आपदा उपेतं युक्तं जनमायतिरुत्तरकालशुद्धी रहयति त्यजति । निरायतेरायतिरहितस्य जनस्य लघुता नीचता नियता । अगरीयान्गौरवहीनो जनः श्रियो लक्ष्म्याः पदमाश्रयो न भवतीति शेषः । नृपेति युधिष्ठिरसंबोधनम् । अत्रापदित्युपसर्गप्रक्रमभङ्गः अगरीयानिति पर्यायस्य चेति ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-

रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।

अमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः

प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरोभावि नार्यः शशंसुः ॥’

अत्र काचिदित्युपक्रम्य काश्चिदिति वचनप्रक्रमभङ्गः । तस्मात् ‘काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा निश्रीकाः’ इति पठनीयम् । ‘कम्पमाना’ इति च ‘कम्पमापुः’ इति पठनीयम् । शतृशानचोर्गुणीभूतक्रियान्तराभिधायकत्वनियमात् । न चात्र क्रियान्तरं प्रधानमस्ति ।

‘गाहन्तां महिषा निपानसंलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं

छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।

१. ‘काचिदिति । पार्थिवानां राज्ञां प्रस्थाने यात्रायां पुरोऽग्रे भावि उत्पत्त्यमानमशिवममङ्गलं नार्यः स्त्रिय इत्यनेन प्रकारेण शशंसुः सूचितवत्यः । कथमित्याकाङ्क्षायामाह— काचिदित्यादि । काचिन्नारी रजोभिः कीर्णा व्याप्ता रजस्वला सती दिवमन्तरिक्षमनुविदधावनुचकार । तस्या अपि रजोभी रेणुभिर्व्याप्तत्वात् । पतिवियोगदुःखेन भूमिपतनाद्रेणुभिः कीर्णैत्यर्थः’ इति केचित् । कीदृशी । मन्दा वक्त्रेन्दोर्मुखचन्द्रस्य लक्ष्मीः शोभा यस्यास्तथाभूता, यौरपि मन्दवक्त्रसदृशचन्द्रशोभा बोध्या । काश्चिन्नायोऽश्रीकाः शोभाहीना दिश इवान्तर्दाहं दधिरे । दिग्दाहस्याप्यमङ्गलसूचकत्वात् । कीदृश्यः । उद्भ्रान्तं सत्त्वं चित्तं यासां तथाभूताः । दिक्पक्षे उद्भ्रान्तानि सत्त्वानि प्राणिनो यासु तथाभूता इत्यर्थः । तथान्या नार्यः प्रतिपदं वाला इव अमुर्भ्रमणं चक्रुः । एवमपरा नार्यो भूमिवत्कम्पमाना अश्विं शशंसुरिति संबन्धः । वालाभ्रमणभूकम्पयोरशुभसूचकत्वं प्रसिद्धम् । अत्र काचिदित्येकवचनप्रक्रमादग्रे तद्भङ्गः । एवं कम्पमाना इत्याख्यातप्रक्रमभङ्गोऽप्युक्तः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘गाहन्तामिति । शाकुन्तले आश्रमे शकुन्तलादर्शनाश्लिष्टमृगयाभिलाषस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य सेनापतिं प्रतीयमुक्तिः । तत्रोपक्रमे ‘अथ तावत्’ इति श्लोकशेषः सर्ववाक्यान्वयी बोध्यः । महिषाः शृङ्गैर्मुहुर्वारंवारं ताडितमुत्फालितं निपानसंलिलं रूपसमीपजलाशयसंबन्धिजलं गाहन्तामालोडयन्तु । त्रासापगमेन प्रकृतिस्वाच्छन्धात् । सेयं महिषजातिरुक्ता । एवमग्निमयोरपि जातिकथनमुन्नेयम् । छायायां बद्धं कदम्बकं समूहो येन तन्मृगकुलं रोमन्थमुद्रिलितकवलचर्वणमभ्यस्यतु । त्रासात्पलायनपरतयान्योन्यवार्तानभिज्ञं विस्मृतरोमन्थं चाधुना तदपगमे सति संभूय रोमन्थाभ्यासं करोत्वित्यर्थः । कदम्बानां बहुत्वाल्लुलस्यान्यपदार्थत्वोपपत्तिः । एवं बराहपतिभिः । सूकरश्रेष्ठैर्विश्रब्धं विश्वासयुक्तं यथा स्यात्तथा पल्लवेऽप्यसरसि मुस्तायाः प्रसिद्धौषधिविशेषस्य क्षतिरुत्खननं क्रियताम् । तथेदं नानाविधदानवसेनाविनाशकमसदनुश्च श्लिथिलो ज्यावन्धो यस्य तथाभूतं सद्भिन्नानं लभताम् । यद्वासादिति पञ्चमीबहुवचनान्तं पृथक्पदम् । अस्तत्तकाशादिरतं भवत्वित्यर्थः । अत्र गाहन्तामिति कर्तृतिष्ठः प्रक्रमात्क्रियतामित्यत्र तद्भङ्गः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्भुः ॥'

अत्र गाहन्तामिति कर्तृकारकवाचकतिङः प्रक्रमे क्रियतामिति कर्मकारकवाच-
कस्य । 'विश्रस्ता रचयन्तु सूकरवराः' इत्यदुष्टम् ।

'अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि तपोनिधा-
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति ।

अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसंग्रहणाय च ॥'

अत्र तेजोवीर्यरोषौ क्रमेणोपक्रम्य तदुभयोचितयोः पादोपसंग्रहधनुसंग्रहणयोः
पौर्वापर्यं योग्यम् । 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति न्यायात् । इति तदन्य-
थाकरणे क्रमप्रक्रमभङ्गः । एवमन्यदप्युक्तम् । अत्र सर्वत्रैकरूपप्रसृतायाः प्रतीतेः
स्थगनमुपघातो वा दूषकताबीजम् । यदुक्तम्—

'प्रक्रमस्यान्यथात्वेन प्रतीतौ प्रस्खलद्रुतौ ।

ह्लादः स्फुरन्ननास्वादी यत्र ग्लानत्वमभ्युते ॥

दोषः प्रक्रमभेदाख्यः शब्दानौचित्यभूश्च सः ।' इति ।

अतएव नित्यदोषोऽयम् ।

अक्रममविद्यमानः क्रमो यत्र तत् । पदानन्तरं यत्पदोपादानमुचितं ततोऽन्यत्र
तदुपादानं यत्रेत्यर्थः । यथा—

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥'

इति शेषः । अत्र सर्वत्रेति । तथा ह्युद्देश्यप्रतिनिर्देश्यस्थले तावदेकरूपताप्रतीति-
र्विवक्षितैव । यशोऽधिगन्तुमिलादावपि यशःप्रभृतेः फलत्वेनैकरूप्यमिष्टम् ।
महीभृत इत्यत्राप्यपल्यत्वेनैक्यं दृष्टान्तवशादिष्टम् । काचित्कीर्णैल्यत्राप्यशुभसूचकत्वे-

२. 'अकलितेति । धनुर्भङ्गकुपिते भार्गवेऽभ्यागते श्रीरामचन्द्रस्योक्तिरियम् । मुनौ
भार्गवे रोषादभिगच्छत्यभ्यागते सति पाणिरथान्ममाभिनवावा नूतनाया धनुर्विद्याया दर्पस्य
क्षमाय योग्याय युद्धरूपाय कर्मणे च रभसादेगात्स्फुरति । नमस्वतया पादयोरुपसंग्रहणाय
च स्फुरतीत्यन्वयः । चद्वयेन तुल्यकालत्वाभिन्न्यक्तिः । कथंभूते मुनौ । अकलितोऽपरिमि-
तस्तपस्तेजसो वीर्यस्य प्रभावस्य प्रथिमा महिमा यस्यैवंभूते । यशोनिधौ प्रतिष्ठिते । तेनै-
तज्जयादुत्कर्षाधिक्यम् । अवितथेन यथार्थेन मदेन दर्पणाध्माते । प्रदीप्त इत्यर्थः । अत्र
तपसः प्रथमोद्दिष्टत्वेन तदुचितस्य पादोपसंग्रहणस्यापि प्राथम्यमुचितम् । 'क्रमश्च देशसा-
मान्यात्' इति पाञ्चमिकन्यायादिति प्रक्रमभङ्गः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'द्वयमिति ।
पूर्वं व्याख्यातम् । अत्र त्वंपदार्थस्यैव शोच्यतायां समुच्चयविवक्षणात्वं चेति पाठक्रमो
युक्तः । तदभावात्प्रक्रमत्वम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र लोकस्य चेति चकारस्त्वंशब्दानन्तरं युक्तः । त्वंशब्दार्थस्यैव शोच्यतायां समुच्चयस्य द्योतनीयत्वात् । लोकपदार्थे समुच्चयाभावात् । अथापदस्थपदादस्य को भेदः । तत्र प्रतीत्यन्तरमत्र सैव प्रतीतिः । किं तु विलम्बितेति केचित् । तन्न । 'कुटिला तान्नच्छविः—' इत्युदाहृतेऽपदस्थपदे प्रतीत्यन्तराभावात् । वयं तु ब्रूमः—अव्यवधानेनैव यत्राभिमतप्रतीतिजननसामर्थ्यं तदेतस्य विषयः । अन्यः पुनरितरस्य । चादीनां चाव्यवहितपदार्थेष्वेव समुच्चयाद्यद्योतकता । यदुक्तं महिमभट्टेन—

‘अत एव व्यवहितैर्बुधा नेच्छन्ति चादिभिः ।

संबन्धं ते हि स्वां शक्तिमुपदध्युरनन्तरे ॥’ इति ।

न च नञोऽप्यव्यवहितस्यैव तथात्वम् । अतः ‘स्वजं न काचिद्विजहौ’ इत्यादिकमप्यक्रमभेदः स्यादिति वाच्यम् । ‘न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्’ इत्यादौ व्यवधानेऽपि प्रतीतिविशेषाभावात् । न चायं चादिपदेऽप्येव दोषः । किं त्वित्यमादिष्वपि । यथा—

‘शक्तिर्निर्लिख्यजेयं तव भुजयुगले नाथ दोषाकरश्री-

वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः ।

आज्ञेयं सर्वंगा ते प्रसरति पुरतः किं मया वृद्धया ते

प्रोच्यैवेत्थं प्रकोपात्सितकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥’

नैकरूपत्वम् । तथा गाहन्तामित्यत्रापि तत्तत्क्रियाकर्तृत्वमेकरूपेणैव मृगयानिवृत्तिप्रयुक्तत्वेन वाच्यम् । एवमकलितेति पदेऽपि यथासंख्यन्यायेन पूर्वोक्तक्रमैकरूप्यमित्यूह्यम् । तत्र गतां यातेत्यादौ तुमुनादौ तादृशप्रतीतेः स्थगनं विलम्बितत्वम् । पुत्रवतोऽपीत्यादौ तूपघातोऽत्यन्ताभाव इति यथानुभवं द्रष्टव्यम् । स्वां शक्तिमिति । स्वार्थान्निधानसामर्थ्यरूपाम् । अनन्तरेऽव्यवहितपदार्थे उपदध्युर्व्यवस्था-

१. ‘शक्तिरिति । यस्य राज्ञः सितकरश्चन्द्रस्तद्वत्सितया श्वेतया कीर्त्या प्रकोपादित्थं प्रोच्यैवोक्त्वेव प्रयातं प्रकर्षेण यातम् । दूरं गतमित्यर्थः । अत्र कीर्तेः पक्षीत्वेनाध्यवसानं बोध्यम् । एवं शक्यादीनामप्यसन्नायिकात्वेन । कीदृशोक्त्वेत्याकाङ्क्षायामाह—शक्तिरित्यादि । हे नाथ, इयं प्रत्यक्षा, निर्लिखः खड्ग एव निर्लिखः क्रूरस्तब्जन्मा शक्तिः सामर्थ्यमेव नायिका तव भुजयुगले प्रतिवसतीत्यत्रेतनेनान्वयः । असत्त्वं च क्रूरजायाः क्रूरस्वभावत्वात् । त्रिशतः पूरणलिखः स निर्गतो यस्मात्समुदायात्स निर्लिखः पुरुषसमुदायस्तब्जन्या ऊनत्रिशत्पुरुषसमुदायजा । वेश्यापुत्रीति यावदित्यर्थः ।’ इति महेशः । तथा तव वक्त्रे दोषाकरस्य चन्द्रस्य श्रीरेव दोषनिधानभूता श्रीर्नायिका प्रतिवसति । तथा तव पार्श्वे एषा प्रत्यक्षा महाकुट्टनी महाच्छेदिकाव्यभिचारस्य महादूती खड्गयष्टिरेव नायिका प्रतिवसति । तथा सर्वंगा सर्वत्राप्रतिहतैव सर्वपुरुषगामिनी । वेद्येति यावत् । इयं ते आञ्छारूपा नायिका पुरतो विलसति । वृद्धया समृद्धयैव जरत्या मया ते तव किं प्रयोजनमितीत्यमुक्त्वेति योज्यम् । अत्रापीत्थं प्रोच्येति क्रम उचितः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः—

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति वाच्यम् । इत्थंशब्दस्याव्यवहितपरामर्शकत्वात् । पादत्रयस्य च परामर्शनीयत्वात् । एवं 'लघ्नं रागावृताङ्ग्या—' इत्यादावपि इति श्रीनियो-
गादिति वाच्यम् । इतरपि तत्तुल्यत्वात् । दूषकताबीजं चोद्देश्यप्रतीतिविरह
इति नित्योऽयम् ।

अमतपरार्थममतः परार्थो द्वितीयोऽर्थो यस्य तत् । अमतत्वं च,
'जेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः ॥'

इत्याद्युक्तदिशा प्रकृतरसविरुद्धरसन्यञ्जकत्वम् । यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्बुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥'

अत्र प्रकृतस्य बीभत्सस्य विरोधी शृङ्गारः । तस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः ।
ताडशार्थोपस्थित्या रसापकर्षकतास्य दोषत्वबीजम् । अतो नित्योऽयं दोषः ।
नीरसे स्वात्मलाभस्यैवाभावात् ।

अर्थदोषलक्षणान्याह—

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥ ७ ॥

संदिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।

अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्तः ॥ ८ ॥

साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।

विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ९ ॥

पददोषलक्षणसूत्रस्थं दुष्टमिति पदं लिङ्गविपरिणामेन संबध्यते ।

तत्रापुष्टः पुष्टाद्भिन्नः । पुष्टत्वं च विवक्षितार्थबाधप्रयोजकानुपादानत्वम् ।
तद्विरहश्च द्विधा—अप्रयोजकत्वात्प्रयोजकत्वेऽप्यन्यलभ्यत्वाच्च । यमेनम्—

पयेयुः । तदन्वितस्वार्थबोधका इत्यर्थः । पुष्टत्वं चेति । यस्यार्थस्यानुपादाने
शब्देनाप्रतिपादने विवक्षितार्थस्य बाधोऽसिद्धिस्तत्त्वं पुष्टत्वमित्यर्थः । अन्यल-

१. 'रामेति । रघुवंशे श्रीरामहतायास्ताडकाया वर्णनमिदम् । मन्मथ इव रामो राममन्मथः
स एव रमयतीति रामो मन्मथस्तस्य दुःसहेन शरेण हृदये ताडिता सा निशाचरी राक्षसी
ताडकैव निशाभिसारिका जीवितेशो यम एव जीवितेशः प्राणेश्वर उपचारेण नायकस्तस्य
वसतिं जगामेत्यन्वयः । कीदृशी । गन्धवद्बुधिरूपं चन्दनमेव गन्धवद्रक्तचन्दनं तेनोक्षिता
सिक्ता । गन्धवत्त्वं च पूतनाधूमस्यैव रुधिरस्यापि पापक्षयादित्याहुः । अत्र रूप्यमाणाना-
मप्रकृतार्थानां प्रकृतबीभत्सरसविरोधिः शृङ्गारव्यञ्जकत्वादमतपरार्थत्वं दोष इति । दूषकता-
बीजं तु शृङ्गाररसन्यञ्जकैर्यदि बीभत्सः प्रत्यायनीयः स्यात्तदा कथं तस्य परिपुष्टिरिति
ध्येयम् ॥' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘व्यर्थमाहुर्गतार्थं यद्यच्च स्यान्निष्प्रयोजनम्’ इत्यनेन भोजराजो व्यर्थमाह । अत एव प्रकाशकारोऽपि ‘अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतीयमानमर्थं न बाधन्ते’ इत्येवाह । नत्वप्रयोजका एवेति । उदाहरणम्—

‘अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः ।

मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥’

अत्रातिवितते निरवलम्बे व्योम्यविश्रामं गमनादितराप्रकाश्यकमलप्रकाशनाच्च स्वेरुत्कर्षो विवक्षितः । अत्रातिविततत्वं गगनस्यार्थादेवावगम्यते अग्रेरिवौष्ण्यम् । सरणित्वं मरुदुल्लासितसौरभत्वं चाप्रयोजकमेवेत्यपुष्टा एतेऽर्थाः । नन्वेतेऽर्था अपुष्टा इति सिद्धं परं त्वतिविततेति पुनरुक्तः । गगनपदादेव तदुपस्थितेः । मरुदुल्लासितसौरभेति विरुद्धम् । विकासार्थपूर्वं सौरभाभावेन तद्विशिष्टस्य सूर्येणाप्रकाश्यत्वादिति नायं पृथगिति चेत्, न । गगनपदं न विततत्वे शक्तम् । अथ लभ्यत्वे च न पुनरुक्तता । यदुक्तं भोजराजेन—‘काव्येतिहासादावर्थवृत्त्या लब्धस्य साक्षाद्गणनमपौनरुक्त्याय’ इति । नापि विरुद्धम् । सौरभस्योपलक्षणत्वात् । यद्वा चित्रहेतुपुरस्कारेण पूर्वभावाभिधानात् । अथाधिकपदादस्य को भेदः । अप्रयोजके प्रयोजनाभावकृतोऽपि भेदो न संभवति । अत्र कश्चित्—‘तत्र पदार्थान्वयसमकालं दुष्टत्वप्रतिभास इह तु तदनन्तरमिति विशेषः’ इति । तच्चातिसमीचीनम् । तथा नियमे प्रमाणाभावात् । एतावता च विशेषेण शब्ददोषत्वमेकस्यापरस्यार्थदोषत्वमिति विभागानुपपत्तेश्च । विरुद्धमतिकृदमतपरा-
र्थादौ शब्ददोषेऽन्वयप्रत्ययोत्तरमेव दुष्टत्वप्रतिभासात् । वयं तु पश्यामः—यत्र विवक्षित एवार्थोऽन्यथाभिधानेऽपि दुष्यति सोऽर्थदोषः । अन्यस्तु रसदोषभिन्नः शब्ददोष इति विवेकः । तथाच यत्राविवक्षितोऽप्यर्थः कथंचिदन्विततयाभिधी-
यते तत्राधिकपदत्वम् । तत्पदेन विनापि तन्निर्वाहात् । यत्र तु सोऽर्थो विवक्षित एव परं त्वप्रयोजकत्वान्यलम्ब्यत्वाभ्यां शब्देन नोपात्तुमर्हस्तत्रापुष्टत्वम् । ‘स्फटिकाकृति-’ इत्यत्र नाकृतिपदार्थ उपमानत्वेन विवक्षितः । तस्य नैर्मल्याभावात् । ‘यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां’ इत्यत्रापि च रतस्य स्तनपतनावधित्वव्यतिरेक

भ्यत्वादिति । शब्देनानुक्तावप्यर्थगम्यत्वादित्यर्थः । अतएव उक्तापुष्टत्वनिर्वचना-
देव । चित्रेति । चित्रं हेतुकार्ययोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिः । तद्धेतुवि-
प्रायेण कार्यस्य पूर्वाभावमिधानादित्यर्थः । अप्रयोजके प्रयोजनशून्ये । प्रयोजनव-
त्त्यनन्यलभ्ये हि न प्रयोजनाभावः । अधिकपदे तु स इत्यस्तु भेदः । न त्वप्रयोजके ।

१. ‘वृत्तिकृत’ क. २. ‘अतिविततेति । रविर्जयति । कीदृक् । अतिविततं विस्तृतं यद्गगनं तद्गगनायां सरणौ मार्गे प्रसरणेन गमनागमनेन परिमुक्तस्त्यक्तो विश्रमानन्दो विश्रान्तिसुखं येन तथाभूतः । तथा मरुता उल्लासितं प्रकाशितं सौरभं यस्य तादृशस्य कमलानामाकरस्य हासकृत् । विकासकारीत्यर्थः । अत्रातिविततत्वसरणित्वमरुदुल्लासितसौरभत्वानामर्थानामनु-
पादानेऽपि प्रकृतार्थस्याक्षतेरपुष्टार्थत्वम् ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

एवानुचितत्वेन विवक्षितो न तु तत्कृतिव्यतिरेकः । पूर्वाधे तथैव क्रमात् । किं तु
 छन्दोनुरोधादिना द्वयमपि कथंचिदन्वितत्वेनोपात्तमित्यधिकपदत्वम् । 'अतिवि-
 तत—' इत्यादौ त्वतिविततत्वादिकं वक्तुर्विवक्षितमेव । परं त्वर्थलभ्यत्वादिना
 नोपादानार्हमित्यपुष्टम् । व्यक्तं च पूर्वस्य शब्ददोषत्वमुत्तरस्य चार्थदोषत्वमिति ।
 दूषकताबीजं चाशक्त्युन्नयनेन श्रोतुर्वैमुख्यम् । अतएव यमकादावदोषता ।
 तत्रालंकारान्तरारम्भेणाशक्त्यनुन्नयनात् । कर्णावतंसादिपदे च विशेषकद्योतकतया
 तदुपादानं नाशक्त्युन्नायकमित्यदुष्टत्वम् । अतएव विशेषणदानार्थं विशेष्यप्रयो-
 गोऽपि दोषाभावः ।

कष्टः प्रतीतिकेशवान् । दुरूह इत्यर्थः । यथा—

‘सदा मध्ये यासामियममृतनिःस्पन्दसरसा

सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।

प्रसादं ता एता घनपरिचयाः केन महतां

महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥’

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यात्ममार्गत्रयवती भारती
 चमत्कारं वहति ता गम्भीरकाव्ये घनपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना
 भवन्तु । तथा यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा नदी संबन्धं वहति ता
 मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीत्यर्थो विवक्षितः । स च शब्दान्तरैरपि
 क्लेशेनैव प्रतीयत इत्यर्थ एवायं दुष्टा । छिष्टत्वादिकं तु शब्ददोषः । घटनानन्त-
 रेणार्थस्य सुखेनैव प्रतीतेः । सम्यक्प्रतीतिविरहश्च दूषकताबीजम् । अतो
 नित्योऽयं दोषः ।

प्रयोजनाभावस्योभयत्र साम्यादिति भावः । व्यक्तं चेति । अविवक्षितार्थकत्वं

२. ‘सदेति । स्वकाव्यस्य गम्भीरचमत्कारार्थशालितयातिस्फुटार्थकत्वाभावेऽपि दोषाभाव
 समर्थयितुं कस्यचित्कवेरियमुक्तिः । ता एता घनपरिचया अत्यन्ताभ्यस्ता अर्थाद्रम्भीरकाव्ये
 महतां कवीनां रुचयो विवक्षाः क्षुद्रकाव्य इव महाकाव्यव्योम्नि व्योमसदृशे महाकाव्ये केन
 प्रकारेण प्रसादं यान्तु गच्छन्तु । सुव्यक्ता भवन्वित्यर्थः । कथंभूता रुचयः । स्फुरितो
 विषयीकृतो मधुरः शृङ्गारादिरसो याभिस्तथाभूताः । तेन नीरसत्वपरिहारः । ताः का
 श्लेषेक्षायामाह—सदेत्यादि । यासां कविरुचीनां मध्ये यद्गोचरीभूता अमृतनिःस्पन्दवत्सरसा
 उद्दामा उद्गट्युणा बहुमार्गा वैदुष्यादिरीतित्रयवती । इयं कवित्वरूपा सरस्वती परिमलं
 चमत्कारं वहतीति प्रकृतोऽर्थः । अन्यस्तु यासां रुचीनामादित्यप्रभाणां मध्ये बहुमार्गा
 त्रिपथगेयं गङ्गारूपा सरस्वती नदी परिमलं संबन्धं वहति । ता एता मेघपरिचिता
 स्फुरितमधुररसाः । स्फुरितो दृष्टो मधुरो रम्यपदार्थो याभिस्तथाभूता वा महतां द्वादशादित्यानां
 रुचयः प्रभाः केन प्रकारेण प्रसादं स्वच्छकान्तित्वं यान्तिवति । विशेषणद्वयमुक्तार्थम् ।
 अमृतस्य जलस्य निःस्पन्देन प्रवाहेण सरसा हृष्येति बार्थः । नदीसामान्यवचनोऽपि सरस्वती-
 शब्दः । अर्थं चार्थो दुरूहत्वात्कष्टः ॥ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

व्याहतः,

‘उत्कर्षो वापकर्षो वा प्राग्यस्यैव निगद्यते ।
तस्यैवाथ तदन्यश्चेद्व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥’

इत्युपलक्षितविरुद्धत्ववान् । यथा—

‘जयति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥’

अत्र पूर्वार्धे साधारणचन्द्रिकाचन्द्रकलाः स्वं प्रत्यसारतया प्रतिपादिताः । तेनैवोत्तरार्धे चन्द्रिकास्वमुत्कर्षायारोप्यत इति व्याघातः । दूषकतावीजं च वाक्यार्थाप्रतीतिः । अयं नित्यो दोषः ।

पुनरुक्तः शब्देन प्रतिपन्नत्वे सति पुनस्तेनैव प्रतिपादितः । अर्थेन प्रतिपन्नस्य प्रतिपादनेऽप्युपलक्ष्यमुक्तम् । यत्तु प्रयोजनं विनेति विशेषणं तदयुक्तम् । एवं सत्य-
स्थानित्यदोषत्वं न स्यात् । प्रयोजनस्थले पुनरुक्तस्यैवाभावप्रसङ्गात् । स चायं
द्विधा—पदार्थवाक्यार्थभेदात् । तयोराद्यो यथा—

अरेरे अर्जुनार्जुन, सात्यके सात्यके, न युक्त ईदृशो मत्तातस्य सुतशोक-
आन्त्या न्यस्तशस्त्रस्य दिवमुपगच्छतः केशाकर्षणरूपः परिभवः । अपि च,

‘कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मयादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृग्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥’

अत्रार्जुनार्जुनेति संबोध्य यैर्भवद्भिरित्यनेन परामृश्य तेषामित्यनेन परामर्शा-
दर्जुनस्यापि प्राप्तेः सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । न च
प्राधान्यप्रतिपत्तये पुनरुपादानमित्यदोषता । संबोधनेनैव तद्भावात् ।

२. ‘जगतीति । मालतीमाधवे माधवस्येयमुक्तिः । येऽन्ये नवेन्दुकलादलो भावाः प-
दार्था जगति मनो मदयन्ति हर्षयन्ति । अर्थादन्येषाम् । ते ते सन्त्येव । एवकारेण स्वस्य
महोत्सवहेतवो न भवन्तीत्यनादरः प्रकाश्यते । कीदृशाः । जयिनः उत्कर्षशालिनः ।
तथा प्रकृत्यैव मधुरा रमणीयाः । तव तर्हि किं महोत्सवहेतुस्तत्राह—मम त्विति । मम
तु जन्मनि स एवैको महोत्सवो यदियं मालती विलोचनयोश्चन्द्रिकारूपा लोके नयन-
विषयं याता । नयनगोचरतां प्राप्तेत्यर्थः । अत्र । पूर्वमसारतयोक्तायाश्चन्द्रिकाया माल-
त्यामारोपो व्याहतः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘कृतमिति । व्याख्यातमेतत् । अत्रार्-
जुनार्जुनेति प्राक्संबोधनायैर्भवद्भिरित्युक्त्वा तेषामिति परामर्शादर्जुनस्यापि प्राप्तेः किरी-
टिपदार्थः पुनरुक्तः । अत्र केचित्कुद्धोक्तित्वेन परिहारमाहुः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

वाक्यार्थस्य पुनरुक्तत्वं यथा—

‘अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे

सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।

कर्णालं संभ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिक्य शङ्कां

ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥’

अत्रालं संभ्रमेण, को भयस्यावकाश इत्यभिप्रायौ । न च वक्तुं रौद्ररसावि-
ष्टत्वं समाधानमाशङ्कनीयम् । वीरस्यायुक्तकारित्वावर्णनात् । दूषकताबीजं च
निष्प्रयोजनाभिधानेन श्रोतुर्वैमुख्यम् । अत एव प्रयोजनसत्त्वेनादोषत्वादनि-
स्योऽयं दोषः । केचित्तु—“अर्थप्राप्तस्यापि वचने पुनरुक्तता । तदुदाहरणम्—
‘अस्त्रज्वाला—’ इति । अप्रयोजकाभिधानमात्रस्थले ‘त्वपुष्टार्थत्वम्’ इत्याहुः ।

दुष्कर्मो दुष्टक्रमः । दुष्टत्वं च क्रमस्य लोकशास्त्रविरुद्धत्वम् । तत्राद्यं यथा—

‘भूपालरत्न निदैन्यप्रदानप्रथितोत्सव ।

विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥’

अत्र तुरङ्गमभूयिष्ठं प्रति मातङ्गं देहि तुरङ्गं वेति लौकिकक्रमः । गुरुदाना-
शक्तौ लघुदानौचित्यात् । वक्तुश्च यथास्थित एव क्रमो विवक्षित इत्यर्थदोष
एवायम् । द्वितीयं तु—

‘कौराविक्रम खड्गं गामडलो मज्जिक्रम जेमिअ अ ।

णक्खत्तं तिहिवारे जोइत्तिअं पुच्छिअं चलिदो ॥’

हि शब्ददोष इति व्यक्तमेव । विवक्षितार्थकत्वे तु न पदं दुष्टं किं त्वर्थ एवाप्रयोज-
कत्वान्यलभ्यत्वाभ्यां तथेत्यपि व्यक्तमिति भावः । अत्रालमिति । तात इत्यादे-
स्त्वर्थलभ्यस्य कथनाच्च पौनरुक्त्यमित्याशयः । ‘चतुर्थपादार्थः’ इति वृत्तिग्रन्थो
मतान्तराभिप्रायेणेति ध्वनयितुमाह—केचित्त्विति । अस्त्रज्वालेत्यादिनार्थप्राप्तस्य

१. ‘अस्त्रेति । वेणीसंवरणेऽवस्थान्न इयमुक्तिः । अस्त्रज्वालाभिरवलीढं व्याप्तं प्रतिबलं
शत्रुसैन्यमेव जलधिस्तस्यान्तर्मध्ये और्वायमाणे बहवानलतुल्ये । सर्वधन्वीश्वराणां सक-
लधनुर्धरश्रेष्ठानां गुरावस्मिन्प्रसिद्धशौर्ये मम पितरि द्रोणे सेनानाथे सेनापतौ स्थिते सति
हे कर्णे, संभ्रमेण भयेनालम् । हे कृप, समरं व्रज गच्छ । हे हार्दिक्य कृतवर्मन्, शङ्कां
प्राप्तं मुञ्च । चापमेव द्वितीयं यस्य चापैकसहाये ताते द्रोणे रणधुरं वहति सति भयस्य
कोऽवकाशः । अवसर इत्यर्थः । अत्र चतुर्थपादार्थः पुनरुक्तः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘भूपालेति । कस्यचिदर्थिन उक्तिः । हे भूपालेषु रत्नभूत श्रेष्ठ, निर्गतं दैन्यं
यस्मात् । अर्थादर्थिनाम् । तथाविधे प्रकृष्टदाने प्रथितः स्यात् उत्सवो यस्य तथाभूत राजन्,
मे तुरङ्गमथं विश्राणय देहि । मदालसं मातङ्गं वा विश्राणयेत्यनुषङ्गः । ‘रत्नं स्वजातिश्रे-
ष्ठेति’ इत्यमरः । अत्र तुरङ्गं मातङ्गं वेति क्रमो लोकविरुद्धः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘कौराविक्रमेति । अयं क्रमो धर्मशास्त्रविरुद्धः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

नक्षत्रादिज्ञानपूर्वकं क्षौरस्य शास्त्रेण विधानात्तद्विरुद्धमिदम् । दूषकताबीजं च विरोधेनाप्रतीतिः सहृदयोद्देशो वेति । नित्य एवायम् ।

ग्राम्यो ग्रामसंभवः । अविदग्धोक्तिप्रतिपादितो रिरंसादिश्च । तदुक्तम्—

‘स ग्राम्योऽर्थो रिरंसादिः पामरैर्यत्र कथ्यते ।

वैदग्ध्यवक्रिमबलं हित्वैव वनितादिषु ॥’ इति ।

यथा—

‘स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।

तदपसंहर कूर्परमायतं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥’

अत्र निकटे तावदहं स्वपिमीत्यविदग्धस्य रिरंसोक्तिः । एवमन्यत् । दूषकता चास्तीलवत् । किं चैतादृशोक्तिक्वलितो विभावादिरूपोऽर्थो न रसाय पर्याप्यते भृष्टमिव बीजमङ्कुरायेति ।

संदिग्धः संदेहविषयः । तत्प्रयोजकरूपवानिति यावत् । यथा—

‘मौत्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यभार्याः समर्थदमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥’

अत्र भूधरनितम्बानां कामिनीनितम्बानां वा सेव्यत्वं व्यञ्जनया प्रैतिपादयितं द्वितीयेन संदिह्यते । प्रकरणाद्यभावात् । यत्तु ‘वक्तृविशेषसंदेहः’ इति व्याख्यानं सर्वमान्यानां तदुत्तानताविलसितम् । वक्तुः पदवाक्यार्थत्वाभावेन तत्संदेहस्यार्थदोषत्वाभावात् । अतएव वृत्तिकृता वक्तृविशेषनिश्चयः संदेहाभावप्रयोजकत्वेनोक्तः । तन्निश्चये एकतरनितम्बस्य सेव्यत्वनिर्णयेनासंदेहात् । वन्द्यामीत्यादौ द्वितीयासप्तम्यन्तत्वाभ्यां पद एव संदेहोऽत्र तु पदानामसंदिग्धत्वे सत्येव स इति पदसंदिग्धत्वाद्भेदः । दूषकताबीजं चोद्देश्यनिश्चयविरहः । यत्र तु संदेह एवोद्देश्यस्तत्रादोषत्वमेवेति ।

निर्हेतुर्निष्क्रान्तो हेतुर्यस्मात् । यथा—

‘गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि

प्रभावाद्यस्याभूज खलु तव कश्चिन्न विषयः ।

तात इत्यादेर्वचनेऽपि पुनरुक्तमेव । यत्र त्वप्रयोजन एवार्थोऽभिधीयते तत्रैवापुष्टत्वम् । न तु सप्रयोजनस्यार्थप्राप्तस्याभिधान इत्यर्थः । अत्र च प्रकाशविरोध एवाविवीजम् । काराविऊणेति । ‘कारयित्वा क्षौरं ग्रामभृद्धो मङ्क्त्वा भुक्त्वा च ।

१. ‘स्वपितीति । नवोढां प्रति रन्तुमिच्छोः कस्यचिदुक्तिरियम् । अयं जनः सखीरूपो निकटे स्थितो यावत्स्वपिति तावदहं स्वपिमि । लक्षणया रमामीत्यर्थः । ते किमपैति हीयते । तस्मात्कूर्परं जानुमपि सांप्रतमुचितं यथा स्यात्तथा अपसंहर संकोचय । तथा कुञ्चितं संकुचितमूरुं त्वरितं शीघ्रमुदञ्चय प्रसारयेति । ‘अयि’ इति पाठे संबोधनम् । अयमर्थो ग्राम्यः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. व्याख्यातमिदं पञ्चमोच्चासे । ३. ‘प्रतिपिपादयिपितं’ ग. ४. ‘गृहीतमिति । द्रोणे हते शोकाविष्टस्याश्वत्थान्नः शस्त्रं संबोध्येयमुक्तिः । हे शस्त्र, येन मम पित्रा

परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भया-

द्विमोक्ष्ये शस्त्र त्वमहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥'

अत्र स्वशस्त्रत्यागे हेतुनोपात्तः । ननु तं विनाप्रतीतेः पर्यवसानं न वा । आद्ये दोषाभावोऽन्ये साकाङ्क्षसंकर इति । अत्र कश्चित्—'उपात्तस्य परेणान्वये साकाङ्क्षत्वमनुपादाने निर्हेतुत्वमिति विशेषः' इति । तन्न । साकाङ्क्षोदाहरणे उपेक्षितमित्याकाङ्क्षतीत्यनेनानुपात्तसाकाङ्क्षताया एव वृत्तौ प्रदर्शनात् । तस्माद्धेतुतद्भिन्नसापेक्षतया द्वयोर्भेद इत्येव ज्यायः । यद्वात्राप्रतीतिमात्रं तत्र तु विरुद्धा प्रतीतिः । खीरल एवामर्षप्रतीतेरिति विशेषः । दुष्टिबीजं चोद्देश्यप्रतीतिविरहः । अत एव प्रसिद्धावनुपादानेऽपि न दोषः ।

प्रसिद्धिविरुद्धो लोकस्य कवेर्वा यत्रार्थे न प्रसिद्धिः । यथा—

‘इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने

यदेतस्मिन्हेन्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।

इदं तदुःसाधाक्रमणपरमाश्रं स्मृतिभुवा

तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥’

अत्र कामस्य चक्रं लोके कविमार्गे वा न प्रसिद्धमिति प्रसिद्धिविरुद्धः । यत्र तु लोकस्य कवेश्च प्रसिद्धोर्विशेषस्तत्र कविप्रसिद्धेर्बलवत्त्वम् । तथाच लोकविरुद्धेऽपि कवीनां यथा यत्र समयस्तत्र न दोषः । यथा—

नक्षत्रं तिथिवारौ ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः ॥’ [इति च्छाया] । रिरंसोक्ती रमणेच्छाकथनम् । स्वपिमीत्यस्योपगमनार्थत्वात् । उपात्तस्येति । अयमर्थः—‘खीरलं चेत्यादौ खीरलेऽमर्षस्यायोगात्परस्येत्येतत्साकाङ्क्षता खीरलस्य । तच्चोपात्तमप्युत्कर्षं चेत्यनेनान्वितत्वाच्च खीरलेनान्वययोग्यमिति तत्र साकाङ्क्षत्वदोषः । अनुपात्तेन हेतुना साकाङ्क्षत्वे निर्हेतुत्वमिति । प्रसिद्धाविति । ‘चन्द्रं गता पद्मगुणान् भुङ्क्ते’ इत्यादौ

नोचितमपि ब्राह्मणजालनुचितमपि त्वं द्रुपदरूपशत्रोः परिभवभयाद्गृहीतमासीः । यस्य प्रभावात्तव कश्चिन्न विषयो नाभूत् । अपि तु सर्वोऽपीन्द्रादिस्त्वत्पातविषयोऽभूत् । तेन तत्पित्रा सुतस्य मम मिथ्यामरणश्रवणजाच्छोकात्त्वं परित्यक्तमसि । न तु भवत्यक्तम् । अहमपि त्वां विमोक्ष्ये यतः अतो भवते स्वस्तीत्यर्थः । यतो यत्र भवते स्वस्ति तत्र विमोक्ष्ये इति वा । अत्र स्वस्य शस्त्रत्यागे हेतुनोपात्त इति निर्हेतुत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘इदं त इति । कमलानामातङ्को भयं यस्मात्तादृशं वदनं यस्मात्स्थभाभूते हे सुन्दरि । अनेन वदनस्य चन्द्रत्वं सूचितम् । एतस्मिन्करस्थिते हेन्नः कटकं कङ्कणमिति यद्वियं धत्से धारयसि इदं ते केन भ्रान्तप्रतारकेणोक्तं कथयेति संबन्धः । तर्हि किमेतदित्याकाङ्क्षायामाह—इदमिति । इदं तत्प्रसिद्धं दुःसाधानां जितेन्द्रियाणामाक्रमणं वशीकारो यस्मात्तथाभूतं परमाश्रं चक्रं स्मृतिभुवा कामेन प्रीत्या तव करकमलमूले हस्ते विनिहितम् । अत्र चक्रस्य कामायुधवमप्रसिद्धम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी-

महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।

तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा

पतिगृहमगान्मुक्ताशङ्का क नासि शुभप्रदः ॥’

अत्र कीर्तैर्मूर्तत्वं ज्योत्स्नावत्प्रकाशता च लोकविरुद्धे अपि कविसमयसिद्धे इत्यदोषः । एवमकीर्त्यादेर्मालिन्यादौ द्रष्टव्यम् । यत्तु—

‘उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः

सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।

इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया

चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥’

इति कविसमयसिद्धोदाहरणं तदयुक्तम् । चरणन्यासेनाशोकाङ्कुरस्य कवीनामप्यसंमतेः । पुष्पोद्गम एव तेषां समयात् । दूषकताबीजं च विरोधादर्थप्रतीतिरिति । उत्पातादिना तत्प्रतीतावदोषः ।

विद्याविरुद्धः शास्त्रेण विरोधवान् । स चायं शास्त्रभेदाद्भिद्यते । तत्र धर्मशास्त्रविरुद्धो यथा—

‘सैदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः ।

नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥’

१. ‘सुसितेति । राजानं प्रति कवेरुक्तिः । हे राजन्, सुदृशि शोभननयनायां कस्यांचन नायिकायां कदाचन कस्मिंश्चिदवसरे कौमुदीमहसि चन्द्रिकोद्योते स्वैरं शङ्काराहित्येन स्वच्छन्दं यान्त्याम् । ज्योत्स्नाभिसारं कुर्वत्यामित्यर्थः । अतएव सुसिता अतिशेता वसनालंकारा वस्त्रसहिता अलंकारा यस्यास्तथाभूतायां सत्यां विधुश्चन्द्रोऽस्तंगतोऽभूत् । तदनु तदनन्तरं केनापि भवतः कीर्तिरगीयत गीता । येन कीर्तिगानेन तज्ज्योत्स्नाप्रकाशात्ताभिसारिका मुक्ता आशङ्का श्वेताभरणैकदृश्यत्वभयं यया तथाभूता सती पतिगृहमगात् । अतस्त्वं क कस्मिन्देशेऽवसरे वा शुभप्रदो नासि न भवसि । अपि तु सर्वत्रेत्यर्थः । अत्र कीर्तैर्ज्योत्स्नावत्प्रकाशनं कविसंप्रदायप्रसिद्धमित्यदोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘उपेति । अशोककलिकादर्शनमूर्च्छितस्य गृहमागच्छतः पथिकस्य तेनैव पथा जिगमिषूनन्यान्प्रतीयमुक्तिः । भो अध्वगाः, गोदावर्या उपपरिसरं पर्यन्तभूसमीपे सरणिं मार्गं परित्यजत । भवद्भिस्तावदपरो मार्गोऽवेक्ष्यतां दृश्यताम् । तावदिति यावदशोकोऽङ्कुरितः । कुत इत्यत्राह—हि यसादिह सरणौ कयापि हताशया वनितया रक्ताशोकश्चरणनलिनस्य चरणकमलस्य न्यासेनाघातेनोदञ्चन्त उदञ्चन्तो नवाङ्कुरा एव कञ्चुकं सर्वाङ्गव्यापितया यस्य तथाभूतो विहितः कृतः । हताशयेत्याशाविधातकतया रोषोक्तिः । अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गम एव कविसमयो न त्वङ्कुरोद्गम इति नैतत्कविप्रसिद्धेऽुदाहरणम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘सदेति । निगदव्याख्यातम् । अत्र निमित्तं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रविरुद्धम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ ज्ञानं धर्मशास्त्रेण प्रतिषिद्धमिति तद्विरुद्धोऽय-
मर्थः । अर्थशास्त्रविरुद्धो यथा—

‘अनन्यसदृशं बाह्योर्बलं यस्य विलोक्यते ।

पाङ्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं स्यान्नियोजना ॥’

अत्र महाबलस्यापि संध्यादिषङ्गुणानुसरणमर्थशास्त्रेण विहितमिति तद्विरोधः ।
कामशास्त्रविरुद्धो यथा—

‘विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गदमङ्गना ।

वभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥’

अत्र केयूरपदे नखक्षतं कामशास्त्रे विरुद्धम् । बाहुमूलावयवविशेषे तस्य
विधानात् । अर्थतः शेषेषु प्रतिषेधात् । योगशास्त्रविरुद्धो यथा—

‘अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन

दुःसाधसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।

आसादयन्नभिमतमधुना विवेक-

ख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥’

अत्र मुक्तिसमीपस्थमसंप्रज्ञातयोगमनपेक्षैव मोक्षो योगशास्त्रे विरुद्धः ।
विवेकख्यातिः प्रकृतिपुरुषयोर्भिन्नत्वज्ञानरूपा । ततो वितर्कविचाराद्यनुसारिरूपः
संप्रज्ञातयोगः । पश्चात्पुरुषमात्रावलम्बनरूपोऽसंप्रज्ञातयोगः । ततो मुक्तिः ।
न तु विवेकख्यातिमात्रत एवेति हि योगशास्त्रम् । एवं तुरगादिशास्त्रविरोधोऽ-
प्यूहनीयः । अभिमतप्रतीतिविरहो दूषकताबीजम् ।

१. ‘अनन्येति । यस्य बाह्योर्बलं नान्यसदृशमनुपमं बलं समीक्ष्यते तस्य सा प्रसिद्धा
पाङ्गुण्यानुसृतिः संप्रविग्रह्यानासनद्वैधसंश्रयाख्यषङ्गुणानुसरणं निष्प्रयोजनेति सत्यमित्य-
न्वयः । पाङ्गुण्यमिति स्वार्थे ष्यञ् । अयमर्थो नीतिशास्त्रविरुद्धः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘विधायेति । अङ्गना केयूरं प्रसिद्धमङ्गदं दूरे विधाय अनङ्गाङ्गदरूपां कान्तेन कृतां
करजानां नखानामुल्लेखानां क्षतानां मालिकां पङ्क्तिं वभार भूतवतीत्यन्वयः । अनङ्गाङ्गदमि-
त्यनङ्गायाङ्गप्रदमेवानङ्गसंबन्धि बाहुभूषणमिति छेपेणार्थः । ‘अनङ्गाङ्गणम्’ इति वा पाठः ।
तवापि केयूरविशेषणत्वमिति केचित् । अत्र केयूरस्थाने नखक्षतं कामशास्त्रविरुद्धम् । ‘नख-
क्षतस्य स्नानानि कक्षौ बक्षस्तथा गलः । पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्डललाटिकाः ॥’ इति
वात्स्यायनोक्तज्ञानभिन्नत्वात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. अष्टाङ्गेति । यमनियमासन-
प्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिरूपाण्यष्टावङ्गानि यस्य तथाभूतस्य योगस्य परिशी-
लनेन यत्कीलनं स्थिरीकरणं तेन दुःसाध्या दुष्प्रापायाः सिद्धेर्मुक्तिरूपायाः सविधं निर-
दस्यं पुरुषमात्रविश्रान्तमनोवृत्तिरूपमसंप्रज्ञातयोगं दूरे विदधत् तमनपेक्षैवाभिमतं कार्य-
समर्था विवेकख्यातिं प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानरूपमासादयन्प्राप्तुवन्समाधिधनानां योगिनां
मौलिमणिः श्रेष्ठः कश्चिदधुना ‘विमुक्तः’ इत्यन्वयः । दुःसाधसिद्धयोऽणिमाधाः । तत्सान्निध्यं
कञ्चिद्विलम्बं इति केचित् । अत्र विवेकख्यात्यनन्तरं संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोगावनपेक्ष्य मुक्ति-
कथनं योगशास्त्रविरुद्धम् । वितर्कविचाराद्यनुसारी संप्रज्ञातयोगः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अनवीकृतो भङ्ग्यन्तरेण यज्ञवत्त्वं तन्न प्रापितः । एकभङ्गिनिर्विघ्नेकार्थं
इत्यर्थः । यथा—

‘प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुष्वास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
संमानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥’

अत्र सर्वेष्वर्थेषु ‘ततः किम्’ इत्येकैव भङ्गिः । अथैष कथितपद एवान्तर्भ-
विष्यतीति चेन्न । पर्यायान्तरप्रयोगे भङ्गेरेकरूपतायामसांकर्यात् । अथ नवीकृतं
कीदृक् ।

‘यदि दहल्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥’

इतीदृक् । अत्र हि सतामविषादिता स्वाभाविकीति नाश्चर्याय । यथानलादेर्दाहक-
त्वादीति विवक्षितम् । तत्र च ततः किमित्यादिना किमद्भुतमित्यादि नवीकृतम् ।
पारुष्येणाशक्तिप्रकाशनेन वा सहृदयोद्वेजकत्वं दूषकताबीजमिति नित्योऽयम् ।

सनियमादिभिश्चतुर्भिः परिवृत्तपदान्वयात्सनियमपरिवृत्तादिचतुष्टयं लभ्यते ।
परिवृत्तिश्च सनियमानियमयोर्विशेषाविशेषयोश्च । अविशेषः सामान्यम् । तत्र
सनियमपरिवृत्तः । सनियमत्वेन वक्तुमुचितोऽनियमत्वेनोक्तः । न च न्यूनपद-
त्वेऽनभिहितवाच्यत्वे वानुप्रवेशः । तादृशेऽर्थे विवक्षिते तयोरवकाशात् । अवि-

निशि पद्मसंकोचादिहेतुप्रसिद्धावित्यर्थः । भङ्गेरेकरूपतायामिति । यथा वक्ष्य-
माणे ‘यदि दहल्यनलोऽत्र किमद्भुतम्’ इत्यत्र ‘यदि च गौरवमद्रिषु किं चित्रम्’
इति पर्यायभेदेऽपि भङ्गेरेकरूपत्वादित्यनवीकृतत्वमेवेति हेयम् । अत एवेति ।
अविवक्षितत्वादित्यर्थः । विवक्षितस्य हि शब्देनाप्रतिपादने शब्ददोषत्वमिति भावः ।

१. ‘प्राप्ता इति । शान्तस्य ‘भर्तृहरेरियमुक्तिः । सकलकामदुष्वाः सकलकामदायिन्यः
श्रियः संपदः प्राप्तास्ततस्त्वेन किं कः पुरुषार्थः । मुक्तिं विना कृतकृत्यताया अभावादिति
भावः । एवमग्रेऽपि । विद्विषतां शत्रूणां शिरसि पदं दत्तम् । तेषामाक्रमणं कृतमिति यावत् ।
प्रणयिनो मित्राणाः । विभवैः समृद्धिभिः । तनुभृतां शरीरिणां तनुभिः शरीरैः कल्पं व्याप्य
स्थितं जीवितं ततोऽपि किमित्यर्थः । अत्र ततः किं ततः किमिति पुनरुक्त्या अनवीकृतत्वम् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः, २. ‘यदीति । सतामविषादिता प्रकृतिरेव नाश्चर्यकरी ।
अत्रोपमानभूतं वाक्यार्थत्रयमुपन्यस्यति—यदीत्यादिना । एवं च यथानलो वह्निर्यदि दहति
अत्रार्थे किमद्भुतमाश्चर्यम् । न किमपीत्यर्थः । यदि चाद्रिषु पर्वतेषु गौरवम् । अस्तीति शेषः ।
ततः किम् । तदपि नाद्भुतमित्यर्थः । महोदधेरम्बु सदैव लवणं क्षारमतस्तदपि नाद्भुतम् ।
तथा सतामविषादिता प्रकृतिरेवेत्यर्थपर्यवसानं बोध्यम् । अत्रैक एवाश्चर्याभावो भङ्गिभेदेनोक्त
इति । नवीकृतत्वसत्त्वाच्च दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

वक्षिते त्वेतत्प्रसरति । अत एवायमर्थदोषः । विवक्षितमात्रस्य पदान्तरेणाप्युपस्थितौ तस्य तादवस्थ्यात् । एवमितरेष्वप्यूह्यम् । यत्तु—‘अर्थत्वेन विशेषण समाधानम्’ इति, तन्न । न्यूनपदादिषु त्रिषु त्रयाणां संकरप्रसङ्गात् । चण्डीदासस्तु—‘शब्दोच्चारणानन्तरमेव यस्य प्रतिभासः स शब्ददोषः, यस्य त्वर्थ-प्रत्ययानन्तरं सोऽर्थदोषः । अस्य त्वर्थप्रत्ययानन्तरमेवेत्यसावर्थदोषः, अत एवानभिहितवाच्याद्भिद्यते’ इत्याह । तच्चायुक्तम् । बहुषु स्थानेषु व्यभिचारात् । शब्दार्थविभागस्यासंगतत्वात् । उदाहरणम्—

‘यत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुक्पर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।

याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥’

विवक्षितमात्रस्येति । यावानर्थो विवक्षितस्तावन्मात्रस्यानियमरूपस्य पदान्तरेण नियमवाचिमात्रादिपदभिन्नेनाभासमणीकृताश्मस्त्वित्यादिनोपस्थितौ तस्य परिवृत्तत्वरूपायर्थदोषस्य तादवस्थ्यादित्यर्थः । न्यूनपदादिष्विति । न्यूनपदाधिकपदानभिहितवाच्येषु त्रिष्वित्यर्थः । त्रयाणां सनियमपरिवृत्तानियमपरिवृत्तविशेषपरिवृत्तानाम् । तत्र हि प्रथमस्य न्यूनपदेन संकरः । द्वितीयस्याधिकपदेन । तृतीयस्यानभिहितवाच्येनेति । तथा हि सनियमपरिवृत्ते नियमवाचिपदानुपादानान्यूनपदत्वम् । अनियमपरिवृत्ते नियमवाचकस्याधिकस्योपादानादधिकपदत्वम् । विशेषपरिवृत्ते त्ववश्यवाच्यस्यानुक्तेरनभिहितवाच्यस्य सविशेषस्यानुक्तेरनभिहितवाच्यत्वमिति । न चाविशेषपरिवृत्तेऽप्येतदिति शङ्क्यम् । तत्रानपेक्षितस्य विशेषस्य कथनेऽप्यपेक्षितानुक्त्यभावात् । अयं त्विति । सनियमपरिवृत्त इत्यर्थः । अनभिहितवाच्यस्तु कमपराधलवमित्यादौ शब्दश्रवणानन्तरमेव प्रतिभासत इति ततो भेद इत्यर्थः । बहुष्विति । अपदस्थ-

१. ‘यत्रेति । तस्य मणेश्चिन्तामणेरभासेनेषत्कान्तिमात्रेणामणय एव मणित्वेन कल्पिता येऽश्मानः पाषाणास्तेषु मध्येऽश्मत्वं पाषाणत्वमेवोचितं न तु मणित्वम् । चिन्तामणेरभासेन साधारणमणिगणनायां गणनमनुचितमित्यर्थः । यस्य कस्येल्पेक्षायामाह—यत्र चिन्तामणौ सति एतत्सकलं विधेर्निर्माणं सृष्टिः न उल्लिखिता निर्दिष्टा आख्या नाम यस्य तथाभूतम् । भवतीति शेषः । प्रयोजनाभावेन नामाग्रहणात् । ‘अनुल्लिखितार्थ’ इति पाठे अनुल्लिखितोऽनिर्दिष्टोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत् । अप्रयोजकमित्यर्थः । अथवा यत्र यद्विषयकं विधेर्निर्माणमनिर्वचनीयप्रयोजनमित्यर्थः । तथा यत्र मणानुत्कर्षस्य प्रतियोगिनोऽवधेः कस्यचित्कल्पनमपि परा न्यक्कारस्यावज्ञायाः कोटिः । सर्वोत्कृष्टतया यत्किंचिद्विरूपितोत्कर्षकथनस्यापकर्षहेतुत्वात् । ‘उत्कर्षप्रतियोगिनः प्रतिसंबन्धिनः । सद्रुशस्येत्यर्थः । कल्पनं कथनं परा न्यक्कारकोटिः । निरूपमत्वज्ञाने’ इति कैचित् । तथा यस्य मणेः संपदं प्राणभृतां प्राणिनां मनोरथगतीरुल्लङ्घयति कस्य याताः । मनोरथस्याप्यगोचरा इत्यर्थः । अत्रान्योक्तावाभासमात्रेणेति वाच्यम् । अन्यथा सिद्धनीयानां मणीनां गुणान्तरव्यवच्छेदाप्रतीतिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

अत्रान्यापदेशे आभासमात्रेण मणीकृतेष्विति वाच्यम् । गुणान्तरव्यावर्तनेन निन्दातिशयप्रतीतेः । अनियमे तु न निन्दनीयानां गुणान्तरव्यवच्छेदप्रत्ययः । तस्मात् 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेश्चस्याश्मतैवोचिता' इति पठनीयम् । अव्युत्पत्त्युत्पत्त्यनेव वैमुख्याधायकत्वमेव दुष्टिवीजम् । नित्यदोषोऽयम् ।

अनियमपरिवृत्तो यथा—

‘वक्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यमीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥’

अत्र शोण एवेति नियमो न वाच्यः । वैयर्थ्यात् । प्रत्युतान्यजलाशयानामकप्रतीतां पिपासानौचित्यातिशयाप्रतीतेः । अधिकपदभेदो दूषकताबीजं च पूर्ववत् । विशेषपरिवृत्तो यथा—

‘इयामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मपीकूर्चकै-
र्मञ्जं तन्मथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।

पदसमासमतपरार्थादिवाक्यदोषस्यार्थप्रत्ययं विना प्रतिभासाभावेन शब्ददोषत्वस्योक्तनियमव्यभिचारादित्यर्थः । पूर्ववदिति । अनधिकार्यविवक्षायामधिकपदत्वं दोषः । तदविवक्षायामयमर्थदोष इत्यर्थः । एवकारस्य द्योतकत्वान्नाधिकपदत्वमि-

१. ‘वक्राम्भोजमिति । मृगयायां पिपासुं राजानं प्रति कवेरिवमुक्तिः । हे अवनिपते, ते तवान्तः स्वच्छे सत्त्वगुणप्रधान एव स्वच्छे निर्मले मानसेऽन्तःकरण एव मानसे सरसि सत्यमीक्ष्णं पुनःपुनरम्बुपानस्याभिलाषः कथम् । भवतीति शेषः । जलाधारतया तव पिपासानुचितेति भावः । अनौचित्यातिशयं प्रतिपादयितुमाह—वक्रेत्यादि । ते इत्यग्रेतनमिहापि संबध्यते । तव वक्राम्भोजं सरस्वती भारत्येव नदीविशेषः सदाधिवसति । ते तवाधरः शोणो रक्त एव शोणो नद एव । ते दक्षिणो दक्षिणदिगवस्व एव वामेतरो बाहु-मुद्रया राजचिह्नभूतया सहित एव समुद्रो जलधिः । कीदृशः । काकुत्स्थस्य रामस्य वीर्य-स्मृतेः करणे पटुः समर्थः । तद्बाहुसादृश्यात् । एवं समुद्रोऽपि बन्धनात्तथाभूतः । एता वाहिन्यः सेना एव नथो भवतः पार्श्वे क्षणमपि नैव मुञ्चन्ति । अत्र शोण एवेत्यवधारणमनुचितम् । अन्यजलाशयव्यावृत्तेः पिपासानौचित्यातिशयप्रतिकूलत्वात् । इत्युदाहरणचन्द्रिका-संक्षेपः । २. ‘श्यामामिति । विद्वशालभजिकायां मृगाङ्गावलीवियोगातुरस्य राज्ञो विषाधर-मङ्गदेवस्येयमुक्तिः । भो इत्याकाशे संबोधनम् । भो जनाः, सान्द्रैर्वनैर्मपीणां कूर्चकैस्सु-लिकाभिः । चूर्णैरिति महेशः । श्यामां रात्रिं चन्द्रिकाधवलं श्यामलिमानं श्यामलता-मानयत प्रापयतेत्यर्थः । अयेति विकल्पे । मञ्जमथवा तन्मं वैषकादिशास्त्रं प्रयुज्य । तदुक्तौषधप्रयोगं कृत्वेत्यर्थः । तन्ममौषधमित्यन्ये । श्वेतानामुत्पलानां श्रियं शोभां हरत नाशयत । ‘रुचं’ इति पाठे दीप्तिम् । चन्द्रं च शिलापट्टके कृत्वा निधाय क्षणात्क्षणश-शूर्णयत । येनैवविधकरणेनाहं तस्या मृगाङ्गावल्या वक्रमुद्रया वदनरूपचिह्नेनाङ्किता दशः

चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दशदिशस्तद्वक्रमुद्राङ्किताः ॥'

अत्र ज्योत्स्नीमिति रात्रिविशेषो वाच्यः । अपरविशेषस्य स्वत एव इयाम-
त्वात्तत्राकाङ्क्षविरहात् । इदमेवात्र दूषकताबीजम् । अन्यत्र विरोधादिकमपि
दुष्टिबीजं द्रष्टव्यम् । विशेषनियामकप्रकरणादिसत्त्वे त्वदोषत्वम् । सामान्यप-
रिवृत्तो यथा—

‘कल्लोलेवेहितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकरालय मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
यात्राप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥’

अत्र कौस्तुभेनेति विशेषतो रत्नवचनं नोचितम् । कौस्तुभमात्रस्योपकार-
कत्वेनान्यावमानने निषेधायोगात् । ‘एकेन किं न भवतो विहितः स नाम’
इति पाठे तु भेदानवगमाद्विवक्षितनिर्वाहः । तदनिर्वाहादिकं च दूषकताबीजमिति
नित्य एवायम् ।

साकाङ्क्षः सहाकाङ्क्षया वर्तते । इतरपदार्थान्वयाय विशेषणसाकाङ्क्ष इत्यर्थः ।
निर्हेतुभेदस्तु तदवसर एवोक्तः । उदाहरणम्—

‘अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तथा कन्यया ।

त्यप्याहुः । अन्यत्रेति । ‘संतानं कीर्तिमातनुते’ इत्यादावसत्संताने कीर्तिजनकवि-

दिशो द्रष्टुं क्षमे समर्थो भवामि । भावनोपनीतं तन्मुखं दशमु दिक्षु पश्यतश्चन्द्रिकादि-
भिरुदीपकतया संतापकैः क्रियमाणं प्रतिबन्धमुत्तरीत्या तदपनयनेनापहरतेत्यर्थः । अत्र
ज्योत्स्नीरूपरात्रिविशेषस्य विवक्षितत्वाद्विशेषत एव ज्योत्स्नीमित्यभिधातुमुचितम् । अन्यथा
विशेषस्य प्रतीतौ विलम्बापत्तेः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘कल्लोलेति । हे मकराणामालय समुद्र, कल्लोलैस्तरङ्गैर्वेहितानां चालितानां दृषदां पाषा-
णानां परुषैः कठोरैः प्रहारैरमूनि स्वाश्रितानि रत्नानि मावमंस्थाः मावशासीः । कुत इत्यपेक्षा-
वामाह—किमिति । भवतः कौस्तुभाख्येन रत्नेन पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णोऽपि यात्रार्थं प्रसारितः
करो येन तथाभूतः किं नाम न विहितः । अपि तु विहित एवेत्यर्थः । तथा चैकेन रत्नेनैवंवि-
शोक्तर्षभाभादन्येषामपि रत्नानामवमाननं नोचितमित्यर्थो विवक्षितः । स च कौस्तुभेनेति
विशेषतोऽभिधाने न निर्वहति । कौस्तुभस्योपकारकत्वेऽप्यन्यत्रासामान्यावमानननिषे-
धायोगात् । कौस्तुभस्य रत्नसामान्यान्तर्गतत्वेनाप्रतीतेः । ‘एकेन किं न’ इति पाठे तु
तथाप्रतीतेर्न दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अर्थित्वे इति । सीताप्राप्तौ निराशस्य
रावणदूतस्य शौचलस्येयमुक्तिः । अर्थित्वे मत्प्रेषणाद्याचकत्वे प्रकटीकृतेऽपि प्रभो रावणस्य
फलप्राप्तिः सीतालामो नास्ति । प्रत्युत विपरीतं द्रुह्यन् सुकेतुताडकादिवधेन द्रोहकारी
विरुद्धं चरितं यथादिरक्षणरूपं यस्य तथाभूतो दाशरथिस्तथा प्रार्थ्यमानया कन्यया

उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्त्रंसनं चात्मनः

स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्देशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥'

अत्र स्त्रीरत्नमित्यस्यार्थं उपेक्षितुमित्यस्यार्थमाकाङ्क्षति । अन्यथा कथं मृष्यत इत्यनेनामर्षार्थकेनान्वयाप्रसङ्गः । नहि स्त्रीरत्न एवामर्षः किं तु तदुपेक्षायाम् । न च परस्येत्येतदन्तर्भाव्य तदन्तयोऽस्त्विति वाच्यम् । तस्य जनितान्वयबोधत्वेन निराकाङ्क्षत्वात् । न चाभवन्मतयोगसंकरः । वक्तृविवक्षितयोगस्यात्र सत्त्वात् । परं तु विवक्षित एवार्थः साकाङ्क्षतया दुष्टः । अत एव न न्यूनपदत्वान्तर्भावः । दूषकताबीजं चाभिधानार्थवसानम् । अतो नित्य एवायम् । कश्चित्तु—'स्त्रीरत्नस्य कथं मृष्यत इत्यनेनाकाङ्क्षा । तदन्वयश्च परस्येत्यन्तर्भाव्य संभवति । तच्च जनितान्वयबोधत्वेन निराकाङ्क्षमिति दूषणार्थः । अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वेनोपस्थितत्वे सत्यपर्यवसितार्थान्वयत्वं च लक्षणमतोऽभवन्मतयोगाद्भेदः । तत्रान्वयप्रयोजकरूपेणानुपस्थितेः । 'समासपुनरात्ते विशेषणस्यापर्यवसानमिह तु विशेष्यस्येति ततो भेदः' इत्याह । तद्वृत्तिविरोधादिग्रस्तम् ।

अपदयुक्तः अपदेऽस्थाने युक्तः । यत्र तद्योगे प्रकृतविरुद्धप्रतीतिः । उदाहरणम्—

‘आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं

भक्तिभूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।

उत्पत्तिर्दुहिणान्वये च तद्दहो नेहग्वरो लभ्यते

स्याच्चेदेष न रावणः क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥'

रोध इत्यर्थः । वृत्तिविरोधादीति । उपेक्षितुमित्याकाङ्क्षतीति वृत्तिग्रन्थादुपेक्षितुमित्यनेनानुपातेनैव साकाङ्क्षतायाः प्रतीतेस्तद्विरोध इत्यर्थः । साकाङ्क्ष इत्यक्षरानार्ज-

सीतया युक्तः संयुक्तः । दाशरथिरिति पितृसंबन्धोत्कीर्तनेन स्वतःख्यात्यभावादपकर्षसूचनम् । स्वप्रार्थितं स्वयं न लब्धं किं तु शत्रुणेति वैपरीत्यम् । परस्य शत्रोरुत्कर्षमात्मनश्च मानयशसोर्विस्त्रंसनं अंशं स्त्रीरत्नं च सीताख्यं जगतां पतिर्देशमुखो देवः कथं मृष्यते क्षमते । न कथंचिदपीत्यर्थः । अत्र स्त्रीरत्नेऽमर्षायोगेन स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमित्यस्यैसाकाङ्क्षम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. 'आज्ञेति । वीरचरिते । सन्त्येव बहवो गुणास्तथापि बलवानेको दोषस्तानपवदतीत्युपक्रम्य रावणदूतं प्रति जनकपुरोहितस्य शतानन्दस्येयमुक्तिः । यस्य रावणस्याज्ञा शक्रस्येन्द्रस्य शिखामणेः प्रणयिनी प्रिया । शिरोधार्येति यावत् । प्रणयित्वेन रूपणादपत्योरविच्छेदसूचनम् । शास्त्राण्येव नवं चक्षुः । शास्त्रदृष्ट्यैवाचरणात् । बहुवचनैकवचनान्यां सर्वशास्त्रविषयकज्ञानसूचनम् । नवत्वेनाभ्रान्तत्वं सूच्यते । भूतपतौ सकलप्राणिनामीश्वरे पिनाकिनि हरे भक्तिः । लङ्केति प्रसिद्धा दिव्या पुरी पदं निवासस्थानम् । दुहिणस्य ब्रह्मणोऽन्वये कुले चोत्पत्तिर्जन्म । तत्तस्मादहो आश्चर्यमीदृगुक्तगुणगणयुक्तो वरो न लभ्यते । दुर्लभ इत्यर्थः । एष रावणः रावयति पीडाजननेनाक्रन्दयति लोकानिति

अत्र जगदाक्रन्दनदायित्वादिना रावणस्य त्याज्यत्वं विवक्षितम् । तथा च स्याच्चेदेष न रावण इत्यत्र क नु पुनरित्यादि योजितं समाधाने पर्यवस्यतीति दुष्टम् । उत्पत्तिर्दुहिणान्वये चेत्यत्र यदि योज्यते तदा विवक्षितासिद्धिरेवेत्यपदस्थपदवदस्य दोषत्वम् । न च प्रकाशितविरुद्धान्तर्भावः । स्थानविशेषयोगमनपेक्ष्य तस्य प्रवृत्तेः । दुष्टिबीजं च विरुद्धप्रतीतिः । अतो नित्य एवायम् । केचित्तु—अपदमुक्त इति पठित्वा व्याचक्षते—“अपदमुक्तः पदे स्थाने योऽमुक्तः । ‘आज्ञा शक्र-’ इत्यादौ च स्याच्चेदेष न रावण इत्येतावता विच्छेदे कापि कान्तिरनुभवसिद्धा । ‘जीवत्यहो रावणः’ इतिवत् । सोऽयमर्थोऽत्र चेन्न त्यज्यते क नु पुनरित्यादिना विस्तार्यते तदा मध्यप्रवेशेनायमर्थोऽलक्षितप्रायश्चमत्कारं नावहतीत्यनुभवसिद्धम्” इति ।

सहचरभिन्नः समभिव्याहृतविजातीयः । वैजात्यं चोत्कृष्टत्वापकृष्टत्वाभ्याम् । उदाहरणम्—

‘श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
तिशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥’

अत्र श्रुतबुद्ध्यादिभ्यः उत्कृष्टेभ्यः समभिव्याहृतेभ्यो व्यसनेनमूर्खतयोर्विजातीयत्वमुभयोरुपादेयत्वमनुपायदेत्वं वा प्रतीयत इति दूषकताबीजम् । नित्यश्चायम् ।

प्रकाशितविरुद्धः । प्रकाशितो विवक्षितार्थस्य विरुद्धोऽर्थो येन वाक्यार्थेन सहः । सहचरभिन्ने पदार्थस्यैव तथात्वमिति ततो भेदः । उदाहरणम्—

चमार्थः । विवक्षितासिद्धिरेवेति । तदाहि उत्पत्तिर्दुहिणान्वये चेत्यन्ताः सर्वे गुणा न सर्वत्र । यद्यसौ रावणस्तद्वान्मवेदस्ति चासौ तादृशोऽन्यस्तु नेदृश इत्यर्थपर्यवसाने विवक्षितस्य रावणत्याज्यस्यासिद्धिरेव न त्वापाततोऽपि सिद्धिरित्यर्थः ।

समाभूतश्चेन्न स्यात्तदा क नु पुनः सर्वत्र जने सर्वे पूर्वोक्ता गुणाः । न कापि । किं तु रावणस्य सर्वगुणशालितयोत्कृष्टः स्यात् । जगदाक्रन्दनदायित्वेन तु बलवता द्रोषेणायमनुपादेय इति भावः । अत्र स्याच्चेदेष न रावण इत्यत्रैव काव्यार्थसमाप्तिरन्विता । क नु पुनरित्यादिविस्तारणे तु मध्यप्रवेशेन स्याच्चेदेष न रावण इत्यर्थोऽलक्षितप्रायतया न चमत्कारविश्रान्तिस्थानतां लभत इत्यनुभवैकसाक्षिकमिति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

२. ‘श्रुतेनेति । श्रुतेन शास्त्रध्वनेन बुद्धिरलंक्रियत इत्याष्वन्वयः । व्यसनेन धृतादिना । निम्नगा नदी । धृतिर्यैर्म । समाधिना योगेन धर्मेचिन्तया वा । नयेन नीत्या । शेषं स्पष्टार्थम् । अत्र बुद्धिर्बुद्ध्या उदाहरणं सहचरेषु निकृष्टतया तन्निष्प्रयोर्व्यसनेनमूर्खतयोरुपादानमनुचितम् । प्रायपाठेन्यायेन तयोरप्युपादेयत्वप्रतीतिप्रसङ्गादिति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

‘लक्ष्मं रागावृताङ्गया सुदृढमिह ययैवासियध्वारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्यां च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्व्रणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्भदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥’

अत्र विदितं तेऽस्त्विति वाक्यस्यार्थो लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धं प्रकाश-
यति । इदमेव दूषकताबीजमिति नित्यदोषोऽयम् ।

विध्ययुक्तः । अयुक्तविधिरित्यर्थः । अयुक्तत्वं च विधेरविधेयस्यैव विधेयत्वेन
वा अयुक्तक्रमतया वा । तत्राद्यो यथा—

‘प्रयत्नपरिबोधितस्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।
इयं परिसमाप्यते रणकथाद्य दोःशालिना-
मपैति रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥’

अत्र पाण्डवभयेनाद्यावधि तव निद्रा नाभूदेव । अद्य तु मया शमितेषु तेषु
निःशङ्कतया निद्राणस्त्वं प्रयत्नेन बोध्यस इति तात्पर्यम् । तथा च शयितस्त्वं
प्रयत्नेन बोध्यस इति विधिर्युक्तो न तु शेष इति शयनस्य अविमृष्टविधेयांशे तु
युक्तस्यैव विधिः । परं त्वविमर्शमात्रम् । अत्र त्वप्रयुक्तस्यैव विधिरिति भेदः ।
विवक्षितानिर्वाहोऽत्र दुष्टबीजम् । द्वितीयो यथा—

विरुद्धं प्रकाशयतीति । राजस्तुतिविरोधिनमित्यर्थः । तथा चेति । शयितः
प्रयत्नेन बोध्यत इति प्रयत्नबोधनं हि शयनातिशयव्यञ्जकतया प्राधान्येन बोधनी-
यमिति तस्यैव विधेयत्वं युक्तं शयनविशिष्टस्य तस्य वा न तु शयनमात्रस्य ।

१. लक्ष्ममिति । व्याख्यातपूर्वः । अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति
विरुद्धार्थप्रकाशः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘प्रयत्नेति । वेणीसंवरणे द्रोणवभकुपितस्य
शत्रुप्रति प्रतिकर्तुमिच्छोरश्वत्थामो दुर्योधनं प्रत्याश्वासनोक्तिरियम् । हे राजन्, अद्य त्वं
निशां व्याप्य शेषे विद्रास्यसीति संबन्धः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानत्वेन निर्देशः ।
कीदृशः । स्तुतिभिः प्रयत्नेन परिबोधितः । तथा निद्रास्यसि ययैवं प्रतिबोधनीय इत्यर्थः ।
अद्य भुवनमकेशवं श्रीकृष्णरहितमपाण्डवं पाण्डवैश्च रहितं निर्गताः सोमकाः पाञ्चाला
यसात्तथाभूतं च । यतः करोमीति शेषः । अद्य दोःशालिनां बाहुशालिनां क्षत्रियाणामियं
रणकथा सङ्गमवार्ता परिसमाप्यते । दूरतस्तु सङ्गमः । अद्य भुवः पृथिव्या भारोऽपैत्वप-
गच्छतु । कीदृशः । रिपुरूपेण काननेन बनेनातिगुरुररीयानित्यर्थः । कालान्तरकर्तव्यसंभा-
वनायाः सर्वयैव निरासाय प्रतिपादमधेत्युक्तिः । अत्र तथा निद्रास्यसि ययैवं परिबोध्यसे
इति प्रतिबोधन एव विधेयत्वविश्रान्तिर्युक्ता न शेषे इति शयने इत्ययुक्तविधित्वम् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
 ते ग्रस्ताः पुनरत्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बहिभिः ।
 तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
 र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥’

मृगचर्मवसनं मेघतोयकणिकापानं वायुभक्षणं चेत्युत्तरोत्तरं तीव्रमिति तत्क्रमेण विधिर्युक्तः । लोकप्रसिद्धक्रमलङ्घने श्रोतुस्तेगोऽत्र दुष्टिबीजमिति नित्योऽयम् ।

अनुवादायुक्तः अयुक्तोऽनुवादः । अयुक्तत्वं चात्र विध्यननुगुणत्वम् । यथा—

‘अरे रामाहस्ताभरण भसलश्रेणिशरण
 सरक्रीडाव्रीडाशमन विरहिप्राणदमन ।
 सरोहंसोत्तंस प्रचलदल नीलोत्पल सखे
 सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय केन्दुवदना ॥’

अत्र विरहिप्राणदमनेत्यनुवादः । कथय केन्दुवदनेति विधिविरुद्धः । तदेव च दूषकताबीजमिति नित्यदोषोऽयम् ।

बोधितः शेष इति विरोधाच्चेति भावः । लोकप्रसिद्धेति । लोकप्रसिद्धस्योत्तरोत्तरतीव्रक्रमस्य त्यागमात्रम् । न त्वत्र लौकिकक्रमेण विरोधः ‘तुरंगं मातङ्गं वा—’ इतिवदस्तीति दुष्क्रमाद्भेदो ध्वनितः । ताटङ्गत्वादिजातिपुरस्कारेणेत्यर्थः । आदिना

२. ‘वातेति । विषधरैः सर्पैर्वाताहारतया जगदाश्वास्य पृतेऽतिधर्मिष्ठास्तपस्विन इति विश्वासयुक्तं कृत्वा निःशेषितं भक्षितम् । ते पुनर्विषधरा अत्रसंबन्धितोयकणिकैव तीव्रं व्रतं येषां तथाभूतैः । मेघजलबिन्दुमात्राहारैरित्यर्थः । बहिभिर्मयूरैर्ग्रस्ताः । तेऽपि मयूराः क्रूरं कठिनस्पर्शं चमूरोश्चित्रमृगस्य चर्मैव वसनं येषां तथाविधैर्लुब्धकैर्व्याधैः क्षयं नीताः । इत्येवं दम्भस्य शाब्देन धर्माचरणस्य स्फुरितं चेष्टितं विदन्नपि वाताशनादिव्रतं सर्पाद्यैर्जगदादिभक्षणाय कृतमिति जानन्नपि जाल्मो मूर्खो जनो गुणानीहते । दाम्भिकेष्विति शेषः । ईहते संभावयतीत्यर्थः । ‘जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्’ इत्यमरः । अत्र दम्भचेष्टाया विधेयत्वेन विवक्षितत्वाज्जगन्निःशेषयितुं वाताहारः कृतस्तान्मसितुमत्रकणिकाव्रतं कृतं तान्क्षयं नेतुं चर्मवसनं कृतमित्येवं व्युत्क्रमेणाभिधातुं युक्तम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अरे इति । विरहिणः पुरुरवस इत्युक्तिः । अरे हे सखे नीलोत्पल, अहं सखेदः खेदसहितोऽस्मि अत इन्दुवदना उर्वशी केति कथय मोहं श्लथय श्लिथं कुर्विति संबन्धः । कीदृश । रामाणां हस्ताभरणालंकारभूत । अनेन परिचयादात्ताभिज्ञत्वं ध्वन्यते । भसलानां अमराणां श्रेण्याः शरणं गृहभूत । सरक्रीडायां या व्रीडा तच्छमन उदीपनतया तदपनायक । विरहिप्राणानां दमनं संत्रासक । सरोहंसस्य सरःश्रेष्ठसोत्तंसं भूषण । प्रचलानि मन्दमास्तेन चञ्चलानि दलानि यस्य तथाभूतेत्यर्थः । ‘निलोमे नृपती हंसः’ इति विश्वः । अत्र विरहिणः स्वस्य मोहश्लथनविधौ विरहिप्राणदमनेत्यनुवादो विरुद्धत्वादयुक्तः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

त्यक्तपुनःस्वीकृतः पूर्वं त्यक्तोऽनन्तरं पुनः स्वीकृत उपात्तः । तस्मिन्नेव वाक्यार्थे विशेषणान्तरोपादाने समासपुनरात्तम् । अत्र त्वन्य एव वाक्यार्थ इति ततो भेदः ।

उदाहरणम्—‘लभं रागावृताङ्गा—’ इति ।

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्युपसंहृतो राजदोषस्तेनास्मि दत्ता भृत्येभ्य इत्येतावता पुनरुपात्तः । स चाप्रयोजकः । उपेक्षया उपसंहृतेनैव निर्वाहात् । श्रीनियो-गादिकं त्वदुष्टमेव । अन्यथा वाक्यैकवाक्यतोच्छेदापत्तेः । दूषकताबीजं त्वप्र-योजकत्वं सहृदयवैरस्याधानं वा । लोकेऽपि हि त्यक्तस्य भक्ष्यादेः पुनरुपादानं वैरस्यमावहति । नित्यश्चायम् ।

अश्लीलो व्रीडादिसमर्पकोऽर्थः । यथा—

‘उद्यतस्य परं हन्तुं सन्धस्य विवरैषिणः ।

यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥’

शब्दान्तरेणाप्युपादीयमानोऽयमर्थः पुंव्यञ्जनादिसाधारण्येन प्रतीतेर्व्रीडादायी ।

ननुदाहरणेषूक्तेषु किमुदाहृता एव दोषाः । तथा सत्यन्यलक्षणानां तेषु दर्श-नादतिव्याप्तिः । अथ तत्र दोषान्तराण्यपि तर्हि किमिति न प्रकाशितानीति चेत्, अप्रकृतत्वादिति ।

अथैषां यथायथमदोषत्वे प्रतिपादयितव्येऽर्थदोषाणां संनिधानात्प्रथममर्थदो-षस्यैव तत्प्रतिपादयति—

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।

संनिधानादिबोधार्थं

अवतंसादिपदैर्जात्यादिपुरस्कृतेण कर्णाभरणादीन्येवोच्यन्त इत्यर्थे प्राप्सौ कर्ण-पदादीनां यद्यप्युष्टार्थत्वं पुनरुक्तत्वं वा युज्यते तथापि कचित्कर्णेऽवतंस इत्यादि व्युत्पत्त्या क्वचिद्व्युत्पत्त्यादिना च कर्णस्थित्यादिरूपस्याधिकस्य विवक्षितार्थस्य प्रतिपत्तेरदोषत्वम् । यथा—

‘अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।

तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥’

अत्रावतंसस्य कर्णस्थित्यवस्था कर्णपदोपादानेनावगम्यते । तदवगत्या किं

१. ‘हन्तुमेव प्रवृत्तस्य’ इत्युदाहरणचन्द्रिकाधृतः पाठः । ‘हन्तुमिति । हननं हिंसा सुरतोच्चितप्रहारश्च । स्तब्धत्वमनग्रता दृढत्वं च । विवरं परदूषणं स्त्रीणां वराङ्गं च । पातोऽपकर्षो धातुपातजनितसंकोचश्च । उन्नतिरुत्कर्षो धातुप्रत्यागमादृढता च । अत्र स्पष्टमश्लीलत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘अस्या इति । स्पष्टम् । अत्रावतंसादिपदे-नैव कर्णाभरणोक्तावपि कर्णपदस्य कर्णस्थितिव्यञ्जकतया न पुनरुक्तत्वादिदोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

प्रयोजनमिति चेत्, वर्णनीयोत्कर्षः । कथमिति चेत्, न स्वरूपतोऽस्य विभूषणजेतृत्वम्, किं तु तत्कर्णावस्थित्येति पर्यवसानात् । एवं श्रवणकुण्डलपदेऽप्युहम् । न केवलं कर्णश्रवणपदयोरेवायं महिमा, किं त्वन्येषामपि । यथा—

‘अपूर्वमधुरामोदप्रसादितदिशस्ततः ।

आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥’

अत्र शिरःपदादाने शेखरस्वान्यमात्रं लभ्यते, न तु तदलंकृतत्वम् । तथा च तत्प्रतीतेरदोषत्वम् ।

‘विदीर्णाभिमुखारातिकराले संयुगान्तरे ।

धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फूर्जितं तव ॥’

अत्र धनुःशब्दो ज्याया आरूढत्वप्रतिपादनाय । तच्च किणस्य प्रहारकृतत्वप्रतिपत्तये । यत्र त्वारूढत्वं तत्प्रतीतिप्रयोजनं वा नास्ति तत्र न धनुःशब्दोपादानमपि । यथा—

‘ज्याबन्धनिःस्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्रपरम्परेण ।

कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमा प्रसादात् ॥’

इत्यत्र ।

‘प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।

मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥’

अत्र हारशब्दस्य मुक्तासंदर्भशक्तत्वेऽपि न मुक्ताशब्दवैयर्थ्यम् । अन्यरत्नामिश्रत्वप्रतिपादनेनोपेक्षायामुपयोगात् ।

१. ‘अपूर्वेति । अपूर्वो लोकोत्तरो मधुरो हृद्यो य आमोदो गन्धपुष्पादिपरिमलस्तेनामोदिता दिशो यैस्तथाभूताः भृङ्गमुखराः शिरसि शेखरशालिनः किरीटशोभिनः पुरुषा आययुरित्यन्वयः । ‘मदिरामोद-’ इति पाठे परिपीताया मदिराया आमोदः । अत्रापि शिरःशेखरेति पूर्ववत् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘विदीर्णेति । हे राजन्, संयुगान्तरे रणमध्ये तव दोष्णा हस्तेन विस्फूर्जितमित्यन्वयः । कीदृशे । विदीर्णेर्विश्वेतरमिमुखैररातिभिः शत्रुभिः कराले व्यासे भीषणे वा । किंभूतेन दोष्णा । धनुर्ज्यायाः किणः प्ररूढव्रणचिह्नं तदेव चिह्नं यस्य तथाभूतेनेत्यर्थः । अत्र धनुरारूढता प्रतीयते धनुःपदेन । सा च किणस्य प्रहारकृतत्वप्रतिपत्तये ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘ज्याबन्धेति । यस्य कार्तवीर्यार्छिनस्य कारागृहे बन्धनागारे निर्जितेन्द्रेणापि लङ्केश्वरेण रावणेनाप्रसादात्प्रसादपर्यन्तं स्थितमिति संबन्धः । कीदृशेन । ज्याया मौर्व्या यो बन्धस्तेन निःस्पन्दो निश्चेष्टो भुजौ यस्य तथाभूतेन । तथा विशेषतो निःश्वसन्ती वक्रपरम्परा यस्य तथाभूतेनेत्यर्थः । अत्र पूर्वोक्तप्रयोजनाभावाद्धनुःपदानुपादानम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘प्राणेश्वरेति । स्तनद्वयं कर्तुं प्राणेश्वरस्य दयितस्य परिष्वङ्गेणालिङ्गनेन या विभ्रमस्य विद्यासस्य प्रतिपत्तयस्ताभिरुपलक्षितं लसता स्फुरता मुक्ताहारेण हसतीवेत्यन्वयः । मुक्ताहार एव हास इत्यर्थः । ‘हारो मुक्तावली’ इति विश्वः । अत्रापि रत्नान्तरामिश्रत्वबोधनाय मुक्तापदप्रयोगः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘सौन्दर्यसंपत्तारूपं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।

पदपदान्पुष्पमालेव कं नाकर्षति सा सखे ॥’

मालाशब्दो यद्यपि पुष्पस्यैव स्रजि शक्तस्तथापि न पुष्पपदमपुष्टार्थम् । लक्षणयोत्कृष्टत्वप्रतिपादकत्वात् । अयमेव करिवृंहितन्यायः । ननु मालाशब्दस्य पुष्पस्रज्यात्रशक्तत्वमित्यसम्यक् । रत्नमालेत्यादिप्रयोगदर्शनादिति चेत्, न । निरुपपदस्य तस्य तथात्वात् ।

स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥ १० ॥

महाकविप्रयुक्तेष्वेवं समाधानम् । न तु स्वेच्छया कर्णावतंसादिपदवज्जन-
काज्यादि करिकलभवदुद्भूतभादि वा प्रयोक्तव्यम् । वामनस्तु—“अपुष्टस्यापि
तत्रोपादानमुचितं यत्र तद्विशिष्यते । अन्यथा कुतस्तद्विशेषणान्वयः स्यात् ।
यथा—‘जगाद् विशदां वाचं मधुराक्षरशालिनीम्’ इत्यादौ । अत्र हि वाचमि-
त्यनुपादाने मधुरत्वादितद्विशेषणयोगः क प्रत्येतद्व्यः” इत्याह । तत्र युक्तमुदा-
हृतम् । विशदं जगादेत्यादिक्रियाविशेषणत्वेनैव समीहितसिद्धेः । तस्माद्यत्र न
क्रियाविशेषणत्वं योग्यं तदुदाहरणीयम् । यथा—

‘चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि स्फुटम् ।

पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नपि न स्विद्यते ॥’ इति ।

अत्र हि चरणत्रेत्यादि पदविशेषणं न क्रियाविशेषणार्हमिति प्रकाशकम् ।
तदपि न युक्तमुदाहृतमिति वचम् । कर्तृविशेषणत्वेनैवोपपत्तेः । तस्मान्मदीयं
पद्यमुदाहरणीयम् । यथा—

‘निर्वातपद्मोदरसोदराभ्यां विलोचनाभ्यामवलोकयन्ती ।

न केवलं यूनि मनोभवेऽपि व्यनक्ति कंचित्तपसः प्रभावम् ॥’

अत्र निर्वातपद्मोदरसोदराक्षीत्येवं कर्तृविशेषणत्वेनोपपत्तिरिति चेत्सत्यम् ।

कर्णाभरणत्वोपाधिना वेत्यर्थः । तत्रापक्षे कर्णाभरणत्वमर्थप्राप्तमन्त्ये तु पुनरुक्त-
तेत्यर्थः । निर्वातेति । वातसंबन्धरहितं यत्पद्मं तस्योदरं मध्यं तत्सदृशाभ्याम् ।
निमेषरहिताभ्यामिति यावत् । मनोभवेऽपीति । एवंविधकामिनीरूपनिजकार्य-

१. ‘सौन्दर्येति । हे सखे, सा वनिता कान्पुरुषान्नाकर्षति न वशीकरोति । कान्केव ।
पदपदान्पुष्पमालेव । सा का । यस्याः सौन्दर्यसंपत्तारूपं च । अस्तीति शेषः । ते तेऽनु-
भूता नानाविधा विभ्रमा विलासाः सन्तीत्यर्थः । अत्र निरुपपदान्मालाशब्दादेव पुष्पस्रजप्रतीतिः
पुष्पपदमुत्कृष्टपुष्पत्वे संक्रमितवाच्यम् । एवमेव करिवृंहितादिष्वपि बोध्यम् ।’ इत्युदाहरणच-
न्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘चरणत्रेति । चरणत्रमुपानत् । तत्कृतपरित्राणरहिताभ्यामित्यर्थः ।
अत्र ‘चरणत्रेति विशेषणनोधनाय पादाभ्यामित्यस्योपादानात्रापुष्टार्थत्वम् ।’ इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः । ३. अयं श्लोकस्तुदाहरणचन्द्रिकायां न व्याख्यातः.

परं स्वक्षिपदोपादानमपेक्ष्यैव । किं च सोदरत्वमात्रं नान्यविशेषणीभवितुमर्हति
यथा मधुरत्वचरणन्नपरित्राणरहितत्वे ।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता

यथा—

‘चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिव्याम् ।

उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥’

रात्रौ चन्द्रगतायाः पद्मगुणानुपभोगे पद्मसंकोचो हेतुः । दिवा च पद्माश्रिता-
याश्चन्द्रगुणानुपभोगे चन्द्रस्य निष्प्रभत्वं कारणम् । ते चातिप्रसिद्धेरेवावगम्येते
इति न तदुपादानापेक्षेत्यदोषः ।

अथ पदादिदोषाणामप्यदोषत्वं कचिदित्याह—

अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

प्रतिपादितदूषकताबीजाभावात् तत्र वैरस्याभावस्यानुभक्तित्वेन तदतिरि-
क्तस्थल एव दोषत्वव्यवस्थितेर्वा । यथा—

‘मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।

पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥’

अत्राद्राक्षंगोसुत्रामपदानि श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तानि । अनुकरणे चैषाम-
दोषत्वबीजं प्रतिपादितम् । तद्वदन्यत्राप्युक्तम् ।

वक्तृप्रतिपाद्यव्यङ्ग्यवाच्यप्रकरणादिमहिम्ना दोषस्यापि कचिद्दोषत्वाभावमात्रं
कचित्तु भाक्तो गुणव्यवहारोऽपीत्याह—

वक्त्राद्यौचित्यवशादोषोऽपि गुणः कचित्कचिन्नोभौ ॥११॥

नोभौ न गुणो न दोषश्च । तत्र स्ववैयाकरणत्वं प्रतिपादयिषौ वक्तरि

साधनसंपत्तेरिति भावः । बीजं प्रतिपादितमिति । प्रथमे स्वायत्तत्वाभावः,
द्वितीयेऽर्थाविवक्षा, तृतीये कविसमयलङ्घनस्यानुकारिण्यप्रसक्तैरित्येतद्दोषप्रतिपादनाव-
सरे प्रतिपादितम् । इहापि वैरस्याभावरूपमप्युक्तमित्यर्थः । प्रतिपाद्यपदेनार्थो

१. ‘चन्द्रमिति । कुमारसंभवे पथमिदम् । लक्ष्मीश्चन्द्रगता सती पद्मगुणान्सौरभ्यादीन्
भुङ्क्ते । तत्संपृक्ता न भवतीत्यर्थः । रात्रौ पद्मस्य संकुचितत्वात् । पद्माश्रिता दिवा विकसत्कमला
श्रिता सती चान्द्रमसीमभिव्यां शोभां न मुक्ते इत्यनुपपन्नः । अत्र चन्द्रस्य निष्प्रभत्वं हेतुः ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य प्राप्य अत एव लोला चपलाक्षी लक्ष्मीर्द्विसंश्रयां चन्द्रपद्मोभयाश्रितां
प्रीतिमवाप । तस्योभयगतगुणाश्रयत्वादिति भावः । अत्र हेतोः प्रसिद्धत्वाच्च पूर्वार्थे निर्हेतुत्व-
दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘मृगेति । मृगचक्षुषं मृगनेत्रम् । गवीत्यपशब्दानु-
करणम् । सुत्रामाणमिन्द्रम् । अत्र परोक्तानुकरणाच्छ्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तत्वानामदोषता ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

कष्टत्वं गुणः । प्रतिपाद्यस्य ततोऽतिशयेन प्रतीतेः । दोषत्वाभावश्चोपपादित एव । यथा—

‘दीधीद्वेवीद्विसमः कश्चिद्वृद्धोरभाजनम् ।

किंप्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र संनिहिते न ते ॥

वैयाकरणादौ प्रतिपाद्ये च तस्य गुणत्वम् । तद्भावनाभावितस्य तच्छब्देन प्रीत्युपचयात् । यथा—

‘यैदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।

उपाध्यायं तदास्मार्पं समस्प्राक्षं च संमदम् ॥’

ओजस्विनि रौद्रादिरसे व्यङ्ग्ये च तस्य गुणत्वम् । कठिणनशब्दस्य तद्व्यञ्जकत्वात् । तत्र बीभत्से यथा—

‘अन्नप्रोतवृहत्कपालनलकक्रूरकणत्कङ्कण-

प्रायप्रेक्षितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।

पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-

व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दपोद्धतं धावति ॥’

बोधनीयजनश्चोच्यते । प्रतिपाद्यस्य वैयाकरणत्वस्य । उपपादित एवेति । श्रोतु-
रनुद्वेगादिति तदवसरे उक्त इत्यर्थः । दीधीङिति । एतद्भातुद्वयसमः कश्चित्तव शत्रु-
रिति राजानं प्रत्युक्तिः । साम्यमाह—गुणेति । ‘दीधीवेवीटाम्’ इति निषेधात् ।

१. ‘दीधीङिति । कश्चिन्मन्दभाग्यो दीधीद्व वेवीद्व इति धातुद्वयसदृशः । गुणो
यैर्यादिः वृद्धिः सवृद्धिस्तयोर्गुणवृद्धोरभाजनमाश्रयः । धातुपक्षे गुणः ‘अदेङ्गुणः’ इति
परिभाषितः । वृद्धिः ‘वृद्धिरादैच्’ इति परिभाषिता । तयोरभाजनम् । ‘दीधीवेवीटाम्’
इति सूत्रेण निषेधात् । तथा कश्चित्किंप्रत्ययेन निभस्तुल्यः । यत्र यस्मिन्देवहृतके पुरुषे
किंप्रत्यये च संनिहिते सति ते गुणवृद्धी न भवतः । ‘किति च’ इति निषेधात् । अत्र
वक्तुर्वैयाकरणत्वात्कष्टत्वं गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘यदिति । पद-
विद्यायां व्याकरणशास्त्रे विशारदं निपुणं त्वामहं यदाद्राक्षं वृष्टवांस्तदा स्वस्वोपाध्यायं
गुरुमस्मार्पं सादृश्यात्स्मृतवान् । संमदं हर्षं च सम्यगस्प्राक्षं स्पष्टवान् । प्राप्तवानित्यर्थः ।
अत्र वैयाकरणस्य संबोध्यत्वाद्वगुणत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘अत्रेति । अत्र प्रकृता
ताडका दर्पणोद्धतं यथा स्यात्तथा धावतीत्यन्वयः । कीदृशी । अत्रैः प्रोतानि ग्रथितानि
वृहन्ति महान्ति यानि कपालानि शिरोस्त्रीनि नलकानि जङ्घास्त्रीनि च तान्येव क्रूरं यथा
स्यात्तथा कणन्ति कङ्कणानि तत्प्रायाणि तद्वज्रुलानि प्रेक्षितानि चञ्चलानि यानि भूषणानि
अवेयाङ्गदादीनि तेषां रवैः शब्दैरम्बरमाकाशमाघोषयन्ती प्रतिध्वनिव्याप्तं कुर्वती । तथा पूर्वं
पीतं पुनश्छर्दितं वान्तं रक्तमेव कर्दमः पङ्क्त्येन घनो व्याप्तो यः प्राग्भार उत्तरकायस्तत्र
घोरं यथा स्यात्तथोल्लसन्तौ नृत्यन्तौ व्यालोलौ चपलौ यौ स्तनौ तयोर्भारेण भैरवं भीषणं
वपुर्वस्यास्तथाभूता । ‘प्राघार’ इति पाठे प्राघारो निरन्तरक्षरणम् । सेक इति कश्चित् । तेन
घोराविति स्तनविशेषणम् । अत्र बीभत्सरसस्य व्यङ्ग्यत्वात्कष्टत्वं गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः.

ओजस्विनि सिंहादौ वाच्येऽपि तस्य गुणत्वम् । यतो मसृणशब्दप्रयोगेनोर्जि-
तोऽप्यर्थो मृदुवद्भासते । ऊर्जितशब्दप्रयोगे त्वोर्जित्येन । उदाहरणम्—

‘मातङ्गाः किमु वलितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के ।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुंकृते स्फुरति यत्तद्गर्जितं गर्जितम् ॥’

अत्र सिंहो वाच्यः । प्रकरणविशेषे च गुणत्वम् । वक्तुर्वैयाकरत्वाद्यभावेऽपि
कोपादिप्रस्तावे च तदनुगुणत्वात् । तथा—

‘रैकाशोक कृशोदरी क नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥’

अत्र मिथ्याशिरोवधूननेन कोपप्रकरणे । न चास्य व्यङ्ग्य एव प्रवेशः ।
कोपस्य व्यङ्ग्यत्वादिति वाच्यम् । वक्राद्यतिरिक्तस्थानीयस्य व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यप-
दोपादानाद्बोलीवर्दन्यायात् दोषत्वाभावश्चैतेषु गुणत्वप्राप्तेः स्फुट एव । क्वचि-
त्पुनर्न दोषत्वं न वा गुणत्वं यत्र न रसो न वा प्रतिपाद्याद्यौचित्यम् । अथ

१. ‘मातङ्गा इति । हे मातङ्गा गजाः, वलितैर्वृद्धितैः किमु । प्रयोजनमिति शेषः । हे
जम्बुकाः शृगालाः, अफलैराडम्बरैः किम् । हे सारङ्गा मृगास्तथा महिषाः, मदं गर्वं किं
किमर्थं व्रजथ । शून्येषु बलवद्ब्रहितेषु स्थानेषु के न शूराः । अपि तु सर्वेऽपीत्यर्थः । तथा च
शूरत्वख्यापनार्थमपि नैतदुचितमिति भावः । किं तर्हि सार्धकं तत्राह—कोपेत्यादि । कोप-
स्याटोपेन परिपाठ्या समुद्भटा उत्कटा उच्छिन्ना सटाकोटिः केसराग्रं यस्य तथाभूतस्यभारेः
सिंहस्य पुरोऽग्रे सिंभोरिव ध्वानिनि ध्वानशालिनि हुंकृते स्फुरति सति यद्गर्जितं तद्गर्जितम् ।
सार्धकमित्यर्थः । द्वितीयगर्जितपदस्य सार्धकत्वविशिष्टलाक्षणिकत्वात् । सफलगर्जितत्वरूपा-
र्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वं तु न युक्तम् । गर्जितान्तरस्याफलत्वेन पूर्वमनुक्तत्वादिति । अत्र
सिंहरूपवाच्यौचित्यात्तदभिधाने कष्टत्वं गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. रक्तेति ।
विरहिणः पुरुरवसः किलेयमुक्तिः । हे रक्तवर्णाशोक, शेषादनुरक्तानामशोको यस्मा-
त्तथाभूत, अनुरक्तं जनं मद्रूपं त्यक्त्वा कृशोदरी क नु गतेत्यन्वयः । वातचालितां तद-
ग्रशाखां दृष्ट्वा पुनराह—नो दृष्टेतीति । इतीत्यनन्तरं सूचयितुमिति शेषः । वातेनाधूतं
कम्पितं शिरो मुधैव ब्रूयैव । मिथ्येति यावत् । किं कुतश्चालयसि । पवनावधूतस्यैव
शिरसः क्रोधाद्वातव्याधिकम्पितत्वेनोक्तिः । मिथ्यात्वं समर्थयति—उत्कण्ठेत्यादिना । तस्या
कृशोदर्याः पादाहतिं पादाघातमन्तरेण विना भवतोऽर्थं दृश्यमानः पुष्पोद्गमः कुतः कस्मा-
द्भूतोः । स्यादिति शेषः । कीदृशः पुष्पोद्गमः । उत्कण्ठया घटमानानां मिलितानां षट्पदानां
वा यदा समूहस्तस्य संघट्टेन निबिडसंघन्नेन दद्याः खण्डिताश्छदाः पत्राणि यस्य तथाभूत
इत्यर्थः । अत्र मिथ्याशिरोवधूननेन कोपप्रकरणे कष्टत्वं गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

नीरसे यदि वियात्याभावादस्यादोषत्वं तदान्वेषामपि स्यात्, तथा च नीरसदोषो-
दाहरणं विरुध्येतेति चेत्, न । तस्योपलक्षणत्वादोषपरिचयमात्रार्थत्वाद्वा ।
यथा—

‘शीर्णघ्राणाङ्गिपाणीन्मणिभिरपघनैर्धर्घराव्यक्तघोषा-
न्दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन्यः ।
धर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्थाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥’

नीरसत्वं चात्रानुप्रासमात्रमभ्युपगम्य रसे तात्पर्याभावात् । नचानुप्रासास्पदैकत-
यैव गुणत्वम् । ‘सोऽध्यैष्ट वेदान्—’ इत्यादावपि तदापत्तेरिति । न च परुषवर्ण-
त्वमनुप्रासे प्रयोजकम् । येन तद्वदकतया भदोषत्वं स्यात् ।

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषयमकादावदुष्टाविति प्रतिपादितं प्राक् । यदि च प्रयो-
जनानुसंधानव्यग्रता दुष्टिबीजं तथाप्यत्र न दोषता । तदलंकारत्वस्य प्रयोजनस्य
प्रतीतेर्व्यग्रताभावात् । यथा—

‘येनै ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यो गङ्गां च दधेऽन्धकक्षयकरो यो बर्हिषन्नप्रियः ।

यत्र किंप्रत्यये संनिहिते ते गुणवृद्धी न स्तः । ‘छिति च’ इति निषेधादिति । शेषं स्पष्टम् ।
‘समस्त्राक्षं संस्पृष्टवान् । संमदं हर्षम् । अथ नीरसेति । वियात्यं रसाभावा-
दित्यर्थः । अन्येषामप्यश्लीलादिदोषाणां रसापकर्षकत्वाच्चीरसेऽदोषत्वं स्यात् । एवं च
‘नीरसं’ दोषोदाहरणमयुक्तम् । यथाश्लीले ‘साधनं सुमहद्यस्य—’ इति, तथा ‘सोऽध्यैष्ट—’
इत्यादिश्रुतिकददाहरणमपि नीरसत्वादयुक्तमिति शङ्कार्थः । न तस्येति । नीरसो-

१. ‘शीर्णेति । मयूरकवेः सर्वस्तुतिरियम् । तस्य धर्मांशोः सर्वस्य घृणयो रश्मयो वो
युष्माकमहसां पापानां विघातं नाशं शीघ्रं विदधतु कुर्वन्विलयन्वयः । स कः । यो विशी-
र्णनासाचरणहस्तान् त्रणयुतैरपघनैरङ्गैरुपलक्षितान् । अतएव धर्घरवच्चलञ्जलध्वनिबद्व्यक्तो
घोषः शब्दो येषां तथाभूतान् । यतोऽघौघैः पापसमूहैर्दीर्घकालं व्याप्याघ्रातानाक्रान्ताजना-
नुल्लाघयन्नीरोगान्कुर्वन्घटयति अर्थाद् घ्राणादिभिरङ्गैः संबध्नाति । कीदृशस्य धर्मांशोः । अन्त-
र्दधे द्विगुणा बहुला घना निविडा या घृणा कृपा तन्निघ्ना तदायत्ता निर्विघ्ना विघ्ननाशिका
वृत्तिर्व्यवसायो यस्यैवंभूतस्य । घृणयः कीदृशः । सिद्धानां संघैः समूहैर्दत्तोऽर्धो येभ्यस्त-
थाभूताः । ‘घृणिभिरपघनैः’ इति पाठे जुगुप्साविषयैरित्यर्थः । ‘धर्घरस्तु चलद्धारिध्वाने’
इति विश्वः । ‘उल्लाघो निर्गतो गदात्’ इत्यमरः । अत्रानुप्रासैकपरतया नीरसत्वात्कष्टत्वं न
गुणो न वा दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘येनेति । सर्वदः सर्वप्रदो माधवः श्रीकृष्णस्त्वां पायादित्यन्वयः । स कः । अभ-
वेनासंसारिणा येनानः शकटं ध्वस्तं पादेन पर्यस्तम् । बलिं दैत्यं जयतीति बलिजित् स्वस्य
कायः पुरामृतमथनावसरे स्त्रीकृतः कैटभीरूपतां प्रापितः । यक्षोद्भूतस्य भुजंगस्य कालि-
यस्य हन्ता । रवे शब्दब्रह्मणि लयो यस्य सः । अराणां बल्यं मण्डलं यत्र तदरबल्यं

यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
सोऽव्यादिष्टभुजंगहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥'

अत्र माधवपक्षे राहौ शशिमत्पदमप्रयुक्तम् । क्षयपदं गृहे निहतार्थम् । न च श्लेषरूपालंकारप्रयोजकतया गुणध्वनिपि शङ्कनीयम् । तत्त्वस्य तत्राप्रयोजकत्वात् । एवमन्येषु प्रतीतिविलम्बवत्सु द्रष्टव्यम् ।

अश्लीलत्वं कश्चिद्गुणः । यथा सुरतारम्भगोष्ठां 'द्वयैः पदैः पिशुनयेच रहस्य-
वस्तु' इति कामशास्त्रस्थितौ दोषत्वाभावे व्युत्पत्तिप्रकटनात् । यथा—

‘करिहस्तेन संबाधे प्रविश्यान्तर्विलोहिते ।

उपसर्पन्ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥’

अत्र संबाधादिपदानि । शमकथास्वप्यश्लीलं गुणः । तत्पोषकत्वात् । यथा—

‘उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसंनिभे ।

क्लेदिनि क्रीवणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥’

दाहरणस्येत्यर्थः । मात्रपदेन तत्काव्यस्य दुष्टत्वव्यवच्छेदः । इष्टापत्तिमाशङ्क्य निरा-
करोति—न चेति । तत्त्वस्याप्रयुक्तत्वादेः । तत्रालंकारे । संयुक्ते तर्जन्यनामिके

चक्रं उद्धृतभुजंगं हतवत्तदस्येति वा । ‘अरं शीघ्रे च चक्राङ्गे’ इति विश्वः । अगं गोवर्धन-
गिरिं गां पृथ्वीं च बराहरूपेण यो धृतवान् । यस्यामराः शशिनं मञ्जतीति शशिमद्राहु-
स्तच्छिरोहर इति स्तुत्यं स्तवनीयं नामाहुः । अन्धकानां यादवानां क्षयस्य द्वारकाख्यनि-
वासस्य कर्तव्यार्थः । शिवपक्षे तु—सर्वदा स स्वयमुमाया धवः शिवस्त्वां पायात् । स
कः । ध्वस्तो मनोभवः कामो येनैवंभूतेन येन बलिजितो विष्णोः कायः पुरा त्रिपुरदाहका-
लेऽस्त्रीकृतो बाणतां प्रापितः । उद्धृतभुजंगैर्हारयलयानि यस्य सः । यो गङ्गां शिरस्यधा-
रयत् । यस्य शिरः शशिमच्चन्द्रयुक्तमाहुः । अमरा हर इति स्तुत्यं नाम चाहुः । अन्ध-
कासुरस्य क्षयकरो नाशक इति । ‘यो बर्हिपत्रप्रियः’ इति पाठे बर्हिपत्रं मयूरपिच्छं तत्प्रियः
श्रीकृष्णः । शिवस्तु बर्हि पत्रं वाहनं यस्य स्कन्दस्य तत्प्रिय इत्यर्थः । एवं ‘इष्टभुजंगहा-
’ इति पाठे इष्टो भुजंगहा गरुडो यस्य स श्रीकृष्णः । शिवपक्षे तु सुगममेव । अत्र कृष्णपक्षे
शशिमत्पदस्य राहावप्रयुक्तत्वं क्षयपदस्य च गृहे निहतार्थत्वं न दोषः । ‘श्लेषनिर्वाहकत्वा-
दिति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘करिहस्तेनेति । साधनस्य सेनाया अन्तर्मध्ये प्रविश्योपसर्पन्गच्छन्पुंसो ध्वजः
केतुर्विराजत इत्यन्वयः । अन्तः कीदृशे । संबाधे नराश्चादिभिः संकटे । करिणां हस्तेन
शुण्डया विलोहिते विस्फारित इत्यर्थः । अत्र साधनस्य क्रीवराजस्यान्तर्मध्ये प्रविश्योपसर्पन्ग-
तागतं कुर्वन्पुंसो ध्वजो लिङ्गं विराजते । कीदृशेऽन्तः । संबाधे संकुचिते । कथं तर्हि प्रवेश-
स्तत्राह—करिहस्तेन ‘तर्जन्यनामिके श्लिष्टे मध्यमा पृष्ठतस्तयोः । करिहस्त इति प्रोक्तः कामशा-
स्त्रनिशारदैः ॥’ इति परिभाषितेन विलोहिते विस्फारिते । इति शुभोऽश्लीलार्थः । ‘द्वयैः
पदैः पिशुनयेच रहस्यवस्तु’ इति कामशास्त्रेण सुरतारम्भोपयुक्तवार्तायामनुमतत्वाद्वुणः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘उत्तानेति । उत्तान उच्छूनो जातशोफश्च यो मण्डू-

सूचनीयविशेषे यथा—

‘निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥’

अत्र प्रशमादिति स्वस्था इति मरणार्थकत्वादृशीले अपि भाव्यमङ्गल-
सूचनाद्गुणः ।

संदिग्धमपि वाच्यमहिम्ना नियतार्थप्रतीतिकारित्वाद्याजस्तुतिपर्यवसायितया
गुणः । यथा—

‘पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम् ॥’

अत्र पृथुकार्तस्वरादिशब्दाः पृथुकानामार्तस्वरः पृथु बहुलं कार्तस्वरं चेति
संदिग्धाः ।

अप्रतीतोऽपि यत्र प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्द्वयोरपि तज्ज्ञता तत्र गुणः । अर्थाप्र-
तीतिरूपबीजाभावेनादोषतायां व्युत्पत्तिप्रकटत्वात् । यथा—

‘आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।

कस्तस्य पादितं विदारितं यदुदरं तत्सन्निभे तजुल्ये छेदिनि छिन्ने स्त्रीव्रणे योनिरूपे कस्य कुमि-
भिन्नस्य सक्तिरासक्तिर्जायते । तदासक्तः कुमिरेवेत्यर्थः । अत्र शान्तकथायां जुगुप्साश्लीलं
गुणः ।^१ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘निर्वाणेति । वेणीसंवरणे सूत्रधारोक्तिरियम् । अरीणां प्रशमात्कलहोपशमान्निर्वाणः
शान्तो वैरमेव दहनोऽग्निर्येषां तादृशाः पाण्डुतनयाः पाण्डवा माधवेन कृष्णेन सह
नन्दन्तु । तथा कुरुराजस्य भूतराष्ट्रस्य सुता दुर्योधनादयः सभृत्याः स्वस्था निश्चिन्ता
भवन्तु । कीदृशाः कुरुराजसुताः । रक्ता अनुरक्ता प्रकर्षेण साधिता भूयैस्तादृशाः । क्षतो
निवर्तितो विग्रहः कलहो यैस्तथाभूताः । अत्र प्रशमान्नाशात्, रुधिरशोभितभूमयः खण्डि-
तशरीराः स्वर्गस्थाः, इत्यमङ्गलाश्लीलं भाव्यसूचकतया गुणः ।^१ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘पृथ्विति । राजानं प्रति कवेरुक्तिः । भो देव, संप्रत्यधुना आवयोः सदनं गृहं
सममित्यन्वयः । त्वत्तो धनलाभानन्तरं न सममिति संप्रति पदामिप्रायः । साम्यमेव श्ले-
षाह—पृथ्वित्यादिना । पृथूनि महान्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यत्र तद्राजगृहम् ।
कविगृहं तु पृथुकानां बालानामार्तस्वरस्य पात्रं स्थानम् । भूषिता अलंकृता निःशेषाः परि-
जना यत्रेति राज्ञः । कवेस्तु भुवि उषितो भूषायी निःशेषः परिजनो यत्र तादृशम् । तथा
विलसन्तीभिः करेणुभिर्हस्तिनीभिर्व्याप्तं राज्ञः । कवेस्तु विले विवरे सीदन्ति ते विलसदः ।
विलसद एव विलसत्का मूषकास्तेषां रेणुभिर्गहनं व्याप्तम् । ववयोरभेदात् । यद्वा विलसत्
कं जलं रेणुश्च ताभ्यां व्याप्तम् । अत्रोक्तविशेषणानां योग्यतया तत्तत्पक्षानुकूलार्थनिर्णया-
द्वाजस्तुतिनिर्वाहकतया संदिग्धं गुणः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘आत्मेति । वेणी-
संवरणे श्रीकृष्णवन्धनोपतं दुर्योधनं श्रुत्वा किं दुर्योधनो वासुदेवरूपं न जानातीति पृच्छन्तं

यं ध्यायन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥'

इयं भीमसेनस्य सहदेवं प्रत्युक्तिः । अत्र निर्विकल्पादिशब्दा आत्ममात्रावल-
म्बनत्वादावर्थे योगशास्त्रमात्रप्रसिद्धाः । स्वयं परामर्शोऽप्येवमेव गुणत्वम् । यथा—

‘षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितारमा
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥’

अधमप्रकृतीनां चेटविटविदूषकाणां हास्यरसप्रधानानां तथैवौचित्याद्दोषत्वा-
भावे हास्यपर्यवसायित्वाद्ग्राम्यो गुणः । यथा—

‘कुल्लकुरं कलमकुरणिहं वहन्ति
जे सिन्धुवारविट्वा मह वल्लहा दे ।

करिहस्तशब्दार्थः । अदोषतायां सत्यामित्यर्थः । कुल्लकुरमिति । ‘पुष्पोत्करं कल-
मौदननिभं वहन्ति ये सिन्धुवारविट्पा मम वल्लभास्ते । ये गालितस्य महिषीदघ्नः
सदृशास्ते किं च सुगधविचकिलप्रसूनपुष्पाः ॥’ विचकिलं मल्लिका । ‘तदा जायन्ते

सहदेवं प्रति भीमोक्तिः । मोहेनाज्ञानेनान्यो वस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिरहितोऽयं दुर्योधनस्तममुं
श्रीकृष्णं पुराणमनार्दि देवं परामात्मानं कथं वेत्ति जानातीत्यन्वयः । तं कम् । यं श्रीकृष्ण-
मात्मन्यारमन्ते प्रत्याहृतेन्द्रियाः सन्तस्तदेकताना भवन्ति, आत्मैव वा आरामः क्रीडास्थानं
येषां तथाभूता योगिनः निर्विकल्पे नेदावभासशून्ये समाधौ विहिता रतिरासक्तिर्यस्तादृशा
ज्ञानोत्सेकादात्मसाक्षात्कारदार्ढ्यादिषट्पितो नाश्वितस्तमसोऽज्ञानस्य ग्रन्थिर्यस्तथाभूताः सत्त्व-
गुणैकविश्रान्ताः सन्तो यं वीक्षन्ते पश्यन्ति । एवंविधानामेव वेषत्वेन हेतुगर्भं यत्पदार्थस्य
विशेषणम्—तमसां ज्योतिषां वा परस्ताद्दत्तमानमिति । रजस्तमोभिभूतैरलभ्यमित्यर्थः । अत्र
क्वचुश्रोत्रोर्विशतया अप्रतीतत्वं गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘षडधिकेति । मालतीमाधवे कपालकुण्डलायाः स्वयं परामर्शोऽयम् । स शक्तिभिर्ज्ञा-
नेच्छाकृतिभिर्प्राप्त्यादिभिर्वा परिणद्धो नित्ययुक्तोऽत एव तासां नाथ ईश्वरो जयतीत्यन्वयः । स
क्रः । यः षडधिकानां दशनाडीनामिडादिषोडशनाडीनां यच्चक्रं मणिपूराख्यं तन्मध्ये स्थित
आत्मा स्वरूपं ज्योतीरूपं यस्य स तादृशः इदि विनिहितरूपो हृदये चिन्त्यमानरूपस्तद्विदां
तथा ध्यायतां सिद्धीरणिमाणा ददातीति तथाभूतः । पुनः कीदृक् । अविचलितमनोभिः
स्थिरान्तःकरणैः साधकैर्मृग्यमाणोऽन्विष्यमाण इत्यर्थः । अत्र वस्तुतस्तज्ज्ञाद्रूपत्वम् ।’ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘कुल्लेति । विद्धशालमजिकायां विदूषकोक्तिरियम् । कूरशब्दो भक्ते
देशी । कलमाः शालयस्तदोदनतुल्यं पुष्पोत्करं ये वहन्ति ते सिन्धुवारवृक्षस्य विटपाः शाखा
मम वल्लभाः प्रियाः । शाल्योदनसदृशत्वं प्रियत्वबीजम् । तथा ये गालितस्य वस्त्रनिर्जली-
कृतस्य महिषीदघ्नः सदृशाः । किं चेति समुच्चये । तेऽपि विचकिलप्रसूनस्य मल्लिकापुष्पस्य
पुष्पा मम वल्लभा इत्यनुपमः । अत्र विदूषकोक्ती ग्राम्यो गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा
दे किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥'

अत्र कलममहिषीदधिशब्दाः ।

न्यूनपदमपि कचिद्गुणो यत्र न्यूनतयैवाभिमतविशेषसिद्धिः । यथा—

‘गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्धतरोमोद्गमा
सान्द्रजेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद मातिमामलमिति क्षामाक्षरोह्यापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥’

अत्र मामेत्यत्रायासय, मातीत्यत्र पीडयेति न्यूनम् । न च दोषः । प्रतीतेः स्फुटत्वात् । प्रत्युत गुणः । रसातिरेकव्यञ्जकत्वात् । क्वचित्तु न दोषो नापि गुणः । यथा—

‘तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनः स्नेहार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोजातेति कोऽयं विधिः ॥’

अत्र पिहितेत्यनन्तरं नैतद्युज्यत इत्येतैन्यूनम् । एवं द्वितीयपादेऽपि । न सा

१. ‘गाढेति । अमरकवेरिदं पद्यम् । सखायं प्रति कस्यचिदुक्तिः । गाढालिङ्गनेन खर्वीकृतकुचा चासौ प्रोद्धतरोमोद्गमा । तथा सान्द्रो घनो यः स्नेहरसोऽनुरागस्य रसस्तस्यातिरेकेणाधिक्येन विगलच्छ्रीमतो नितम्बस्याम्बरं वसनं यस्यास्तथाभूता । हे मानदायक मामा । पीडयेति शेषः । मा इति माम् । आयासयेति शेषः अलं पूर्यतामित्यक्षरोह्यापिनी । क्षामा कृशाङ्गी । क्षामेत्यक्षरविशेषणं वा । एवंभूता प्रिया निश्चलतातिशयात्सुप्ता किन्तु । श्वासादिकृतचेष्टाया अपि विरहमभिप्रेत्याह—मृता नु किमिति । भिन्नत्वेनानवभासमभिप्रेत्याह—मे मम मनसि लीना जतुकाष्ठन्यायेन संवदा किं न्वित्यनुपङ्गः । तथाभूताया अपि पृथक्कर्तुं शक्यत्वादाह—विलीना नीरक्षीरादिवदैक्यमापन्ना नु किमिति । अत्र पीडयेत्यादिक्रियापदन्यूनतां रसातिरेकव्यञ्जकतया गुणः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. तिष्ठेदिति । विक्रमोर्वशीये पुरुरवस इत्युक्तिः । सा उर्वशी कोपवशात्प्रभावान्तर्धानविषया पिहितान्तर्हिता अत्रैव तिष्ठेदिति वितर्कः । एतदुत्तरं नैतद्वक्तुं यत इति पूरणीयम् । यस्मात्सा खर्वशी दीर्घं चिरकालं न कुप्यति । स्वर्गाय स्वर्गं गन्तुम् ॥ ‘तुमर्थाच्च भाववचनात्’ इति चतुर्थी । उत्पतिता उड्डीना भवेत् । अस्या मनः पुनर्मयि स्नेहेनार्द्रं सरसम् । तेनैतदपि नेति शेषः । भवेदित्यनन्तरं नैतद्यत इति शेषपूरे पुनःशब्दार्थान्वयप्रसङ्गात् । मे मम पुरोवर्तिनीं च तां प्रियां हर्तुं विबुधद्विषोऽसुरा अपि न शक्ताः किमुतान्ये । सा चात्यन्तं नयनयोरगोचरं भावप्राधान्यादगोचरत्वं याता प्राप्तेति कोऽयं विधिः प्रकारो दैवं वा । वर्तत इति शेषः । अत्र दीर्घमित्याहुत्तरवाक्यार्थावगमेनैव पूर्वस्य बाध्यत्वावगानान्न्यूनत्वं न दोषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

चात्रगुणत्वम् । विशेषबुद्धेरनुपादनात् । नापि दोषत्वम् । तद्व्यतिरेकेणापि दीर्घं न सा कुप्यतीत्यादिप्रतीत्या तिष्ठेत्कोपवशादित्यादिप्रतीतीनां बाध्यत्वावगमात् ।

अधिकपदं कचिद्गुणः । यत्र विशेषप्रतिपत्तिः । यथा—

‘यद्वज्रनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किं तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥’

अत्र द्वितीयं विदन्तीति पदमन्ययोगव्यवच्छेदं प्रतिपादयन्नाधिकपदत्वेऽपि दृष्टम् । यदुक्तम्—

‘विस्मये च विषादे च दैन्येऽवधारणे तथा ।
प्रसादने तथा हर्षे वाक्यमेके द्विरुच्यते ॥’ इति ॥

एवं हर्षशोकादियुक्ते वक्तारि गुणत्वम् । त्वरादिव्यक्त्या हर्षाद्यभिव्यञ्जकत्वात् । यथा—

‘वैद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंस्तु तव तवासीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धाहेति परं मृते पुत्रे ॥’

अत्र पादचतुष्टये क्रमेण हर्षमीतिविस्मयविषादयुक्ता वक्तारः । एवं पुनरुक्तेऽपि द्रष्टव्यम् ।

कथित[पद]स्यापि लाटानुप्रासे तन्निर्वाहकतयार्थान्तरसंक्रमितवाच्ये विशेष-
व्यञ्जनाद्विहितस्य यत्रानुवाच्यत्वं तत्र च तादृशाभिमतनिर्वाहकतया गुणत्वम् ।
क्रमेणोदाहरणानि—

‘सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥’

१. ‘यद्वज्रनेति । वज्रनायां प्रतारणायामाहिता स्यापिता मतिर्येन सः । कार्ये उन्मुखः खलत्परः खलजनो बहुचाटुगर्भं प्रियवचनमिश्रं यत्कृतकं मिथ्याभूतं ब्रवीति तत्साधवो न विदन्ति न जानन्तीति न किंतु विदन्ति । कथं तर्हि ज्ञात्वाप्युपकुर्वन्तीत्यत आह—अस्य खलस्य प्रणयं चाटुभाषणादिरूपं वृथा कर्तुं न पारयन्ति न शक्नुवन्तीत्यर्थः । अत्र द्वितीयस्य विदन्तीत्यस्य नन्दययोगेनोक्तार्थकत्वेऽपि साधव एव जानन्तीत्यन्ययोगव्यवच्छेदपरत्वादुक्तत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘दैन्ये चैवावधारणे’ क. ३. ‘वदेति । रणादागतं चारं प्रति स्वामिनः प्रश्नः । न इत इत्याधुत्तरम् । तवासीति जल्पप्रतिलम्ब्यः । पुत्रे मृते सति चित्रं चित्रं श्राहेत्यरोदीदिति संबन्धः । अत्र क्रमेण हर्षमीतिविस्मयविषादव्यञ्जकत्वादधिकपदत्वं गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. सितेति । हे विभाकराकार सूर्यतुल्य, हे धरणिधर पृथ्वीपालक राजन्, सितकरस्य श्वेतकिरणस्य चन्द्रस्य कराः किरणास्तद्रूप-
मिव विभा कान्तिर्यस्याः सा कीर्तिः तथा पौरुषकमला पराक्रमलक्ष्मीर्लक्ष्मीश्च तवैवास्ति नान्यस्य । अस्तीति शेषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र लाटानुप्रासः ।

‘ताला जाभन्ति गुणा जाला ते सहिअहि’ घेष्यन्ति ।

रहकिरणानुगहिआहूँ होन्ति कमलाहूँ कमलाहूँ ॥’

अत्र द्वितीयं कमलपदं सौरभादिमदर्थकतयार्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् ।

तथात्वे च कथितपदत्वमेव प्रयोजकम् ।

‘जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः ॥’

अत्र कारणमालायां पूर्वोपात्तपदेनैव विनयादिकमुपादेयं पदान्तरेणानु-
द्यमानं तद्विन्नतयेव प्रतिभाति । तथा च तादृशालंकारसंपादकतया गुणत्वं
दोषत्वाभावश्च ततो बीजाभावाच्च ।

पतत्प्रकर्षमपि कचिद्गुणः । यथा—‘प्रागप्राप्त-’ इत्यादौ । अत्र चतुर्थे पादे
क्रोधाभावान्मसृणमेव पदं युक्तमिति दोषत्वाभावः । गुणत्वं तु विनयप्रका-
शकतया ।

समासपुनरात्तं कचिन्न गुणो न दोषः । यथा—‘प्रागप्राप्त-’ इत्यादौ ।
अत्र ‘येनानेन-’ इत्यादौ न विशेषणदानमात्रार्थं किंतु वाक्यान्तरमेवावधेयम् ।
अतो बीजाभावाच्च दोषो न च गुणः । विशेषबुद्धेरकरणात् ।

अपदस्थसमासमपि कचिद्गुणः । यथा—‘रक्ताशोक-’ इत्यादि । अत्रापदस्थ-
समासमेव कथमिति चिन्त्यम् । द्वितीयार्थस्यापि तत्स्थानत्वात् तस्यापि
रूपवक्तृत्वात् अन्यथा गुणत्वासंभवात् । भास्करस्तु—‘शृङ्गारे समासस्थानौ-
चित्यादस्थानस्थत्वम्’ इत्याह ।

गर्भितमपि कचिद्गुणः दृढप्रत्ययादिहेतुत्वात् । न च दोषः प्रतीतेरव्यव-
धानात् ।

‘भैस्मि (मि) अवहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि ।

सिबिणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्ति ण पुम्हसिमि ॥’

गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते । रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥
[इति च्छाया ।] दोषत्वाभावश्च तत इति गुणत्वादित्यर्थः । बीजं वैरस्य । तदभा-
वाच्चेत्यर्थः । भास्करमतेऽस्वरसस्तु कुदोक्तेरपि समासस्थानत्वादस्थानस्थसमासत्वा-
नुपपत्तितादवस्थमिति । नो दृष्टेति कोपोपक्रमस्थानत्यागेनान्यत्र करणात्तथात्वम् ।
उन्मत्तस्य स्थानौचित्याविवेकात् । उन्मादस्य क्रोधपरिपोषकतया च गुणत्वमित्यु-

१. ‘व्याख्यातं पूर्वमेतत् । अत्र द्वितीयकमलपदस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वेन व्यञ्जनो-
पयुक्तत्वादगुणत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘जितेन्द्रियत्वमिति । गुणैरधिके उक्तृष्टे ।
अत्रापि कारणमालानिर्वाहकतया गुणत्वम् । पदान्तरेणानुवादे भेदप्रतिभासात् ।’ इत्यु-
दाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘भम्मीति । ‘हुम्मि’ इति पाठे भवामीति । ‘तन्ति पुच्छसिमि’.

अत्र प्रतीहीति दृढप्रत्ययोत्पादकम् । एवमन्यदपि लक्ष्यं दृष्टोहनीयम् ।
अत्र साक्षाद्रसविरोधिनो दोषानाह—

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।

कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥ १२ ॥

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।

अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥ १३ ॥

अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥ १४ ॥

शब्दवाच्यता सामान्यतो विशेषतो वा स्वशब्देनोपादानम् । सा व्यभि-
चारिणां यथा—

‘सत्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे

सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।

सेष्यां जङ्घसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे

पार्वत्या नवसंगमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः ॥’

अत्र त्रीडादयो व्यभिचारिभावाः स्वशब्देनोपात्ताः । न च स्वशब्देनोपा-
त्तेषु व्यभिचार्यादिष्वास्वादसंभवोऽनुभूयते, किं त्वनुभावादिमुखेनैव व्यक्तेषु ।
तस्मादास्वादानुत्पत्तिर्दोषत्वबीजमिति संप्रदायः । तत्रेदमालोचनीयम्—
एतावता शब्दवाच्यताया दोषत्वमेव तावदुल्लभम् । दूरे पार्थक्येन । दूरतरे

कम् । ‘भ्रमाम्यहं हस्तिरेखो (भ्रमाम्यपहस्तिररेखो) निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि लयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रस्मरामि (प्रस्मरिष्यामि) ॥’ [इति च्छाया ।]

इति पाठे चिन्तां प्रमोक्ष्यामीति । कामं प्रति यौवनस्यैवमुक्तिरिति केचित् । मलयानिला-
दिसहचरसंपत्तौ कामं प्रतीयं तरुणोक्तिरित्यन्ये । गुरुं प्रति शिष्योक्तिरित्यपरे । अपह-
स्तिता लक्षा रेखा मर्यादा येन सः । निरङ्कुशोऽनुरोधश्चन्यः । त्वयि पुनर्भक्तिं चिन्तां
वा स्वप्नेऽपि न प्रस्मरिष्यामि विस्मरिष्यामि । त्वं प्रतीहि विश्वसिहि । अत्र त्वं प्रतीहीति
ज्ञानवर्गमितत्वं दृढप्रत्ययार्थतया गुणः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘सत्रीडेति । नवे आधे संगमे प्रणयशालिनी पार्वत्या दृष्टिर्बो युष्माकं शिवाय
कल्याणायास्तु । कीदृशी । दयितानने सत्रीडा प्रथमदर्शनाल्लज्जावती । मातङ्गचर्मरूपेऽम्बरे
वस्त्रे सकरुणा । मातङ्गवधस्पृष्टा शोकोदयात् । भुजगे सर्पे त्राससहिता । अमृतस्यन्दिनि
चन्द्रे विस्मयरससहिता । अन्तरिक्षगामितया दुर्लभस्य ललाटे दर्शनात् । जङ्घसुता, गङ्गा
तलमर्मेके तत्कर्तुके बावलोकनविधौ सतीति सतिसप्तमी । तेन तस्या ईर्ष्यालम्बनत्वलाभः ।
कपालस्फेदरे गर्भे दीना । मणिस्यने तद्दर्शनात् । अत्र त्रीडादिव्यभिचारिणां वाच्यत्वं
दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

साक्षात् । तथाह्यनुभावादीनामुपस्थिताविद्यं रसप्रतिबन्धिकाभिमतता तदनु-
पस्थितौ वा । अन्ते कारणाभावादेवास्वादाभावो न तु वाच्यत्वकृतः । सत्येव
कारणचक्रे कार्यानुत्पादस्य प्रतिबन्धकताव्यवस्थापकत्वात् । तथा च न्यूनपद-
त्वमनभिहितवाच्यता वा दोषः । न त्वियम् । आद्येऽनुभावादित एव रसव्य-
क्तिरिति किं तच्छब्देनेति वैयर्थ्यमात्रं दोषः । वयं त्वालोचयामः—अनुभावा-
दीनामुपस्थितावेव भावादीनां शब्दवाच्यतया स्वादोपघातः प्रतीयत इति
तस्याः पृथग्दोषत्वम् । अत एवौत्सुक्यादीनां शब्दवाच्यता न दोषः । तत्रास्वा-
दविघाताप्रतीतेः । न च वाच्यमेवानुभावोपादानेऽपि किमिति नोदाहृतमिति
तदुपादानस्थले भावादिशब्दानां वैयर्थ्यमपीत्यसंकराभिप्रायेण तथोदाहरणात् ।
उदाहृतेऽस्वनुभावाक्षेपकतया वैयर्थ्याभावात् । न चैवमुक्तोदाहरणविरोधस्त-
त्रानुभावाद्यनुपादानादिति वाच्यम् । 'देवादहमत्र तथा—' इत्यादाविवाक्षेपेण
तेषां प्रतीतेः । न हि व्रीडादिशब्दैः प्रतिपादिता व्रीडादय आस्वाद्यतामिव
स्वानुभावाद्याक्षेपकतामप्यास्वादयिनुमक्षमा बीजाभावात् । एवमग्निसोदाहर-
णेऽप्युल्लामिति । एवं च स्थिते

‘व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे

सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।

मीलद्भूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे’

इति पादत्रये पाठो युक्तः । एवं भावादिशब्देनाप्युपादाने द्रष्टव्यम् । रसस्य
सामान्यतो रसशब्देन यथा—

‘तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।

नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥’

विशेषतः शृङ्गारपदेन यथा—

‘आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-

व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम् ।

विस्मरामीत्यर्थः । तथाहीत्यादि । अनुभावा हि स्थायिव्यभिचारिसाधारण्येन सर्वे
गृह्यन्ते । आदिना स्थायिनां विभावद्वयस्य चोपादानम् । एवं च सोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं
शब्दवाच्यताया अनुपपन्नमिति सदोषः, किंतु शब्दवैयर्थ्यमात्रमित्यर्थः । वयं
त्विति । तथा च न रसानुत्पत्तिप्रयोजकत्वम् किं तु तच्चमत्कारित्वविघातकत्वं
शब्दवाच्यताया इति नोक्तदोष इत्यर्थः । एवं उक्तप्रकारेण दोषत्वे । अनुभावा-
द्यनुपादानादिति । तथा च सामान्यभावादेव रसानुत्पत्तौ तदपकर्षकतया दोषो-
द्भावनं विरुद्धमित्यर्थः । स्वानुभावादीति । स्वस्येति षष्ठाः साक्षात्परम्परासाधा-

१. तामिति । तां नायिकां नेत्रयोगोचरे कृतवतोऽस्य कोऽप्यनिर्वाच्यो निरन्तरो धनो
रसोऽजायतेति संबन्धः । कीदृशीन् । अनङ्गस्य जये मङ्गलसंपत्तिरूपम् । किञ्चिदुच्चैर्भु-
जमूले कुचसंघौ लोकितां दृष्टामित्यर्थः । अत्र रसस्य वाच्यतादोषः । इत्युदाहरणचन्द्रि-
कासंक्षेपः. २. ‘आलोक्येति । षष्ठं युवा कोमले कपोलतलेऽभिषिक्तः अत एव पुलकादिचिह्नै-

पश्यैष बालपमतिवृत्त्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥'

स्थायिनो विशेषत उत्साहपदेन यथा—

‘संप्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।

क्षणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥’

अत्रैव ‘स्थायिभावोऽस्य कोऽप्यभूत्’ इति चतुर्थपादपाठे सामान्यतः शब्द-
वाच्यतोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

कष्टकल्पनया पृथक्छोकाद्यनुसंधेयप्रकरणादिपर्यालोचनया विलम्बेन व्यक्तिः,
न तु ‘देवादहमत्र यथा—’ इत्यादाविव श्रुतित्याक्षेपमहिम्ना सा । अनुभावस्य
यथा—

‘कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-

दिखण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।

लीलाशिरोऽशुकनिवेशविशेषकृत्ति-

व्यक्तस्तनोच्चतिरभून्नयनावनौ सा ॥’

अत्र चन्द्रादय उद्दीपनालम्बनविभावाः शृङ्गारयोग्या अनुभावाप्रतीत्या
आस्वादापर्यवसायिनः स्थिताः । यद्यप्यंशुकनिवेशोऽनुभावत्वयोग्यस्तथापि तस्य
स्तनव्यक्तिप्रयोजकत्वेनोपात्तेर्नानुभावत्वपर्यवसानमिति प्राञ्चः । वस्तुतस्तु
पुंनिष्ठ एव शृङ्गारोऽत्र प्रतिपिपादयिषितः । ‘असून्नयनावनौ सा’ इत्यनेन
तस्यैवालम्बनत्वप्रतिपादनात् । न च पुंसि कश्चिदनुभाव उपात्तः न च विभा-
वैरप्याक्षेपाहं इति कष्टेन कल्पनीयः । विभावस्य यथा—

‘परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलिततरां परिवर्तते च भूयः ।

इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥’

व्यक्तो योऽनुरागस्तेन सुभगां शोभनाम् । अभिरामा मूर्तिर्यस्यास्तादृशी नायिकामालोक्य
शृङ्गारस्य सीमनि तरङ्गितमनवच्छिन्नखेलनमातनोति त्वं पश्येत्यन्वयः । तथा खेलेन हेतु-
गर्भं विशेषणमाह—बाल्यमतिवृत्त्यातिक्रम्य विवर्तमानः । पुलककटाक्षादिभिश्चेष्टमान इत्यर्थः ।
अत्र विशेषतः शृङ्गारपदवाच्यत्वम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘संप्रहार इति । संप्रहारे युद्धे प्रहरणैरायुधैः परस्परं ये प्रहारास्तेषां क्षणत्कारैस्ता-
दृशशब्दैः कर्णागतैस्तस्य प्रकृतवीरस्य कोऽप्यनिर्वचनीय उत्साहोऽभूदित्यन्वयः । अत्रोत्सा-
हस्य स्थायिभावस्य वाच्यता ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘कर्पूरेति । तस्य यूनः सा ना-
यिका नयनावनौ नेत्रप्रसारणभूमौ । नेत्रगोचर इति यावत् । अभूदित्यन्वयः । कीदृशी ।
लीलाया शिरःसंबन्धिनोऽशुकस्य यो निवेशविशेषस्तस्य कृत्या करणेन व्यक्ता स्तनयोश्च-
तियस्याः सा । कसिन्सति । कर्पूरधूलिवद्वलेन द्युतिपूरेण धौतं प्रक्षालितं दिशां मण्डलं
येन तथाभूते शिशिररोचिषि चन्द्रे सति । तेनोद्दीपनप्रकर्षः । अत्र पुंनिष्ठशृङ्गारानुभावः
कष्टमन्यः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘परिहरतीति । बत खेदे । विषमा दशा
परिहावस्या अस्य देहं प्रसभं इठात् इत्येवंप्रकारेण परिभवति । अत्र किं कुर्म इत्यन्वयः ।

अत्र कामिनीरूपः शृङ्गारविभावोऽभिमतो न पुनरुपात्तः । न च रतिपरि-
हारादिभिरनुभावैराक्षेपमपि शक्यते । तेषां करुणादावपि संभवादिति कष्टेन
कल्पनीयः ।

प्रतिकूलविभावादिग्रहः । प्रकृतरसादेः प्रतिकूलो यो रसादिस्तद्विभावानु-
भावव्यभिचारिणां ग्रहः । तत्र तादृशविभावव्यभिचारिणोर्ग्रहो यथा—

‘प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं

प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।

विधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं

न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥’

अत्र प्रकृते शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्य प्रकाश्यमानानित्यतारूपो विभावः
एतत्प्रकाशितो निर्वेदरूपो व्यभिचारी च स्फुटमेव गृह्यते । तादृशानुभावग्रहो
यथा—

‘णीहुंभरमणमि लोभणवहमि पडिण् गुरुण मज्झमि ।

सभलपरिहारहिअभा वणगमणं चेअ महइ वह् ॥’

अत्र व्याजादिकं विना वनगमनं सकलपरिहारश्च शान्तानुभावः । न च
व्याजः प्रतिपादित इति शृङ्गारस्य प्रकृतस्य विच्छित्तिः । इन्धनाद्यानयनव्याजेन
संभोगार्थं वनगमनं यद्युच्यते तदा न शान्तानुभावग्रहः ।

पुनःपुनर्दीप्तिरङ्गरसादिविषया दोषः । अङ्गिनस्तु सा महाभारतादौ
शान्तादेरिव न वैरस्यमावहति । उदाहरणं कुमारसंभवे—‘अथ मोहपरा-

रप्येन खानुभावा रत्याद्यनुभावाश्च गृह्यन्ते । ‘निमृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुणां

परिभवप्रकारमाह—परिहरतीत्यादि । रतिर्विषयाभिलाषः । मतिरर्थनिर्धारणम् । कुनीते
छिनत्ति । परिवर्तनं पार्श्वपरिवृत्तिः । अत्र विभावः कष्टगम्यः । शोकेऽप्येवंभावात् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘प्रसाद इति । मोनवर्ती मालतीं प्रति माधवस्येयमुक्तिः । हे प्रिये, प्रसादे वर्तस्व ।
प्रसन्ना भवेत्यर्थः । मुदं हर्षं प्रकटय । रुषं कोपं त्यज । अमृतमिव ते वचः शुष्यन्ति शुष्य-
माणान्यर्थान्ममाङ्गानि सिञ्चतु । सौख्यानां निधानमाकरं मुखं क्षणमभिमुखं स्थापय । मुग्धे
विवेकरहिते, गतः कालरूपो हरिणः प्रत्येतुं परावर्तितुं न प्रभवति । न शक्नोतीत्यर्थः ।
हरिणत्वारोपेण चपलत्वं ध्वन्यते । तच्च शृङ्गारप्रतिकूलस्य शान्तस्य विभाव इति दोषः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः २ ‘निमृतरमणे गुप्तकामुके गुरुणां मध्ये लोचनमार्गं पतिते
सति सकलस्य गृहकार्यस्य परिहारे लग्ने हृदयं यस्यास्तथाभूता वधूस्तेन सह वनगमनमे-
वेच्छतीत्यर्थः । अत्र निर्व्याजवनगमनसकलपरिहारयोः शान्तानुभावत्वेन प्रतिभासः । इन्ध-
नानयनदिव्याजोपनिबन्धे तु न दोषः’ । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. चन्द्रकनाम्ना समुद्धृतोऽयं श्लोकः सुभाषितावल्यादिषु. मालतीमाधवे तु नास्त्वेष.

यणा—'इत्यादिना दीप्तिमानीतोऽपि करुणः 'अथ सा पुनरेव—' इत्यादिना पुनः-
पुनर्दीप्तिं नीतः । उपभुक्तो हि पुनरुपभुज्यमानः परिम्लानस्तबकवद्वैरस्याय
कल्पते ।

अकाण्डेऽनवसरे प्रथमम् । यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरसंक्षये
प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ।

छेदो यथा वीरचरिते राघवभार्गवयोरविच्छिन्नप्रसरतया प्रवृत्ते वीररसे
'कङ्कणमोक्षणाय यामि' इति राघवस्योक्तौ । अकाण्डे हि तथा वचनं व्याजेन
निर्गमं प्रतिपादयद्दीर्घाभावे पर्यवस्यति ।

अङ्गस्यातिविस्तृतिरप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम् । यथा हयग्रीववधे हय-
ग्रीवस्य । यद्यपि प्रतिनायकवर्णनं नायकस्यैवोत्कर्षे पर्यवस्यति तथाप्यतिशयितं
प्रधानतिरोधायकतया दोषपदवीमवतरति ।

अङ्गिनः प्रधानस्याननुसंधानम् । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने
सागरिकाया विस्मृतिः ।

प्रकृतीनां विपर्ययो यत्प्रकृतौ यद्वर्णनमनुचितं तत्र तद्वर्णनम् । प्रकृतयस्ताव-
दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च । अत्र दिव्यत्वममलैकरूपत्वमतो न पातालीया-
द्यसंग्रहः । उदाहरणं श्रीमन्महेश्वरादिः । अदिव्यत्वं मलैकरूपता । यथा
माधवादेः । दिव्यादिव्यस्वरूपता । यथा श्रीकृष्णादेः । त्रिविधा अन्येते चतुर्धा
भवन्ति—धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरशान्तभेदात् । क्रमेण वीररौद्रशृङ्गा-
रशान्तप्रधानत्वमेषां लक्षणानि । श्रीरामभार्गवश्रीकृष्णजीमूतबाहना उदाहर-
णानि । एते च प्रत्येकमुत्तमाधममध्यमभेदाः । अनुकूलादिभेदास्त्वस्थिराः ।
अनुकूलादिर्हि कदाचिद्वक्षिणादिः संपद्यते इति प्रकृतिभेदेन गणनीयाः । इति
भिन्नासु प्रकृतिषु रतिहासशोकाद्भुतान्यदिव्योत्तमप्रकृतिवदिव्येष्वपि वर्णनी-
यानि । किं तु रतिः संभोगशृङ्गाररूपा उत्तमदिव्यविषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं
पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

‘क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्भिरः खे मरुतां चरन्ति ।

तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥’

इत्याद्युक्तवद्भुक्त्वादिवर्जितः सद्यः फलदः क्रोधो नाकपातालगमनसमुद्रो-
च्छ्रान्तादाबुत्साहश्च दिव्येष्वेव वर्णनीयः । अदिव्येषु तु यावदेव महत्कर्म
लोकप्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबन्धनीयम् । अधिकं हि निबन्ध्यमानम-
सत्यप्रतिभासनया रामादिवत्प्रवर्तितव्यमित्याद्युपदेशे न पर्यवस्येत् । दिव्यादिव्येषु

मध्ये । सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति बभूव ॥’ [इति च्छाया ।] बाभ्रव्य
इति कश्चुकिनाम । संभोगशृङ्गाररूपेति । संभोगशुम्भतल्लिङ्गनादिः । न त्वन्यो-

पुनरुभयोरप्युचितं वर्णनीयम् । एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिवोत्तमादी-
नामप्यन्यथावर्णनं प्रकृतिविपर्ययः । आमन्त्रणौचित्यलङ्घनेऽप्येवम् । तथा—
तत्रभवन्भगवन्नित्युत्तमेनैव प्रयोक्तव्यं नाधमेन । उत्तमेनापि मुनिप्रभृतावेव न
तु राजादौ । भट्टारकेति न राजादावुत्तमेन किं तु देवादावेव । अन्यथा प्रकृति-
विपर्ययापत्तेः । एवं यत्र देशे काले वयसि जातौ वा यद्वेषव्यवहारादिसमुचितं
तदेव तत्रोपनिबद्धव्यम् । अन्यथानिवन्धने तु प्रकृतिविपर्ययः । यथा स्वर्गाङ्ग-
नासु मानुषीवेपादिः । रसातलादौ मेघादिरिति ।

अनङ्गस्याभिधानं रसानुपकारकस्य वर्णनम् । यथा कर्पूरमञ्जरीं नायिकया
स्वात्मना च यद्वसन्तवर्णनं तदनादृत्य बन्दिवर्णनस्य राज्ञा प्रशंसनम् ।

ईदृशा इत्यनेनैतदुक्तं यदेवंविधा अन्येऽप्यनौचित्यहेतवो भवन्ति । यथा
नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनमित्यादि । अनौचित्यं तु रसविच्छे-
दहेतुः । यदुक्तं ध्वनिकृता—

‘अनौचित्यादृते नान्यद्दसभङ्गस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥’ इति ।

इदानीमेषां केषांचित्कचिददोषत्वमपीत्याह—

न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः कचित् ।

संचारिणो न तु रसस्थायिनोरपि । कचिदिति यत्रेतरविलक्षणो नानुभावः ।
यथा—

‘औत्सुक्येन कृतत्वरं सहभुवा व्यावर्तमाना द्विया

तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।

दृष्ट्वाप्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे

सरोहत्पुलका हरेण हसताश्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥’

अत्रौत्सुक्यशब्दवत्सहसा प्रसरणादिरूपोऽनुभावो नौत्सुक्यमसंदिग्धं प्रति-
पादयितुमीष्टे । भयादिसाधारणत्वात् । अत एव

न्यावलोकनादिकमपि । अनौचित्यानुसारात् भावाख्या तु वर्णनीयेति भावः । भट्टा-
रकेति । परमेश्वरेत्यस्यापीतिशब्देन ग्रहणम् । एतद्राजादावुत्तमेन न वाच्यं किं

१. ‘औत्सुक्येनेति । नवे संगमे हसता हरेणाश्लिष्टा अत एव सरोहत्पुलका उद्गतरो-
मात्रा गौरी वः शिवायास्तु । कीदृशी । दयितसमीपगमने औत्सुक्येन कृतत्वरं । सह-
भुवा सहोत्पन्नया । स्वाभाविकयेति यावत् । द्विया लज्जया व्यावर्तमाना परावर्तमाना ।
पुनस्तैस्तैस्तत्कालोचितैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैराभिमुख्यं संमुखत्वं नीता प्रापिता । तथाप्रे
वर्षे दृष्ट्वा आत्तो गृहीतः साध्वसरसो भयरसो यथा तथाभूतेत्यर्थः । अत्रौत्सुक्यस्य संचारिणो
वाच्यता न दोषः । असाधारणानुभावाभावेन तद्व्यङ्ग्यत्वासंभवात् । अत एव ‘दूरादुत्सुकं’
इत्यत्राप्यौत्सुक्यमेव शब्देनोपात्तमिति दिक् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘दूरादुत्सुकमागते विवळितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यखणं गृहीतवसने कोपाञ्जितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्वक्षणे
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥’

इत्यत्र व्रीडादीनि विवळितत्वादिभिरनुभावैरुपनिबध्नन्नेव रसिकशिरोमणिर-
मरुककविरौत्सुक्यं स्वशब्देनैवोपात्तवान् । दोषत्वाभाववीजमुक्तं प्राक् । इदं
त्ववधेयम्—त्वरादीनां भयादिसाधारण्येऽप्यौत्सुक्यादिना स्वकारणेन विशिष्य-
माणास्ता एवासाधारण्यमासाद्यौत्सुक्यादिव्यञ्जयन्तीत्यास्वादोदयः । न तु
शब्दादेव तत्प्रतिपत्त्या । व्यभिचार्यादीनां वाच्यत्वासहस्रव्युत्पादनात् । अत
एवात्र न वैयर्थ्यमपि । विशेषणत्वेनोपयोगात् । ‘दूरादुत्सुकं’ इत्यादौ तु
शब्दमहिम्ना विशिष्टस्यैवानुभावस्य कल्पनमिति ततोऽभिव्यक्तिरिति । एवं च
व्यवस्थिते शब्देन तदुपस्थितिं विना न तदनुभावस्यासाधारण्यम्, न च तेन
विनाभिव्यक्तिः, न चाभिव्यक्तिं विनास्वादसंभवः, न च तेन विना भावमध्य-
प्रवेशः, न च तमन्तरेण तथा कीर्तनं युक्तमिति भावस्योत्कीर्तनमप्येतादृशस्य
व्यभिचारिणि शब्दावाच्यताया दोषत्वाभावं साधयतीति युक्तमुत्पश्यामः ।

संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥ १५ ॥

प्रकृतविरुद्धं व्यभिचार्यादि बाध्यत्वेनोच्यते तदा दूरे दोषत्वम् । प्रत्युत
प्रकृतरसपरिपोषकतया गुणत्वम् । तत्र व्यभिचारिणो यथा—‘काकार्यं
शशलक्ष्मणः क्व च कुलं—’ इत्यादौ । अत्र चतुर्थं पादेषु पूर्वभागप्रतिपाद्यानां
शमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काघृतीनामुत्तरभागप्रतिपाद्याभिरमिलाषाङ्गभूताभिरौ-
त्सुक्यस्मृतिर्देन्यचिन्ताभिस्तिरस्कारपुरःसरं चिन्तायामेव पर्यवसानमिति भाव-
शबलतापरिपोषकत्वाद्गुणत्वम् ।

‘पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥’

त्वधमेन । उत्तमेन तु देवादौ वाच्यं न तु मुनिप्रभृताविति ज्ञेयम् । अन्यथा वृत्ति-
विरोधात् । असाधारणस्यौत्सुक्यगमकस्यानुभावस्याभावे शब्देन तदुपादानमस्या-
स्वादजनकमिति भ्रमं निवारयितुमाह—इदं त्विति । एवं सति व्यभिचारिष्वौत्सु-
क्यादेः संकीर्तनमेवार्थाच्छब्दवाच्यताया दोषत्वाभावं गमयतीत्याह—एवं चेति ।
व्यवस्थिते इत्यनन्तरं आस्वादजनकत्वे इति शेषः । तथा कीर्तनं व्यभिचारिमध्य-

१. पूर्व व्याख्यातम्. २. ‘पाण्डुक्षाममिति । हे सखि, तव पाण्डुक्षामं वदनं सरसमन्नरस-
सहितं स्निग्धं च हृदयं अलसमालस्ययुक्तं वपुश्च हृदन्तः हृदयमध्ये नितान्तमल्पार्थं क्षेत्रियरोग-
आवेदयतीत्यन्वयः । क्षेत्रियो देहान्तरचिकित्सोऽसाध्यो रोगः । ‘क्षेत्रियच परक्षेत्रे चिकित्सः’
इति निपातनात् । सर्वशरीरव्यापिपीडाजनक इत्यन्ये । ‘क्षेत्रियं क्षेत्रजतुणे परदाररतेऽपि च ।
अन्यदेहचिकित्साहार्थाध्यरोगे च जायते ॥’ इति विश्वः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

इत्यत्र पाण्डुत्वादीनां रोगानुभावतया विरुद्धत्वेऽपि विप्रलम्भशृङ्गारे समा-
रोपादङ्गभावप्राप्त्या दोषत्वाभाव इति ध्वनिकारः । तदयुक्तम् । तेषामुभयसा-
धारण्याद्विरोधस्यैवासिद्धेः । विभावस्य यथा—

‘सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।

किं तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥’

अत्र पूर्वार्धे शृङ्गारस्य परार्धे शान्तस्य विभावः । अनयोर्विरोधेऽपि पूर्वार्धस्य
बाध्यत्वेनैवोक्तत्वाच्च दोषत्वम् । प्रत्युत शान्तपरिपोषाद्गुणत्वम् । एवं ह्यत्र
प्रतीयते—सर्वा रामादयः सत्येव जीविते तत्सौकर्यार्थमुपादेयाः जीवितं
चातिभङ्गुरमिति किं कृतं तेषामुपादेयत्वम् । अतो रम्यत्वेऽपि निष्फला एता
इति । नन्वेवं पूर्वार्धप्रतिपाद्यस्य बाध्यत्वेऽपि मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गेत्यनेन विरोधो न
परिहृतः । न च तत्र न शृङ्गारप्रतीतिरिति वक्तुं शक्यम् । तदुपादानवैयर्थ्य-
प्रसङ्गादिति चेत्, न । तत्र रसाप्रतीतेः । तद्व्यञ्जकानुभावाद्यप्रत्ययात् । कथं तर्हि
तदुपादानमिति चेत्, शान्तपरिपोषकार्थमेवेति ब्रूमः । स एव कथमिति चेत्,
जीवितस्यातिभङ्गुरत्वप्रतीतेः । सापि कुत इति चेत्, जीवितादप्यधिकमपाङ्गस्या-
स्यैव सकलजनप्रसिद्धम् । अतस्तथाविधभङ्गुरस्यापाङ्गस्योपमानत्वेनोपादानात् ।
तदेतदुक्तं जीवितादप्यधिकमपाङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धं भङ्गुरोपमानतयोपात्तं
शान्तमेव पुष्पातीति ।

केचित्तु प्रसिद्धभङ्गुरस्य साधर्म्येण जीवितोपमानतयोपात्तमिति तद्व्याचक्षते ।
ध्वनिकारस्तु—भवत्येवात्र शृङ्गारप्रतीतिः परंतु तया गुडजिह्विकान्यायेनोन्मुखीकृ-
त्यविनेयाः शान्तरसे निवेश्यन्त इत्यदोषता । यद्वा काव्यशोभानिमित्तमेव तदुपा-
दानाद्दोषाभावः । नहि विना शृङ्गारेण काव्यशोभेति समादधे । तच्चातिमनो-
रमम् । शृङ्गारप्रतीत्युपगमेऽपि शृङ्गारशान्तयोर्नैरन्तर्याभावेन प्रथमसमाधेर-
संभवात् । द्वितीयसमाधिरपि तदा स्याद्यदि रसान्तरयोगेन चारुत्वं नानुभूयेत ।
भवत्येवम् । किं च रसमात्रेण चारुत्वमित्यपि न शक्यते वक्तुं प्रागेव शृङ्गारमात्रे-
णेति । यतश्चित्रकाव्येऽलंकारादेव चारुत्वप्रत्ययः । तस्मादत्र शान्तरसादनुप्रास-
मात्रेणैवाचारुत्वसंभवाच्चोत्तरोऽपि समाधिरिति ।

गतत्वेन कीर्तनम् । प्रसिद्धं भङ्गुरेति । प्रसिद्धमतो भङ्गुरोपमानतया भङ्गुरं च
तदुपमानं च तत्तयोपात्तं बोधितमपाङ्गरूपमुपमानमित्यर्थः । केचित्त्विति ।
इति प्रसिद्धं अतः प्रसिद्धभङ्गुरत्वसाधर्म्येणापाङ्गस्वरूपं भङ्गुरस्य जीवितस्योपमानत-
योपात्तमिति योजना । ‘प्रसिद्धभङ्गुर’ इति पाठे प्रसिद्धा भङ्गुरोपमानता तत्तये-
त्यर्थः । आहूतापीति बहुशः परिभाषितापीत्यन्वयः । आश्लेष आलिङ्गनमतिसान्निध्यं

१, ‘सत्यमिति । मत्ताङ्गनाया अपाङ्गभङ्गः कटाक्षस्तद्वलोलमस्थिरम् । तथा च
रामादीनां रमणीयत्वेऽपि जीवितस्य भङ्गुरतया तत्सापेक्षाणामनुपादेयत्वमेवेति शृङ्गार-
वाधेन शान्ते पर्यवसानमिति न विरोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अविरोधोपायान्तरमाह—

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।

रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्ये तु यो रसः ॥ १६ ॥

यो रस इत्यत्र विरुद्ध इत्यनुपज्यते । रसानां विरोधो द्वेधा—समानाधिकरणतया नैरन्तर्येण चेति । तत्र वीरभयानकयोरैकाधिकरण्येन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको वर्णनीयः । तथा सति दूरे तस्य दोषत्वं प्रत्युत वीरपरिपोषः । यथा मम—

‘आहूतापि पदं ददाति न पुरो न प्रार्थितापीक्षते

साकृतं परिभाषितापि बहुशः किञ्चिन्न चाभाषते ।

आश्लिष्टापि न संमुखानि रचयत्यङ्गानि मूढाशया

कोपोद्रेकवशंवदेव तरुणी श्रेणी यदीयद्विषाम् ॥’

न चात्र शृङ्गारभयानकयोरपि विरोधः । वक्ष्यमाणक्रमेण द्वयोरप्यन्याङ्गस्वाध्यधिकरणत्वाच्च । यद्यप्याश्रयभेदेनैव एकाश्रयावपि वीरभयानकौ क्वचिदनुभूयेते तथापि न तथा वर्ण्येते इति भिन्नाश्रयतयैव निवेशनीयौ । एवमन्येषामप्युक्तम् । यस्य तु येन रसेन नैरन्तर्येण विरोधः सोऽविरोधिना रसान्तरेणान्तरितो निबद्धव्यः । यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य ‘अहो गीतमहो वादित्रम्’ इत्यनेनाद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवर्ती प्रति शृङ्गारो निबद्धः । न केवलं प्रबन्ध एव रसान्तरव्यवधिना विरोधनिवृत्तिः किं त्वेकस्मिन्नपि वाक्ये । यथा—

‘भूरेणुदिग्धान्वितपारिजातमालारजोरजितबाहुमध्याः ।

गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्पुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥’

च । अङ्गानि मुख्यादीनि हस्त्यादीनि सेनाङ्गानि च । मूढः किं कर्तव्यताविमूढ आश्रयोऽन्तःकरणं यस्याः सा । एकत्र भयादन्यत्र कोपात् । वक्ष्यमाणेति । ‘अङ्गिन्यङ्गत्वमासौ यौ’ इत्यादिनेत्यर्थः । व्यधिकरणत्वाच्चेति । शृङ्गारस्य राजगतत्वाद्भयस्य सेनागतत्वादिति भावः । एकाश्रयावपीति । ब्राह्मणेन सह युद्धप्रस-

१. ‘भूरेणुदिग्धानिति । शुद्धे पतिता वीरा देवत्वलाभेन विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः सन्तस्तदानीं ललनानामप्सरसामङ्गुलीभिर्निर्दिश्यमानान्प्रदर्श्यमानान्स्वदेहान् रणपतिताङ्कुराङ्गुलीविष्टतयाश्वर्याविष्टतया अपश्यन्नित्यन्वयस्तृतीयकोकेन । कौतुकहेतुगर्भाणि क्रमेण कर्माकर्तृविशेषणान्याह—भूरेण्वित्यादि । भूसंवन्धिरेणुना व्याप्तान् । नवानां पारिजातमालानां रजोभिः परागैर्वसितानि सुरभीकृतानि बाह्वोर्मध्यान्यन्तरालानि येषां ते । शिवाभिः क्रोधीभिर्गाढमालिङ्गमानान्स्वदेहान् । पुराङ्गनाभिरप्सरोभिराश्लिष्टं भुजयोः रन्तरालं वक्षो येषां ते । सशोणितैः सरुधिरैः क्रव्यभुजां मांसदानां खगानां स्फुरद्भिः पक्षैरुपवीज्यमानान्स्वदेहान् । चन्दनवारिसैकैः सुगन्धिभिः कल्पलताप्रसृतैर्दुर्कूलैः पट्टवस्त्रैः संवीजिता वीराः । अत्र पतितस्वदेहपुराङ्गनालम्बनयोर्वीरभूतस्य शृङ्गारयोर्मध्ये वीरस्य निवेशाच्च विरोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

सशोणितैः कन्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।

संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥

विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।

निर्दिश्यमानां छलनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान्पतितानपश्यन् ॥'

अत्र विशिष्टस्य वीरस्य कर्तुः सर्ववाक्यान्वयित्वेन विमानाधिरोहणादिना मध्य
उत्साहप्रतीतेर्वीरस्य शृङ्गारयोरविरोधः । यद्यप्यत्र वीर एव प्रधानम् अन्यौ च
तद्यभिचारिणाविति न विरोधस्तथाप्येवमप्यविरोधः संभवतीत्युदाहृतम् ।

अविरोधे हेत्वन्तरमाह—

सूर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाप्यविवक्षितः ।

अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ १७ ॥

तत्र सूर्यमाणत्वेनाविरोधो यथा—

‘अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः ॥’

समरभुवि निपतितं भूरिश्रवसो हस्तमालोक्य तद्भूनामिदं वचनम् । तथा
च शृङ्गाराङ्गमपि पूर्वावस्थासूर्यमाणतयोद्दीपनविभावत्वेन करुणपरिपोषिकेत्य-
दोषः । साम्यविवक्षया यथा—

‘दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि

प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा

जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥’

पाटनं खण्डनम् । प्रसवजनितातिबुभुक्षावशेन निजापत्यमेव भोक्तुमारभ-
माणायै सिंहवध्वे परमदयालुं जिनं तद्रक्षार्थं स्वशरीरदायकं प्रतीयमुक्तिः ।

ज्ञादावित्यर्थः । अत्र विशिष्टस्येति । वीरशब्दमात्राद्वीररसाप्रतीतावपि विमा-
नेति कुतूहलेति च विशेषणयोगात्तत्प्रतीतिरिति भावः । तदाह—विमानेति ।
अन्यौ वीरस्य शृङ्गारौ । तथा चाङ्गिन्यङ्गत्वाच्च विरोध इत्यर्थः । चाटुके राजस्तुतौ ।

१. ‘व्याख्यातं प्राक् । अत्र सूर्यमाणशृङ्गारस्य करणोद्दीपकतया तद्रङ्गत्वाच्च विरोधः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘दन्तेति । अपत्यं प्रसूय तदेव भोक्तुमुद्यतायै सिद्धौ तदपत्यद-
यया स्वाङ्गमर्पितवन्तं जिनं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । हे जिन, भवतः शरीरे रक्ते रुधिरं मनो
यस्यास्तथाभूतवैवानुरक्तमनसा मृगराजस्य सिंहस्य वध्वैव मृगजातीयराजवध्वा दन्तक्षतानि
करजैर्नखैर्विपाटितानि विदारितानि च दत्तान्यर्पितानि जातस्पृहैर्वयमप्येवंविधा भूयासेति
ज्ञाताभिलाषैर्मुनिभिरप्यवलोकितानीत्यन्वयः । कीदृशे शरीरे । परित्राणहर्षात्प्रोद्भिन्ना उद्रताः
सान्द्राः पुलका रोमाश्चा यत्र पर्वभूते । पक्षे अनुरागात्तथाभूते । अत्र दयावीरस्यानुभावविशेषे
शृङ्गार उपमानभावेनाङ्गम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र दयावीरस्यानुभावविशेषे शृङ्गार उपमानभावेनाङ्गम् । न चात्र दयापि विस्मयोपकारकत्वेनाङ्गम् । बौद्धानां स्वाभाविकदयाशीलत्वेन विस्मयाजनकत्वात् ।

एकत्राङ्गिनि विरुद्धयोरङ्गत्वं द्विधा—तुल्यकक्षतयाङ्गाङ्गिभावेन वा साक्षात्परस्याङ्गभावमासाद्य वा । तत्राद्येनाविरोधो यथा—

‘कामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्वाष्पाङ्गुधौताननाः ।
भीत्या भर्तृकरावलम्बितकरास्वद्वैरिनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्दिवाहा इव ॥’

अत्र चाटुके या राजविषया रतिसूत्र करुणशृङ्गाराबुभावपि साक्षादङ्गमिति तन्निर्वाहणैकव्याकुलयोस्तयोरेव राजकार्योद्यतयोरिव भटयोः सहजतो विरोधोऽपि न दोषाय । यथा—

‘एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।

एवमाशाग्रहप्रसूतः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥’

इत्यत्र प्रधाने क्रीडायामङ्गभावेन भावाभावयोरपि न विरोधः । एहीति क्रीडन्ति गच्छेति क्रीडन्तीति प्रकारेणोभयोरपि प्रकारत्वेन तत्राङ्गत्वात् । तस्माद्विधेययोरेव विरोधो दोषाय न त्वनूद्यमानयोरपीति परमार्थः । प्रकृतोदाहरणे च ‘पुनरप्युद्यद्दिवाहा इव’ इत्युत्प्रेक्षा । तेन गच्छेतिवत्प्रतापे द्वयोरपि साक्षादेवाङ्गत्वम् । तादृशोऽयं प्रभावो येनासां पुनर्विवाह उत्प्रेक्ष्यत इति प्रतीतिपर्यवसानात् ।

तयोः करुणशृङ्गारयोः । शाब्दन्यायेनाप्यविरोधमुदाहरति—एहीति । विधेययोरेवेति प्राधान्येन प्रतिपाद्यमानयोः अनूद्यमानयोरङ्गतया प्रतिपाद्ययोः । अत्रेदमवधे-

२. ‘कामन्त्य इति । राजानं प्रति कवेरुक्तिः । हे राजन्, अधुना त्वद्वैरिनार्यो भीत्या भयेन भर्तृकरेष्ववलम्बिताः करा यामिस्तादृश्यो भूत्वा दावाग्निं परितः समन्ततो भ्रमन्ति । पलायनेऽप्यङ्गुत्पत्तेः । उत्प्रेक्षते—पुनरप्युद्यन् जायमानो विवाहो यासां ता इवेति । तत्रापि भर्तृकरं एहीत्वाग्नेः परितो भ्रमणात् । कीदृश्यः । दर्भाङ्कुरैः क्षताभ्यः कोमलाङ्गुलियो गलद्रक्तं येषां तैः पादैः सदर्भाः स्थलीररण्यप्रदेशान् कामन्त्यो लङ्घयन्त्यः । पातितो यावको लाक्षारसो येषु तथाभूतैरिवेत्युत्प्रेक्षा विवाहोत्प्रेक्षासमर्थनाय । एवं सदर्भा इत्यपि । तथा गलता वाष्पाङ्गुनाङ्गुजलेन धौतं क्षालितमाननं यासां ताः । विवाहेऽपि धूमादङ्गुनिर्गमः । अत्र प्रधानभूते राजविषयरतिभावे द्वावपि शृङ्गारकरुणावङ्गमिति न विरोधः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘एहीति एहीत्यादि प्रकारेणाशारूपग्रहप्रसूतरधिभिर्याचकैर्धनिनः क्रीडन्तीत्यर्थः । अत्र एहीति क्रीडन्तीति रीत्या सर्वेषां प्रधानभूतक्रीडान्वयादागमनगमनाद्यैर्न विरोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

अङ्गाङ्गिभावेन पराङ्गतया अविरोधो यथा—

‘क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।

आलिङ्ग्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः सास्त्रनेत्रोत्पलाभिः

कामीवार्द्रांपराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः ॥’

अत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गं तस्य तु शृङ्गारः । नन्वेवं करुणस्य प्राधान्ये तत्रैव विश्रान्तेरुभयोरङ्गत्वासंभवे कथमुदाहरणत्वमिति न वाच्यम् । शृङ्गारापेक्षया हि तस्य प्राधान्येऽपि न तत्रैव विश्रान्तिरिति तस्यापि प्रभावं प्रत्यङ्गतैव । यतो यथा पूर्वं कामुकः करालम्बादिकमकार्षीत्तथा संप्रति शराग्निरित्युपमानतया शृङ्गारपरिपोषितेन करुणेन प्रभावातिशय एव प्रकर्ष-
मानीयते । न चाङ्गाङ्गस्य कथमङ्गत्वमिति वाच्यम् । तदुपकृतस्याङ्गस्योपकारवि-
शेषाधायकतया तस्याप्युपकारत्वात् । यदुक्तम्—

‘गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।

प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥’ इति ।

ननु प्राक्प्रतिपादितरूपवेद्यान्तरसंपर्कशून्यरसस्य न रसान्तरेण विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभाव इत्यसंबद्धमेवैतत्सर्वमिति चेत्, न । रसशब्देनात्र प्रकरणे स्थायिभावस्याभिधानात् रस्यत इति व्युत्पत्तेः ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः ॥

यम्—रसानां विरोध आश्रयैक्येन तथात्मबनैक्येन क्वचिन्नैरन्तर्येणेति त्रेधा ।
तत्रालम्बनैक्येन वीरशृङ्गारयोर्ह्रास्वरौद्रवीभत्सैः संभोगस्यालम्बनाश्रयैक्याभ्याम् ।
एवं वीरकरुणरौद्रैर्विप्रलम्भस्य ताभ्याम् । वीरभयानकयोनैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां
तथा शृङ्गारशान्तयोस्ताभ्यां विरोध इति । एवं वीरस्याद्भुतरौद्राभ्यां सर्वथैवावि-
रोधः । शृङ्गारस्याद्भुतेन भयानकस्य च वीभत्सेन तथैव । शृङ्गारवीरयोस्तालम्ब-
नैक्ये विरोधात्तद्वेदादविरोध इति । इति श्रीमत्तत्सदुपाख्यरामचन्द्रभट्टसूरिवरसूनुवै-
द्यनाथभट्टकृतायां प्रदीपप्रभायां सप्तम उल्लासः ॥

१. ‘क्षिप्त इति । अमरककवेरिदं पथम् । स त्रिपुरदाहकालीनः शुंभुसंबन्धी शरा-
ग्निर्वाणाग्निर्वो युष्माकं दुरितं पापं दहत्वित्यन्वयः । स कः । य आर्द्रांपराधोऽव्यवहितपराधः
कामीव हस्तयोरवलग्नः सन् सास्त्रे अश्रुसहिते नेत्रोत्पले यासां ताभिस्त्रिपुरयुवतिभिः क्षिप्तः
प्रक्षिप्तः । तथा प्रसभं बलादंशुकान्तं वस्त्रप्रान्तमाददानो गृह्णन्निहतस्ताडितः । तथा
केशेषु गृह्णन्पास्तः । कामिनापि चुम्बनाय केशग्रहात् । चरणयोर्निपतितः संभ्रमेण
भयेनादरेण च नेक्षितः । तथा आलिङ्ग्यवधूतः । क्षिप्त इत्यर्थः । अत्र यथा पूर्वं कामुकः
करालम्बनादिकमकार्षीत्तथा संप्रति शराग्निरित्युपमानतया शृङ्गारपरिपोषितेन करुणेन
भगवतः शंभोः प्रभावातिशय एव प्रकर्षमानीयत इत्यनवयवम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अष्टम उल्लासः ।

एवं दोषे निरूपिते गुणालंकारौ प्राप्तावसरौ तयोर्गुणस्यान्तरङ्गतया प्राथम्यम् । विप्रतिपद्यन्ते तु केचिद्गुणालंकारयोर्भेदे । किं च सामान्यतो लक्षिते विशेषलक्षणमुचितमिति कारिकाद्वयेन तयोः स्वरूपदर्शनमुखेन लक्षणं दर्शयन्नेव भेदकमाह—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ १ ॥

अङ्गिनः शरीरेष्वात्मवत्काव्ये प्राधान्येन स्थितस्य रसस्य धर्माः साक्षात्तदाश्रिता इत्यर्थः । अचलस्थितय इत्यपृथक्स्थितयः । अव्यभिचारिस्थितय इति यावत् । अव्यभिचारश्च रसेन तदुपकारेण वा । तेन रसं विना ये नावतिष्ठन्ते अवतिष्ठमानाश्चावश्यं रसमुपकुर्वन्तीत्यर्थः । अत एवानयोर्व्यतिरेकमलंकारे वक्ष्यति । एवं च रसस्योत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं, तथात्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वं, अयोग्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वं चेति लक्षणत्रयं गुणानां द्रष्टव्यम् । अलंकारमात्रभेदकत्वं तु सत्यन्तभागविमुक्तमिदमेव ग्राह्यम् । अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात् । चण्डीदासस्तु—‘रसधर्ममात्रं लक्षणं, उत्कर्षहेतुत्वं गुणशब्दप्रवृत्तिर्बीजम्’ इत्याह । तदयुक्तम् । शृङ्गारत्वादौ धर्मेऽतिव्याप्तेः । ननु रसधर्मत्वमेवामसिद्धम् । कथमन्यथा नीरसेऽपि सुकुमारादिवर्णशालिनि मधुरादिव्यवहारः, रसवत्स्यपि ईदृशवर्णाभाववत्यमधुरादिव्यवहार इति । उच्यते—शौर्यादयस्तावदात्मन एव धर्मा इत्यविवादम् । इदं तु क्वचिदशूरेऽप्याकारमहत्त्वादियोगिनि शूरव्यवहारः, शूरेऽप्याकारलाघवादियोगिन्यशूरत्वव्यवहारश्च । तत्कस्य हेतोः । अथ क्वचिच्छूरव्यवहारविषये वितताकृतिदर्शनादाकार एवास्य शूर इत्यौपचारिकव्यवहाराच्चाभियुक्तानामाकार एवैतादृशः शूरपदवाच्य इति विपर्ययाददूरदर्शिनस्तथा व्यवहरन्ति । तत्त्वज्ञास्तु क्वचिदुपचारत इति वक्तव्यम् । इन्तैवं मधुरादिरसयोगिनि सुकुमारादिवर्णयुक्ते मधुरादिव्यवहाराद्वर्ण एवायं मधुरादिरित्यौपचारिकव्यपदेशाच्चाभियुक्तानां वर्ण एवैतादृशो माधुर्यभागिति विपर्ययाद्भ्रसपर्यन्तावगाहिबुद्धिविधुरा व्यवहरन्ति । तत्त्वालोचिनस्तु क्वचिदुपचारादिति

अन्तरङ्गतयेति । रसधर्मतयेत्यर्थः । विप्रतिपद्यन्त इति । रसोत्कर्षकत्वाविशेषादित्यर्थः । तर्हि भेदप्रतिपादनाय रसधर्मत्वमेव वाच्यं न तु रसोत्कर्षकत्वमपि । तस्यालंकारसाधारण्यात्, अत आह—किं चेति । स्वरूपदर्शनमुखेन भेदकमाहेत्यन्वयः । लक्षणस्योक्तन्यायेनावश्यकत्वात्तदर्थं रसोत्कर्षकत्वमवश्यं वाच्यम् । अन्यथा शृङ्गारत्वादावतिव्याप्तेः । अतो लक्षणेन रसधर्मस्वरूपत्वावगतौ भेदस्यापि सिद्धिरिति भावः । अचलेत्यस्योक्तार्थद्वयपरत्वे गमकमाह—अत एवेति । अनयोरिति रसतदुपकाराविनाभावयोः । नन्वेवं सति रसोत्कर्षकत्वे सति । रसधर्मत्वमित्येतावतैव लक्षणसिद्धावचलेत्यादि व्यर्थमित्याशङ्क्याह—एवं चेति ।

तुल्यमेतत् । ननु शौर्यादेरात्मवृत्तित्ववन्मधुरत्वादीनां रसवृत्तित्वव्यवस्थितावेवं स्यात् । सैव त्वसिद्धा विनिगमकाभावादिति चेत्, मैवम् । भवत्येव विनिगमकाभावो यदि त्वया वर्णमात्राक्षया गुणाः स्वीकर्तुं शक्यन्ते । न त्वेवम् । अविशेषेण रचनायामपि तदभ्युपगमात् । तथा च रसमात्रवृत्तित्वे लाघवम् । वर्णरचनोभयवृत्तित्वे तु गौरवम् । यतश्चैवमत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णादिभिर्व्यज्यन्त इत्येव सम्यक् । व्यञ्जकत्वं चैषां यथा तथोदाहरिष्यत इति प्रसङ्गशङ्का ।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हरादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ २ ॥

अङ्गिनो रसस्याङ्गभूतौ शब्दार्थौ तद्वारेण तदतिशयाधानमुखेन ये धर्मा रसमुपकुर्वन्ति तेऽलंकाराः । तत्र शब्दद्वारेणानुप्रासादयः अर्थद्वारेणोपमादयः । यथा कण्ठाद्यङ्गोत्कर्षद्वारेण शरीरिणोऽभ्युपकारका हारादयः । सन्तमिति यत्र रसस्य संभवस्तत्र तमुपकुर्वन्ति । यत्र तस्यासंभवस्तत्रोक्तिवैविध्यमात्रपर्यवसिता इति भावः । जातुचित्तु नियमेन । तथा च सन्तमपि रसं कचिन्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः । एतावता रसावृत्तित्वं चलस्थितित्वं च दर्शितम् । तथा च रसोपकारकत्वे सति तदवृत्तित्वं, तथाखे सति रसव्यभिचारित्वं, अतियमेन रसोपकारकत्वं चेति सामान्यलक्षणत्रयमलंकाराणाम् । गुणमात्रभेदकं तु सत्यन्तभागरहितं तद्वेदितव्यम् । अन्यथा व्यर्थविशेषणत्वात् । तत्र शब्दद्वारेण रसोपकारकत्वं यथा—

‘अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।

अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥’

अत्र रेफानुप्रासः शब्दमलंकुर्वन्मृङ्गारमुपकरोति । रेफस्य शृङ्गारव्यञ्जकत्वात् ।

तथा च लक्षणभेदाच्च वैयर्थ्यमिति भावः । विनिगमकेति । चित्तवृत्तिरूपकार्यस्य वर्णगतमाधुर्येणाभ्युपपत्तेर्मधुरो वर्ण इति व्यवहाराच्चेति भावः । गौरवमिति । इदमुपलक्षणम् । वर्णगतमाधुर्यस्य वृत्तिहेतुत्वे नीरसेऽपि तदनुभवापत्तिः । अतो रसस्यापि तदेतत्वं कल्पनीयमिति गौरवम् । मन्मते तु रसगतमेव माधुर्यवर्णनव्यव्यक्तं (?) वृत्तिहेतुरिति लाघवम् । किं च वृत्तितारतम्यस्य करुणादिषु दर्शनान्माधुर्यस्यापि तदेततोस्तद्वाच्यम् । न च वर्णगते तस्मिन्तद्वक्तुं शक्यमिति रसधर्मतैवैषामुचितेत्यपि ज्ञेयम् । यतश्चैवमित्यन्तरमत इति शेषः । एतावतेति । सन्तमित्यनेन रसाभावेऽपि संभवकथनादाद्यं जातुचिदित्यनेनान्यं दर्शितमित्यर्थः । इहापि पूर्वोक्तरीत्या लक्षणत्रयपरतामाह—तथा चेति । अङ्गद्वारेणेत्यनेन रसावृत्तित्वलाभः ।

१. ‘अपसारयेति । हे आलि, घनसारं कर्पूरमपसारय दूरीकुरु । हारं दूर एव कुरु । अलमलमिति वीप्सया रुद्रेणातिशयः सूच्यते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अर्थद्वारेण यथा—

‘मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं

प्रमाथी निर्धूमो ज्वलति विधुतः पावक इव ।

हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो

न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥’

अत्र विषमिवेत्यादिरूपमा । सा चार्थमलंकुर्वाणा रसमुत्कर्षयति । विषमि-
वेत्युपमावशेन विसर्पणादेरतिशयप्राप्त्या विप्रलम्भोत्कर्षात् ।

रसं विनाप्यलंकारसंभवो यथा—‘स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ—’ इत्यादौ
चित्रभेदे ।

सत्यपि रसे तदनुपकारकत्वं शब्दालंकारस्य यथा—

‘चित्ते चिदुददि ण दृष्टदि सा गुणेषु

सज्जासु लोददि विसददि दिम्मुहेसु ।

बोलम्मि वददि पवददि कव्वबन्धे

झाणे न दृष्टदि खणं तरुणी तरट्टी ॥’

रसोपकारकत्वं शब्दार्थान्यतरोपस्कारद्वारेण विवक्षितम् । अङ्गद्वारेणेत्युक्तेः । तेन
चन्द्रोदयादबुद्धीपकेनातिप्रसङ्ग इति ज्ञेयम् । मनोराग इति । इत इतो मनोरा-
गविसर्पणादेः सकाशात् भवतीति लवङ्गिकाख्या सखी निर्दिष्टा । चित्त इति ।
‘चित्ते विषदृते न त्रुट्यति सा गुणेषु शय्यायां लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु । वचने
वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे ध्याने न उप्पति क्षणं तरुणी तरट्टी ॥’ कान्ताविरहातुर-
स्येयमुक्तिः । विषदृते दृढसंबद्धा भवति । गुणविषये न उप्पति (त्रुट्यति) न
हीयते । ‘खुददि’ इति पाठस्तु कथितपदत्वाप्रसङ्गात्सम्यगेव । अर्थस्त्वयमेव

१. मनोराग इति । लवङ्गिकां प्रति मालत्या इयमुक्तिः । माधवविषयो मनसो रागोऽवि-
रतं निरन्तरं विषमिव तीव्रं यथा स्वादेवं विसर्पति विविधप्रकारेण सर्वाङ्गीणः संचरति ।
अत एव प्रमाथी क्षोभकारी निर्धूमो विधुतः संशुद्धितः पावक इव ज्वलति । ततश्च
गरीयानुत्कर्षकाष्टां गतो ज्वर इव प्रत्यङ्गं हिनस्ति पीडयतीति विभिन्नधर्मा मालोपमा । अतो
हेतोरितो मनोरागान्मां त्रातुं तातादिकं न प्रभवति न शक्नोतीत्यर्थः । ‘निर्धूमं’ इति पाठे
विधुत इति क्रियाया विशेषणम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘चित्ते चमत्करोति—
ध्यानेन त्रुट्यति क्षणं तरुणी प्रगल्भा ॥’ इति संस्कृतम् । ‘नखोत्कृत्तं चर्मं चिदुद्रेति
प्रसिद्धम् । तद्वदाचरतीत्यर्थ इत्यन्ये । गाढं लभ्येत्यपरे । गुणेषु न त्रुट्यति पर्यवसानं न
प्राप्नोतीत्यर्थः । न हीयत इति केचित् । शय्यासु लुठनं दिङ्मुखं विसर्पणं च भावनया
स्वसोद्गमात् । ‘विसददि’ इति पाठे विकसति प्रकाशत इत्यर्थः । वचने वर्तते सैव
वचनविषयीभवति । काव्यबन्धेऽपि सैव विषयीभवति । तथा ध्याने न त्रुट्यति । सदा
तद्विषयीभवतीत्यर्थः । वचने वर्तते उपदेशं गृह्णाति । उपदिष्टे च काव्यबन्धे प्रवर्तते’ इति
महेशः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्रानुप्रासेन शब्दमात्रमलंकृत्यते न तु सन्नपि शृङ्गारः । टवर्गस्य तत्प्रति-
कूलत्वात् । अत्र च प्रतिकूलवर्णत्वं न दोषः । प्राकृतस्यौजोगुणप्रधानत्वादस्य
च तदभिव्यञ्जकत्वादिति कश्चित् । वस्तुतस्तु सत्यपि प्रतिकूलवर्णत्वे रसस्य
नानुत्पत्तिरेव अनुभवविरोधात् किं त्वपकर्षमात्रम् । न चापकृष्टेऽपि विद्यमाने
तस्मिंश्चवर्गानुप्रासस्योपकारकतेति सारम् ।

सत्यपि रसे तदनुपकारकत्वमर्थालंकारस्य यथा—

‘मित्रे कापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति

क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।

चक्राङ्गेन वियोगिना विसलता नास्वादिता नोज्झिता

कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥’

अत्रोपमाथालंकारः । न चासौ प्रकृतस्य शृङ्गारस्योपकारिका । विप्रलम्भे
हि जीवनिर्गमोऽपि वर्ण्यते तदुत्कर्षाधायकत्वादिति तन्निरोधहेतूपादानमनुचि-
तम् प्रत्युत स्नेहाभावे पर्यवस्यति । तदेतदुक्तम् ‘अत्र विसलता जीवं निरो-
द्धुमशक्तेति प्रकृताननुगुणा उपमा’ इति । अशक्तत्वं चानुचितत्वमिति प्राञ्जः ।
वस्तुतस्तु तदन्यथा व्याख्येयम् । विसलता जीवं रोद्धुमशक्त्युपमा प्रकृतान-
नुगुणा प्रकृते विषयेऽनुगुणरहिता उपमाया अनुगुणं यत्सादृश्यं तच्छून्या ।
तस्मादत्रोपमा नालंकारः किं तूत्प्रेक्षा । न च तस्यामपि तद्दोषतादवस्थम् ।
संभावितेनापि सादृश्येन तत्प्रवृत्तेः । न तूपमावद्वस्तुसत्तैव जीवरोधकत्वरूप-

तत्रापि । वचने वर्तते । तामेव वच्मीत्यर्थः । तथा काव्यमपि तद्विषयमेव करोमी-
त्यर्थः । ध्याने न विद्यते चेति (?) । अत्र चेति । प्रतिकूलवर्णत्वस्य दोषत्वे हि
रसाभावस्तेन सन्तमपि रसं नोपकुर्वन्तीत्यस्योदाहरणत्वमसंगतमित्याशयः । अत्रास्वर-
समाह—वस्तुतस्त्विति । प्रतिकूलवर्णत्वे तस्य दोषत्वे । अनुगुणं यत्सादृ-
श्यमिति । जीवनिरोधकरूपमित्यर्थः । तेन ऋजुत्वगलद्वारपिधानादिसादृश्यसं-
भवेऽपि नासंगतिः । वस्तुसत्तैवेति । यद्यपि नायं नियमः । कीर्तौ चन्द्रिको-
पमायां श्वेतत्वस्यावास्तवत्वात् । तथापि कविसंप्रदायसिद्धत्वमेव वस्तुसत्त्वमिहा-
भिप्रेतं बोध्यम् । जीवनिरोधकत्वं तु विसलतायां न तथेति नानुपपत्तिः । ननूत्प्रेक्षा-
मिवशब्देन संभावनयोच्यते न तु सादृश्यमपि । एवं च शब्दानुपात्तस्य सादृश्यस्य

१. मित्र इति । संध्याकालीनचक्रवाकचेष्टावर्णनमिदम् । मित्रे सूर्ये सुहृदि च कापि
अगम्यवार्ताके देशे गते सति । सरोरुहवने बद्धानने मुद्रिते अवचने च ताम्यति ग्लायति
शोकात्ताप्यमाने च । भ्रमरेषु क्रन्दत्सु तारस्वरं शब्दायमानेषु रुदत्सु च । दयिताया
आसन्नं युक्तं सारसपक्षिणं पुरोऽग्रे वीक्ष्य वियोगिना चक्रवाकेण नास्वादिता नोज्झिता
प्लक्ता । केवलं निर्गच्छतो जीवस्यार्गलेव वक्त्रे निहितेत्यन्वयः । अत्र वियुक्तदर्शनमत्सं-
ज्जकदर्शनस्यापि विरोधीपकत्वाद्युभयप्रदर्शनम् । अत्र विप्रलम्भे जीवनिरोधोत्प्रेक्षा अनुप-
कारिका । श्लेषादहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

सादृश्यमपि विषये ह्युत्प्रेक्षणीयकोटावेवान्तर्भूतं यथोच्यते रोधकमिव निहित-
मिति । तर्हि कथमिदं प्रकृतोदाहरणमिति चेत् उत्प्रेक्षातौ रसातिशयाप्रतीतेः
प्रत्युत तादृशोत्प्रेक्षाया उपमोक्तन्यायेनापकर्षपर्यवसानादिति । एष एव गुणा-
लंकारविभागो विचारसहो मान्यः । तदेवं गुणालंकारयोर्भेदे व्यवस्थिते यत्कै-
श्चिदुक्तम्—‘लौकिकयोगुणालंकारयोः शौर्यादिहाराद्योः समवेतत्वसंयोगि-
त्वाभ्यां भेदः संभवति । अलौकिकयोर्माधुर्याद्यनुपमाद्योरुभयोरपि समवेत-
त्वादनुपपन्नो भेदः । तस्मात्तयोर्भेदाभिधानं गडुलिकाप्रवाहन्यायेन । तथाहि—
गडुलिका मेघी काचिदेका केनचिद्धेतुना पुरो गच्छति इतरास्तु विनैव निमित्त-
विचारं तामनुगच्छन्ति तथा केनाप्यालंकारिकेण गुणालंकारौ केनचिदभिप्रा-
येण भिन्नतयोक्तौ इतरे तु हेतुविचारं विनैव तदनुसारेण तज्जेदं वदन्तीति
तदसम्यग्वेदितव्यम् । यदप्युक्तं वामनेन—‘काव्यशोभा काव्यव्यवहारनिमित्तं
कश्चिदतिशयः । तद्धेतवो गुणास्तदतिशयहेतवस्स्वलंकारा इति तयोर्भेदः’
इति । तदप्युक्तम् । यतः शोभाहेतवो गुणा इत्युक्तं तत्र किं समग्रैर्गुणैः
काव्यशोभोत्पत्तिरुत येनकेनापि । आद्ये पाञ्चालीगौडीया च रीतिः कथं काव्य-
स्यात्मा । माधुर्याद्यभावेन समस्तगुणाभावाच्छोभानुत्पत्तेः । अन्ये ‘अद्रावत्र
प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्युल्लसत्येष धूमः ।’ इत्यादावोजःप्रसादगुणसत्त्वा-
त्काव्यव्यवहारप्रसङ्गः । नहि मन्मत इव त्वन्मतेऽपि तद्व्यवहारेऽलंकारापेक्षा ।
तेन गुणमात्रेणैव काव्यव्यवहारस्वीकारात् । यदपि शोभातिशयहेतवोऽलंकार
इति तदप्युक्तम् ।

‘स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।

अस्या रदच्छदरसो न्यकरोतितरां सुधाम् ॥’

इत्यत्र पूर्वार्धे विशेषोक्तिः । ‘एकगुणहानिकल्पनया शेषगुणदार्ढ्यकल्पना
विशेषोक्तिः’ इति वामनलक्षणात् । उत्तरार्धे व्यतिरेकः । ‘उपमेयस्य गुणातिरे-
कत्वं व्यतिरेकः’ इति लक्षणात् । एतौ च गुणमनपेक्ष्यैव काव्यव्यवहारहेतुशो-
भाजनकौ । एवमन्यत्राप्युक्तम् । नन्वत्रापि प्रसादादेर्वर्तमानत्वात्कथं गुणानपे-

कथं संभावना । अर्गलाया एव तु तद्वाचकपदानन्तरोच्चरितेनेवशब्देन संभावनोचि-
नेत्याशङ्क्यामाह—उत्प्रेक्षणीयकोटावेवेति । अयमाशयः—अर्गलापदमत्र
निरोधके लक्षणिकम् । अन्यथा जीवस्यार्गलेत्यन्वयायोगात् । तथा च जीवस्य
निरोधिकेवेत्यर्थप्रतीतेः । सादृश्यस्य विशेषणतया संभावनान्वयोपपत्तिरिति तदाह—
यथोच्यत इत्यादीति । एष एव रसधर्मत्वरसाव्यभिचारिरित्तदभावरूप एव ।
नान्य इति । संबन्धभेदरूपो नेत्यर्थः । समवेतत्वादिति । माधुर्यादिरिवो-

१. ‘स्वर्गेति । वरवर्णिनी उत्तमाङ्गनैव अनेनैव । मानुषेणैव देहेन स्वर्गप्राप्तिर्न तु दिव्यदेहेन
स्थानविशेषप्राप्तिः । अस्यास्ततोऽप्युत्कृष्टत्वात् । तदाह—अस्या रदच्छदस्याधरस्य रसः सुधां
न्यकरोतितरामतिशयेन तिरस्करोतीति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकावक्षेपः.

क्षत्वमलंकारयोः । किं च निर्गुणत्वे कथं त्वन्नयेऽपि काव्यव्यवहारः । सगुणत्व-
विशेषणाभावादिति चेत्, अस्त्येवात्र गुणः तथा ज्ञानं च । परंतु किंचिद्गुणव-
त्त्वस्य शोभाहेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात् समस्तगुणवत्त्वं तथा वक्तव्यम् । न चात्र तत्सा-
मग्र्यम् । तथा च गुणजन्यां शोभामनपेक्ष्यैवालंकाराभ्यां शोभासंपत्तिरिति
तात्पर्यम् ।

इदानीं गुणानामलंकारभेदे सिद्धे दशविधत्वव्युदासाय तज्जेदमाह—

माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

विभागक्रमेणैषां लक्षणमाह—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ३ ॥

आह्लादकत्वं यद्धानन्दहेतुत्वं तर्हि न शृङ्गारस्यापि तस्यैव सुखात्मत्वेनात-
जनकत्वात् । आनन्दस्वरूपत्वं चेत्तर्हि सर्वेषामेव रसानामित्यत आह—
द्रुतिकारणमिति । द्रुतिश्चेतसो गलितत्वमेव द्वेषादिजन्यकाठिन्याभावः । तथा
च यद्वशेन श्रोतुर्निर्मनस्कतेव संपद्यते तदाह्लादकत्वस्वरूपं माधुर्यमित्यर्थः ।
यदुक्तम्—

‘गलितत्वमिवाह्ला(स्वा)दपदव्या हृदये ददत् ।

माधुर्यं नाम शृङ्गारे प्ररोहं गाहते गुणः ॥’ इति ।

कासावित्यत आह—शृङ्गार इति । शृङ्गारपदं संभोगपरम् । विप्रलम्भेऽति-
शयस्य वक्तव्यत्वात् । भास्करस्तु श्राव्यत्वं माधुर्यस्य लक्षणमाह सः । तदयु-
क्तम् । ओजःप्रसादयोरपि तत्सत्त्वेनातिव्याप्तेः शब्दनिष्ठत्वाच्च ।

तत्किं संभोग एव माधुर्यं नेत्याह—

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

संभोगात्करुणे तस्माद्विप्रलम्भे ततोऽपि शान्तेऽतिशयितं माधुर्यम् । हास्या-
देरप्यपगमेनातिद्रुतिहेतुत्वात् । इयांस्तु विशेषः—संभोगविप्रलम्भयोस्तन्निः-
सपन्नम् । शान्ते तु जुगुप्साद्यन्वयादोजोलेशानुविद्धमिति ।

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ४ ॥

दीप्तिस्वरूपा या मनसो विस्तृतिर्ज्वलितत्वमिव । तथा च यद्वशाज्ज्वलितमिव
मनो जायते तदोज इत्यर्थः । केदमित्यत आह—वीररसस्थिति ।

अस्याधिकरणान्तरमाह—

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु ।

पमायलंकारस्य सादृश्यादिरूपस्य समवेतत्वादित्यर्थः । यदुक्तमिति । आस्वाद-
पदव्या आस्वादद्वारा । निःसपन्नमिति । स्वकार्यद्रुतिविरोधिदीप्तिजनकतया
प्रतिपक्षभूतं यदोजस्तद्रहितमित्यर्थः । जुगुप्सेति । तस्या बीभत्सस्यापिलाह्रीभत्से
चौजसो वक्ष्यमाणत्वात्तल्लेशसंकीर्णमित्यर्थः । एवं बीभत्से माधुर्यलेशसंकीर्णत्वमोजस-

वीराद्वीभस्ते ततोऽपि रौद्रे चित्तदीप्तेः कार्यायाः सातिशयनयाः कारणभोजः क्रमेणोत्कर्षवत् । तदेतद्वीररौद्रयोर्निष्प्रतिपक्षं बीभस्ते तु माधुर्यलवानुबिद्धमिति विशेषः । प्राधान्येन माधुर्यौजसोरेकैकविधानमत्र प्रक्रान्तमतो हास्याद्भुतभयानकेषु न किञ्चिद्विहितम् । तेषुभयगुणप्राधान्यात् ।

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥ ५ ॥

व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

भोजसि शुष्केन्धनाग्निवन्माधुर्ये स्वच्छशर्करावस्त्रादिजलवद्यो गुणोऽन्यथाप्यं चित्तं झटिल्येव रसेन व्याप्नोति स प्रसादः । करणस्यापि स्वातन्त्र्यविवक्षया य इति निर्देशः । सर्वेषु रसेष्वाधेयतया सर्वासु रचनासु व्यङ्ग्यतया स्थित इति तन्नेपाह—सर्वत्र विहितस्थितिरिति ।

कथं तर्हि तत्त्ववेदिनामपि शब्दार्थयोर्मधुरादिभ्यवहार इत्यत आह—

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ६ ॥

गुणवृत्तिरूपचारः । आकारे शौर्यस्येव व्यञ्जके सुकुमारवर्णादौ तदुपचार इत्यर्थः । तेषां गुणानाम् ।

ननूकलक्षणाः श्लेषादयोऽपि दश दुरपह्णवास्तत्कुतश्चय एव न पुनर्मदुक्ता अपि दृशेत्यत आह—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परि श्रिताः ।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७ ॥

एषु मदुक्तलक्षणेपु माधुर्यादिषु । इदं चोपलक्षणम् । अलंकारध्वन्योरप्यन्तर्भावस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् । उक्तान्तर्भावादिहेतुत्रयोपादानमप्युपलक्षणम् । वैचित्र्यमात्रपर्यवसानस्यापि दर्शयिष्यमाणत्वात् । दोषत्यागादिति । दोषाभावस्वरूपत्वात्तद्व्यापकतया वा । दोषत्वं कुत्रचिदिति । दोषस्वभावस्य गुणस्वभावत्वानौचित्यात् स्वभावभङ्गप्रसङ्गात् । तथाहि—श्लेषस्तन्मते बहूना-

सहदयानुभवसिद्धं ज्ञेयम् । एवं सति कथमेकैककथनमत आह—प्राधान्येनेति । अत्र प्रमाणमाह—अत इति । करणस्यापीति । येन गुणेन रसश्चित्तं व्याप्नोतीति वाच्ये करणभूतस्यापि गुणस्य य इति कर्तृत्वेन निर्देशः । स्वातन्त्र्यविवक्षेत्यर्थः । एवं च माधुर्यादीनां त्रयाणां क्रमेण द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तम् कार्या इति कथितम् । गुणानां रसमात्रधर्मत्वात्सर्वासु रचनासु चेति वृत्तिप्रग्न्यासंगतिमाशङ्क्याह—अयं चेति । व्यङ्ग्यतयेति व्यञ्जकत्वसंबन्धपरम् । शब्दार्थयोरिति रचनाया अप्युपलक्षणम् । ननूकेति । उक्तं वामनादिभिर्लक्षणं येषां ते तथोक्ताः । तानि च वक्ष्यन्ते । तेषां च संग्रहश्लोकः—‘श्लेषः प्रसादः सम्यक्ता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोजः कान्तिसमाधयः ॥’ तद्व्यापकतयेति । स दोषाभावो व्यञ्जको यस्य तत्त्वादित्यर्थः । तथा च दोषाभा-

अपि पदानामेकवद्भासनम् । समाधिस्वारोहावरोहयोः क्रमः । स चोत्कर्षोपकर्षयोर्वैरस्यानाधायको विन्यासः । उदारत्वं विकटाक्षरत्वम् । तच्च नृत्यङ्गिरिव पदैर्या घटना तत्त्वम् । प्रसाद ओजोमिश्रितं शैथिल्यम् । सर्वशैथिल्यस्य दोषत्वात् । तदेतच्चतुष्टयमोजस्यन्तर्भूतम् । यद्यपि दीप्तिजनकत्वरूपे रसनिष्ठ ओजसि नैषामन्तर्भावसंभवस्तथापि तत्स्वीकारेण स्वीक्रियते । तस्य अङ्गे गाढबन्धलक्षणे तदन्तर्भाव इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । पृथक्पदरूपं तु माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादेवोपात्तम् । यथोक्तमाधुर्यव्यञ्जकत्वेनासमासस्य विधानात् ।

वस्यावश्यकत्वमुक्तम् । 'तज्ज्ञापकतया' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः पर्यवस्यति । एकवद्भासनमिति । तत्प्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णरचनाविशेषो गाढत्वापरपर्याय इत्यर्थः । यथा—'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्—' इति माघे तृतीयसर्गे । आरोहावरोहयोर्गाढबन्धत्वशैथिल्ययोः । अनयोरेवोत्कर्षोपकर्षपदार्थत्वम् । क्रमपदार्थमाह—वैरस्येति । अर्थोद्भूततायामवरोहे वैरस्यात्तत्परिहारेण विन्यास इत्यर्थः । आरोहानन्तरमवरोहे समाधिः । व्युत्क्रमे प्रसाद इत्यन्ये । समाधिर्यथा—'चञ्चद्भुजध्रुमित' इति वेण्णाम् । अत्र हि संचूर्णितेत्यन्तमारोहः । सुयोधनान्तं चावरोहः । पुनस्तवेत्यन्तं पूर्वं ततोऽन्त्य इति । नृत्यङ्गिरिवेति । 'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां' इत्यादौ । ओजोमिश्रितमिति । शैथिल्यं प्रधानमोजोगुणभूतं तेन तस्याल्पत्वम् । समाधौ तु तदाधिक्यं शैथिल्यस्य न्यूनत्वमित्यनयोर्भेदः । 'चञ्चद्भुज' इत्यादौ तथादर्शनात् । मतान्तरं प्रागुक्तम् । प्रसादो यथा—'यो यः शब्दं विभर्ति—' इत्यादौ वेण्णाम् । अत्र हि शैथिल्यस्य प्राधान्यमाधिक्यात् । गाढत्वं च शैथिल्यदोषपरिहारार्थमल्पं गुणभूतम् । तदाह—सर्वशैथिल्यस्येति । तदेतदिति । गाढबन्धतया दीप्तिहेतुत्वात् । 'गुम्फ उद्भूत ओजसि' इति वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । दीप्तिजनकत्वरूप इति । दीप्तिजनकत्वेन रूप्यते निरूप्यत इति तथाभूत इत्यर्थः । पृथगिति । पदार्थसमासाभावरूपमित्यर्थः । यथा—'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः' इति कुमारसंभवे भङ्ग्या माधुर्यव्यञ्जकासमासकथनरूपया । अर्थव्यक्तिर्यथा—'वागर्थाविव' इति । मार्गो रीतिः । सौकुमार्यं यथा—'अपसारय घनसारं' इति । कान्तिर्यथा—'निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालबकुले न साले सालम्बो लवमपि लवणे न रमते । प्रियंगौ नासज्जं रचयति न चूते विचरति स्मरं लक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः ॥' इति । उक्तानां श्लेषादिगुणानां लक्षणश्लोका वामनवृत्तौ—'पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीधराः । श्लघ्यत्वमोजस्य मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ॥ यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि । अनालक्षितसंधीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥ प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः । दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥ आरोहन्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् । समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥ बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यं कथितं ब्रूयैः । बन्धस्याजरटत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ॥ विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारत्ताम् । पश्चादवगतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः ॥ यथार्थव्यक्तिहेतुत्वात्सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो

अर्थव्यक्तिस्तु झटित्यर्थसमर्पकतया । सा च प्रसादपदेनैवोपात्ता । यथोक्त-
प्रसादस्य तद्व्यङ्ग्यत्वात् । समता त्वारब्धवैदर्भ्यादिमार्गापरित्यागः । सा च
कचिदोष एव । यथा—‘मातङ्गाः किमु बलितैः—’ इत्यादौ प्रारब्धस्य मत्सृ-
णवर्णत्वस्य सिंहाभिधानेऽप्यत्यागो दोषाय । तत्परित्यागस्तु प्रत्युत गुण इत्यु-
क्तम् । न च दोषस्वभावस्य गुणत्वम् । अस्वभावप्रसङ्गात् । सुकुमारत्वं त्वनि-
ष्ठुराक्षरप्रायत्वम् । तच्च कष्टत्वरूपदोषाभावपर्यवसन्नम् । कान्तिस्तुज्वलता ।
द्वज्ज्वलत्वं तु ग्राम्यपदाघटितत्वमिति । सापि ग्राम्यत्वरूपदोषाभावपर्यवसन्नैव ।
एवं दश शब्दगुणा न पृथग्वक्तव्याः । अर्थगुणा अप्येवम् । तथाहि—अर्थ-
स्वौजः प्रौढिः । सा च

‘पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।

प्रौढिव्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥’

इति प्रतिपादितपञ्चप्रमेदा । तेष्वद्यमेदचतुष्टयमुक्तिवैचित्र्यमात्रं न गुणः ।
तैर्विनापि काव्यव्यवहारान्माधुर्यादिनिरपेक्षेण च तेन तद्व्यवहाराप्रवर्तनात् ।
अन्यस्तन्नेदोऽपुष्टार्थत्वरूपदोषाभावपर्यवसन्नः । एवं प्रसादोऽर्थनैर्मल्यम् । प्रयो-
जकमात्रार्थपरिग्रह इति यावत् । सोऽप्यधिकपदरूपदोषपरित्यागादेवान्यथा-
स्तिद्वसन्निधिः । माधुर्यं तृक्तिवैचित्र्यं नवीकृतत्वरूपम् । तच्चानवीकृतत्वरूप-
दोषाभावरूपम् । सौकुमार्यं पुनरपारुह्यम् । परुषेऽप्यर्थेऽपरुषशब्दाभिधानमिति

गुणः । औज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ॥’ इति । अर्थेति । अर्थगुणा
अपि दशोक्तेष्वन्तर्भावादिना न पृथगित्यर्थः । तेषां च श्लेष इत्यादीन्येव नामानि ।
लक्षणानि तु मिथ्यानि । तान्येव दर्शयन्पार्थक्यं निरस्यति—तथाहीति । अर्थग-
तमोजः प्रौढिः प्रौढत्वम् । सा चेत्यस्य पञ्चविधेत्यनेनान्वयः । प्रौढिरिति सर्वत्र
संबध्यते । तत्र पदार्थे वाक्यरचनं यथा—‘अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेदिव—’ इति
चन्द्रपदार्थे । वाक्यार्थे पदाभिधानं यथा—‘यत्र दुःखेन संभिन्नं—’ इत्यादि वाक्यार्थे
स्वर्गपदम् । ‘कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका’ इत्यभिसारिकापदं च ।
व्यासो विस्तारः । यथा—‘अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः सुखं वा
दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः । पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि
तत्पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखम् ॥’ अत्रादृष्टवैचित्र्यात्सुखदुःखयो-
र्वैचित्र्यमिति वाक्यार्थस्य विस्तारणम् । समासः संक्षेपः । यथा—‘ते हिमालय-
मामक्य—’ इति कुमारसंभवे । अस्य अर्थस्य । साभिप्रायत्वं प्रकृतार्थोपयुक्तत्वम् ।
यथा—‘महौजसो मानधनाः—’ इत्यादौ ‘प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्’
इत्यर्थस्योपपादकानि महौजस्त्वादीनीति । तैर्विनापीति । पदार्थे वाक्यरचनादि-
भिश्चतुर्भिर्विनापीत्यर्थः । तथा च काव्यव्यवहारहेतवो गुणा इति त्वन्मतेनैव तेषां
गुणत्वं न भवतीत्यर्थः । अन्वयव्यभिचारमत्याह—माधुर्यादीति । तेन आद्यमे-
दचतुष्टयेन । दृष्टैकेत्यमरकश्लोकः । अत्र द्वयोरपि प्रियतमत्वेनान्यतरक्रीडायामनौ-
चित्यं च्यवितम् । अन्यामतिक्रम्य मां चुम्बतीति प्रेमोल्लासः । अन्यां प्रति गोपना-

यावत् । तच्चाभाङ्गल्यरूपाश्लीलपरित्यागेनैव सिध्यति । उदारता स्वर्थस्याग्रा-
म्यत्वम् । तच्च ग्राम्यस्वरूपदोषाभाव एवेति । अर्थव्यक्तिस्तु वस्तुस्वभावस्य
स्फुटता । सा च स्वभावोक्त्यन्तर्भूता । कान्तिस्तु दीप्तरसत्वम् । सा च रस-
ध्वनौ रसवदलंकारे गुणीभूतव्यङ्ग्ये वान्तर्भूता । श्लेषस्तु क्रमकौटिल्यानुल्ब-
णत्वोपपत्तिरूपघटना । अस्यार्थः—क्रमकौटिल्यमतिक्रमस्तस्यानुल्बणत्वमति-
स्फुटता तत्रोपपत्तिर्युक्तिस्तस्या योग इति । यथा—‘द्वैकासन-’ इत्यादि ।
अत्र पिहितनयनामतिक्रम्यान्याचुम्बनादतिक्रमः । तस्यास्फुटत्वमनया तदज्ञा-
नात् । तत्रोपपत्तिरेवमनया तु न ज्ञातव्यमिति । केचित्तु क्रमकौटिल्यं क्रम-
स्यातिक्रमः स चात्र व्यक्त एव एकदैवोभयानुरञ्जनात् । स एष श्लेष उक्ति-
वैचित्र्यमात्रं न गुणः । अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहात् । समता
तु वैषम्याभावोऽर्थस्य । स च क्रमाभेदरूप इति क्रमभेदरूपदोषाभाव एव ।
दोषत्वं तु तद्व्यतिरेकस्य कथमिति चेत्, यतो न खल्वनुमत्तोऽन्यप्रस्तावेऽन्य-
दभिधत्त इति । समाधिः पुनरर्थदर्शनम् । न चासौ गुणः । काव्यशरीरत्वात् ।
स्वयं दृष्टस्यान्यच्छायासिद्धस्यार्थस्य यदि न दर्शनं कथं तर्हि काव्यशरीरनि-
ष्पत्तिः । असाधारणशोभाधायकं हि गुणं ब्रुवन्ति, न च काव्यशरीरनिर्वर्त-
कमिति ।

उक्तयुक्तीर्बुद्धिस्थीकृत्याह—

तेन नार्थगुणा वाच्याः

परैरङ्गीकृता अर्थगुणास्ते चोक्तयुक्त्या न पृथग्वक्तुमर्हाः ।

प्रोक्ताः शब्दगुणास्तु ये ।

कर्णाः समासो रचनास्तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥ ८ ॥

ये तु त्रय उपचारेणान्यैः शब्दगुणाः प्रोक्ता वस्तुतो रसगुणा एव वर्णादय-
स्तेषां व्यञ्जकत्वं गताः ।

के कस्य व्यञ्जका इत्याकाङ्क्षायामाह—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ९ ॥

माधुर्यं व्यङ्ग्ये टवर्गवर्जिताः कादिमान्ता रेफणकारौ चेति वर्णाः । तत्र
कादयो मूर्ध्नि स्वस्ववर्गान्त्यवर्णगताः । यथा कुञ्ज इत्यादि । रेफणकारौ तु ह्रस्व-
स्वरान्तरितौ । वृत्तिः समासस्तस्य चाभाव एव मध्यमता वा इति समासः ।
घटना तथेति । सौकुमार्यवती पदान्तरयोगेन रचना चेति वर्णसौकुमार्यवती

यान्तरिति । अत्रेति । पिहितनयनायाचुम्बनौचित्यादित्यर्थः । क्रमस्यातिक्रमो
गुणपदुभयानुरञ्जनम् । अत्रोभयानुरञ्जनं मा विज्ञातं भवत्विति न तात्पर्यम् । किंत्व-
नौचित्यं मा विज्ञायीत्येवेति पूर्वव्याख्यानादस्वरसः । क्रमाभेदेति । प्रक्रमाभेदरूप
इत्यर्थः । क्रमभेदेति । प्रक्रमभेदरूपेत्यर्थः । यथा—‘हरिः पिता हरिर्माता-’

रचना वर्णसौकुमार्यादेव लब्धेति पदान्तरयोगे सौकुमार्यलाभाय घटना तथेत्यु-
क्तमिति । उदाहरणम्—

‘अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।

कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तितानि ॥’

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।

टादिः शषौ वृत्तिद्वैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ १० ॥

ओजसि व्यङ्ग्ये वर्गप्रथमतृतीयाभ्यां सह तदन्तयोद्वितीयचतुर्थयोर्योगः ।
यथा—कच्छपुच्छेत्यादि । तथा रेफेणाद्य उपर्युभयत्र वा यस्य कस्यापि योगः ।
यथा—वक्रार्कनिर्ह्रादादयः । तथा तुल्ययोः कयोश्चिद्योगः । यथा चित्तवित्तादौ ।
तथा टादिचतुष्टयं शषौ चेति वर्णाः । समासस्तु दीर्घः । गुम्फो रचना । सा
चोद्धता विकटेति । उदाहरणम्—‘मूर्ध्नामुद्धतकृत्त—’ इत्यादि ।

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।

साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ११ ॥

येन शब्देन समासेन वा यया रचनया वा श्रुतिमात्रेण शब्दादर्थप्रत्ययः स
प्रसादव्यञ्जक इत्यर्थः । उदाहरणम्—

‘परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-

स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

इदं व्यस्तन्यासं श्लैथभुजलताक्षेपवलनैः

कृशाङ्ग्याः संतापं वदति विसिनीपञ्चशयनम् ॥’

अन्येषां तु वर्णानामुदासीनत्वमिति तदुपादाने तु पुराणच्छायेत्युच्यते । न
चैवं माधुर्यादाबुद्धतादयो रचनाद्याः सर्वत्र विरुद्धाः स्युरिति वाच्यम् । यतो
यद्यपि गुणपरतन्त्रा रचनादयस्तथापि

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन कचित्कचित् ।

रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ १२ ॥

१. अनङ्गेति । अनङ्गस्य रङ्गे नृत्यस्थानं तत्सदृशमानताङ्गास्तदनुभवेकगोचरमङ्गं भङ्गी-
निर्विलासवलनैस्तथाङ्गीकृतं स्वयमादरेण गृहीतं यथाङ्गीकारप्रकारेणैता भङ्ग्यो यूनां स्वान्तानि
चिन्तानि शान्तान्यपरचिन्तितानि येषां तथाभूतानि सहसा कुर्वन्तीत्यन्वयः । इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘परिम्लानमिति । इदं विसिन्याः कमलिन्याः पत्राणां शयनं तल्पः
कृशाङ्ग्याः संतापं वियोगतापं वदति कथयतीत्यन्वयः । कीदृशम् । पीनयोः स्तनजघनयोः
सङ्गादुभयतस्तदुभयस्थानयोः परिम्लानम् । न्युब्जकायशयनात् । तथा तनोः कृशस्य
माध्यस्य परिमिलनं संवर्षमप्राप्यान्तर्नैर्ध्वभागे हरितं हरिदर्शनम् । तथा निर्वलतया श्लथा
विमिला या भुजलता तस्याः श्लेषैर्वलनैश्च व्यस्तोऽन्यथाभूतो न्यासो रचना यस्य
तथाभूतम् । इच्छापूर्वकत्वादुदाहरणान्यां श्लेषवलनयोर्भेदः । श्लेथेनाक्षेपणाभिधातेन यानि
वलनान्युद्धतानीति केचित् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘प्रशिथिलमुजाक्षेप’ क-

अन्यथात्वं गुणपारतन्त्र्याभावः । वक्तृवाच्यप्रबन्धौचित्यविरह एव गुण-
पारतन्त्र्यस्वीकारात् । तत्रापि वक्तृक्रोधाङ्गव्यक्तावुपयोगात् । तत्र क्वचिद्वाच्य-
प्रबन्धानपेक्षया वक्तृौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

‘मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः

कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥’

अत्र न वाच्यं क्रोधादिदीप्तरसव्यञ्जकं प्रभरूपत्वात् । प्रबन्धश्च नाटका-
त्माभिनेय इति दीर्घसमासत्वं प्रतिकूलं यद्यपि तथापि वक्ता भीमसेन इति
तदौचित्यादुद्धृता रचनात्र । अतस्तदुद्धृतत्वादिव्यक्तावेवोपयुज्यते । क्वचित्तु
वक्तृप्रबन्धौचित्यानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

‘प्रौढैच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैहिकेयोपघात-

त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्बलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम् ।

कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कंधरारन्ध्रभाजां

भांकारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥’

अत्र वक्ता वैतालिकः प्रबन्धश्चाभिनेयात्मेति दीर्घसमासानौचित्येऽपि
वाच्यस्य कुम्भकर्णस्योद्धृत्यादुद्धृता रचनादयः । क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धो-
चिता एव रचनादयः । तथा हि—आख्यायिकायां हि शृङ्गारेऽपि व्यङ्ग्येऽनुद्ध-
तेऽपि वक्तरि नातिमसृणा वर्णादयः । प्रस्युत विकटबन्धत्वेनैव च्छायावत्त्वात् ।

१. ‘मन्येति । रणस्थाने दुन्दुभिध्वनिं श्रुत्वा भीमसेनस्यायं प्रश्नः । अयं शब्दायमानो
दुन्दुभिः केन ताडित इत्यन्वयः । कीदृशः । मन्यो मन्यनं तेनायस्तमान्दोलितं
यदर्णवस्याम्भस्तेन प्लुतं व्याप्तं कुहरं गुहा यस्य तादृशस्य चलतो मन्दरस्य गिरेर्ध्वानवद्धीरः ।
‘प्लुति’ इति पाठे अम्भसः प्लुत्या कुहरेषु चलन्त्यो मन्दरध्वान इत्यर्थः । कोणो वादनदण्डस्तद-
भिधातेषु सत्सु । यद्वा—‘भेरीशतसहस्राणि ढकाशतशतानि च । एकदा यत्र हन्यन्ते कोणा-
घातः स उच्यते ॥’ इति परिभाषितकोणाघातेषु सत्सु तदन्तर्गतोऽयं गर्जन्त्याः प्रलयकाली-
नाया घनघटाया अन्योन्यसंघट्टचण्डः । दारुण इत्यर्थः । कृष्णाया द्रौपद्याः क्रोधस्याग्रे
वर्तमानो दूतः । तत्प्रयुक्तत्वात् । कुरुकुलस्य निधनं क्षयस्तदर्थमुत्पातरूपो निर्घातस-
हितो वातः । मेघानां वातानां चान्योन्यसंघट्टचण्डध्वनिनिर्घातः । तथा अस्मत्सिंह-
नादप्रतिरसितस्य प्रतिध्वनेः सखा । सदृश इत्यर्थः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘प्रौढेति ।
वीरचरिते वैतालिकस्येयमुक्तिः । एतद्भीमं कुम्भकर्णस्योत्तमाङ्गं शिरो वियत आकाशान्निपत-
तीत्यन्वयः । कीदृशम् । कंधरारन्ध्रभाजां तत्प्रविष्टानां मरुतां भांकारैस्तादृशशब्दैः काकुत्स्थ-
वीर्यस्य श्रीरामचन्द्रपराक्रमस्य स्तुतिमिव कुर्वत्कुर्वाणम् । तथा प्रौढस्य महावेगप्रयुक्तस्य
च्छेदस्यानुरूपेणोच्छलनं तस्य रथेण वेगेन भवन्त्यः सैहिकेयस्य राहोरेषवातत्रासस्तेनाकृष्टैर-
श्वेतिर्यग्बलितो वक्रतया संस्थापितो रविरथो येन तथाभूतेनारुणेनेक्ष्यमाणम् । दृश्यमान-
मित्यर्थः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

विप्रलम्भकरुणयोस्तु तस्यामपि दीर्घसमासपरीहारः । तयोरतिसौकुमार्यात् । कथायां तु रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्गटा वर्णादयः । वर्णनीयमहापुरुषसुखप्रतिपत्तिसमर्पणस्योद्देश्यत्वात् । नाटकादावभिनेये तु रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः । विच्छेदेनाभिनयसौकुमार्यात् । एवं मुक्तकाद्यौचित्यमनुसरणीयम् । तथाहि—एकैकच्छन्दसि वाच्यसमाप्तिमुक्तकम् । द्वयोः संदानितकम् । त्रिषु विशेषकम् । चतुर्षु कालापकम् । पञ्चादिचतुर्दशान्तेषु कुलकम् । तत्र मुक्तकेषु कवे रसवत्त्वाभिनिवेशित्वे रसाश्रयमौचित्यम् । यथा—‘शून्यं वासगृहं—’ इत्यादौ । रसनिवेशाभावे तु कामचारः । संदानितकादिषु काव्यपरिसमाप्तेर्वैकट्यं दीर्घमध्यसमासता च । प्रबन्धगतेषु पुनस्तेषु प्रबन्धोचिता एव रचनादय इत्यादि ज्ञेयम् ।

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे गुणविवेचनो नामाष्टम उल्लासः ।

नवम उल्लासः ।

एवं गुणे विवेचितेऽलंकारा विवेचनीयाः । तत्र सामान्यलक्षणं गुणविवेचन एवोक्तम् । शब्दालंकाराथालंकारोभयालंकाररूपविशेषलक्षणत्रयं चार्थलभ्यमिति तेषां विशेषलक्षणेषु वक्तव्येषु काव्यलक्षणे शब्दस्य प्राथम्यात्तदलंकारविशेषलक्षणे वक्तव्ये प्रथमं वक्रोक्तिं लक्षयति—

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।

श्लेषेण काका वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ १ ॥

वक्रान्याभिप्रायेणोक्तमन्येनान्यार्थकतया योज्यते संगम्यते सा वक्रोक्तिरित्यर्थः । श्लेषेण काका वेति योजना । हेतुमुखेन विशेषलक्षणद्वयम् । तथा द्विधेति विभागः । श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्चेति द्विधेत्यर्थः । श्लेषश्च द्विधा—समङ्गपदोऽभङ्गपदश्च । तत्र समङ्गश्लेषेण यथा—

इत्यादौ विष्णुः (पिता विष्णु) माता इत्युचौ । काव्यशरीरत्वादिति । काव्यान्तरङ्गहेतुत्वादित्यर्थः । काव्यपरिसमाप्तेर्वैकट्यमिति । (विकटे) तत्समाप्तौ हि विलम्बापादकं वैकट्यदीर्घसमासत्वादि हेयम् । तदभावात् न दोष इति भावः । इति श्रीमत्तत्सदुपाख्यरामचन्द्रभट्टसूरिवरसूनुवैद्यनाथभट्टकृतायां प्रदीपप्रभाषामष्टम उल्लासः ॥

तदलंकारेति । शब्दालंकारेत्यर्थः । विशेषलक्षण इति । जालमिप्रायमेकवचनम् । प्रथममिति । ‘वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्’ इति कैश्चिदभिधानाभ्यस्तकृतिविशेषजनकतया तस्याः प्राथम्यमिति भावः । अन्यथा योज्यते सा वक्रोक्तिरिति सामान्यलक्षणम् । श्लेषेण काका वेति । तद्वेतुकथनमुखेन विशेषलक्षणद्वयमिति बोध्यम् । सा द्विधेति । लक्ष्यविशेषकथनं विभागः ।

‘नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
 वामानां हितमातनोति हितकृन्नैवावलानां भवान् ।
 युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
 सामर्थ्यं भवतः पुरंदरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥’

अत्र नारीणामिति पदं स्त्रीणामित्यभिप्रायेणोक्तम् । श्रोता तद्वद्वत्त्वा न
 शत्रूणामित्यर्थतया योजयित्वाह—कश्चेतन इत्यादि । अत्र वामानामिति शत्रू-
 णामित्यर्थो वक्तुरभिप्रेतः । स्त्रीणामित्यर्थतया योजयित्वान्य आह—हितकृ-
 दित्यादि । अथान्योऽवलानामिति दुर्बलार्थतया हितकृदिति हितकृन्तनार्थतया
 योजयित्वाह—युक्तं किमित्यादि । अथान्यो बलाभावप्रसिद्धात्मार्थपदमिन्द्रार्थ-
 तया योजयित्वाह—सामर्थ्यमित्यादि । अत्र नारीणामवलानामिति पदे सभङ्गे ।

अभङ्गमात्रपदेन श्लेषेण यथा—

‘अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
 त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुण्यी क्वचित् ॥’

अत्र दारुणेति क्रूरत्वार्थकत्वेन वक्तुरभिप्रेतं काष्ठेनेत्यर्थेनान्यो योजितवान् ।
 काकुवक्रोक्तिर्यथा—

‘गुरुरपरतन्नतया वत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
 अलिकुलकोकिलललिते सखि नैष्यति सुरभिसमयेऽसौ ॥’

अत्र नैष्यतीति नायिकया निषेधाभिप्रायेणोक्तं सख्या तु नैष्यति अपि
 स्वेष्ट्यत्येवेत्यर्थकतया काका योज्यते ।

अभङ्गमात्रपदेनेति । पूर्वं वामानामित्यभङ्गपदस्यापि सत्त्वे न तन्मात्रम् । इह तु

१. ‘नारीणामिति । नारीणां स्त्रीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि ज्ञातासि भवसी-
 त्यर्थकमरीणामनुकूलं नाचरसि चेज्जानासीति योजयित्वा कश्चिदाह—कश्चेतनो भूत्वा
 वामानां प्रतिकूलानां हितमातनोतीति । वामानामित्यस्य कामिनीनामित्यर्थं कल्पयित्वा
 प्रथमः पुनराह—भवानवलानां स्त्रीणां हितकृन्नैव भवतीति । अपरस्तु हितं कृन्तति
 च्छिनत्तीत्यर्थं परिकल्प्याह—बलाभावेन प्रसिद्ध आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशजनस्य हित-
 कर्तनं किं युक्तमपि तु सति । प्रथमस्तु बलस्य दैत्यस्याभावेन नाशेन प्रसिद्धरूपस्येन्द्रस्ये-
 त्यर्थं परिकल्प्य पुनराह—भवतः पुरंदरस्य मतमिष्टं तच्छेदं नाशं विधातुं कुतः सामर्थ्य-
 मिति । सामर्थ्यं सति युक्तायुक्तविचारः । तदेव भवतो नास्तीति भावः । अत्र वक्रोक्तिर-
 लंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अहो इति । अत्र दारुणेत्यस्य काष्ठेनेत्यर्थं
 परिकल्प्यान्य आह—त्रिगुणेति । सत्त्वादिगुणत्रयवतीत्यर्थः । अत्राभङ्गश्लेष इति पूर्व-
 स्वाज्ञेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘गुरुरिति हे सखि, गुरुरपराधीनतया वत खेदे
 दूरतरं देशं गन्तुमुद्यतोऽसौ कान्तः अलिकुलैः कोकिलैश्च ललिते मनोहरे वसन्तसमये
 नागमिष्यतीति नायिकोक्तं वाक्यं सख्या काका न पश्यति अपि तु पश्यत्येवेत्यन्यथा
 योज्यते । इति काकुवक्रोक्तिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

इयं च न वाकोवाक्यमात्रे किं नु स्वतोऽप्यन्येनोक्तस्यान्यथायोजनमात्रे ।
न्यायसाम्यात् । यथा मम—

‘कृष्णो वैरिविमर्दने हरिपदप्रीत्यर्जने त्वर्जुनः

पीतः पङ्कजलोचनाभिरभितो नेत्राञ्चलैश्चञ्चलैः ।

रक्तः सज्जनसंगमेषु करणश्रेणीमणे श्रीधर

स्थाने वर्णचतुष्टयस्य भुवने भर्ता भवान्गीयते ॥’

अत्र वर्णचतुष्टयस्य भर्ता श्रीधर इति सार्वलौकिकं वाक्यमन्यथा श्लेषा-
दिनास्माभिः समर्थितम् । एवमन्यदप्युद्धम् ।

अथावृत्तिनिबन्धनेष्वलंकारेषु लक्षणीयेषु रसानुगुणतयानुप्रासः प्रथमं लक्ष-
णीयः । स द्विधा—वर्णानुप्रासः पदानुप्रासश्च । तत्राद्यो वाचकवर्णमात्रावृत्तौ
द्वितीयस्तु वाचकपदावृत्ताविति वस्तुगतिः । तत्राद्यं लक्षयति—

वर्णसाम्यमनुप्रासः

अव्यवधानेन वर्णमात्रविन्यासो वर्णानुप्रास इत्यर्थः । शब्दसाम्यत्वमनुप्रा-
ससामान्यलक्षणमित्यर्थाल्लभ्यते । वर्णपदं व्यञ्जनपरम् । अतो व्यञ्जनवैसा-
दृश्ये विरिञ्चिपदादौ नातिव्याप्तिः । न चेष्टैव सा । तत्रानुप्रासशब्दार्थस्याभा-
वात् । रसादिभिरनुगतः प्रकृष्ट आसो न्यासो ह्यनुप्रासशब्दार्थः । न च
स्वरमात्रसादृश्ये रसानुगमः, न वा सहृदयहृदयावर्जकत्वलक्षणः प्रकर्षः ।

तं विभजते—

लोकवृत्तिगतो द्विधा ।

लोकगतो विदग्धाश्रितः । तैश्च प्रचुरमेतत्प्रयोगात् । वृत्तिगतो वृत्त्याश्रितः ।
सदुपोद्बलत्वात् । वृत्तिश्च मधुरादिरसानुगुणनियतमसृणादिवर्णगतो रसविषयो
व्यापारो व्यञ्जनाख्यः ।

तयोर्लक्षणमाह—

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः

तन्मात्रकृतः श्लेष इत्यर्थः । कृष्ण इति । कृष्णः श्रीकृष्णः । अर्जुनः पार्थो धव-
लश्च । पीतः सादरं दृष्टः पीतवर्णश्च । रक्तोऽनुरक्तो रक्तवर्णश्च । करणाः कायस्थाः ।
श्रीधराख्यः प्रभुः । भवान्वर्णचतुष्टयस्य भर्त इति यद्भुवने गीयते तत्स्थाने ।
युक्तमित्यर्थः । भर्ता धारकः पोषकश्च । वर्णमात्रेति । समानवर्णेत्यर्थः । पदा-
नुप्रासेऽतिव्याप्तिवारणाय मात्रेति । शब्देति । विभक्त्यन्तप्रातिपदिकोभयसा-
धारण्यायैवमुक्तम् । अन्यथा पदेत्युक्तौ विभक्त्यन्तस्यैव ग्रहणं स्यादिति भावः ।

१. वृत्तिप्रत्युक्तिरूपमात्र इत्यर्थः ।
२. क. ख. पुस्तकयोः ‘चञ्चलैः’ इति
पदं वृद्धिमस्ति ।

२. क. ख. पुस्तकयोः ‘चञ्चलैः’ इति

अनेकस्य व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं साम्यं पूर्वश्लोकानुप्रासः । उदाहरणम्—

‘ततोऽरुणपरिस्यन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।

दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥’

अत्र स्यन्दगण्डयोः ।

द्वितीयं लक्षयति—

एकस्याप्यसकृत्परः ॥ २ ॥

अपिशब्दादनेकस्यापि । असकृद्विबहुकृत्वो वा । वस्तुतस्तु च्छेकानुप्रास-
भिन्नं लक्ष्यम् । अन्यथैकस्य सकृदावृत्तेरसंप्रहापत्तेः । एवं चैकस्य वर्णस्य सकृद-
सकृद्वा अनेकस्य त्वसकृत्सादृश्यं वृत्त्यनुप्रास इति पर्यवसन्नम् ।

तत्र

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

यथा—‘अनङ्गरङ्गप्रतिमं—’ इत्यादि ।

ओजःप्रकाशकैस्तैश्च परुषा

यथा—‘मूर्ध्नामुदुत्त—’ इति ।

कोमलाऽपरैः ॥ ३ ॥

अपरैरोजोमाधुर्यव्यञ्जकातिरिक्तैः प्रसादवद्भिरक्षरैः । एनामेव केचिदतिश-
यितकान्तिराहित्येन ग्राम्यस्त्रीसाम्याद्ग्राम्येति वदन्ति । उदाहरणम्—‘अपसा-
रय—’ इत्यादि ।

केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

वामनादीनां मते एता एव यथाक्रमं वैदर्भीगौडीपाञ्चाल्यो रीतय उच्यन्ते ।

शब्दानुप्रासमाह—

शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥ ४ ॥

शब्दसारूप्यव्यापारवान् शब्दः प्रातिपदिकादिस्मृततः शाब्दः । भेद इति
तात्पर्यमन्वयभेदस्तन्मात्राभेदे । न तु स्वरादर्याद्वा । तथा च भिन्नतात्पर्यतु-
ल्यार्थशब्दसादृश्यं शब्दानुप्रासः । स तु लाटानुप्रास उच्यत इत्यर्थः । तुशब्दो
वर्णानुप्रासस्य लाटीयत्वव्यवच्छेदकः । यत्तु—“पुनरुक्त्यवच्छेदाय ‘भेदे तात्प-
र्यमात्रतः’ इत्युक्तम्” इति व्याख्यानं तदसत् । मात्रशब्दस्याप्रयोजकतापत्तेः ।

न त्विति । तथा सति यमकेऽतिव्याप्त्यपत्तेरिति भावः । अप्रयोजकतेति ।
वैयर्थ्येत्यर्थः । पौनरुक्त्यनिरासस्य तेन विनापि सिद्धेः । तात्पर्यमात्रत इत्यस्यासाम-

१. ‘तत इति । अरुणस्य परिस्यन्देन संचारेण । उदयेनेति यावत् । मन्दीकृतं निष्प्रमीकृतम् ।
कामेन परिक्षामायाः कृशयाः कामिन्या गण्डवत्पाण्डुतां दध्रे धारयामासेत्यर्थः । अत्र
स्यन्दमन्दीति, गण्डपाण्डु इति च नकारदकारात्मकस्य णकारदकारात्मकस्य चानेकव्यञ्जनस्य
सकृदावृत्तेः श्लोकानुप्रासः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

एष एव कैश्चित्पदानुप्रास उच्यते । सोऽयं पदस्य नाम्नो वेति द्विविधः । तत्र सविभक्तिकस्य यत्रावृत्तिः स आद्यः । अन्यादृशस्तु द्वितीयः । तयोराद्योऽनेकस्य पदस्यैकस्यैव वा पदस्येति द्विविधः । अन्यस्तु त्रिविधः । आवृत्तेरभिन्नसमासस्थतया, भिन्नसमासस्थतया, एकस्याः समासस्थत्वे सत्यपरस्या असमासस्थ-तया च समासं विनास्यासंभवादिति पञ्चप्रभेदा इति कारिकया प्रतिपादितम् ।

तत्राद्यमाह—

पदानां सः

पदानामिति बहुवचनमनेकोपलक्षणम् । अन्यथा द्वयोः पदयोरावृत्तौ षष्ठ्यभेदापत्तेः । उदाहरणम्—

‘यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥’

अत्र यद्यपि पूर्वार्धे दवदहनशब्दस्य परार्धे तुहिनदीधितिशब्दस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वान्नार्थभेदस्तथापि शब्दार्थमात्रेणोदाहरणम् । यद्वा अवशिष्टपदावृत्तेरेवोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

द्वितीयभेदमाह—

पदस्यापि

अपिशब्देन स इति समुचीयते । यथा—

‘वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।

सुधाकरः क नु पुनः कलङ्करहितो भवेत् ॥’

नाम्नः प्रकारत्रयमाह—

वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।

नाम्नः सवृत्त्यवृत्त्योश्च

वृत्तिनिरूपितप्रकारत्रये नाम्न एव लाटानुप्रास इत्यर्थः । उदाहरणम्—

‘सितैकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्तिः ।

पौरुषकमला कमला सापि तच्चैवास्ति नान्यस्य ॥’

अस्यादाह—यद्वेति । अविशिष्टानां यस्य सविध इत्यादिपदानामावृत्तेरेवेदमुदाहरणम् । न तु दवदहनस्तुहिनदीधितिपदयोरेत्यर्थः । ‘अविशिष्ट’ इति पाठे

१. ‘यस्येति । यस्य पुंसः सविधे समीपे दयिता नास्ति तस्य तुहिनदीधितिश्चन्द्रो दवदहनः विरहोदीपकत्वादावाभितुल्यः । उत्तरार्धे तु दावाग्निश्चन्द्रतुल्य इत्युद्देश्यविधेयभाव इत्यन्वयमात्रभेदाट्टानुप्रासः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘वदनमिति । सत्यमित्यर्थाङ्गीकारे । वरवर्णिन्या उत्तमवनितायास्तस्या वदनं सुधाकरश्चन्द्र इति सत्यम् । परंतु स कलङ्केन विकलो रहितः पुनः क नु भवेत्संभवेदतो नैवमित्यध्यारोपापवादः । पूर्वं सुधाकरपदं विधेयपरम् । उत्तरं त्वनुवाचपरमिति तात्पर्यभेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । ३. ‘सितेति । सप्तमे व्याख्यातम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

पौरुषकमला पौरुषलक्ष्मीलक्ष्मीश्च तवैवेत्यर्थः । यत्तु—पौरुषं कमलमाश्रयो यस्याः सा पौरुषकमला' इति व्याख्यानं तदयुक्तम् । अर्थभेदेनानुदाहरणापत्तेः । अत्र करकरेत्येकसमासः, विभा विभेति भिन्नौ समासौ, कमला कमलेति पूर्वस्य समास उत्तरस्यासमासः, इति त्रयाणामुदाहरणम् ।

तदेवं पञ्चधा मतः ॥ ५ ॥

व्याख्यातम् ।

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।

यमकं

अर्थभिन्नानां भिन्नार्थानामित्यर्थः । एतच्च लाटानुप्रासेऽतिव्याप्तिवारणाय । तन्मात्रे च कृते समरसमरसोऽयमित्यादौ द्वितीयाद्यावृत्तेरर्थाभावादव्याप्तिः स्यादत उक्तम् 'अर्थे सति' इति । यद्यर्थस्तदा भिन्न इत्यर्थः । वर्णानामिति बहुवचनमविवक्षितम् । द्वयोरपि यमकव्यवहारात् । सेति पूर्वणैव क्रमेण स्थितेत्यर्थः । अतः सरो रस इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । एवं च समानार्थत्वाभाववत्समानानुपूर्वीकानेकवर्णावृत्ति यमकमिति लक्षणं द्रष्टव्यम् ।

तदेतद्विभजते—

पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ ६ ॥

प्रथमपादो यदि द्वितीये पादे यम्यते तदामुखं नाम यमकम् । तृतीये चेत्तदा संदंशः । चतुर्थे चेत्तदा आवृत्तिः । एवं द्वितीयपादश्चेत्तृतीये तदा गर्भः । चतुर्थे चेत्संदष्टकम् । तृतीयश्चेच्चतुर्थे तदा पुच्छम् । प्रथमस्त्रिषु चेत्तदा पङ्क्तिः । महायमकमिति केचित् । पादत्रययमकं तु न चमत्कारकारि अतो न प्रयुक्तम् । इत्येकैकपादावृत्तौ सप्त भेदाः । प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे चेत्तदा युग्मकम् । प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये चेत्तदा परिवृत्तिः । इत्यर्धाभ्यासमृते पादद्वयावृत्तौ द्वयमिति नव भेदाः । अर्धावृत्तिस्तु समुद्रः । श्लोकावृत्तिर्महायमकम् । तदुभयमपि पादावृत्तिविशेष एवेत्येकादश पादयमकभेदाः । पादभागवृत्ति बहुभेदम् । तथा हि—द्विधा विभक्तेषु पादेषु प्रथमादिपादानामाद्यभागाः पूर्ववद्वितीयादिपादेष्वध्यभागेष्वेव यदि यम्यन्ते तदा पूर्ववन्मुखादयो दश भेदाः । श्लोकान्तरे भागावृत्तिर्न स्वदत्त इति श्लोकावृत्तिस्थानीय एकादशो भेदो भागावृत्तौ नास्ति । एवं प्रथमादिपादानामन्त्यभागस्य द्वितीयादिपादान्त्यभागेष्वेव यमने पूर्ववद्दश भेदाः । एवं द्विखण्डीकृतेषु पादेषु विंशतिः, त्रिखण्डीकृतेषु त्रिंशत्, चतुःखण्डीकृतेषु चत्वारिंशद्भेदाः स्थानापरिवर्तिनो भवन्ति । अथ स्थानपरिवर्तनभेदाः—प्रथमादिपादानामन्त्यादिभागा द्वितीयादिपादानामाद्यादिभागेषु यम्यन्त इत्याद्यन्वर्थतानुसारेणान्ताद्यादि-

तुल्यार्थेत्यर्थः । वस्तुतस्त्वेकानुपूर्वीकयोर्व्यञ्जनयार्थैकत्वाध्यवसायादर्थभेद इति बोध्यम् । अत एवाग्रे सुधाकरपदावृत्त्युदाहरणमुपपन्नमिति । प्रथमपाद इति ।

यमकादयः प्रभेदा भवन्ति । तथाहि—द्विखण्डे यथा प्रथमपादस्यान्त्यमर्धं द्वितीयपादस्याधार्धं चेद्यम्यते तदान्तादियमकम् । प्रथमभाग एव चेदन्यभागे तदाद्यन्त्यमकम् । एवं प्रथमपादस्याद्यान्तभागौ द्वितीयस्यान्तादिभागयोर्यदि यम्येते तदाद्यन्तान्तादियमकयोः समुच्चयः । अत्र त्रिखण्डचतुःखण्डयोः पूर्व-पादमध्यभाग उत्तरपादस्यादिभागे यदि यम्यते तदा मध्यादियमकम् । पूर्व-स्यादिभागश्चेत्तदुत्तरपादस्य मध्यभागे तदादिमध्ययमकम् । पूर्वस्य मध्यादिभागौ चेदुत्तरस्याद्यमध्ययोस्तदा मध्याद्यादिमध्ययोः समुच्चयः । एवं प्रथमस्यान्त्यभागौ द्वितीयस्य मध्यभागे चेत्तदान्त्यमध्यम् । पूर्वस्य मध्यभागश्चेद्वितीयस्यान्त्यभागौ तदा मध्यान्तिकम् । पूर्वस्यान्त्यमध्यभागौ चेद्वितीयस्य मध्यान्त्यभागयोस्त-दान्त्यमध्यमध्यान्त्ययोः समुच्चयः । यद्यपि पूर्वस्यादिभाग उत्तरस्यान्त्यभागे चेत्त-दाद्यन्त्यकमन्त्यभागस्त्वाद्यभागे चेत्तदान्तादिकमित्यादि प्रकारद्वयं संभवति तथापि द्विखण्डान्तर्गतमेव तदिति पृथङ् गण्यते । सर्वेषां चैवामपरः समुच्चयः । इति भिन्नपादे यमने प्रभेदाः । एवं तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादि-भागोष्वावृत्तौ भेदा द्रष्टव्याः । सर्वे चैते नियतस्थानविवक्षया स्थानयमकभेदाः । अनियतेषु स्थानेष्वावृत्तेरिति अस्थानयमकभेदा अपि बहवो भवन्तीति प्रभूत-तमभेदं यमकम् । तदेतत्काव्ये गद्गुभूतमिति नास्य लक्षणं कृतम् । दिव्यात्रं तूदाह्रियते । तत्रैकपादाभ्यासे संदंशो यथा—

‘सञ्जारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।

सञ्जारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥’

द्विपदाभ्यासे यमकं यथा—

‘विनौ यमेनोनयतासुखादिना विनायमेनो नयता सुखादिना ।

महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥’

द्वितीयपादे तत्स्थाने । यम्यते बध्यते । रच्यत इति यावत् । एवमग्रेऽपि । स्थानापरिवर्तिनस्तुल्यस्थानाः । अस्थानेति । अनियतस्थानेत्यर्थः । यथा गद्यादौ पादव्यवस्थाहीने । गडुर्ग्रन्थिः । इक्षुदण्ड इवेत्यर्थः । लक्षणमिति । तत्तद्विशेष-

१. ‘ग्रह’ कख. २. ‘सञ्जारीति । हे राजन्, सतीर्नारीर्विभर्ताति । सञ्जारीभरणा तामुमां यातीति यस्तमुमासहितं विधुशेखरं हरमाराध्य ततस्तदाराधनादेव हेतोस्त्वममायो दम्भशून्यः सन्पृथिवीं जयेत्यन्वयः । कीदृशस्त्वम् । सन्ना अवसादं गता अरीणामिमा यत्र तादृशो रणो यस्य स इत्यर्थः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘विनेति । अयं महाजनो विना पक्षिरूपेण यमेन मानसाच्चित्तादरं शीघ्रं यतमानानां सादमवसादं राति ददाति यथा तथा अदीयताखण्डयतेत्यन्वयः । कीदृशेन । एनोऽपराधं विना नयता स्वस्थानं प्रापयता असुखादिना प्राणभक्षकेण । सुखादिना जनयता न्यूनं कुर्वता । कीदृशो महाजनः । महान्तमजं नुदति यागार्थं हिनस्तीति तथा । महमुत्सवमजन्ति क्षिपन्ति ये दुर्जेनास्तत्रोदी तदपसारक इति वा । अन्ये तु—‘विना गरुडाख्यपक्षितुल्येन । जनयता हानिं प्रापयता । सुखादिना सुखभक्षकेण ।’ इति व्याचक्षुः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

श्लोकाभ्यासे महायमकं यथा—

‘सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥
सत्त्वारं भरतोऽवश्यमवलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥’

द्विखण्डेषु भिन्नपादे पादभागाभ्यासेषु द्वितीयपादान्त्यभागस्य चतुर्थपादान्त्य-
भागे यमने संदष्टं यथा—

‘अनन्तमहिमव्याप्तविश्वं वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥’

अस्मिन्नेवाद्यन्तकं पादे यथा—

‘यदानतोऽयदानतो न यात्ययं नयात्ययम् ।
शिवे हितां शिवेहितां सरामि तां सरामिताम् ॥’

प्रथमपादाद्यभागस्य द्वितीयादिपादानामन्त्याद्यभागेषु यमने पूर्वार्धे आद्यन्त-
कमुत्तरार्धे आद्यन्तान्ताद्ययोः समुच्चयो यथा—

‘सरस्वति प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति ।
सरस्वति कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति ॥’

१. ‘सत्त्वारम्भेति । स तु प्रकृतो राजा आरमरिसमूहं सर्वदा सर्वकालं अवश्यं
निश्चितं भरतोऽतिशयेन रणं युद्धमानैषीत्प्रापितवान् । आरं कीदृशम् । अवलं सैन्य-
शून्यम् । विततो विस्तृत आरवः शब्दो यस्य तत् । दीपिकाकृतस्तु—‘द्रवमप्यनैषीदिति
क्रियाविशेषणम् । तेन सैन्यमनपेक्ष्यैव सिंहनादं विस्तार्य समरसंचारं चकारेति
पर्यवस्यति ।’ इत्याहुः । कीदृशः । अलसं मन्दं अवान् अगच्छन् । शीघ्रं गच्छन्नित्यर्थः ।
असि तस्यति उपक्षिपतीत्यस्यितः । सान्तत्वेऽपि ‘अधातोः’ इति निषेधादीर्घत्वाभावः ।
यद्वा ए विष्णौ स्थितः । तत्पर इत्यर्थः । पुनः कीदृश इत्यपेक्षायामाद्यः श्लोकः ।
सत्त्वगुणेन य आरम्भस्तत्र रतः । पुनः कीदृशमारम् । अवश्यमस्तापीनम् । अवलम्बि-
तानि बन्धतया स्वीकृतानि तारवाणि तरुसंबन्धिवल्कलानि येन तत् । ‘तारवं तरुसमूहः’
इति केचित् । ‘तरुधर्मः’ इत्यन्ये । सर्वेषां दारणो यो मानस्तदैषी तदिच्छाशीलो
राजा । तथा दवानलेन समस्तुल्यः स्थितः तेन समं स्थितं स्थितिरस्येति ।
वा शत्रुसंतापकतया दीप्ततमलेन च दावाग्निसाम्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।
२. ‘अनन्तेति । अनन्तेन महिम्ना व्याप्तं विश्वं यया तादृशीं यां दुर्गां वेधा ब्रह्मापि
न वेद तत्त्वतो न जानाति । या च प्रणते मानवे मनुष्ये दयां भजत इत्यन्वयः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । ३. ‘आद्यन्तमेकपादे’ ग. ४. ‘यदानत इति । यस्यां दुर्गाया-
मानतोऽयं जनो नयस्यात्ययं नीतिनाशं न याति न प्राप्नोति । कुतः । अयदानतः अयस्य
शुभावहविषेस्तयैव दानात् । यद्वा अयस्य दानतः खण्डनाद्यो नयात्यय इति योज्यम् ।
तां शिवे कल्याणनिमित्तं सरामि । कीदृशीम् । शिवेन शंभुना ईहितामर्थिताम् ।
हितामनुकूलाम् । शिवे कल्याणे हितामिति वा । तथा सरेण कंदर्पेणामिताम् । अपरि-
च्छिन्नामित्यर्थः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । ५. सरस्वतीति । हे सरस्वति वाग्देवदे, स्वस्ति

द्वयोराद्यन्तान्तादिकयोः समुच्चयो यथा—

‘संसार साकं दर्वेण कंदर्पेण संसारसा ।

शरन्नवाना विभ्राणा नाविभ्राणा शरं नवा ॥’

चतुःखण्डे पादे द्वितीयभागस्य तृतीयभागे यमनं यथा—

‘मधुपराजिपराजितमानिनीजनमनःसुमनः सुरभिश्चियम् ।

अमृत वारितवारिजविष्ठवं स्फुटितताम्रतताम्रवर्णं जगत् ॥’

एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदप्युल्लम् ।

वाच्यप्रभेदभिन्ना यद्युपपद्माषणस्पृशः ।

श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ ७ ॥

‘अर्थभेदेन शब्दभेदः’ इति नयेन भिन्नाः शब्दाः ‘काव्यमार्गे स्वरौ न गण्यते’ इति नयेन युगपदुच्चारणविषयतया यच्छ्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन यत्रार्थद्वयप्रतीतिः स श्लेष इत्यर्थः । अक्षरादिभिरिति वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनभेदादष्टधा श्लेष इत्यर्थः ।

लक्षणमित्यर्थः । अर्थभेदेनेति । सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति प्राचीनमतेनेत्यर्थः । उदात्तादिस्वरभेदे युगपदुच्चारणयोगादाह—काव्येति । तथा च भेदानवभासे एकोच्चारणं दोष इति भावः । ननु कथमेकोच्चारणादनेकशब्दोत्पत्तिः । तदङ्गीकारे चैकस्मात्कपालादेरप्यनेकघटोत्पत्तिः स्यादिति चेदत्राहुः । समवायिभेदापेक्षणाच्चैकस्मात्कपालादेरनेकघटोत्पत्तिः । अत्र तदभावादनेकशब्दोत्पत्तौ न बाधकमिति । अन्ये तु अनुसंधानमात्रं शब्दस्त्वेक एव । मौनिश्लोकादौ तद्भेदासंभवादित्याहुः । श्लेषो द्विधा—समङ्गपदोऽभङ्गपदश्च । तत्रार्थं विभजते—वर्णे-

सुष्ठु अतिशयेन प्रसादं सर गच्छ । प्रसन्ना भवेत्यर्थः । मे मम चित्तरूपे सरस्वति समुद्रे स्थितिं कुरु । सरस्वतीशब्दस्य नदीसामान्येऽपि शक्ततया श्लेषेण तस्याः समुद्रे स्थित्यभिधानम् । कथंभूते । क्षेत्रं शरीरमेव कुरुक्षेत्रं तत्र सरस्वति । सरस्वत्याख्यनदीरूप इत्यर्थः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘संसारेति । शरद्वतुः कंदर्पेण सरेण साकं दर्वेण गर्वेण संसार आजगाम । कीदृशी । सारतं पशं सारसः पक्षिविशेषो वा तत्सहिता । नवानि अनांसि शक्यानि यस्यां स नवानाः । शरं काण्डं विभ्राणा पोषयन्ती । परिपाकं प्रापयन्तीत्यर्थः । शरं काशमित्यन्ये । न विद्यते वीनां पक्षिणां भ्राणः शब्दो यस्यां सा अविभ्राणा एवंभूता न । पक्षिशब्दसहितेत्यर्थः । नवा नूतना ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘मधुपेति । जगत्कर्तुं श्रियं शोभामभृताधारयत् । कीदृशम् । मधुपानां राज्या प्रकृष्या पराजितानि धैर्याच्चावितानि मानिनीजनमनांसि यामिस्तादृशीभिः सुमनोभिः प्रपूयैः सुरभिः । वारितो निवारितो वारिजानां कमलानां विष्ठवो नाशो यत्र तत् । स्फुटितानि विकसितानि ताम्राण्यारक्तानि तनूनि विस्तीर्णान्याभ्राणां बनानि यत्र तत् । अन्ये तु—‘एवंभूताः सुमनसो यत्र तादृशस्य सुरमेर्वसन्तस्य श्रियम्’ इत्येकपदतया

अत्र वर्णश्लेषो यथा—

‘अलंकारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो-

विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।

अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वाभरणो-

र्विधौ वक्त्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥’

अत्र विधावित्यत्र विधिविधुशब्दयोरिकारोकारयोर्भेदाद्वर्णश्लेषः ।

पदश्लेषो यथा—

‘पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।

विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम् ॥’

अत्र पृथुकानां बालानामार्तस्वरस्य पात्रम् । पक्षे पृथु बहुलं कार्तस्वरस्य पात्रं यत्रेत्यादिक्रमेण पदभेदात्पदश्लेषोऽयम् ।

लिङ्गवचनयोः श्लेषो यथा—

‘भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी

ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नतिहितप्राप्तये ।

लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती

युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥’

व्याचक्षते । ‘तादृशसुमनसां सुरभि श्रियं सौरभसंपदमिति तु न युक्तम् । सुरभिपदस्य सौरभविशिष्टे द्रव्य एव काव्ये प्रयोगदर्शनात् न तु सौरभगुणे’ इति दीपिकायाम्’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. अलंकार इति । विधौ चन्द्र एव विधौ दैवे वक्त्रे कुटिल एव वक्त्रे प्रतिकूले मूर्ध्नि मस्तके स्थितवति सति सर्वाभरणोः सर्वदेवश्रेष्ठस्य स्थाणोर्नृहादेवस्यापीयमवस्था भवति । अमी मानुषा वयं पुनः के । कस्यां गणनायामित्यर्थः । अवस्थामाह—अलंकार इति । शङ्काकरं भयजनकं नरकपालमेवालंकारः । विशीर्णाङ्गो भृङ्गी परिजनः । एकः सोऽपि बहु वयो यस्य तथाभूतो जीर्णो वृषो वसु धनमिति । अत्र विधावित्युवर्णवर्णयोः श्लेषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘पृथ्वितपदश्लेषोदाहरणं सप्तमे व्याख्यातम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘भक्तीति । हरेर्नेत्रे तनुर्वा युष्माकं भवस्य संसारस्यार्तेः पीडायाः शमनं कुरुतामित्यन्वयः । किंभूते नेत्रे । भक्तिप्रह्व भक्तिनम्रास्तत्कर्मके विलोकने प्रणयो ययोस्ते । नीलोत्पलस्पर्धायुते । समाधिनिरतैर्हितप्राप्तये ध्यानेनालोकनं (लम्बनं) ययोस्तत्तां नीते प्रापिते । लावण्यस्य महानिधिरूपे । लक्ष्मीदृशोः रसिकतां तन्वती कुर्वन्ने, तनुपक्षे तु—भक्तिप्रह्वैर्नदिलोकनं तत्प्रणयिनी । नीलोत्पलस्पर्धाशीला । ताच्छील्ययोर्निनिः । तनोर्नीलत्वात्स्पर्धा । इहितस्येष्टस्य प्राप्तये ध्यानालोकनतां (लम्बनतां) नीता । महानिधिरिति च्छेदः ‘दूलोपे’ इति दीर्घः । कुरुतामित्यात्मनेपदे लोडेकवचनम् । नेत्रपक्षे परसैपदे तद्विवचनमिति । सोऽयं नपुंसकलीलिङ्गयोर्द्विवचनैकवचनयोश्च श्लेषः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र प्रणयिनी इति स्त्रियां प्रथमैकवचनं नपुंसके तद्विवचनं चेति लिङ्गवचनयोः श्लेषः । एवमग्रेऽप्युक्तम् ।

भाषाश्लेषो यथा—

‘महदे सुरसंधं मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।
हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥’

अत्र प्राकृते ॥

‘मम देहि रसं धर्मे तमोवशामाशां गमागमात् हर नः ।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ॥’

इत्यर्थकानि पदानि । संस्कृतपक्षे तु—महदे उत्सवदे सुरेण संधा संधानं यस्मात्तं आगमाहरणे समासङ्गमव । बहुसरणं संसाररूपं यस्मात्तं चित्तमोहमवसरे उमे हर सहसा इत्यर्थकानि पदानि ।

प्रकृतिश्लेषो यथा—

‘अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि शेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥’

अत्र वक्ष्यतीति बहिवच्योर्लटि कृदिति कृन्ततिकरोत्योः किपि तुल्यं रूपमिति प्रकृतिश्लेषौ ।

विभक्तेर्वैचित्र्यविशेषहेतुतया पृथगुपादानात्प्रत्ययपदं तदतिरिक्तपरम् । तच्छ्लेषो यथा—

‘रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपरासापूर्वसंपत्सहस्रम् ।

१. ‘महदे इति । संस्कृतपक्षे—हे उमे गौरि, मम आगमाहरणे विद्योपार्जने तं समासङ्गमव रक्ष । अवसरे तं चित्तमोहं सहसा हर । आगमाहरणे कीदृशे । महदे उत्सवदायके । संबोधनविशेषणं वैतत् । कीदृशं समासङ्गम् । सुरैर्देवैः संधा संधानं मिलनं यस्मात्तादृशम् । कीदृशं चित्तमोहम् । बहु अनेकधा सरणं प्रसरणं यस्य तम् । बहु सरणं संसारो यस्मादिति वार्धः । प्राकृतपक्षे तु—‘ममं देहि रसं धर्मे तमोवशामाशां गमागमाद् हर नः । हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ॥’ इति संस्कृतम् । रसं प्रीतिम् । तमोवशां तमोगुणायत्तान् । गमागमात्संसारान् । शरणं त्वं भवसीति शेषः । अयं संस्कृतप्राकृतरूपभाषाश्लेषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अयमिति । सामर्थ्यं कृन्तति करोतीति च सामर्थ्यकृद् । वक्ष्यतीति हृदि धारयिष्यति शेषु बुधेषु कथयिष्यतीति च बहिवच्योर्लटि प्रकृतिश्लेषः । तथा कृदिति कृन्ततिकरोत्योः किपि सः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘रजनीति । रजनिरमणश्चन्द्रो मौली यस्य तस्य हरस्य पादपद्मावलोकनमेव क्षण उत्सवस्तत्समये पराप्तं प्राप्तमपूर्वं संपत्सहस्रं यत्र तद्यथा स्यात्तथा अहं जातुचित्कदाचित्प्रमथनिबहमध्ये प्रमथाख्यगणमध्ये उन्विता रुचिः प्रीतिर्दीप्तिर्वा यस्य तादृशो नन्दिता ज्ञन्दकः स्यामित्याशंसा । तथा सा नन्दिता नन्दिनो गणविशेषस्य भावो

प्रमथनिवहमध्ये जातुचित्त्वत्प्रसादा-

दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥'

अत्र नन्दितेति तृचि तलि च रूपम् । तेनाहं नन्दिता नन्दकः स्याम् । तथा सा नन्दिता नन्दिनो भावो मे स्यादित्यर्थः ।

विभक्तिश्लेषो यथा—

‘सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।

नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥’

अत्र हरभवेत्यनयोः संबोधनत्वक्रियापदत्वाभ्यां सुपतिङ्गविभक्त्यन्तत्वम् । एवमायासीत्यादिक्रियापदत्वे च विभक्तिश्लेषः । एवमन्यत्राप्युद्धम् ।

भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

नवमोऽपीत्यभिन्नक्रमः । उदाहरणम्—

‘योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।

शतकोटिदत्तां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥’

अत्रैकार्थमात्रनियतप्रकरणाद्यभावाद्वाच्यार्थो वाच्यावेवेति ‘भद्रात्मनो दुर-
धिरोहतनोः—’ इत्यादिवन्न ध्वनित्वम् । ननु श्लेषस्तावद्विधा सभङ्गपदोऽभङ्ग-

त्यादि । प्रत्ययपदं गोबलीवर्दन्यायेन विभक्तिभिन्नपरम् । द्वितीयमाह—भेदा-
भावादिति । अलंकारसर्वस्वकाराद्युक्तां श्लेषस्य शब्दार्थालंकारत्वव्यवस्थां (दूष)-

मे मम स्यादित्यर्थः । अत्र स्यां स्यादित्युत्तमप्रथमपुरुषयोरनन्दितेति तृत्तलोः प्रत्यययोः
श्लेषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘सर्वस्वमिति । हे हर शंभो, त्वं सर्वस्य सर्वस्वम् । यतो भवस्य संसारस्य
च्छेदे तत्परः । नीत्युपकारयोः सांमुख्यमानुकूल्यमायास्यागच्छसि । कीदृशं सांमुख्यम् ।
तनोः शरीरस्य वर्तनं स्थितिर्येन तादृशम् । यदा नयोपकारयोः सांमुख्यं यत्र
तादृशं तनुवर्तनं शरीरवृत्तिमायासि । सांमुख्यं तनुवर्तनं चायासीति वार्थः । पक्षे
चौरं प्रतीयमुक्तिः । त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर अपहर छेदनतत्परो भव । उपकारसांमुख्यं
नयापसारय । आयासि कष्टशालि वर्तनं जीवनं तनु विस्तारयेति । अन्ये तु—‘सर्वस्वादिकं
हत्वा तथा तपश्चर्यादिकष्टं कारय येन मुक्तिः स्यादिति ‘यस्यानुग्रहं’ इति रीत्या परमेश्वरं
प्रत्येवेयमुक्तिः’ इत्याहुः । अत्र हरेत्यादि ‘सुपतिङ्गविभक्त्योः श्लेषः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘य इति । स विबुधेन्द्रः पण्डितश्रेष्ठो राजा राजते । योऽसकृदनेकवारं परगो-
त्राणां शत्रुवंशानां पक्षस्य सहायवर्गस्य च्छेदे क्षणेनैव क्षमः समर्थः । छेदरूपे क्षणे
उत्सव इति वा । शतकोटीर्ददातीति तथा तत्तां बिभ्रद्भारयन्नित्यर्थः । इन्द्रपक्षे तु—
विबुधेन्द्रो देवराजः । परगोत्राणां श्रेष्ठगिरीणाम् । पक्षच्छेदः पतत्रच्छेदः । शतकोटिना
वज्रेण घति खण्डयतीति तथा तत्तामित्यर्थः । अयं चाभङ्गश्लेषः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

पदश्च । तत्राद्यः शब्दश्लेषः स्वरितादिगुणभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया भिन्नानां शब्दानां बन्धे जतुकाष्टन्यायाच्छब्दयोरेव शिष्टत्वात् । द्वितीयस्वर्थश्लेषः स्वरितादिगुणाभेदादेकप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दभेदाभावादेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थयोरेव शिष्टत्वात् । यद्यपि 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति नयेन द्वितीयेऽपि शब्दस्य भेदस्तथाप्युपपत्त्या शब्दभेदप्रतीतावप्येकताध्यवसायान्नास्ति शब्दभेदः । 'स एव निरवकाशतया सर्वालंकारबाधक इत्यलंकारान्तराणां प्रतिभाभात्रमुत्पादयति न तु तत्पर्याप्तिम् । यथा—

‘स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी ।

प्रभातसंध्येवास्वापफललुब्धे हितप्रदा ॥’

अत्र पूर्वार्धेऽभङ्गपदः द्वितीयार्धे सभङ्गपदः श्लेषः । द्वयमप्युपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः । साधर्म्याभावेन तस्याः प्ररोहाभावात् । यदुक्तम्—

‘एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रताम् ।

स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्ट इहोच्यते ॥

अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः ।

द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम् ॥’ इति ।

इतरालंकारबाधकतां च दूषयितुं तन्मतमुपन्यस्यति—नन्वित्यादिना । निरवकाशतयेति । अयमर्थः—श्लेषस्त्रिप्रकारः—प्रकृतानेकार्थविषयः, अप्रकृतानेकार्थविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकार्थविषयश्चेति । तत्राद्ये प्रकारद्वये तुल्ययोगितालंकारः । ‘नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता’ इति तल्लक्षणात् । नियतानामित्यस्य प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वेत्यर्थः । तृतीये दीपकम् । ‘सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्’ इति तल्लक्षणात् । एवं चालंकारद्वयेन श्लेषविषयस्य सर्वस्य व्यापनादलंकारान्तरेण च तत्र तत्र व्यापनाभिरवकाशः श्लेषः स्वविषये सर्वालंकारबाधक इति तेषां प्रतिभाभात्रम् । तत्त्वतस्तु श्लेष एव तत्रालंकार इति । तत्रोपमाप्रतिभानमात्रहेतुं श्लेषमुदाहरति—यथेति । कुतः प्रतिभानमात्रं तत्राह—साधर्म्येति । उक्तार्थे ग्रन्थसंमतिमाह—यदुक्तमिति । आद्यपादेनाभङ्गशब्दोक्तिः, द्वितीयेन सभङ्गोक्तिः । भिन्नैः स्वरितादिगुणैस्तच्छायाभेकप्रयत्नोच्चार्यसादृश्यं विभ्रतामित्यन्वयः । एतादृशानां शब्दानां बन्धः श्लिष्ट उच्यते । तद्वन्धे श्लेषालंकार इत्यर्थः । एवं सभङ्गाभङ्गरूपद्विविधैः पदैरलंकारान्तरविषयां प्रतिभां जनयदर्थत्वाव्यमर्थशब्दोक्तिभ्यां विशिष्टमर्थश्लेषशब्दश्लेष-

१. ‘स्वयं चेति । न केवलं स्वामिसापेक्षतयैव फलप्रदा गौरी किंतु स्वयं च स्वयमपि अस्वापे दुष्प्रापे फले लुब्धानामिष्टप्रदेत्यर्थः । केव । प्रभातसंध्येव । कीदृशी । पल्लवा-ताम्रौ पल्लवारूपौ भास्वनौ कान्तियुतौ करौ हस्तौ ताभ्यां विराजिता शोभिता । संध्या तु तादृशैर्भास्वतः सूर्यस्य करैः किरणैर्विराजिता । तथा अस्वापस्तदानीं निद्राभावस्तत्फलं लक्ष्मी-रामस्तात्र लुब्धे जने हितप्रदेत्यर्थः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

द्विविधोऽप्यलंकारसर्वस्वकारादिभिरर्थाश्रितत्वेनार्थालंकारमध्ये पठितस्तत्कथं शब्दालंकारमध्ये पठ्यते इति । उच्यते—दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । यत्र हि पर्यायान्तरपरिवृत्तिसहत्वं नास्ति तस्य शब्दगतत्वम्, यत्र तु तत्सहत्वं तत्रार्थगतत्वम् । यथा कष्टत्वादयो दोषाः, गाढत्वादयो गुणाः, अनुप्रासादयोऽलंकाराः शब्दगताः । पर्यायान्तरेण तदर्थोपस्थापने तेषामसंभवात् । उदाहृते च ‘स्वयं च पल्लव-’ इत्यादौ द्वयोरप्यर्थयोः शब्दपरिवृत्तिसहतया द्वयोरपि शब्दालंकारत्वमेवोचितम् । न त्वाद्यस्याप्यर्थालंकारत्वम् । नन्वेवमर्थश्लेषः किं नास्त्येव । क एवमाह । कस्तर्हि तस्य विषयः । यत्र पदपरिवर्तनेऽपि न श्लेषभङ्गः । यथा—

‘स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥’

अत्र स्तोकेनेत्यादिपदस्थानेऽल्पादिपदप्रक्षेपेऽपि न श्लेषभङ्गः । यच्चोक्तम्— ‘स्वयं चेत्यादावुदाहृते उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः’ इति तदप्ययुक्तम् । प्रत्युतोपमैवात्र श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुः । तद्बाधकत्वात् । तथाहि साधर्म्याभावेनोपमायाः प्ररोहाभावादेव तावन्नोपमा बाध्या । यतः ‘कैमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचित्तराम्’ इत्यादौ मनोज्ञत्वस्य गुणस्य दीप्तिरूपायाः क्रियाया वा उभयोर्वा साम्ये यथोपमा निर्वहति तथा ‘सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव’ इत्यादावपि शब्दमात्रसाम्येनापि सा युक्तैव । साधर्म्यमात्रस्योपमाप्रयोजकत्वात् । तस्य चार्थरूपस्येव शब्दरूपस्याप्यविशेषेण संभवात् । तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

शब्दाभिधेयं प्रतीयतामिति योजना । कथं तर्ह्यर्थालंकारमध्ये सभङ्गस्य कैश्चिद्विस्तृताह—अर्थाश्रितत्वेनेति । अर्थद्वयप्रतीत्यर्थत्वेनेत्यर्थः । सिद्धान्तमाह— उच्यते इत्यादिना । तत्रादौ शब्दालंकारमध्ये स्वयमुक्तस्यार्थालंकारत्वं विरुद्धमित्यतस्तद्वृत्तयति—दोषेति । गाढत्वमोजोव्यञ्जकगाढबन्धत्वम् । व्यर्थत्वमपुष्टता । प्रौढत्वमर्थस्यौजःप्रौढिः पञ्चधोका । प्ररोहाभावादिति । प्रसक्तस्य हि बाधः । न च साधर्म्याभावे उपमाप्रसक्तिस्तद्रूपत्वात् । तावदिति । वक्ष्यमाणदूषणकथनात्पूर्वम् । अयं हेतुवृत्तावनुक्तः स्वयमुक्तः । वृत्त्युक्तं हेतुमाह—यतो युक्तैवोपमा ततः श्लेषबाधकत्वात्तत्प्रतिभामात्रहेतुर्न तु श्लेष इति योजनीयमिहापि । इहापि

१. ‘स्तोकेनेति । उन्नतिरुन्नतत्वमभिमानश्च । अधोगतिरधोगमनं पादपतनादि च । तुला सुवर्णादिगुरुत्वपरिच्छेदकपदार्थः । तस्याः कोटिः शिरः । शलाकेति चण्डीदासः । दण्ड इत्यन्ये । अयं च शब्दपरावृत्तिसहत्वादर्थश्लेषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘कमलमिवेति । कचति दीप्यते । ‘कच दीप्तौ ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘सकलेति । कलकलः कोलाहलस्तत्सहितं पुरम् । बिम्बं तु सकलाः कला यथेति तादृशम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किं तु ।

आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ॥’ इति ।

अथात्र साधर्म्यसंभवेऽपि नोपमा । साधारणधर्मप्रयोगशून्यो हि ‘कमल-
मिव मुखम्’ इत्येतावन्मात्रादिरुपमाविषयः । अत्र तु शब्दरूपसाधारणधर्म-
प्रयोग एवेति वैयाख्याद्वक्तव्यं तदपि न युक्तम् । पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः ।
साधारणधर्मप्रयोगे उपमात्वाभावात् तदप्रयोगे त्वपूर्णत्वात् । तदेतदुक्तम्—न
च कमलमिव मुखमित्यादि । साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं
युक्तम् । पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेरिति । केचित्पुनस्तदन्यथा व्याचक्षते—
तथा हि यत्र साधारणधर्मोद्धारेऽप्युपमा संभवति प्रसिद्धत्वात्स उपमाविषयो
न चात्र तथेत्याक्षेपार्थः । अयं पूर्णोपमाविषयो न स्यादिति । यद्वा श्लेषस्यो-
पमाबाधकत्वायैतदङ्गीक्रियते तथा श्लेषस्योपमाबाधकत्वे पूर्णोपमा निर्विषयैव
स्यात् । ‘कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्’ इत्यत्र मनोज्ञत्वस्य संबन्धिभेदाज्ञाना-
त्वेनार्थश्लेषस्वीकारादिति समाधानार्थः । नन्वेवं श्लेषस्य निर्विषयत्वम् असंकीर्ण-
स्थलाभावादिति चेत्, न ।

‘त्वमेव देव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।

त्वं चामरमरुद्भिरिको लोकत्रयायसे ॥’

इत्यादावलंकारान्तरासंकरात् । तथाहि—न तावदत्रोपमा । इवाद्यप्रयो-

सकलकलमित्यादावपि । तथा हि यदि शब्दसाम्येनोपमा नेत्युच्यते तदा ‘यथा
प्रह्लादनाम्बुद्रः प्रतापात्तपनो यथा । तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥’
इत्यादौ चमत्कारितया प्रतीयमान उपमालंकारोऽनुपपन्न एव स्यादतो नायं नियमो
युक्त इति । वैयाख्यादिति । अनुभूयमानाया उपमाया निषेधो निर्बीज इति
धार्ष्ट्यमात्रमेतदित्यर्थः । पूर्णेति । उपमानोपमेयसाधारणधर्मवाचकेवादिप्रयोगे हि
पूर्णोपमेति कथ्यते । तत्र धर्मप्रयोगे उपमानङ्गीकारे तद्विशेषरूपा पूर्णोपमा निर्वि-
षयैव स्यादित्यर्थः । संभवतीति । प्रतीयत इत्यर्थः । स इति । चन्द्र इव मुख-
मित्यादिरित्यर्थः । अत्र सकलकलमित्यादौ । दूषणग्रन्थार्थमाह—अयमिति । चन्द्र
इव मुखमित्यादिरित्यर्थः । अङ्गीकृतापादनस्यायुक्तत्वात्पक्षान्तरमाह—यद्वेति ।
सर्वत्रोपमायामाह्लादकत्वमनोज्ञत्वादिसाधारणधर्मस्य संबन्धिभेदेन भिन्नत्वादानेकार्थ-
श्लेषस्यैव प्रसक्तेस्तस्य चालंकारान्तरबाधकत्वाङ्गीकारान्निर्विषया पूर्णोपमा स्यादित्यर्थः ।
अत्र चोदक्षरल(?)मेवास्वरसः । यदुक्तं श्लेषस्यालंकारान्तरविचित्रविषयाभावा-
च्चिरवकाशत्वेनालंकारान्तरबाधकत्वमिति तदुपन्यस्य दूषयितुमाह—नन्वेवमिति ।

१. ‘वैयाख्या’ क.ख. २. ‘त्वमेवेति । हे देव विष्णो, त्वमेव पातालम् । आशानां
दिशां त्वं निबन्धनं यमनस्थानम् । अमराणां मरुद्रूपा भूमिः स्थितिहेतुः । देवानां वायोरुपर्येव
स्थितेः । लोकत्रयात्मको भुवनत्रयात्मक इत्यर्थः । राजपक्षे—अलं पाता रक्षिता । आशानां
मनोरथानां निबन्धनं कारणम् । चामरसंबन्धिपवनभाजनम् । पालकवदान्यभोक्तृलक्षणजनत्र-
यात्मक इति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

गात् । नापि तुल्ययोगितादीपके । नापि पातालादिना रूपकं वाच्यम् । व्यङ्ग्यस्य तस्य संभवेऽपि वाच्यापेक्षयैवासंकरगवेषणमिति । किं च 'येन ध्वस्त-
मनोभवेन' इत्यादौ नास्त्येव किंचिदलंकारान्तरमित्युपमाश्लेषयोर्विभक्तोदाह-
रणसंभवाद्वाध्यबाधकभावानुपगमे द्वयोर्योगे संकर एवेति वरमभ्युपगन्तव्यम् ।
उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवायं विषयो न श्लेषस्येत्युक्तमेव । उपपत्तिश्ले-
षम्—व्यपदेशाः प्राधान्ये न संभवन्तीति वस्तुस्थितिः । प्रधानं चात्रोपमा ।
श्लेषस्य तन्निर्वाहकस्य तदङ्गत्वात् । नहि श्लेषं विना समानशब्दवाच्यत्वलक्षणं
साधर्म्यमुपमानिर्वाहकं निर्वहति । उपमा तु न श्लेषाङ्गम् । श्लेषप्रतीतिं विना
तत्प्रतीत्यभावेन तदनुपकारकत्वादिति । यदि चोपमाव्यवहारवारणाय साधा-
रणधर्मप्रयोगाशून्य उपमाविषय इति स्वीकर्तव्यं तदा पूर्णोपमाया निर्विषयत्व-
मेव स्यादिति । तदेतदुक्तम्—'अन्यथा पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः' इति ।
न केवलमुपमाया एव श्लेषबाधकत्वं किं त्वलंकारान्तरस्यापि । 'अविन्दुसुन्दरी
नित्यं गलल्लावण्यविन्दुका' इत्यत्र विरोधालंकारस्य । नल्लावण्यप्रतिपादक-
शब्दस्य श्लेषः । विन्दुसाहित्यरूपस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिभामात्रविषयस्य प्ररोहा-
भावात् । नन्वप्ररूढोऽपि श्लेषालंकार आस्तां विरोधाभासवदिति चेत्, भवेदे-
वम् यदि विरोधाभासस्य विरोधित्वमिव श्लेषाभासस्य श्लेषत्वमनुमतं कस्यापि
भवेत् । न त्वेवम् । तस्मादेवंविधे विषये श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलंकारान्तरं प्राधा-

व्यङ्ग्यस्य तस्येति । लोकत्रयात्मकरूपकस्य वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गम् । पातालादि-
रूपकं व्यङ्ग्यमेव । पातालादेरप्रकृतत्वादिति भावः । इत एवास्तरसादाह—
किं चेति । नास्त्येवेति । न चात्र माधवोमाधवयोः प्रकृतयोर्गेन ध्वस्त-
मित्यादिसकृद्धर्मोक्तस्तुल्ययोगितालंकार इति शङ्कनीयम् । पृथगुपात्ततया भेदेन
प्रतीयमानयोरेकस्मिन्वाक्ये सकृद्धर्मोक्तौ हि तुल्ययोगिता । यथा—'पाण्डुक्षामं
वदनं सरसं हृदयं तवालसं च वपुः । आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि
हृदन्तः ॥' इत्यादौ वदनादीनां रोगावेदकरूपधर्मस्य सकृदुक्तिरिति । अत्र तु
माधवोमाधवयोः सकृदुपात्तयोर्न भेदप्रतीतिरिति न धर्मस्य साधारण्यप्रतीतिः ।
आवृत्त्या तु धर्मिप्रतीतौ धर्मवाचकस्याप्यावृत्तेर्न सकृत्वम् । प्रतिवस्तूपमा तु
वाक्यद्वये भेदेन धर्मद्वयोक्तौ भवतीति न तस्या अप्ययं विषय इति विविक्त एवायं
श्लेषविषय इति ज्ञेयम् । संकर एवेति । द्वयोरपि विविक्तविषयत्वेन बाध्य-
बाधकत्वायोगादेकत्र समप्राधान्येन मिलनमित्येव युक्तमित्यर्थः । अज्ञाज्ञित्वसंकरस्य
वक्ष्यमाणत्वे यथाश्रुतासंगतेः । वस्तुतस्तु श्लेषस्योपमाज्ञित्वाच्च समप्राधान्यं किं
तूपमैव प्राधान्येनेत्याह—उपपत्तीति । श्लेषव्यतिरेके श्लेषमूलके व्यतिरेकालं-

१. 'अविन्दिति । अप्सु प्रतिबिम्बित इन्दुरविन्दुस्तद्वत्सुन्दरी । गलन्तो लावण्यस्य
विन्दुका यस्या इत्युपेक्षागर्भम्, अविन्दुर्विन्दुशून्या गलद्विन्दुका चेति विरोधः ।'
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

न्यात् । तथा च 'सद्वंशमुक्तामणिः' इत्यत्र परम्परितश्छिष्टरूपके रूपकं प्रधानम् । वंशशब्दे श्लेषस्तु वेणुकुलयो रूपकोपयोगितया तदङ्गमिति श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतु रूपकमेव व्यपदेश्यम् । 'नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान्भवान्' इत्यत्र श्लेषव्यतिरेके व्यतिरेके एव प्रधानं श्लेषस्तु तन्निर्वाहक इति तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुर्व्यतिरेकः ।

‘अनुरागवती संध्या दिवसस्तपुरःसरः ।

अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥’

इत्यत्र समासोक्तिरलंकारः । अभिधाया नियमने श्लेषस्यासंभवात् ।

‘आदाय चापमचलं कृत्वाहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।

यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्गीभ्रमस्तस्मै ॥’

इत्यत्र विरोध एवालंकारः श्लेषस्तु तदङ्गमात्रम् । अपरोहात् ।

‘कवीनां संतापो भ्रमणमभितो दुर्गतिरिति

त्रयाणां पञ्चत्वं रचयसि न तच्चित्रमधिकम् ।

चतुर्णां वेदानां व्यरचि नवता वीर भवता

द्विषत्सेनालीनामयुतमपि लक्षं त्वमकूथाः ॥’

अत्र मदीये पद्ये काव्यलिङ्गस्य श्लेषोऽङ्गमिति श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुः काव्यलिङ्गम् । तस्मादलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष इति रिक्तं वचः । किं च ‘प्रभातसंध्येव’ इत्यादौ शब्दश्लेषस्यार्थालंकारत्वमिति वचनं भवतां विरुद्धम् । शब्दानाश्रितत्वे तेन व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात् । अपि च यस्य वैचित्र्यं कवि-

कारे । कवीनामिति । अभितो भ्रमणं याचनाय । पञ्चत्वं नाशं पञ्चसंख्यां च । नवता उच्छिन्नसंप्रदायस्य पुनरुज्जीवनाञ्जतनता नवसंख्यता च । लक्षं संख्याविशेषं लक्ष्यं च । त्रयाणां पञ्चत्वकरणं न चित्रमित्यर्थः । चतुर्णां नवत्वकरणस्य अयुतलक्षीकरणस्य च हेतुत्वेन विवक्षणात्काव्यलिङ्गमलंकारस्तत्र श्लेषोऽङ्गम् । शब्दानाश्रितत्व इति । सति सप्तमीयम् । एवं च प्रकृते शब्दाश्रितत्वाद्भवद्विश्वाश्रयाश्रयिभावस्यैव लोक इव शब्दार्थालंकारव्यपदेशवीजत्वेनाभ्युपगमात्तद्वि-

१. ‘नाल्प इति । अल्पः क्षुद्रः । ‘पद्ये यशसि च श्लोकः’ इति कोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अनुरागेति । अनुरागः स्नेहो लौहित्यं च । पुरःसरोऽग्रागामी संमुखश्च । समागमो मिलनं स्त्रीपुंससंगमश्च ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘आदायेति । यो विषमदृष्टिश्चिलोचनोऽचलं हिमाचलस्वरूपं धनुरादाय अहीनं सर्पराजं गुणं मौर्वीं कृत्वा अच्युतो नारायणः शरो यस्य तादृशो लक्ष्यं त्रिपुररूपमभाङ्गीभ्रजितवान् तस्मै नम इति मुख्योऽर्थः । अचलं चलनशून्यं धनुः । हीनो जीर्णः अथवा अहीनो धनुर्दण्डान्यूनपरिमाणो गुणः । विषम लक्ष्यादन्यत्र निहिता दृष्टिः । अच्युता अनिर्गताः शराः लक्ष्यभङ्गक्षेति विरोधाभासः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. अयं श्लोक उदाहरणचन्द्रिकायां न व्याख्यातः.

प्रतिभासंरम्भगोचरः स एवालंकारस्थानम् । 'स्वयं च पल्लवाताम्र-' इत्यादौ शब्दवैचित्र्यमेव तादृक् । तस्यैव कविप्रतिभयोद्भूतनादिति शब्दालंकारत्वमेवोचितम् । ननु श्लेषोऽर्थमुखप्रेक्षकः । नार्थप्रतीतिं विना श्लेषस्य चमत्कारित्वं संभवो वेत्यर्थालंकारत्वं श्लेषस्येति चेत्, न । एवं ह्यनुप्रासस्याप्यर्थालंकारत्वं स्यात् । रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यसव्यपेक्षत्वेन ह्यनुप्रासस्यालंकारता । अन्यथा वृत्तिविरोधादिदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् । किंचैवं शाब्दयोगुणदोषयोरप्यार्थत्वं स्यात् । तयोरप्यर्थोपेक्षयैव तथाभावात् । शृङ्गारादौ हि माधुर्यादिगुणः कष्टत्वादिदोषो वा । यच्चोक्तम् 'एकप्रयत्नोच्चार्यशब्दवत्त्वेऽर्थश्लेषत्वम्' इति, तदप्युक्तम् । 'विधौ वक्त्रे-' इत्यादौ वर्णादिशब्दभेदेऽप्यर्थश्लेषत्वापत्तेरित्यादि स्वयमपि विचार्यम् ।

चित्रं लक्षयति—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खङ्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८ ॥

यद्यपि वर्णानामाकाशगुणानां खङ्गाद्याकृतिहेतुत्वमसंभवि तथापि विन्यस्तवर्णानुमापिका लिपयः संनिवेशविशेषवत्त्वेन यत्र खङ्गाद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रमिति विवक्षितम् । तर्हि लिपिनिष्ठत्वाच्छब्दालंकारत्वं न स्यादिति चेत्, न । तादृशवर्णविन्यासं विना तादृशल्लिपिविन्यासाभावात् । शब्दान्वयव्यतिरेकयोरभन्नत्वात् । लिपेर्वर्णाभेदस्य लोकप्रसिद्धिमाश्रित्य शब्दालंकारत्वमिति कश्चित् । तथापि शृङ्गारादिरसानुपकारकस्य कथमलंकारकत्वमिति चेत्, कविनैपुण्यवशेन विस्मयोपकारकत्वादिति गृहाण । श्लेषनिर्वाहं चैतत् । न च तादृशरसोपकारकमिति दिव्यान्नुदाह्रियते ।

तत्र खङ्गबन्धो यथा—

‘मारारिशक्रामेभमुखैरासाररंहसा ।

सारारब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥

रुद्धमिदमभिधातुमित्यर्थः । रसादिव्यञ्जकेति । आदिना भावादिसंग्रहः । रसादिव्यञ्जकस्वरूपं यद्वाच्यं तत्सापेक्षत्वेनेत्यर्थः । शृङ्गारव्यञ्जकार्थ...विअधे (?) तदनुगुणवैदर्भाख्यावृत्त्यनुगुणो ह्यनुप्रास उच्यते । एवं वीरादौ गौडी वृत्तिरिति तदनुगुण इत्यर्थः । वृत्तिवैदर्भादिरीतिः । स्वयमपीति । न तु परोक्तत्वेनैव द्वेषः कार्य इति भावः । शब्दान्वयेति । ताभ्यामेव शब्दालंकारत्वस्य व्यवस्थापितत्वादिति भावः । आश्रयाश्रयिभावस्याव्यस्थापकत्वं पूर्वोक्तमेव कश्चिदित्यरुचिबीजम् । कविनैपुण्येति । तथा च रसजन्यविस्मयाख्यचमत्कारातिशयप्रयोजकत्वादद्भुतरसोपकारकत्वाद्वालंकारत्वोपपत्तिरित्यर्थः । न च तादृशमिति । क्लिष्टतयार्थाऽनुन्दर-

१. 'मारेति । उमा मे शं कल्याणं दिश्यादृषादित्यन्वयः । कीदृशी । मारारिः शंभुः (शक्र इन्द्रः) रामो बलभद्रः इभमुखो गणेशः एतैरासाररंहसा भारासंपाततुल्यवेगेन सार उत्कृष्ट आरब्धः स्तवः स्तोत्रं यस्याः सा । अत एव नित्यं तेषामार्तिहरणे क्षमा ।

माता नतानां संघट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमाद्रिजा ॥'

न्यासो यथा—ताडिकायां प्रथमं माशब्दं विन्यस्य तदूर्ध्वमारोहक्रमेणैकस्यां धारायां चतुर्दशवर्णान्, अग्रे छिष्टं सेति वर्णम्, ततोऽपरधारायामवरोहक्रमेण चतुर्दश, मेति प्रथमेन माशब्देन छिष्टम्, तदक्षिणपार्श्वं लिङ्गमणक्रमेण सप्त, वामपार्श्वं प्रवेशक्रमेण सप्त, ततो माशब्दौ छिष्टौ, एषा अद्रिका । माशब्दादधः क्रमेण वर्णत्रयम् । एषा गण्डिका । तदधो मेति । तदक्षिणपार्श्वं लिङ्गमणक्रमेण चतुष्टयम्, वामपार्श्वं प्रवेशक्रमेण चतुष्टयम्, ततो माशब्दः छिष्टः । एतद्गुणनकम् । ततो माकारादधः शेषवर्णद्वयं न्यसेत् । एतन्मस्तकमिति ।

मुरजबन्धो यथा—

‘सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।
वारलाबहुलामन्दकरला बहुलामला ॥’

तया च रसिकवैमुख्याधायकत्वादिति भावः । ताडिकायामिति । खड्गमूर्ध्वमुखं लिखित्वा मध्ये रेखयावच्छेदं कृत्वा मूले जघनस्थाने एककोष्ठं विधाय ताडिकापेटिकादिशब्दवाच्ये तस्मिन्माशब्दं विरच्य-(चय्य) तदूर्ध्वमारोहक्रमेणैकस्यां धारायां चतुर्दशवर्णान्विन्यसेत् । मुखे त्रिकोणाकारे सेति वर्णं छिष्टं न्यसेत् । ततोऽपरधारायां रारब्धेत्यारभ्य क्षेत्रान्तं चतुर्दश वर्णान्विन्यसेत् । सेति ताडिकास्थं छिष्टम् । अग्रेऽपि तदेवास्ति । ततस्ताडिकाया दक्षिणतो निर्गमनक्रमेण प्रादक्षिण्येन माता नतानामित्यादि षट् इत्यन्तं सप्ताक्षराणि न्यस्य वामतः प्रवेशक्रमेण प्रादक्षिण्येनैव क्षेत्रान्तं सप्त विलिखेत् । इयं मुद्रिकेत्युच्यते । मेति ताडिकास्थमेव छिष्टम् । एवमग्रेऽपि तदेव । ततस्ताडिकाया अधस्तने दीर्घकोष्ठे गण्डिकाख्येऽवरोहक्रमेण सीत्यन्तं वर्णत्रयं विन्यस्य तदधस्तनकोष्ठे माशब्दं न्यसेत् । तदक्षिणतो निर्गमनक्रमेण वर्णचतुष्टयं वामतश्च प्रवेशक्रमेण चतुष्टयम् । माशब्दः छिष्टः । एतद्गुणनकमित्युच्यते । तस्मादधः शेषं वर्णद्वयं द्विजेति । ‘दिमा’ इति पाठे तु दीत्येतन्मात्रं विन्यसेत् ।

भानतानां जनानां माता । संघट्टेन लोकविमर्देन श्रीः संपत्तिर्वेषां तादृशानां महिषासुरप्रभृतीनां बाधितः संभ्रमः संरम्भो यथा सा । यद्वा श्रियां संघट्टः संमेलनस्थानम् । बाधितः संभ्रम उद्वेगो यस्या इत्यर्थः । मान्या । रामाणां सीमा अवधिः । आदिमा पुरातनी । अद्रिजेति वा पाठः । युग्मम् । अयं खड्गबन्धः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘सरलेति । प्रकान्तवर्णना शरदत्र विशेष्यते । सरला मेघादिकौटिल्यरहिता । बहुलैरारम्भैस्तरलानामलिबलानां अमरसैन्यानामारवः कोलाहलो यस्यां सा । वारला हंसो बहुला यस्यां तामिवा बहुला । अमन्दा उडुक्ताः करं लान्ति गृह्णन्तीति करला राजानो यस्यां सा । अबहुले शुक्लपक्षेऽमलाः तद्दमला वा । मुरजबन्धः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अथ न्यासः—प्रथमपादस्य वर्णाष्टकं पङ्क्तिमेणाभिलिख्य तेषामधोऽधोऽपरपादत्रयवर्णान्पङ्क्तिमेण विलिखेत् । तत्र चैतच्छ्लोकोत्थापनमार्गेण रेखायां दत्तायां मुरजाकारता भवति ।

पद्मबन्धो यथा—

‘भासते प्रतिभासार रसाभाताहताविभा ।

भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥’

अस्य न्यासः—कर्णिकायां भा इति, पूर्वपञ्चे निर्गमक्रमेण सते इति, आग्नेयपञ्चे प्रवेशनक्रमेण प्रति इति, ततो भेति कर्णिकास्थलस्थं श्लिष्टम् । ततो दक्षिणपञ्चे निष्क्रमणक्रमेण सारेति वर्णद्वयं ततस्ताभ्यां कर्णिकास्थेन वर्णेन प्रवेशक्रमेण श्लिष्टं रसामेति वर्णत्रयम् । एवमग्रेऽपि दिक्पञ्चस्य कर्णिकायाश्च वर्णाः सर्वत्र श्लिष्टा इति ।

सर्वतोभद्रं यथा—

‘रैसासार रसा सारसायताक्षक्षतायसा ।

सातावात तवातासा रक्षतस्त्वस्वतक्षर ॥’

अस्य पादचतुष्टये पूर्ववत्पङ्क्तिचतुष्टयेन लिखिते प्रतिश्लोमादिपाठेन स एव श्लोकः । संभविनोऽप्यन्ये भेदा न दर्शिताः । एते हि शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधति अतिनीरसत्वादिति ।

माशब्दस्तूपरितन एव श्लिष्ट इति । पङ्क्तिक्रमेणेति । तिर्यक्पङ्क्तिरूपेणेत्यर्थः । तत्र चैतदिति । ऐशानीतः पश्चिमपर्यन्तं पञ्च वर्णान् बहु इत्यन्तान्वाचयेत् । तत आग्नेयकोणान्तं त्रीनित्येकः पादः । ततो द्वितीयपङ्क्तिमुवीचीमारभ्य तृतीयपङ्क्त्वादिपर्यन्तं प्रादक्षिण्येन द्वितीयः । ततो दक्षिणतो द्वितीयपङ्क्त्यन्तवर्णमारभ्य वामावर्तेन तृतीयपङ्क्त्यन्तं तृतीयः । ततो वायुकोणान्तं चतुर्थपङ्क्त्वादिगतं कवर्णादिपञ्चकं प्राचीपर्यन्तमारोहक्रमेण ततोऽवरोहक्रमेण नैर्ऋत्यन्तं वर्णत्रयं चतुर्थपङ्क्त्यन्तमिति क्रमो

१. ‘भासत इति । प्रतिभया सारप्रज्ञया श्रेष्ठ राजन्, ते तव सभा भासते । कीदृशी । रसेनाभाता शोभिता । रसिकेत्यर्थः । अहता अप्रतिहता (आ समन्तात्) विभा दीप्तिर्यस्याः सा । भावितश्चिन्तित आत्मा परमात्मा यया सा । वादे शुभा निपुणा अत एव देवाभा देवतुल्या । बत हर्षे विसर्ग्ये वा । अयं पद्मबन्धः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘रसेति । हे रसासार पृथिव्यां श्रेष्ठ राजन्, रक्षतस्त्व रसा तु पृथिवी पुनः क्षतायान् खण्डितशुभावहविधीन् दुर्जनान् सति नाशयतीति क्षतायासा । ‘पोऽन्तर्कर्मणि’ इति धात्वनुसारात् । तथा अतासा न विद्यते तास उपक्षयो यस्याः सा अस्तु । ‘तद्मु उपक्षये’ धातुः । तथा सारसं पञ्चं तद्दायताक्षेति संबोध्यविशेषणम् । तथा सातं नाशितमवातमज्ञानं येन तादृश । वातेर्गत्यर्थतया ज्ञानार्थत्वात् । एवं तक्षं तनूकरणं राति ददातीति तक्षरः । अतादृश । ‘तक्ष तनूकरणे’ । अयं सर्वतोभद्रबन्धः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।

एकार्थतेव

एकार्थतेति एकार्थत्वावभासयोग्यशब्दतेत्यर्थः । एतच्च यमकलाटानुप्रास-
योरतिव्यापकमतो विशिनष्टि—विभिन्नाकारशब्दगेति ।

स चायं द्विविधः—शब्दमात्रस्य शब्दार्थयोश्च । तयोराद्यमाह—

शब्दस्य

शब्दमात्रस्येत्यर्थः । अयमपि द्विधा—सभङ्गशब्दनिष्ठोऽभङ्गशब्दनिष्ठश्च ।
तयोराद्यो यथा—

‘अरिवधदेहशरीरः सहसारथिसूततुरगपादातः ।

भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥’

अत्र देहशरीरशब्दयोः पुनरुक्तवधीः । सभङ्गौ च तौ । अरिवधदा ईहा
यत्र तादृशान् शरिण ईरयतीत्यर्थकत्वात्, एवं सारथिसूतशब्दयोः । सहसा
हटेन रथिना सुष्ठु उतं तुरगपादातं यस्येत्यर्थकत्वात्, दानत्यागयोश्च सदा नत्या
भाति स्थिरतायामगः पर्वत इवेत्यर्थकत्वात्, सभङ्गः पुनरुक्तवदाभासः ।
शब्दमात्रालंकारत्वं चोभयोरपि शब्दयोः पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वात् ।

अभङ्गशब्दनिष्ठो यथा—

‘चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।

तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥’

अत्राङ्गनारामाशब्दयोः रुच्यर्थकतया पुनरुक्तधीः । वस्तुतस्तु अङ्गने आर-
मन्ति अङ्गनानामारामा इति वार्थ इति न पुनरुक्तिः । न चात्र सभङ्गः ।

बोध्यः । पद्मबन्धः सर्वतोभद्रं च सुगमम् । चकासतीति । अङ्गनासु रमन्ते
तादृशाः । कौतुकेन काव्यादिचर्चया आनन्दहेतवः सुष्ठु मनो येषां त इत्यर्थः ।

१. ‘अरीति । अवनितिलको राजा सदानत्या सतामानत्या सदा अनत्या धुद्रेष्वनत्र-
तया वा भातीत्यन्वयः । कीदृशः । अरिवधदा ईहा चेष्टा येषां तान् शरिणः शरयुक्तान्
योधान् ईरयति प्रेरयतीति तथा । अरिवधदेहं शरीरमस्येति व्याख्यातमयुक्तम् । तथा
सति शरीरपदस्य परिवृत्तिसहत्वेन देहपदस्य तदसहत्वेन चोभयालंकारापत्त्या शब्दमा-
त्रालंकारोदाहरणत्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । सहसा शीघ्रं रथिनी रथासूदैः सुष्ठु उतं प्रोतम् ।
संबद्धमिति यावत् । तुरगपादातं यस्य सः । स्थिरतायामगः पर्वतः । अत्र देहशरीर
इत्यादिषु पुनरुक्तवदाभासोऽलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘चकासतीति । शोभनमनसस्तस्य राज्ञः पार्श्ववर्तिनो विबुधाः पण्डिताश्चकासति
शोभन्ते । कीदृशः । अङ्गनासु रमन्ते इत्याङ्गनारामाः विरहशून्या इत्यर्थः । अङ्गने
अङ्गिरे आरामाः क्रीडावनानि येषामिति वा । कौतुकमुत्सवविशेषस्तद्वृत्तानन्ददाः ।
कौतुकेन विवाहसूत्रेण य आनन्दस्तद्देतव इति वा ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

शब्दमात्रालंकारत्वं चैकस्यापि परिवृत्त्यसहत्वात् । एवं कौतुकानन्दशब्दयोः
सुमनसोविबुधाःशब्दयोश्च द्रष्टव्यम् ।

उभयालंकारं द्वितीयमाह—

तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ९ ॥

यथा—

‘तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः ।

तेजोधाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥’

अत्र तनुवपुःशब्दयोः पुनरुक्तधीः । तद्विरहस्तु तनुशब्दस्यालपार्थक्यत्वात् ।
अयं चोभयालंकारः । तनुशब्दस्य पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वात् । एवं करिकुञ्जरयोः,
तेजोधाममहःशब्दानां इन्द्रहरिर्जिष्णुशब्दानां तदाभासत्वमुभयालंकारत्वं च
द्रष्टव्यम् । यद्यप्युभयालंकारोऽत्र न प्रकृतस्तथापि शब्दमात्रालंकारस्यैव तद्भेद-
स्यात्रप्रकरणेऽवश्यवक्तव्यतया तत्प्रसङ्गादुभयालंकारत्वानपायाच्चोभयालंकारभू-
तोऽप्ययमत्रोक्तः । उभयालंकारान्तराणां तु न कोऽपि भेदः शब्दमात्रालंकार
इति न तान्यत्र पठितानीति सर्वं रमणीयम् ।

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे शब्दालंकारनिर्णयो नाम

नवम उल्लासः ।

दशम उल्लासः ।

अथार्थालंकारा लक्षणीयाः । ते च

‘उपमानन्वयस्तद्वदुपमेयोपमा ततः ।

उल्लेखा चापि संदेहो रूपकापह्नुती तथा ॥

श्लेषस्तथा समासोक्तिः प्रोक्ता चैव निदर्शना ।

अप्रस्तुतप्रशंसातिशयोक्ती परिकीर्तिते ॥

प्रतिवस्तूपमा तद्वदृष्टान्तो दीपकं तथा ।

तुल्ययोगितया चैव व्यतिरेकः प्रकीर्तितः ॥

आक्षेपो विभावना च विशेषोक्तिस्तथैव च ।

यथासंख्यमर्थान्तरन्यासः स्यातां विरोधवत् ॥

उभयालंकारत्वानपायाच्चेति । यदि शब्दमात्रालंकारमध्ये पाठेनोभयालंकार-
त्वमपेयात्तदा तेषु पाठोऽयुक्त एव स्यान्न तु तत्प्रसङ्ग इति भावः । इति श्रीमत्तत्स-
दुपाख्यरामचन्द्रभट्टसूरिवरसूनुवैद्यनाथभट्टकृतायां काव्यप्रदीपप्रभायां नवम उल्लासः ॥

१. ‘तनुवपुरिति । असौ हरिः सिंहोऽजघन्यः । सर्वसिंहेषु श्रेष्ठभूत इत्यर्थः । कीदृशः ।
तनु कुशं वपुर्वस्य सः । करिकुञ्जराणां गजश्रेष्ठानां रुधिरं रक्ता लोहिताः खरास्तीक्ष्णा
नखरा नखा यस्य तादृशः । तेजसो धाम स्थानम् । महसा बलेन पृथुमनसा विपुलान्तः-
करणानामिन्द्रः श्रेष्ठः । जिष्णुर्जयशीलः । अत्र तनुवपुरित्यादौ पुनरुक्तवदाभासः स्पष्टः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

स्वभावोक्तिस्तथा व्याजस्तुतिः प्रोक्ता सहोक्तिवत् ।
 विनोक्तिपरिवृत्ति च भाविकं काव्यलिङ्गवत् ॥
 पर्यायोक्तमुदात्तं च समुच्चय उदीरितः ।
 पर्यायश्चानुमानं च प्रोक्तः परिकरस्तथा ॥
 व्याजोक्तिपरिसंख्ये च विज्ञेये हेतुमालया ।
 अन्योन्यमुत्तरं सूक्ष्मसारौ तद्वदसंगतिः ॥
 समाधिश्च समेन स्याद्विषमस्त्वधिकेन च ।
 प्रत्यनीकं मीलितं च स्यातामेकावली स्मृता ॥
 भ्रान्तिमांस्तु प्रतीपेन सामान्यं च विशेषवत् ।
 तद्गुणातद्गुणौ चैव व्याघातः परिकीर्तितः ॥
 संसृष्टिसंकरौ चैवमेकषष्टिरुदीरिताः ॥'

तेष्वनेकालंकारमूलभूतत्वेन सौकुमार्यातिशयाच्च प्रधानमुपमां प्रथमं लक्षयति—

साधर्म्यमुपमा भेदे

ननु साधर्म्यस्य प्रतियोग्यनुयोगिनिरूप्यतया तदनभिधाने न्यूनत्वं लक्षणवाक्यस्येति चेत्, न । आक्षेपादुपमानोपमेयरूपयोस्तयोर्लाभात् । न च प्रतियोग्यनुयोगिमात्राक्षेपेऽतिप्रसङ्गः । उपमानोपमेये विनान्यस्य कार्यकारणादिमात्रस्य साधर्म्याभावात् । एवं चोपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण संबन्ध उपमेति लक्षणम् । अत्र चोपमानोपमेययोराक्षेपः साधर्म्यप्रतिपत्तिमात्रफलको न तु व्यावर्तकः । नन्वेवं भेद इत्यनुपादेयम् । तस्याप्याक्षेपादेव लाभसंभवात् । नह्यभेदे सादृश्यात्मकं साधर्म्यमिति चेत्, न । साधर्म्यपदस्यारोपितानारो-

तेष्विति । अर्थालंकारेषु मध्ये प्रधानम् । श्रेष्ठभूतामित्यर्थः । तत्र हेतुः—अनेकेति । उपमेयोपमोत्प्रेक्षाप्रतीपस्मृतिभ्रान्तिसंदेहरूपकादिमूलकत्वेनेत्यर्थः । सौकुमार्यं सुबोधत्वे सति ह्यत्वम् । तयोरिति । प्रतियोग्यनुयोगिनोरित्यर्थः । न चेति । कार्यकारणादिकयोरपि कथंचित्साधर्म्यसंभवात्तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्काशयः । चमत्कारिसाधर्म्यस्योपमात्वात्तस्य च कार्यकारणादिमात्रयोरभावात्तातिप्रसङ्गः । यत्र तु तादृशं साधर्म्यमस्ति यथा 'पितेव पुत्रः सगुणः स आसीत्' इत्यादौ तत्र तयोरुपमानोपमेयत्वमुपमालंकारश्चेष्ट एवेति समाधानार्थः । अत्र चेति । लक्षणवाक्य इत्यर्थः । प्रतिपत्तीति । निराकाङ्क्षप्रतिपत्तीत्यर्थः । तस्यापि भेदस्यापि । साधर्म्यपदं हि योगेनैकधर्मवत्त्वमात्रबोधकमित्यभेदेऽपि संभवति साधर्म्यं तथाप्यभेदे प्रयोगाभावात् प्रयोधि... भेद (?) आक्षिप्यत इत्यर्थः । साधर्म्यम् । उच्यत इति शेषः । साधर्म्यपदस्येति । अन्यथा कीर्त्यादौ श्रैल्यादिसाधर्म्येणोपमा न स्यादिति भावः । नन्वेवमप्युपमेयोपमायामतिप्रसङ्ग इति चेत्, सत्यम् । तत्रोपमाप्रतीतिपर्यवसानेनोपमात्वस्येष्टत्वात् । तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रयुक्तोत्कर्षस्याधिकांशस्य प्रतीत्या परमलंका-

पितसाधारणसमानधर्मसंबन्धमात्रपरत्वेनारोपितसाधर्म्यनिबन्धनस्यानन्वयालं-
कारस्य व्यवच्छेद्यत्वात् 'अलंकारत्वे सति' इत्यपि पूरणीयम् । साधर्म्यमात्रस्यो-
पमात्वाभावात् ।

पुनां विभजते—

पूर्णा लुप्ता च

यत्रोपमानोपमेयसाधारणधर्माणामुपमाप्रतिपादकशब्दस्य चोपादानं सा
पूर्णा । एतच्चतुष्कमध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वानुपादानं यत्र सा लुप्ता ।

तयोः पूर्णा विभजते—

साग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ १ ॥

अग्रिमा प्रथमोद्दिष्टा । पूर्णेत्यर्थः । वाक्यं विग्रहः । तेनोपमानादिपदानि
चत्वार्यपि यत्रासमस्तानि भिन्नविभक्तिकानि सा वाक्यगा । यत्र तु तेषु कयो-
रपि समासः सा समासगा । तद्धितेनोपमाप्रतिपादकेन तु सममुपमानवा-
चिन्याः प्रकृतेर्न समासो नापि विग्रह इति तृतीय उपमाभेदः । त्रिविधाप्येषा
श्रौत्यार्थीभेदात्प्रत्येकं द्विधेति षड्विधा पूर्णेत्यर्थः । श्रौतत्वं चोपमानोपमेययोः
साधारणधर्मसंबन्धरूपायास्तस्याः शाब्दबोधविषयत्वम् । अर्थोपत्तिगम्यत्वं चार्थ-
त्वम् । तत्र यथेववादिशब्दानां, 'तत्र तस्यैव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वते-
श्रोपादाने श्रौती । तुल्यादीनां शब्दानां 'तेन तुल्यं—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहि-
तस्य वतेश्च प्रयोगे आर्थी । नन्वयं विभागोऽनुपपन्नः । उभयत्र सादृश्यप्रत्य-
याविशेषात् । न च वाच्यम् यथादिशब्दैः साधारणधर्मसंबन्ध उभयत्र शक्यैव
बोध्यते न पुनस्तुल्यादिशब्दैः । अयमेव विशेष इति । यतो यथादिशब्दा
यदनन्तरमुपात्तस्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरित्युपमानविशेषणानि ते । अत उप-
माने तत्संबन्धं बोधयन्तु न पुनरुपमेये । अन्यविशेषणस्यान्यत्र संबन्धबो-
धकत्वादशंनादिति चेत्, न । शब्दशक्तिस्वाभाव्यादन्यविशेषणत्वेऽप्यन्यत्र संब-
न्धबोधकत्वात् । न चादृष्टचरत्वम् । पञ्चां तथा दर्शनात् । पष्टी हि यदनन्त-

रान्तरत्वेन कथनम् । अनन्वये तूपमाप्रतीतिपर्यवसानमेव नेति तद्व्यावर्तनमिति शेषः ।
'गोसदृशो गवयः' इत्यादौ प्रसङ्गवारणायाह—अलंकारत्वे सतीति । उपमेयप-
रिष्कारद्वारा चमत्कृतिजनकत्वे सतीत्यर्थः । तेन मुखमिव चन्द्र इति प्रतिपे नाति-
व्याप्तिः । असमस्तानीति । समासाभावस्य चन्द्रवन्मुखमिति तद्धितेऽपि सत्त्वा-
दाह—भिन्नविभक्तिकानीति । भिन्नविभक्तिकत्वस्य चन्द्र इव मुखमिति समा-
सेऽपि सत्त्वादसमस्तानीत्युक्तम् । तेषु उपमानादिपदेषु मध्ये । उभयत्रेति । इवा-
दिस्थले तुल्यादियोगे चेत्यर्थः । प्रत्ययः शाब्दबोधः । उभयत्रेति । उपमानोपमे-
ययोरित्यर्थः । न पुनरिति । तुल्यादिपदानामुपमानादिनैकेनैव स्वार्थान्वबोधक-
त्वादित्यर्थः । उपमानतेति । उपमानत्वं हि प्रसिद्धसाधर्म्यस्य भवतीति तद्वृत्तमेव

रमुपात्ता तस्यैवोपसर्जनत्वप्रतीतिरित्युपसर्जनविशेषणत्वेऽपि प्रधानेऽपि संबन्धं बोधयति । तस्मात्प्रतीत्यनुपपत्त्या प्रतीतानुपपत्त्या च संबन्धबोधे विशेषाच्छ्रौतार्थविभाग इति मन्तव्यम् । तथा हि—‘पद्ममिव मुखम्’ इत्यादावुपात्तस्याक्षिसस्य वा रमणीयत्वादेः संबन्धमविषयीकृत्यार्थवसानम् । यथादिशब्दानां धर्मविशेषसंबन्ध एव शक्तत्वात् । तुल्यादिशब्दास्तु नैवम् । ‘पद्मेन तुल्यं मुखम्’ इत्यादावुपमेये, ‘पद्मतुल्यं मुखमस्य’ इत्यादावुपमाने, ‘मुखं पद्मं च तुल्यम्’ इत्यादावुभयत्रापि सामान्यतस्तुल्यत्वं बोधयित्वा विश्रान्तेषु तेषु धर्मविशेषं विना कथं तुल्यतेति प्रतीतानुपपत्त्या धर्मविशेषसंबन्धप्रतीतेरिति ।

केचित्तु—‘उपमानोपमेयभावरूपसंबन्धस्य श्रौतार्थत्वाभ्यां विशेषः’ इति व्याचक्रुस्तदयुक्तम् । साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिपदोपादाने आर्थी इति प्रकाशविरोधात् । यस्यैव ह्यार्थतया उपमाया आर्थत्वं तस्यैव श्रौततया श्रौतत्वौचित्यात् । किं च साधर्म्यमेवोपमेति तस्यैव श्रौतत्वार्थत्वाभ्यामुपमाभेदो युक्तः ।

तदिवादिभिर्बोधनीयमित्युपमानविशेषणीभूतस्वार्थबोधकास्ते इवादय इत्यर्थः । उपसर्जनत्वेति । संबन्धित्वप्रतीतिरित्यर्थः । उपसर्जनविषयणत्वेऽपीति । उपसर्जनविशेषणत्वेन संबन्धबोधकत्वेऽपीत्यर्थः । प्रधानेऽपि चैत्रस्य धनमित्यादौ प्रधानभूतधनादावपि । अत्रायमर्थः—यथा पद्मार्थस्वामित्ववादिनां प्राचां मते चैत्रस्य धनमित्यादौ प्रकारीभूतविभक्त्यर्थसंबन्धेन चैत्रादेर्धनादावन्वयात्स्वामिचैत्रीयं धनमिति धीस्तथा चन्द्र इवेत्यादावपि प्रकारीभूतसादृश्यसंबन्धेन चन्द्रादेर्मुखादावन्वयात्सदृशचन्द्रीयं मुखमिति बुद्धिः । इवादेरुपमानपदोत्तरत्वनियमेन तदर्थविशेषणावगमादिति । एवं मुखं पद्मं च तुल्यमित्यनेनोभयत्र सादृश्यप्रत्ययाविशेषे यथेवादिश्रुतिः साधारणधर्मविशेषरूपाद्वादकत्वसंबन्धमप्रत्याप्य न पर्यवस्यति तुल्यादिपदश्रुतिस्तु धर्मविशेषसंबन्धावगमं विनापि सामान्यतः साधर्म्यबोधमात्रेण पर्यवसिता प्रतीतसामान्यस्य विशेषं विनानुपपत्त्या पश्चाद्विशेषमाक्षिपतीति । यथेवादिपदप्रयोगे श्रौती तुल्यादिपदप्रयोगे त्वार्थीति विभागोऽभिमत इत्याह—तस्मादिति । केचित्तु यथा चन्द्रस्तथा मुखमित्यादौ यादृशधर्मवांश्चन्द्रस्तादृशधर्मवन्मुखमित्युभयविशेष्यकबोधवच्चन्द्र इव मुखमित्यादावपि तथैव बोधः । अत एव हंसीधवलश्चन्द्र इत्यादौ भिन्नलिङ्गत्वादेर्दोषत्वम् । पुंस्त्वान्वितधवलत्वस्य हंस्सामन्वयायोगात् । अन्यथा तु हंसीसदृशश्चन्द्रो धवल इत्यन्वयसंभवाद्दोषत्वं न स्यात् । एवं चोपमानोपमेययोर्द्वयोरपि साधर्म्यस्य शब्दादेवान्वयबोधाच्छ्रौतीत्वम् । चन्द्रेण तुल्यं मुखं मनो ज्ञमित्यादौ, मुखस्य तुल्यश्चन्द्र इत्यादौ च भिन्नविभक्तिकत्वेनोपमानोपमेययोर्द्वयोः साधर्म्यस्य शब्दादप्रतीतेस्तुल्यादिपदप्रयोगे, आर्थी । पद्मं मुखं च तुल्यमित्यादावुभयत्र साधर्म्यप्रतीतावप्युपमानोपमेयभावसंबन्धस्य प्रमाणान्तरेणैवावगमेनार्थत्वादार्थत्वमिति व्याचख्युः । तत्रोपमानोपमेयत्वस्य श्रौतत्वार्थत्वाभ्यां व्यवस्थां तदुक्तं मूलग्रन्थविरोधेन तावदूपयति—साधर्म्यस्येति । युक्तिविरोधमप्याह—किं चेति । हंसीधवल इत्यादौ चोपात्तधर्मस्यैवेवादिना बोधननियमेन पुंस्त्ववि-

अत एव 'यथादिना सादृश्यरूपः संबन्ध एव साक्षादभिधीयते षष्ठीवत् । तुल्यादिभिस्तु धर्म्यपि' इति व्याख्यानमनुपादेयम् । ननु तथा तथाप्यनुपपन्नो विभागः । पूर्णायां द्योतकोपमानयोरेव हि समासः संभावितः । न च यथादिभिः सममसौ दृश्यते येन समासे श्रौती स्यादिति चेत्, न । 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इत्यनेनेवशब्देन समं समासविभक्त्यलोपयोः संभवाद्विभक्त्यलोपदर्शनाच्च तत्रासमासव्यवहारो मूढानाम् । तत्र वाक्ये श्रौती यथा—

‘स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।

प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥’

अत्र विजयश्रीरुपमेया । स्वाधीनपतिका उपमानम् । न मुञ्चतीति साधारणो धर्मः । यद्येत्युपमाप्रतिपादकं विवक्षितम् । एवमग्रेऽप्युक्तम् । न चैतेषां कयोरपि समास इति वाक्यगा श्रौती । वाक्यगा आर्थी यथा—

‘चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।

सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि संमदं विधत्ते ॥’

इयं समशब्दप्रयोगादार्थी । समासे श्रौती यथा—

‘अत्यायतैर्विनयकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।

शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥’

शिष्टधावत्यस्य हंस्यामन्वयासंभवेन दुष्टोपमात्वं संगतमिति ज्ञेयम् । अत एव उक्तदोषादेव । साक्षाद्विशेष्यतया सादृश्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकैस्तुल्यादिभिस्तु विशेषणतया सादृश्याभिधानादार्थत्वमित्यर्थः । अनुपादेयमिति । एवमपि तुल्यादिपदैः सादृश्योक्तिरस्त्येवेति नैतद्युक्तमित्यर्थः । पूर्णायामिति । श्रौत्यामिति शेषः । आध्या पूर्णायां सदृशादिपदैर्वाचकैरेव समासात् । द्योतकेति वा सामान्यबोधकपरम् । नित्यसमास इति । तेन ‘उद्धाहुरिव वामनः’ इत्यादौ विशेषणबोध्य(ध)केनोद्धाहुपदेन नैराकाङ्क्षादसमासेऽपि वामनपदे नैव समास इति ज्ञेयम् । इवेन समास इत्येव

१. स्वप्नेऽपीति । प्रभावस्य प्रभवमुत्पत्तिहेतुं त्वामित्यन्वयः । कान्तं कमनीयम् । यद्येत्यनन्तरं न मुञ्चतीत्यनुपपन्नः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘चकितेति । चकितस्तुतः । एवंभूतायास्तस्याः प्रक्रान्तनायिकायाः क्रुधि क्रोधे सति तरुणारुणवत्तारा उद्भवा हरिणी मनोहरणशीला कान्तिर्यस्य एवंभूतमिदमाननं सरसिजं च सममिति संमदं हर्षं नायकचेतसि विधत्ते । इति सखीं प्रति सखीसौभाग्यं कयापि निवेद्यते । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘अत्यायतैरिति । यो राजा चतुर्भिरुपायैः तामादिभिरदः एतद्धवनं बभार पालयामासेत्यन्वयः । शौरिः श्रीकृष्णः । भुजैरित्यत्रापि चतुर्भिरिति योज्यम् । कीदृशैः । अत्यायतैर्दूरदृष्ट्या प्रयोजितैराजानुलम्बिभिश्च । दिव्यैः श्रेष्ठैर्दिवि भवैश्च । प्रभाभिरुपलक्षितैः । अनपायमयैरपायशून्यैः । लक्ष्मीविलासस्यानत्वमुपायानां तत्प्रयोजकत्वाद्धोध्यम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्रेवेन समासः । समासे आर्थी यथा—

‘अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।

सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य ॥’

अत्र सुरतरुसदृश इत्युपमानद्योतकयोः समासः । तद्धिते श्रौत्यार्थी च यथा—

‘गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजंगवत् ।

दुरालोकश्च समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥’

अत्र गङ्गाभुजंगवदिति श्रौती । ‘तत्र तस्येव’ इत्यनेन इवार्थे वतेर्विधानात् । निदाघाम्बररत्नवदित्यार्थी । ‘तेन तुल्यम्’ इत्यर्थे वतेः प्रयोगात् ।

ननु चित्रमेदा अलंकारनिर्णये निर्णेष्यन्ते इति पूर्वमवादीः ‘इदानीं स्वप्नेऽपि’ इत्युदाहरसि न तच्चित्रं भवितुमर्हति । अत्र हि स्वाधीनभर्तृका, कान्तं भजमाना यथा चमत्कारभूस्तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादि वस्तुरूपं व्यङ्ग्यं विना नोक्तेर्वैचित्र्यम् । वैचित्र्यं चालंकारत्वनिष्पत्त्य इति व्यङ्ग्यमवश्यापेक्षणीयम् । अतस्तस्य प्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । तस्मात्पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति चेत्, मैवं वादीः । न खलु व्यङ्ग्यपरामर्शादेवात्र चारुत्वाप्रतीतिः, अपि तु वाच्योप-
मामात्रपरामर्शादेव । चारुत्वहेतुश्चालंकारः । अवर्जनीयसंनिधेश्च व्यङ्ग्यस्यास्फुटतरतया न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारप्रवर्तकतेति न कश्चिद्दोषः । नन्वेवमप्युदाहृते रसादिरूपव्यङ्ग्यसद्भावाच्चित्रतानुपपत्तिः । किं चानुप्रासाद्यलंकारान्तरसद्भावात्संकरालंकारोदाहरणान्येतानि युक्तानि, न तु शुद्धाया उपमाया इति चेत्, न । रसादिरूपव्यङ्ग्योऽलंकारान्तरं चैतेष्वव्यभिचारीति तत्रौदासीन्यमालम्ब्योपमालंकारोऽयमीदृश इत्यभिप्रायेणालंकारमात्रमुदाहृतं न तु चित्रकाव्यम् । अत्र ‘चन्द्रधवलः पटः’ इत्यादिको रसालंकाराभ्यामसंभिन्न एव विषयः

पठितवामनपदेनाप्यनभिधानादसमासाद्वाक्यगैवेयं बोध्या । वस्तुरूपमिति । जयश्रियस्त्वदासेवनेन चमत्कारित्वमित्यर्थरूपमित्यर्थः । यथा तथेयंशस्तु वाच्यकोटिगत एवानूदित इति भावः । वैचित्र्यं चमत्कारित्वम् । तस्य उक्तव्यङ्ग्यस्य । एवमपीति । उक्तव्यङ्ग्यस्य ध्वनिवाद्यप्रयोजकत्वेऽपीत्यर्थः । ननु तात्पर्यविषयव्यङ्ग्यराहित्यं मुखतश्चमत्कारिव्यङ्ग्यशून्यत्वं वा चित्रत्वमिहास्त्येवेत्यत आह—किं चेति । औदासीन्येति । तद्विषयविवेकमकृत्येत्यर्थः । तथा च क्वचिच्चित्राभावेऽपि न क्षतिरित्याह—न त्विति । वस्तुतस्तूपमाप्राधान्यादस्त्येव चित्रत्वमिति

१. ‘अवितथेति । सफलमनोरथमार्गसंपादनेषु प्रकृष्टगुणगरिम्णा गीता श्रीरथस्य स कस्य नाभिलषणीयः स्पृष्टणीय इति संबन्धः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘गाम्भीर्येति । गङ्गाभुजंगः समुद्रस्तस्येवेत्यर्थः । ‘तत्र तस्येव’ इतीवार्थे वतिः । निदाघे ग्रीष्मकाले अदम्बररत्नं सूर्यस्तेन तुल्यं तद्वत् । ‘तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः’ इति तुल्याये वतिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

किमिति नोदाह्रियत इति चेत्, तद्वहितत्वेनोदाहरणे वैरस्यप्रसङ्गात् तादृश-
वाक्यस्याकाव्यत्वेन तस्या अप्यनुपमात्वात् ।

अथ लुप्ता विभजनीया । सा च सप्तधा । तत्रैकस्य लोपे त्रिधा उपमानस्य
साधारणधर्मस्य द्योतकस्य च लोपादुपमेयमात्रस्य लोपादर्शनात् । द्विलोपेऽपि
त्रिधा । धर्मवाद्योर्धर्मोपमानयोर्वाद्युपमेययोश्च लोपादन्यस्य द्विकस्य लोपासं-
भवात् । त्रिलोपे त्वियमेका । उपमेयं विनान्येषामेकैकमात्रसत्त्वे उपमाया
असंभवादिति दर्शयन्नेव यथासंभवं तासां सप्तविधानामपि विभागमाह—

तद्वद्धर्मस्य लोपे स्थान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मस्य साधारणस्य । तद्वत्समासे वाक्ये तद्धिते च श्रौती आर्थी चेत्यर्थः ।
तत्र विशेषमाह—न श्रौती तद्धित इति । इवार्थ एव हि तद्धिते सा श्रौती
भवेत् । इवार्थश्च वतिरेव । स च 'तत्र तस्येव' इत्यर्थकतया नित्यं धर्मसाकाङ्क्ष
इति धर्मानुपादाने श्रौती तद्धिते न भवत्येव । आर्थी तु यद्यपि वतिरूपे
तद्धिते न संभवति 'तेन तुल्यं' इत्यर्थे उक्तन्यायेन नित्यं तुल्यक्रियाकाङ्क्षत्वेन
धर्मलोपे तदसंभवात् । तथापि कल्पप्-देश्य-देशीयर्-बहुच्-रूपे संभवत्येवेति
पञ्चधा धर्मलोपोपमेत्यर्थः । तत्र वाक्ये श्रौती यथा—

‘धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।

करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृतं यथा ॥’

अत्रामृतवचसोः परिणामसुरसत्वादिसाधर्म्यं तच्च नोपात्तम् । आक्षेपात्तु
लब्धस्य संबन्धो यथाशब्देन तद्वोर्धं विना पर्याप्तेन श्रुत्यैव बोध्यत इति धर्म-
लोपे श्रौतीयम् । एवमग्रेऽप्युद्धम् । वाक्ये आर्थी यथा—

‘आकृष्टकरवालोऽसौ संपराये परिभ्रमन् ।

प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥’

आकृष्टकरवालत्वं च न साधारणो धर्मः । यमस्य दण्डायुधत्वेन प्रसिद्धेः ।

ज्ञेयम् । अकाव्यत्वेनेति । काव्येऽलंकारा उपमादय इति तत्परिचयार्थमुदाहरणं
काव्यरूपमेवोचितं न त्वन्यदित्यर्थः । उपमानस्येत्यादि साधारणम् । उपमानस्यैवे-
त्यादि । अत एवाह—उपमेयमात्रस्येति । धर्मवाद्योः धर्मः साधारणो वादि-
र्वाशब्दप्रभृतिरिवादित्योः । विभागमाहेति । व्यवस्थामाहेत्यर्थः । धर्मसा-
काङ्क्ष इति । न च कुशाग्रीया बुद्धिरित्यादौ 'इवे प्रतिकृतौ' इत्याधिकारविहितच्छप्र-
त्ययतद्धितस्य धर्मसाकाङ्क्षत्वाभावादिवाच्यत्वाच्च तद्धिते श्रौती संभवत्येवेति वाच्यम् ।

१. 'धन्यस्येति । अनन्यसामान्योऽसाधारण इत्युत्कर्षविशेषणम् । हे चेतः, तस्य सत्यं
वचः करणीयमित्यन्वयः । अमृतं यथैवमृतवत्परिणामसुरसमित्यर्थः ॥' इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः. २. 'आकृष्टेति । करवालः खड्गः । संपराये सङ्ग्रामे । अत्र क्रूरत्वादिकं यमसाधर्म्यं न
त्वाकृष्टेत्यादि । तस्य दण्डायुधत्वेनैव प्रसिद्धेरिति ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अन्यत्रयं यथा—

‘करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।

विषकल्पं मनो वेत्ति यदि जीवसि तत्सखे ॥’

अत्र करवाल इवेति समासे श्रौती । अमृतोपमेति समासे आर्थी । विषक-
ल्पमिति तद्वितगा आर्थी ।

उपमानानुपादाने वाक्यगाथ समासगा ॥ २ ॥

अत्र तद्वितगा न संभवति । उपमाप्रतिपादकस्य तद्वितस्य वतिकल्पबादे-
रुपमानादेव विधानेन उपमानानुपादानेऽसंभवात् । न वा श्रौती । इवादी-
नामुपमानमात्रान्विततया तदनुपादाने तेषामप्यनुपादानात् । अतो वाक्यस-
मासयोरेव । तयोरप्याख्येवेति द्विप्रकारा लुप्तोपमा नोपमा । तत्र वाक्यगा-
यथा—

‘संभलकरणपरवीसामसिरिविभरणं ण सरसकव्वस्स ।

दीसइ अहव णिसम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण ॥’

अत्र विशेषत उपमानं नोपात्तम् । चिन्त्यमेतत् । इदमेव ‘कव्वस्स’ इत्यत्र
‘कव्वसमम्’, ‘सरिसं’ इत्यत्र ‘णूणं’ इति पाठे समासगोदाहरणम् ।

द्योतकलोपे वाक्यगा तावन्न संभवति । ‘मुखं चन्द्रो रमणीयम्’ एताव-
न्मात्रेणोपमाप्रत्ययाभावात् । नापि तद्वितगा । वतेः कल्पबादीनां च द्योतक-
तया तत्प्रयोगे द्योतकलोपस्यैवासंभवात् । न वा श्रौतीत्यन्यथा विभजते—

इवादेरिव धर्मविशेषसंबन्धं विना पर्यवसानाभावस्य तत्राभावेन श्रौतीत्वाभावात् ।
अत एव सादृश्यपदप्रयोगेऽपि न श्रौतीत्वम् । यथा ‘परस्परशिक्षादृश्यात्’ इति
रघौ प्रथमे सर्गे इत्यादिषु बोध्यम् । सअलेति । ‘सकलकरणपरविभ्रामश्रीवितरणं
न सरसकाव्यस्य । दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥’ इति संस्कृतम् ।
विशेषत इति । उपमानतावच्छेदकामृतत्वादिरूपेणेत्यर्थः । चिन्त्यमिति । विचा-
र्यमित्यर्थः । अयमाशयः—अत्र हि न दृश्यते न वा श्रूयत इत्युपमानाभावकथ-
नात्सादृश्यरूपाया उपमाया असंभवादसमालंकार उपमातिरिक्त एवालंकाररत्नाक-
रादिभिरुक्त इत्युपमाभेदोदाहरणत्वमयुक्तमिति प्रतिभाति । विचार्यमाणे तूपमैवेयम् ।
अस्सदृशनाथगोचरत्वेऽप्यत्युत्कृष्टं किंचिदुपमानं भविष्यतीत्युपमायामेव पर्यवसाना-

२. ‘करवाल इति । आचार आचरणम् । विषकल्पं विषादीषड्यूनम् । तत्सदृशमि-
त्यर्थः । ईषदसमासौ कल्पप्रत्ययः । यदि जीवसि तत्तदा वेत्ति । तत्समीपावस्थाने तव
जीवनमेव दुर्लभमिति भावः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘सअलेति’ सरसकाव्यस्यांशा-
ंशमात्रेणापि सदृशं न दृश्यते अथवा निशम्यते श्रूयत इत्यन्वयः । कीदृशम् । सकलकर-
णानामिन्द्रियाणां परमविभ्रामितलक्ष्मीदायकम् । तथा च सरसकाव्यमेवैवविधं नान्यदिति
भावः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि

वाशब्द उपमाद्योतक इति वादेरुपमाद्योतकस्येत्यर्थः । तस्य लोपे समासे क्यचि क्यङि णमुलि चोपमा । तत्र क्यचि द्विधा । कर्मणोऽधिकरणाच्च विधानेन तस्य द्वैविध्यात् । क्यङि त्वेकैव । कर्तुरेव तद्विधानात् । णमुल्यपि द्विधा । कर्मकर्त्रोस्तद्विधानात् । तत्र समासे द्विधा द्वयोस्त्रयाणामपि वा उपमानादिपदानां समासात् । तयोराद्या यथा—

‘ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।

नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥’

अत्र गण्डपाण्डुनेति द्वयोः समासः । द्वितीया यथा—

‘असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।

पुलकिततनुरुक्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥’

अत्रासितभुजगेत्यादावुपमानधर्मोपमेयशब्दानां त्रयाणामपि समासः ।

क्यचक्यङोर्भेदत्रयं यथा—

‘पौरं^३ सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।

नारीयते समरसीञ्चि कृपाणपाणेरालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥’

अत्र पौरं सुतीयतीत्यत्र ‘उपमानादाचारे’ इति कर्मणः क्यच् । समरान्तरेऽन्तःपुरीयतीत्यत्र तु ‘अधिकरणाच्च’ इत्यनेनाधिकरणात् । नारीयते इति ‘कर्तुः क्यङ् सलोपश्च’ इत्यनेन कर्तुः क्यङ् ।

णमुलि भेदद्वयं यथा—

‘मृधे निदाघधर्माशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।

स पुनः पार्थसंचारं संचरत्यवनीपतिः ॥’

दतो नालंकारान्तरमिति । पौरमिति । अत्र क्यचक्यङोराचारमात्रमर्थः । प्रकृति-

१ ‘तत इति । गण्ड इव पाण्डुर्गण्डपाण्डुः । ‘उपमानानि सामान्यवचनैः’ इति समासः । माहेन्द्री दिक् प्राची ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘असितेति । प्रतिभटानां शत्रूणां विक्रमस्य दर्शने सत्यं नृप ईदृश आसीदित्यन्वयः । असिः खड्ग एव पत्रमसिपत्रम् । रुहरुहिकया रभसोत्कण्ठया आहितः कृतश्चित्ते तूर्णं शीघ्रं चारः संचारो यस्य सः । उत्कटा अरुणा कपोलकान्तिर्यस्य स तादृशः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘पौरमिति । असौ नृपः पौरं जनं सुतमिवाचरति । ‘उपमानादाचारे’ इति कर्मभूतावुपमानात्क्यच् । समरस्यान्तरे मध्ये अन्तःपुरीयति अन्तःपुर इवाचरति । अत्र ‘अधिकरणाच्च’ इत्यनेन क्यच् । विचित्रेत्यादि । विचित्रेण चरित्रेण वित्त इत्यर्थः । ‘तेन वित्तश्चुञ्चुपचणपौ’ इत्यनुशासनात् । नारीयते इति नारीवाचरतीत्यर्थः । ‘कर्तुः क्यङ् सलोपश्च’ इत्यनेन क्यङ् इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘मृध इति । मृधे सङ्ग्रामे । निदाघेत्यादि । निदाघधर्माशुमिव पश्यन्तीत्यर्थः । ‘उप-

अत्र निदाघघर्मांशुदर्शमिति कर्मणि णमुल् । निदाघघर्मांशुमिव पश्यन्ती-
त्यर्थात् । पार्थसंचारमित्यत्र कर्तरि । 'उपमाने कर्मणि च' इति सूत्रे चकारात् ।

अथ द्विलोपे विभजनीया । तत्र धर्मवाद्योलोपे वाक्यगा न संभवति । शि-
ष्टयोर्मुखं चन्द्र इत्येतावन्मात्रयोरुपादाने उपमानवगमात् । नापि तद्धितगा ।
तद्धितस्यापि कल्पवादित्वेन तत्सत्त्वे द्विलोपाभावात् । नापि श्रौती । इवाद्य-
मावादित्यन्यथा विभजते—

एतद्विलोपे किप्समासगा ॥ ३ ॥

एतद्विलोपे एतयोर्द्वयोर्धर्मवाद्योलोपे । किङ्गा यथा—

'सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।

यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥'

यद्यप्याच्चारे किङ्विधानात्तस्यैव च समानधर्मरूपत्वेन किपि धर्मलोपो नास्ति
तथापि किप् एव लोपाद्धर्मलोपव्यवहारः । अत एव समानार्थत्वेऽपि क्यङ्कत्र
नोपात्तः । तस्यालुप्तत्वेन धर्मलोपाभावात् । समासगा यथा—

'परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।

संपरायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥'

अत्र राजायं कुञ्जर इवेत्युपमा ।

धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

तद्धिते तु नेयम् । उपमानलोपे तद्धितस्यैवाभावात् नापि श्रौती । उपमा-
नाप्रयोगे इवादेरप्रयोगात् । तत्र सामसगा यथा—

'दुण्डुज्जन्त मरीहसि कण्ठभकलिर्ऒइ केभइवणाइं ।

मालइकुमुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पावहिंसि ॥'

भूतसुतादिपदानां तत्सादृश्ये लक्षणेति सादृश्यवाचकाभावाद्वाचकलोपः । एवं णमु-
लोऽपि भावेभावे धातुसंबन्धे च विधानान्नोपमावाचकत्वमित्यूह्यम् । कुञ्जर इवेत्यु-
पमेति । परसेनाविद्रावकत्वादेः सामान्यस्याप्रयोगादुपमितसमासबोध्येत्यर्थः । परिप-
न्थीत्यादि न सामान्यपरमिति भावः । दुण्डुज्जन्त इति । 'अन्वेषयन्मरिष्यसि

मूने कर्मणि च' इति कर्मण्युपपदे णमुल् । चकारात्पार्थसंचारमित्यत्र कर्तरि । पार्थ इव
संचरतीत्यर्थात् । उभयत्रानुशासनिको यथाविध्यनुप्रयोगः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. 'सवितेति । मनसि सुखदुःखान्यां वशीकृते सति यथाक्रमं सवित्रादिकं विध्वादिवादाचर-
तीत्यर्थः । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः किङ्वा वक्तव्यः' इत्याच्चारे किप् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. 'परिपन्थीति । परिपन्थिनां शत्रूणां मनोराज्यं मनोरथः । राजकुञ्जर इति कुञ्जर इव
राजैत्यर्थः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासः । इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः. ३. 'दुण्डुज्जन्त इति । 'दुं दुं इति शब्दं कुर्वाण इत्यर्थः' इति केचित् । तन्मते
वनानि भ्रमन्तित्यन्वयः । 'दुण्डुज्जन्त भ्रमग (?) इत्यर्थः' इत्यन्ये ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

कुसुमसरिच्छमित्यत्र 'कुसुमेण समं' इति पाठे इयमेव वाक्यगा ।

क्यचि वाद्युपमेयासे

आसे निरासे । उदाहरणम्—

‘अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।

कृपाणोदग्रदोदण्डः सहस्रारायुधीयति ॥’

अत्र यद्यपि विशेषद्वारोपात्तः कर्तव्योपमेयस्तथापि न तथात्वेन किं तु कर्म-
त्वेन । अन्यथा क्यचोऽसंगतत्वापत्तेः । तथा चात्मानं सहस्रारायुधीयतीत्यर्थः ।
इत्युपमेय आत्मा लुप्त इति यथोक्तोदाहरणमेतत् । हंसायत इत्यादौ कर्तव्यो-
पमेयः । तस्य चानुपादाने वाक्यमेव न पर्याप्यत इति विशेषात् क्यचि नेयं
संभवति । यद्यपि द्विलोपेऽन्यदपि भेदत्रयं संभवति । यथा उपमानोपमेययोः,
उपमानवाद्योः, उपमानधर्मयोरिति तथापि तेषूपमायाः प्रसङ्ग एव नास्तीति न
न्यूनत्वमाशङ्कनीयम् ।

त्रिलोपे तूपमेयातिरिक्तत्रितयलोप एव संभवतीत्युक्तम् । सापि समासमात्रे ।
अन्यत्र बोधकाभावात् । तत्राप्यार्थ्येव । इवादेर्लोपादित्येकविधैवेत्याह—

त्रिलोपे च समासगा ॥ ४ ॥

यथा—

‘तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।

स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना नयते मुनेर्मनः ॥’

अत्र यदि मृगशब्देन लक्षणया तल्लोचने विवक्ष्येते तदा नेदमुदाहरणम् ।
यदा तु मृगलोचने इव नयने यस्या इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा ‘सप्तम्युपमानपूर्व-

कण्टककलितानि केतकीवनानि । मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्यसि ॥’
इति संस्कृतम् । अत्रापि दुर्लभतयोत्कृष्टं कुसुमान्तरमप्रकृतं प्रकृतमालत्युपमा-
नतया विवक्षितमिति ज्ञेयम् । अत्र यदीति । शक्यता लक्षणया वा उपमाना-

१. अरातीति । वैरिविक्रमालोकनेन विकासशालिनेत्रः कृपाणेन उदग्र उद्भटो
दोदण्डो यस्य तादृशो नृपः स सहस्रमायुधानि यस्य तमिवात्मानमाचरति । यथा तं दुर्जयं
मन्यते तथात्मानमपीत्यर्थः । आयुषसहस्रकृत्यस्यैकेन कृपाणेन निर्वहणादुत्कर्षः । अत्र कर्म-
त्वेनोपमेयस्यात्मनस्तत्त्वेनैवानुपादानमिति बोध्यम् । केचित्तु उपमेयोपादानप्रसङ्गभयात्स-
सहस्र इत्येकपदतया व्याचक्षते । सहस्रेणायुधैः सह वर्तत इति ससहस्रायुध इति । अन्ये
तु ‘सहस्रारायुधीयति’ इत्यपठन् । सहस्रारं चक्रमायुधं यस्येति तदर्थः । इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘तरुणिमनीति । तरुणिमनि सति मनो हरतीति संबन्धः । तरुणिमनि
विषये कृतमवलोकनं यथेति वा । तेन वयःसंधिलोभः ललितविलासेभ्यो विलम्बो(तीर्णो)दत्तो
विग्रहः शरीरं यथा सा । विसरः समूहः । तेनाचितं व्याप्तमान्तरं मनो यस्याः सा ।
‘विश्रुता’ इति पाठे शरैर्विशिर्णता अन्तरे यस्याः सेत्यर्थः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

पदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन मृगलोचनेत्युपमानपूर्वपदस्य नयन-
शब्देन बहुव्रीहायुपमानवानवाचिनि मृगलोचने इति पूर्वपदे उत्तरपदभूतस्य
लोचनशब्दस्य लोपे उपमेयभूतस्य नयनमात्रस्योपादानादिदमुदाहरणम् ।

केचित्तु "उपमानमात्रोपादानेऽपि त्रिलोपा संभवति । यथा 'अयमायःशूलिकः'
इति । अत्रायःशूलपदेन क्रूर आचार उपमेयः, तीक्ष्णत्वादिकं च साधारणो
धर्मः । न च तयोरेकमप्युपात्तम् नापीवादिः" इति मन्यन्ते । तन्न युक्तम् ।
यतः क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाध्यवसानादतिशयोक्तिरियं न तूपमा । अन्यथा-
ध्यवसानमूलातिशयोक्तेर्निर्विषयत्वापत्तेः ।

तदेवं धर्मलोपे पञ्च । उपमानलोपे द्वौ । द्योतकलोपे षट् । धर्मवाद्योलोपे
द्वौ । धर्मोपमानयोर्लोपे द्वौ । द्योतकोपमेयलोपे चैकः । त्रिलोपे त्वेकः । इत्यु-
नविंशतिर्लुप्ताभेदाः पूर्णा भेदाश्च षट् । इत्येवं पञ्चविंशतिः ।

नुजौ ह्युपमानलुप्तेति नोदाहरणमिदमित्यर्थः । लुप्ताभेदानुपसंहरति—तदेवमिति ।
चित्रमीमांसायां त्वन्येऽपि लुप्ताभेदा दर्शिताः । तथाहि—“वाचकलुप्ता षड्विधा
इहोक्ता । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनौ सप्तम्यपि दृश्यते कोकिल इवालपति कोकिला-
लापिनीति । तथा 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन्प्रत्यये 'लुम्ननुष्ये' इति लुपि चेवेत्यर्थे
'चन्नापुरुषः सोऽयं यः स्वहितं नैव जानाति' इत्यष्टमी । एवम् 'यद्भक्तानां सुखमयः
संसारोऽप्यपवर्गति' इत्यत्र धर्मस्य सुखमयत्वस्य पदान्तरेणोपादाने क्विपि नवमी ।
तथा उपमानलुप्ता वाचकसमासयोर्द्विविधोक्ता तृतीयापि दृश्यते—'यच्चोराणामस्य च
समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृतः । उपनतमेतदकस्मादासीद्वत् काकतालीयम् ॥' 'अत्र
काकतालपदयोर्लक्षणया काकागमनतालपतनपरयोरिवाथे 'समासाच्च तद्विषयात्'
इति ज्ञापकात्काक इव ताल इव काकतालमिति समासे काकतालसमागमसदृशश्चो-
राणामस्य च समागम इत्यर्थः । ततः काकतालमिवेति पुनरिवाथे तेनैव सूत्रेण च्छप्र-
त्यये तालपतनजन्यकाकवधसदृशश्चोरकर्तृकदेवदत्तवध इति बोधः । अत्र च्छप्रत्ययार्थ-
द्वितीयोपमायामुपमानभूतस्य तालपतनजन्यकाकवधस्यानुपादानादुपमानलुप्तेयम् ।
तथा प्राथमिकोपमावाचकोपमानोभयलुप्ता । इयमेव उपनतमकस्मादित्यनुजौ धर्मो-
पमानलुप्ता । एवं वाचकधर्मयो.....रिव चन्नापुरुष इति कनो लोपे धर्मानुपादाने
च भवतीति द्वात्रिंशलुप्ताभेदः ।" इति । अत्रेदं बोध्यम्—पूर्णायां साधारणो धर्मः
क्वचिदनुगतः । यथा स्वप्नेऽपीत्यत्र न सुषतीति । क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नः ।
यथा—'यान्त्या मुहुर्वलितकंधरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या । दिग्धोऽमृ-
तेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥' इत्यत्र मित्राभ्यां
चलितवृत्तशब्दाभ्यामेकस्य धर्मस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नकंधरावृन्तविशेषणतयोपा-
दानात्तत्तावम् । कंधरावृन्तयोस्तु सादृश्यादभेदेनाध्यवसानाद्विम्बभावः । बिम्बप्रति-
बिम्बभावापन्नधर्म प्रति विशेष्यतया वस्तुप्रतिवस्तुरूपो धर्मः क्वचित् । यथा—
'सा तेन चण्डे साध्वी इठात्साध्वसकम्पिता । वानरेणातिलोकेन वाताधूतेव वल्ली ॥'

नन्वनेऽप्युपमाभेदाः संभवन्ति । तथाहि—एकस्यैवोपमेयस्य बहूपमान-
संबन्धो मालोपमा । सा च द्विधा—साधर्म्यस्याभेदात्तद्भेदाच्च । तत्राद्या यथा—

‘अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।

मग्नौ सा च विषादेन नलिनीव हिमाम्भसा ॥’

अत्र म्लानिरेव सर्वोपमानसाधर्म्यम् । अन्या यथा—

‘ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।

प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥’

अत्र ज्योत्स्नादीनां नयनानन्दहेतुत्वादयः साधारणधर्मा भिन्नाः ।

पूर्वपूर्वोपमेयस्योत्तरोत्तरमुपमानत्वे रशनोपमा । सापि द्विधा—साधर्म्याभे-
दात्तद्भेदाच्च । तत्राद्या यथा—

‘अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।

भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥’

इत्यत्र साध्वसवातयोर्विम्बप्रतिविम्बभावापन्नयोः कम्पिताधूतशब्दाभ्यामेको धर्मो
विशेष्यतयोक्तः । एवमन्यत्रापि विम्बप्रतिविम्बभावसंकीर्ण एव वस्तुप्रतिवस्तुभावो न
केवलः । केवलविम्बप्रतिविम्बभावेन साधारण्यं यथा—‘पाण्ड्वोऽयं—’ इति रघौ ।
अत्र हि हरिचन्दनबालातपौ हारनिर्झरौ.....(संप्रति सुधांशुविम्बमिवेत्यादौ) ।
कचित् छेपेण साधारण्यं यथा—‘सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुविम्बमिव’
इत्यादौ । कचिदुपचारेण यथा—‘पङ्कजैरिव कुमारमीक्षणैर्विस्मयेन विकचैः पपु-
र्जनाः’ इत्यत्र विकासस्य पुष्पधर्मस्य नेत्रेषु । समासभेदाश्रयणेन यथा—‘तया वि-
वृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या । प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत्संसृज्य-
मानः शरदेव लोकः ॥’ इत्यादावाननरूपश्चन्द्र इत्युपमेये चार्थाङ्गीकरणात् । पूर्वोक्तः
श्लेषः सभङ्गोऽयं त्वभङ्ग इति भेद इति दिक् । अथोपमायां शाब्दबोधप्रकारः कथ्यते—
तत्र सादृश्यं पदार्थान्तरमिति प्राचां मतम् । साधारणधर्मरूपमेव तदिति नव्यानाम् ।
तत्राद्यमते तावदुच्यते—तत्र चन्द्र इवाद्वादकं मुखमित्यादाविवार्ये सादृश्ये चन्द्रादे-
र्निरूपितत्वसंसर्गेणान्वयः । सादृश्यस्य च प्रयोजकतासंसर्गेण आद्वादकत्वादौ साधा-
रणधर्मे पदार्थैकदेशेऽप्यनुभवबलादन्वयः तद्विशिष्टस्य चाभेदेन सुखादावुपमेये ।

१. ‘अनयेति । सा प्रकृता नायिका विषादेन मग्नौ म्लानिं प्राप्तवती । अनयादिना
राज्यलक्ष्यादिरिवेति मालोपमा । अनयो नीतिविरहः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-
२. ‘ज्योत्स्नेवेति । समाकृष्टा वशीकृताः । अत्र ज्योत्स्नादिनिरूपितं नयनानन्दत्वादि साधर्म्यं
भिन्नं भिन्नमिति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः- ३. ‘अनवरतेति । हे राजन्, अनवरतं
कनकस्य वितरणेन ये जललवास्तैर्भृते पूर्णे करे तरङ्गिता तरङ्गवत् श्रेणीभूय पूर्वपश्चाद्भावेन
संततमिलिता अर्थिनां ततिः पङ्क्तिर्यस्य तादृशस्य तव मत्यादिर्मणित्यादिवदतिविमलेति पूर्वपूर्व-
स्योत्तरोत्तरमुपमानत्वाद्दर्शनोपमा । भणितिरुक्तिः । सर्वत्र विमलत्वमेकं साधर्म्यम् ।’ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

अत्र विमलत्वमेव सर्वासूपमासु साधारणो धर्मः । अन्त्या यथा—

‘मतिरिव मूर्तिर्मधुरा मूर्तिरिव सभा प्रभावविता ।
तस्य समेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥’

तेन चन्द्रनिरूपितसादृश्याप्रयोजकाद्वादकत्वविशिष्टामिन्नं मुखमिति बोधः । इवाद्युक्त-
सादृश्यस्योपमानविशेषणत्वमते तु बोधः प्रागुक्तः । समानधर्माप्रयोगे तु सादृश्यस्योप-
मेय एवान्वयः । निपातार्थतया भेदेनानार्थान्वये बाधकाभावात् । चन्द्रसुन्दरमिति
समासे तु चन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रयोजके चन्द्रपदस्य लक्षणा । तस्या भेदेनार्थे पदार्थ-
कदेशेऽपि सौन्दर्येऽन्वयः । तदनङ्गीकारे तु चन्द्रपदस्यैव तादृशसौन्दर्यवति लक्षणेति
पूर्ववदेवान्वयबोधः । चन्द्र इव भाति सुखमित्यादौ चन्द्रनिरूपितसादृश्यस्य प्रकार-
तासंसर्गेण धात्वर्थे भानेऽन्वयाच्चन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रकारकभानविषयो मुखमिति
बोधः । अत्रैव सौन्दर्येणेत्युक्तौ तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वं भाने सादृश्य एवान्वेति । तेन
सौन्दर्यप्रयोज्यचन्द्रनिरूपितसादृश्यप्रकारकभानविषयो मुखमिति धीः । गज इव
गच्छति, पिक इव रौतीत्यादाविवार्थसादृश्यस्य धात्वर्थे गमनादावन्वयासंभवात्तस्य
गमनादिकर्तर्येवान्वयः । गजसदृशो गमनानुकूलकृतिमानिति बोधः । कुतः सादृ-
श्यस्य धात्वर्थेनान्वय इति चेत्, घटो न पश्यतीत्यत्र घटान्विताभावस्य दर्शने
कर्मतासंसर्गेणान्वयवारणाय धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधे
विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वादिति तार्किकाः । अन्ये तु गजसदृशो यः स
गच्छतीत्यत्रैव गज इव गच्छतीत्यत्रापि सादृश्यस्य विधेयत्वेनाप्रतीतेस्तदनुभावोपप-
त्त्यर्थं गजनिरूपितसादृश्यप्रयोजकगमनाश्रय इत्येव गज इव गच्छतीत्यादौ बोधः ।
घटो न पश्यतीत्यादानुक्तबोधापत्तिस्तु धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गे-
णान्वयबुद्धिं प्रति तज्जन्योपस्थितेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनयैव निरसनीया । वनं गज
इव समरं शूरो गच्छतीत्यादौ तु गजादिपदानां गजकर्तृकगमनादौ लक्षणा । तत्सा-
दृश्यस्य धात्वर्थगमनादावन्वयः । तेन वनकर्मकं यद्गजकर्तृकं गमनं तत्सदृशसमर-
कर्मकगमनाश्रयः शूर इति धीरित्याहुः । ननु सिंहतुल्यो भातीत्यत्र सिंहभानसदृश-
भानस्य बोधो दुर्घटः । तुल्यत्वस्य निपातमिन्ननामार्थत्वेन धात्वर्थभेदेन साक्षादन्व-
यायोगात् । सिंहतुल्यो यो देवदत्तः स भातीत्युद्देश्यतावच्छेदकत्वेन तुल्यत्वबोधे तु
तस्य विधेयत्वं विवक्षितं न सिध्येत् । न च तुल्यपदेन तुल्यत्वप्रकारकं लक्ष्यते तच्चा-
भेदेन भानेऽन्वेतीति वाच्यम् । तथासति क्रियाविशेषणत्वेन नपुंसकत्वापत्तेरिति
चेत्, अत्राहुः—‘क्रियाव्ययविशेषणानां(?) क्लीबतेष्यते’ इत्यनुशासनं सिद्धार्थानुवादक-
त्वात्स्तोकं पचतीत्यादिमात्रपरं न सार्वत्रिकमिति न दोष इति । धातोरेव लक्षणया
सर्वार्थबोधकत्वमन्यस्य तात्पर्यग्राहकत्वमित्यपि केचित् । चन्द्रवत्सुन्दरमिति ‘तेन

१. ‘मतिरिति । तस्य नृपस्य मूर्त्यादिर्मत्यादिवन्माधुर्यादिमतीत्यन्वयः । प्रभावेण
स्विसा व्याप्ता परेषां जेतुं न शक्येत्यन्वयः । अत्र मधुरत्वादिसाधर्म्यं भिन्नम् ।’ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र मूलादीनां मधुरत्वादयो धर्मा भेदवन्तः । त एते भेदाः किमिति नोक्ता इति चेत्, उक्ता एव । उक्तभेदान्तर्भावात् । तथापि तेन तेन रूपेण किं नोक्ता इति चेत्, एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात्सर्वेषामाख्यातुमशक्यत्वात् ।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैकवाक्यगे ।

अनन्वयः

उपमानान्तरव्यवच्छेदाय यदेकस्यैवोपमानोपमेयत्वे भेदोपचारेणैव निबध्येते सोऽनन्वयः । तदेतदुक्तं उपमानान्तरसंबन्धाभावोऽनन्वय इति बहुव्रीहि-

तुल्यं—’ इत्यादिविहितवतेः सादृश्यवदर्थकत्वेऽपि सादृश्ये लक्षणा । तस्य सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दरत्वेनान्वयादिवादिप्रयोगस्थल इव बोधः । लक्षणया सादृश्यबोधनात्परमार्थित्वम् । एवं चन्द्रवन्मुखमित्यादौ चन्द्रनिरूपितत्वस्यैकदेशे सादृश्येऽन्वयाच्चन्द्रनिरूपितसादृश्यवदभिन्नमिति बोधः । चन्द्रवत्सौन्दर्यमस्येतीत्यर्थं ‘तत्र तस्यैव’ इति विहितवतेः प्रयोगे तु चन्द्रपदस्य तत्सौन्दर्यं लक्षणया चन्द्रसौन्दर्यनिरूपितसादृश्यवन्मुखसंबन्धि सौन्दर्यमिति सौन्दर्ययोः सादृश्यबोधोत्तरं तयोरभेदाध्यवसायादेकधर्ममूला पश्चान्मुखचन्द्रयोरपि सादृश्यधीरित्याहुः । अरविन्देन तुल्यं मुखमित्यत्र निरूपितत्वं तृतीयार्थः पदार्थैकदेशसादृश्यान्वयी । अत्रैव सौन्दर्येणेत्युक्तौ प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थस्तत्रैवान्वेति । मुखमरविन्दं च सममित्यत्र प्रथमं शब्दादुभयं सदृशमिति बोधे पश्चान्मानसी वैयञ्जनिकी वा परस्परनिरूपितसादृश्यप्रतीतिः । प्रसिद्धनिरूपितसादृश्यस्य वा ‘पाण्ड्योऽयमंस—’ इत्यादि बिम्बप्रतिबिम्बभावस्थले तु हारहरिचन्दनविशिष्टो राजा बालातपनिर्झरविशिष्टपर्वतसदृश इति बोधोत्तरं सादृश्यप्रयोजकधर्माकाङ्क्षायां बालातपाद्युपमानोपमेयधर्माणां सादृश्यमूलाभेदाध्यवसानेन साधारणधर्मत्वसिद्धिः । हारहरिचन्दनाभ्यामुक्तरूपाद्रिरिव राजेत्युक्तौ प्रयोजकवत्तृतीयार्थः सादृश्यान्वयी । उक्तरीत्या सादृश्यस्य तत्प्रयोज्यत्वादिति दिक् । सादृश्यस्य समानधर्मरूपत्वे तु चन्द्र इव सुन्दरं मुखमित्यादौ चन्द्रवृत्तिसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नं मुखमिति धीः । चन्द्रसुन्दरमिति समासे तु चन्द्रपदस्य तद्वृत्तिसमानधर्मवन्मुखमिति धीः । एवं तुल्यादिपदोपादानेऽप्युक्तम् । एवं क्यजादावप्युपमानपदानां तत्सादृश्ये लक्षणा । तस्य च प्रयोजकतया अभेदेन वा क्यजादर्थान्तरविशेषत्वं स चोपमेये आश्रयतयान्वेतीलम् । इत्युपमालंकारः ॥ १ ॥ ननु ‘पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः । धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥’ इत्यत्रैकस्यैव रामस्योपमानत्वमुपमेयत्वमेकवाक्यगतमस्तीत्यतिव्याप्तिः । वृत्तिसाम्यमात्रस्यैव प्रतिपाद्यतया सदृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतीतेरिष्टापत्यसंभवात् । अत आह—
उपमानान्तरेति । एवं च तत्रैतत्फलाभावाच्चातिव्याप्तिरिति भावः । उक्तार्थस्य प्रकाशारूढत्वं दर्शयति—तदेतदिति । कथमनेनोक्तार्थलाभस्तत्राह—
बहुव्रीहीति । उपमानान्तरसंबन्धस्याभावो यत्रार्थाद्गम्यते इत्यर्थात्ललाभ इति भावः । एवं तु सति एकवाक्यगत इत्यस्य वैयर्थ्यम् । उपमेयोपमादेरुक्तविशेषणेनैव व्यावृत्तेरत

समासात् । यद्वा संज्ञायोगनिर्वचनं तद् । अनन्वयः संबन्धाभावः । स चार्था-
दुपमानान्तरेण उपमेयभिन्नेनेति । एवकारो वैचित्र्यविशेषस्फोरणार्थः । एक-
वाक्येने इति विपर्यासोपमाव्यावर्तनाय । तत्र हि वाक्यद्वये तथाभावः ।
उदाहरणम्—

‘न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।

यावद्विलासायुधलासवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥’

अत्र दशाविशेषादिभेदाग्नेदोपचारः ।

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥ ५ ॥

तयोरुपमानोपमेययोर्विपर्यास उपमेयोपमानभावः । अर्थाद्वाक्यद्वये । एक-
वाक्ये तथासंभवात् । मुखमिव चन्द्र इत्यस्य निन्दाभिष्यक्तौ प्रतीपरूपत्वात् ।

आह—यद्वेति । एवं च नैतल्लक्षणान्तर्गतं किं तु संज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तकथनमिति नोक्त-
दोष इति भावः । कथं तर्हि ‘पितुर्नियोगात्—’ इत्यादावतिव्याप्तिवारणमिति चेत्,
तत्र त्वत्परोरेव साम्यविवक्षणाच्च तु रामेणैव रामस्येत्याशयात् । यत्र तु—‘लोहितपीतैः
कुसुमैराकृतमाभाति भूभृतः शिखरम् । दावज्ज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव
समये ॥’ इत्यादौ शेखरादेरेकस्यैवोपमानोपमेयत्वं विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्मेण
‘पाण्ड्योऽयं—’ इत्यादिवदानुभविकम् । तत्रावस्थाभेदमवेक्ष्य तात्पर्यविषयसाम्योक्तैर्ना-
तिव्याप्तिः । एकस्यैवेत्येवकारेण देशकालादिभेदेन तात्पर्यम् । विषयत्वव्यवच्छेदस्य
प्रत्ययात्तस्य च लक्षणे प्रवेशात् । तदाह—एवकार इति । वैचित्र्यमितरा-
लंकाराद्विशेषो निरपेक्षतारूप इत्यर्थः । विपर्यासेति । उपमेयोपमेयार्थः ।
तत्र विपर्यासोपमायाम् । तथाभावः । उपमानोपमेयभावः एकस्यैव कथमुपमानो-
पमेयभाव इत्यत आह—अत्रेति । एवं सति ‘लोहितपीतैः—’ इत्यादितः
कोऽत्र विशेष इति चेत्, अयं विशेषः—यत्तत्रावस्थाभेदोपादानेन साम्य-
बोधने तात्पर्यं न त्वत्र । किं तु स्तुतिपरार्थवादवाक्यार्थवदतात्पर्यविषयीभूतं
साम्यमनौपम्यपरमिति । तयोरिति । अनेन च ‘भणितिरिव मतिः—’
इत्यादि रशनोपमाव्यावृत्तिः । तत्रोपमेयाया मतेरेवोपमानतारूपविपर्यासेऽपि
मणितेरुपमानभूताया उपमेयत्वरूपतदभावात् । असंभवादिति । न च
मुखमरविन्दं च परस्परं सममित्यादावेकवाक्येऽप्युपमेयोपमास्त्येवेति कथमसंभव
इति शङ्काम् । तत्राप्यरविन्देन मुखं समं मुखेन चारविन्दमित्यर्थतो वाक्यभेदस-
त्वादित्याशयात् । नन्वेवं सति मुखमिव चन्द्र इत्यत्रोपमेयोपमाया अभावात्कथ-
मलंकारः स्यादत आह—मुखमिवेति । ननु ‘रजोभिः स्यन्दनोद्धतैः’ इति

१. ‘न केवलमिति । एवकारो भिन्नक्रमः । सा नितम्बिन्येव केवलं नितम्बिनीव
नितान्तकान्तिर्मातीति न । यावत् । अपिस्त्वर्थे । तेऽनुभवैकगोचरास्तस्या विलासास्त-
द्विलासा इव भ्रान्तीति वचनविपरिणामेनान्वयः । कीदृशा विलासाः । विलासायुधस्य

उपमेयोपमेति यौगिकी संज्ञा । विपर्यासश्चायमुपमानान्तरव्यवच्छेदार्थः ।
उदाहरणम्—

‘कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥’

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

समेनेत्यत्र सह एकरूपतयेति शेषः । तेन प्रकृतस्य संभविनोऽर्थस्य समेना-
संभविना सहैकरूपतया यत्संभावनं तदुत्प्रेक्षालंकार इत्यर्थः । सा चेयं हेत्वा-
दिसंभावनाभेदाद्बहुप्रकारा । तत्र हेतुत्प्रेक्षा यथा—

‘उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।

रघुचतुर्थसर्गे, ‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति—’ इत्यादावतिव्याप्तिः ।
तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतीत्या तत्रोपमेयोपमालानङ्गीकारात् । अत आह—
विपर्यासश्चायमिति । व्यवच्छेदार्थं इत्यनन्तरं लक्षणे विवक्षित इति शेषः ।
तथा चोपमानान्तरव्यवच्छेदफलक उपमानोपमेययोर्विपर्यास इति लक्षणं सुस्थ-
मिति भावः । इत्यनन्वयः ॥ २ ॥ उपमेयोपमा च ॥ ३ ॥ उत्प्रेक्षालक्षणार्थं
दर्शयति—**तेनेति ।** यथोक्तशेषपूरणेनेत्यर्थः । ‘हृतसारमिव—’ इत्यत्र नैषधीयद्विती-
यसर्गे संभावनाविषयस्य चन्द्रस्याप्रकृतत्वादाह—**संभविन इति ।** स्वतःसिद्धस्य
विषयस्येत्यर्थः । समेनेत्युपमानेनेत्यर्थे उक्तव्याप्तितादवस्थ्यमतस्तदर्थमाह—
असंभविनेति । असंभावितेनार्थेनेत्यर्थः । आरोप्येणेति वक्तव्ये संभावनाया
आहार्यत्वसिद्ध्यर्थमसंभविनेत्युक्तम् । तदर्थश्चासंभवित्वेन ज्ञातत्वम् । तेन ‘विरक्त-
संध्या—’ इति रघुचतुर्दशसर्गपदे (इत्यत्र) नातिव्याप्तिः । एकरूपतया अभेदेन ।
संभावनमुक्त्युपमानकोटिकसंदेहविषयीकरणम् । तेन संदेहेनातिव्याप्तिः । एतच्च
सादृश्यहेतुकत्वेन विशेषणीयम् । तेन ‘वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमावहसि ।
जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति ॥’ इत्यादौ नातिप्रसङ्ग इति संक्षेपः ।
हेत्वादीति । आदिना फलस्वरूपयोः परिग्रहः । हेतुफलमिदं स्वरूपशब्दार्थः ।

कामस्य लासो नृत्वं तस्य वासा निवासभूताः । नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव । तन्मात्र-
नितम्बिनीसदृशीति वार्थः । तेन स्फुटतया व्यक्त्यैक्यलाभः । एवं च तत्रैव तदुपमानेना-
न्वेतीत्यनन्वयोऽलंकारः । तत्फलं च निरुपमत्वबोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘कमलेवेति । कमला लक्ष्मीः । विभा कान्तिः । धृतिर्धैर्यम् । बत हर्षे । यस्य
राशो मतिकलादिकमन्योन्यसदृशं विभातीति निर्गलितान्वयः । सेयं तृतीयसदृशव्यवच्छे-
दफला उपमेयोपमा ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘उन्मेषमिति । हे ललिततनु’
लक्ष्मीः मन्ये इति हर्षात्तव पादयोर्लभेति संबन्धः । तेन हर्षरूपहेतुत्प्रेक्षेयम् । इति
किम् । यो मम प्रकलक्ष्म्या जातिवैरी सहजशङ्कनिशायामुन्मेषमुदर्यं न सहते तस्येन्दोः

नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्रकान्त्येति हर्षा-

लुप्ता मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥'

अत्र पद्मलक्ष्म्याः कामिनीचरणयोः स्वभावलक्षणत्वं यथोक्तहर्षहेतुकलक्षणत्वता-
दात्म्येन संभावितम् । स्वरूपसंभावनं यथा—

‘लिम्पतीव तमोऽङ्गानि किरतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥’

अत्र गम्यमानं तमसो व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितमिति स्वरूपो-
त्प्रेक्षेयम् । अत एव ‘तमसो लेपनकर्तृत्वमत्रोत्प्रेक्ष्यम्’ इत्यलंकारसर्वस्वकार-
मतमपास्तम् । विवक्षितविवेकेन लेपनमात्रस्यैवोत्प्रेक्षणात् । एवं फलाद्युत्प्रे-
क्षाप्यूहनीया ।

ससंदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥ ६ ॥

ननु ‘उन्मेषं—’ इत्यादौ हर्षस्य हेतुत्वेन लगने संभावनं न त्वभेदेनेति कथमुक्तल-
क्षणसमन्वयस्तत्राह—अत्रेति । अत्र लक्षणत्वस्य तादात्म्येन संभावनोक्तिः फलतः
पर्यवसानामिप्राया । तस्य पदार्थैकदेशत्वात् । किं तु स्वभावलक्षणायां हर्षहेतुकल-
क्षणाया अभेदेन संभावनं बोध्यम् । हेतुत्प्रेक्षाव्यपदेशोऽपि पर्यवसानत एव । दध्ना
जुहोतीत्यस्य दधिविधित्वव्यपदेशवदित्यूहम् । एवम् ‘चोलस्य यद्धीतिपलायितस्य
भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः । अद्यापि किं वानुभविष्यतीति व्यापाटयन्द्रष्टुमिवा-
क्षराणि ॥’ इति फलोत्प्रेक्षायामपि स्वाभाविके कण्टककर्तृकव्यापाटने ललाटाक्षर-
दर्शनफलकपाटनतादात्म्यसंभावनमिति लक्षणसमन्वयो द्रष्टव्य इति दिक् । ननु
‘लिम्पतीव—’ इत्यत्र तमोव्यापनस्यानुपादानात्कथं तत्र तादात्म्येन लेपनसंभावनत्वं
आह—अत्रेति । गम्यमानं व्यञ्जनया प्रतीयमानम् । उत्प्रेक्षायाश्चाध्यवसानगर्भ-
त्वाद्विषयस्यानुपादानेऽपि न दोष इत्यप्याहुः—अत एवेति । प्रकाशग्रन्थादेवेत्यर्थः ।
युक्तिमप्याह—विवक्षितेति । तथा च विवक्षितस्यैव साक्षादुत्प्रेक्षासंभवेन
तत्कर्तृत्वानुभावनं न युक्तमिति भावः । नव्यास्तु “अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे
भृगुर्महान्यत्कुचशैलशीली । नानारदाह्लादिमुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः ॥”
इति नैषधीयपद्ये मोहनरूपधर्मस्याधारतासंबन्धेन मुनिपूतप्रेक्षादर्शनादभेदेनैवोत्प्रेक्षेति
नियमो न युक्तः । न च मुनिगतधर्मविशेषे मोहस्याभेदेनोत्प्रेक्षितकल्पना युक्ता ।
अनुभवविरोधात् लक्षणानुपमानुरोधेनानुभवबाधायोगात् । एवं च लिम्पतीवेत्यत्रापि
तमसि लेपनकर्तृत्वोत्प्रेक्षैव युक्ता । आख्यातार्थकर्तृत्वस्य प्रथमान्तपदोपस्थाप्येऽन्व-

सौन्दर्यगर्वोऽनया इन्दीवरदलदृशा कर्तृभूतया वक्रकान्त्या करणभूतया प्रसभं बलाच्छान्तिं
नीत इति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘लिम्पतीति । गाढान्धकारवर्णनमिदम् । तमः कर्तृ अङ्गानि लिम्पतीवेति व्यापनस्य
लेपनत्वेनोत्प्रेक्षा । एवं च तमोव्यापनवृष्टित्वेनापीति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

भेदो वैधर्म्यम् । संशयस्तु कविप्रतिभानिमित्त एवालंकारो न तु स्वारसिकः
स्थाणुपुरुषादिविषयो वा । वैविध्याभावात् । अत्र संशयः ससंदेह इति लक्ष-
णम् । भेदोक्तौ तदनुक्तौ चेति विभागः । तत्र भेदोक्तौ यथा—

‘अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तमिरितः

कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।

कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं

समालोकयाजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥’

अत्र मार्तण्डत्वादीनां संदेहे सप्ततुरगत्वादीनि वैधर्म्याणि तदाश्रयेषूक्तानि ।
न चायं व्यतिरेकालंकारः । तस्य संदेहानुयायितया तेनैव व्यपदेशौचित्यात् ।

यस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । किं च निगीर्णे व्यापने लेपनोत्प्रेक्षाङ्गीकारे तस्या
विधेयत्वेन प्रत्ययो न स्यात् । उद्देश्यस्य पृथक्पदानुपात्तत्वात् । इवशब्दान्वितस्यो-
त्प्रेक्षाया उत्सर्गसिद्धत्वाच्च । तस्मात्स्वरूपोत्प्रेक्षा द्विविधा धर्म्योत्प्रेक्षा धर्मोत्प्रेक्षा
चेत्याहुः । अथोत्प्रेक्षायामन्वयबोधप्रकारोऽभिधीयते—तत्रोत्प्रेक्षायां पञ्चम्यथो
हेतुः । तत्र प्रकृत्यर्थहर्षादेरभेदेनान्वयः । हेतोश्च प्रयोज्यतासंसर्गेण लगने तस्य
चाभेदेन स्वाभाविके लगने संभावनं प्राचां मते । तेन हर्षहेतुकलगनतादात्म्य-
संभावनाविषयः पादयोः पद्मशोभालगनमिति बोधः । नव्यनये तु हेतोरेव प्रयो-
ज्यतासंसर्गेणोत्प्रेक्षणाद्धर्षहेतुप्रयोज्यमिव लक्ष्मीलगनमिति बोधः । एवं द्रष्टुमिवा-
क्षराणीति फलोत्प्रेक्षायामभेदेन प्रकृत्यर्थान्वितस्य तुमुनर्थफलस्य साधनत्वसंसर्गेण-
पाटनेऽन्वयात्तस्य च स्वाभाविके तादात्म्येन संभावनाल्लज्जटाक्षरदर्शनाभिन्नफलक-
पाटनाभिन्नमिवैतत्पाटनमिति बोधः । नव्यनये तु फलस्यैव साधनत्वं संसर्गेणोत्प्रेक्षण-
मिति दर्शनफलकमिव पाटनमिति बोधः । एवमन्यत्राप्युक्तम् । इत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥४॥
अत्रेति । ससंदेह इति लक्ष्यनिर्देशः । संशय इति लक्षणम् । अत्र च प्रकृतस्य
समेनेत्यनुवर्तते । तथा च प्रकृतविषयसमकोटिकः संशयः ससंदेहाख्योऽलंकार
इत्यर्थः । समेनेत्यनेन सादृश्यप्रयोज्यत्वलाभात् ‘अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी
तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् । निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरन्निखो-
कीविजयार्जितान्यपि ॥’ इत्यादौ नातिव्याप्तिः । स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादिसंशयस्य
तु सादृश्यप्रयोज्यत्वेऽपि कविप्रतिभेत्यादिना चमत्कारित्वोक्तस्तदभावादेव नाति-
व्याप्तिरिति ज्ञेयम् । अत्र समेनेत्यनेन सादृश्यस्यैव समानकोटिकत्वस्यापि लाभा-
दुत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः । न चायमिति । असंख्यतुरगयुक्तत्वादिना राज्ञो मार्तण्डाद्यु-

१. ‘अयमिति । हे राजन्, त्वामाजौ रणे चिरं निपुणं समालोक्य प्रतिभटाः शत्रव
इति विकल्पान्संशयान्विदधति कुर्वन्तीत्यन्वयः । चिरं विदधतीति वा । ‘तिरः’ इति पाठे
तिर्यगित्यर्थः । तेन त्रासध्वननम् । इति कीदृक् । तत्राह—अयमित्यादि । इतः युक्तः ।
पद्मकृशानुनियतं निश्चितं सर्वा दिशो न प्रसरतीत्येवं वैधर्म्योक्तिषटितो मार्तण्डत्वादि-
संशयः ।’ इत्यादिहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

ननु भट्टोद्भटेन भेदोक्तौ निश्चयगर्भं एवायं स्वीकृतो न तु निश्चयान्तोऽपि तत्किमस्यापि स एव पन्थाः । नेत्युच्यते । कुत एतत् । भेदोक्ताविति विभजनात् । निश्चयान्तस्यापि तत्संभवात् वैचित्र्यानुभवाच्च । यथा—

‘इन्दुः किं क कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम् ।

ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः ॥’

तत्किं भट्टोद्भटेनायमुपेक्षितः । प्रतीयमानवद्वाच्ये तादृग्वैचित्र्याभावादिति गृहाण । भेदानुक्तौ यथा—

‘अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥’

अत्र शङ्क्यमानस्य प्रजापत्यादेः कस्यापि न वैधर्म्यमुक्तम् ।

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

अभेदोऽभेदारोपः । बीजं तु तत्रातिसाम्यम् । अभेदश्चात्रानपहृतभेदयोर्वि-

पमानेभ्य आधिक्योक्तेरिति भावः । परिहरति—तस्येति । प्रथमतः संदेहप्रतीतेरनन्तरं च वैधर्म्योपन्यासेन व्यतिरेकप्रतीतावप्युपजीव्यत्वात्संशयचमत्कृतावेव पर्यवसानमित्यर्थः । अस्यापीति । प्रकृतसूत्रकर्तुरपीत्यर्थः । प्रतीयमानवदिति । निश्चयगर्भे हि वैधर्म्योक्त्या निश्चयो व्यङ्ग्यः निश्चयान्ते तु स वाच्य इति चमत्कारापकर्षादुत्प्रेक्षित इत्यर्थः । अत्रेति । प्रजापत्यादेरित्यादिपदेन चन्द्रादिपरिग्रहः । अत्र हि चन्द्रादौ प्रजापतिसंदेह इति वीक्षिताः । एतत्प्रजापतौ चन्द्रादिसंदेह इत्यन्ये । उभयथापि वैधर्म्यानुक्तिरित्यर्थः । इति संदेहालंकारः ॥ ५ ॥ अभेदारोप इति । अभेदेन सामानाधिकरण्येनारोप इत्यर्थः । सारोपलक्षणयोः सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनमिति यावत् । तदुक्तम्—‘यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् । उपमेये भवेद्वृत्तित्त(दा त) रूपकं भवेत् ॥’ इति । अलंकारभाष्यकारोऽपि लक्षणापरमार्थं यावता रूपकमित्याह । अतिसाम्यं धर्मबाहुल्यम् । तुशब्देन च वृत्तौ तस्य निमित्तत्वमात्रेणोक्तिर्न तु लक्षणाघटकतयेति ध्वनितम् । उपमानोपमेययो-

२. ‘इन्दुरिति । अत्र इति प्राक्संदिग्धमिति पूर्वार्धशेषो बोध्यः । ललितानि च तानि सविलासानि चेति विग्रहः । परतः पश्चात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अस्या इति । विक्रमोर्वशीये उर्वशीं प्रकृत्य पुरुरवस इत्युक्तिः । अस्याः सर्गविधौ यः प्रजापतिरभूत्स कान्तिप्रदश्चन्द्रो नु इत्येवं चन्द्रत्वादिकोटिकः संशयः । पुष्पाकरो मासो मधुमासः । संदेहे कारणमाह—वेदेत्यादि । विषयेभ्यो व्यावृत्तं कौतूहलं यस्य स पुराणो मुनिर्नृणां (नारारोषणः) इदं रूपं कथं नु निर्मातुं प्रभवेदित्यन्वयः । तथा च साधारणलङ्घनसंभवात्संदेह इति भावः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

वक्षित इति नापहृतावतिव्याप्तिः । तदेतद्विविधम्—सावयवं निरवयवं च । तत्रार्थं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च । द्वितीयं तु शुद्धभात्रमित्यर्थे विभागे लक्षणमाह—

समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥ ७ ॥

आरोपिता आरोप्यमाणाः । ते सर्वेऽपि यद्यारोपविषयवच्छाब्दा एव भवन्ति तदा समस्तवस्तुविषयं नाम रूपकम् । समस्तं वस्तु आरोप्यमाणं विषयः शब्द-प्रतिपाद्योऽत्रेति व्युत्पत्तेः । आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितमित्यारोप्यद्वय-स्थले नाव्याप्तिः । उदाहरणम्—

‘ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-

न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।

द्वीपाद्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले

न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥’

अत्र पादत्रये ज्योत्स्नादिषु भस्मत्वादिकमारोप्यमाणं सर्वं शाब्दम् । नन्विदं रूपकोदाहरणं न युज्यते । साधकबाधकाभावेन रूपकोपमयोः संदेहात्संदेह-लक्षणसंकरौचित्यादिति चेत्, भवेदेवम् यद्यन्तर्धानव्यसनरसिकत्वं विशेषणं न स्यात् । तद्वि रूपकपरिग्रहे साधकम् । कापालिक्यां तत्संभवाद्रात्रावसंभवाच्च । उपमापरिग्रहे तु रात्रेरेव प्राधान्यात्तस्यानन्वय एव स्यात् ।

रित्यनेनैव हेतुहेतुमतोरभेदोक्तौ कोकिलानन्दो वसन्त इत्यादावतिप्रसङ्गप्रसङ्गात् । सारोपेत्यादिना चातिशयोक्तिव्यावृत्तिः । अपहृतभेदयोरिति । भेदो वैधर्म्यं मुखत्वादि । एतच्चोपमापदस्योपमेयतावच्छेदकविशिष्टपरत्वादेव लभ्यत इति ज्ञेयम् । अथवा गौणसारोपलक्षणामूलव्यङ्ग्यरूपोऽभेदारोप एव रूपकमस्तु । उपमातो वैचित्र्यस्य तत्प्रयुक्तत्वात् । यत्कृतं वैचित्र्यं तस्यैवालंकारत्वौचित्यात् । व्यङ्ग्यस्यापि वाच्योत्कर्षकत्वेनालंकारान्तर्भावस्याप्रस्तुतप्रशंसानन्वयोपमेयोपमादावङ्गीकारात् । परम्परितरूपके ‘नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यत्’ इत्यारोपपदस्य प्रयोगाच्च ‘उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम्’ इति वामनसूत्राच्च ‘भ्रमिमरति-मलसद्दयतां’ इत्यादौ हालाहलरूपं व्यङ्ग्यं वाच्यस्य भुजगरूपणस्य सिद्धिकृदिति ग्रन्थे रूपकस्य वाच्यत्वोक्तिस्तु वाच्यायमानत्वाभिप्राया साधारणगुणानां तत्प्रति-योजकानां रूपकपदेनोपादानाद्वोपपादनीयेति दिक् । तदेतदिति । परम्परि-

१. ‘ज्योत्स्नेति । इयं रात्रिरेव कापालिकी योगिनीति प्रधानरूपकम् । एतन्निर्वाहका-ग्र्यपराणि विशेषणानि । चन्द्ररूपे मुद्राकपाले न्यस्तं लाञ्छनस्य च्छलेन सिद्धाञ्जनस्य परि-मलं चूर्णं दधती धारयन्ती । दीक्षाकालगृहीतोपकरणेषु मुद्रोपनाम्ना पाखण्डानां व्यवहारः इति चण्डीदासः । मुद्रापरिमलशब्दौ प्रशंसार्थावित्यन्ये । मुद्रा चिह्नं तद्रूपे कपाल इति वा । ज्योत्स्नारूपेण भसना द्युरणमङ्गलेपस्तेन धवला । तारकारूपाण्यस्थीनि बीभ्रती । अन्तर्धानस्य व्यसने कौतुके रसिकेति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।

ते इत्यारोपिताः । तथा च यत्र केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः केचिदर्थ-
सामर्थ्यादवसेयास्तदेकदेशविवर्ति । एकदेशे विशेषेण वर्तत इति व्युत्पत्तेः ।
उदाहरणम्—

‘अस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलगलअम् ।

रससंमुहा वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥’

अत्र रणेऽन्तःपुरत्वमारोप्यं शाब्दम् । मण्डलाग्रलताया नायिकात्वं रिपु-
सेनायाः प्रतिनायिकात्वं चारोप्यं न शाब्दम् । किं त्वन्तःपुरत्वारोपसामर्थ्या-
देवावसीयते । अन्यथा तस्यापर्यवसानात् । अत एकदेशे विशेषेण वर्तनादेक-
देशविवर्ति ।

साङ्गमेतत्

साङ्गं सावयवम् । एतदुक्तप्रकारद्वयवदित्यर्थः । साङ्गत्वमनेकरूपकसमुदायः ।
एकस्मिन्नरूपके द्वितीयस्याङ्गत्वेनावस्थानात् । अङ्गशब्दस्य हेत्वर्थत्वात् ।

निरङ्गं तु शुद्धं

निरङ्गमद्वितीयम् । तच्छुद्धमेवेत्यर्थः । यथा—

‘कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु य-

त्सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।

तरूपकमेदस्य श्लेषमूलस्य शब्दार्थोभयालंकारत्वात्तद्विभागानुक्तिः । ‘यस्य
रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् । रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति
रिपुसेना ॥’ मण्डलाग्रः खङ्गः स एव लताकारत्वाद्धता । रसो वीरः शृङ्गारश्च ।
अन्यथेति । नायिकात्वारोपं विना तस्याः पुरत्वारोपत्वस्यापर्यवसानादनुपपन्नत्वादि-
त्यर्थः । समुदाय इति । परस्परापेक्ष इति शेषः । यथाश्रुते मालारूपकेऽपि तत्त्वा-
पत्तेः । तत्रानेकेषामपि रूपकाणां परस्परानपेक्षत्वात्तद्व्यावृत्तिः । अयमर्थोऽङ्गश-
ब्दादेव लभ्यत इत्याह—एकस्मिन्निति । नन्वेकदेशित्वरूपमङ्गत्वं मालायामपि
प्रत्येकमस्तीत्याशङ्कानिरासायाह—अङ्गशब्दस्येति । असाङ्गस्यैव शुद्धस्यैव । पूर्वश-

१ ‘मण्डलाग्रलतां खङ्गलताम् । करे कुर्वतो धारयतः । शुद्धार्थं रतार्थं च । अन्तःपुर-
त्वारोपसामर्थ्याद्धताया नायिकात्वावगमात् । रसेन वीररसेन शृङ्गारेण च । संमुखी युयुत्सु
रिरसुश्च । पराङ्मुखीभवति भयाशुद्धाश्रिवर्तते कोपात्प्रियसंगमाच्च । इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः । २ ‘यद्यस्माद्रीतध्वनिषु सत्सु अङ्गानि स्तिमितयति निश्चेष्टानि करोति । तथा
श्रुतमपि कान्तस्योदन्तं श्रुतान्तं सखीं प्रति पुनः प्रश्नविषयं करोति । यस्माच्चानिद्रं नेत्रमुद्र-
णादिशून्यं यथा स्यात्तथा अन्तः स्वपिति । कान्तैकतानान्तःकरणतया विषयाच्च गृह्णाति । अहो
इति संबोधने । हे सखि, तत्तत्सान्मनसिजः अस्या हृदि उद्भूतामिति शेषः । अभिनवां
प्रेमरूपां ललितं सखीं प्रवृत्त इति वैधीत्यन्वयः । अभिनवेति सौकीन्यसूचनम् ।’ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्यभिनवां
 प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥'
 अत्र प्रेममात्रे लतिकात्वारोपः ।
 अथ साङ्गस्यैव वैचित्र्यान्तरमाह—

माला तु पूर्ववत् ॥ ८ ॥

यथैकत्र बहुपमानयोगे मालोपमा तथैकत्रानेकधर्मारोपे मालारूपकमित्यर्थः ।
 यथा—

‘सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
 कान्तेः कर्मणकर्म नर्मवचसामुल्लासनावासभूः ।
 विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
 बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥’

नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यत् ।
 तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥ ८ ॥

नियतस्य मुख्यस्यारोपो वस्तुन्तरतादात्म्यप्रतीतिस्तस्योपायः कारणं यः पर-
 स्यामुख्यस्यारोपस्तत्परम्परितम् । रूपणानां कार्यकारणभावरूपा परम्परा संजा-
 तात्रेति योगाविति केचित् । वस्तुतस्तु नियतमारोपणमुपायो यत्र । आरोपणं
 विना यदारोपणं न संभवत्येवेति यावत् । एवंभूतः परस्यान्यस्यारोपः स तथा ।
 एवं चैकरूपणानन्तरं परम्परितम् । कार्यकारणभावरूपा परम्परा संजातात्रेति
 व्युत्पत्तेः । श्लिष्ट इत्यादि । तदेतद्विविधम् । उपायभूते रूपके आरोप्यारोपवि-
 धययोर्वाचकस्य श्लिष्टत्वाद्भिन्नरूपत्वाच्चेत्यर्थः । तत्राद्यं यथा—

‘विद्वन्मानसहंसवैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
 दुर्गामार्गणनीललोहितसमिस्त्रीकारवैश्वानर ।

ब्देनोपमापरामर्श इत्याह—यथेति । एतदेव सूत्रं सूत्रवृत्तिकृतोरेकत्वे ज्ञापकम् ।
 मालोपमायाः सूत्रानुक्ताया वृत्तावेव कथनादित्याहुः । केचिदिति । अत्र च साव-
 यवरूपकस्यापि परम्परितत्वप्रसङ्गेऽस्वरस इत्यतः स्वयं तदर्थमाह—वस्तुतस्त्विति ।
 एवं चेति । एकरूपणानन्तरं रूपकमिति शेषः । सावयवे तु ज्योत्स्नाभस्मेत्यादौ

१. ‘सौन्दर्यस्येति । तरङ्गिणी नदी । सौन्दर्यस्य तरङ्गवत्त्वावगमेनोत्तरोत्तरविच्छेद-
 लामः । हर्षोद्गमश्च योग्यस्यानलाभात् । कर्मणकर्म वशीकरणम् । नर्मरहसां (वचसां)
 कीदारहस्यानामुल्लासनाया जृम्भणस्य वासस्थानम् । वक्रोक्तीनां विद्या शिक्षाशास्त्रम् ।
 विधेर्नैषणो निरवधिनिपुणतायां साक्षात्कारः । सा प्रियेत्येकस्यां प्रियायां बहुनामारोपा-
 न्मालारूपकम् । पञ्चशिलीमुखः कामः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘य आरोपः’ क.
 ३. ‘चैकरूपणहेतुकं रूपणान्तरं’ ग. ४. ‘रूपे’ क. ५. ‘विद्वदिति । हे वरवीर
 प्रभो, त्वं वैरिञ्चं ब्राह्म्यं वत्सरशतमुच्चैः सात्राज्यं क्रिया इत्याख्यातपदम् । कीदृशः ।

सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीमप्रभो

सांज्ञाज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥'

अत्र विदुषां मानसं मानसं सरोविशेष इत्यारोपहेतुकं राज्ञो हंसत्वारोप-
णम् । तत्र चारोपविषयारोपणीययोर्हृदयसरोविशेषयोः श्लेषवता मानसशब्दे-
नैवाभिधानम् । एवमग्रेऽपि । तत्र वैरिकमलायाः संकोच एव कमलानामसं-
कोचः । दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गाया मार्गणम् । समितां स्वीकार एव समिधां
स्वीकारः । सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः । विजयः परपराभव एव विजयोऽर्जुनः ।
एवमारोपहेतुकं सूर्याद्यारोपणमिति । ननु श्लेषस्य शब्दपरिवृत्त्यसहृतया शब्दा-
लंकारत्वमित्युक्तं वक्ष्यते च । तथा च श्लेषपरम्परितमुभयालंकारो युज्यत इति
तदवसर एव वक्तुमौचित्यात्किमित्यर्थालंकारमध्ये पठित इति चेत्, सत्यमेतत् ।
तथापि श्लेषापवादकं रूपकमित्यलंकारसर्वस्वकारादिप्रसिद्धानुरोधेनोक्तः । तथा
प्रसिद्धौ किं बीजमिति चेत्, मानसत्वादीनामार्थत्वम् । इदं हि तैरेकदेशविवर्ति-
त्युच्यते । द्वितीयं यथा—

‘आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्धारिधेः

पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।

ज्योत्स्नादिषु भस्माद्यारोपाभावेऽप्यनेकद्वीपभ्रमणादिप्रसिद्धसादृश्येन राज्ञो कापालिकी-
त्वारोपसंभवाच्च परम्परितत्वप्रसङ्ग इति भावः । उक्तं नवम इत्यर्थः । वक्ष्यते चाग्र
इत्यर्थः । तदवसरे उभयालंकारप्रस्तावे । मानसत्वादीनामिति । सरोविशेषत्वा-
दीनामित्यर्थः । आदिना कमलविकासित्वादिसंग्रहः । आर्थत्वमर्थगम्यत्वम् । खङ्गल-
ताया इव नायिकात्वमित्यर्थः । नन्वेकदेशविवर्तित्वं सावयवस्यैव भेदो न तु परम्प-
रितस्येत्याशङ्क्याह—इदं हीति । मूले इदमपीत्यन्वयः । एकपदोपस्थितयोरन्तःक-
रणसरोविशेषयोरभेदाध्यवसायेऽपि नैकत्रापरारोपः । तस्य भेदेन विषयनिर्देशापेक्ष-
त्वात् । अन्यथा विषयनिगटनात्मिकायामतिशयोक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । तस्मादार्थ
एवायमारोप इत्येकदेशविवर्तित्वमत्रापि युक्तमिति । स्वमते त्वभिधामूलव्यञ्जनोपस्थि-

विदुषां मानसमेव मानसं सरस्तत्र हंसरूपेति हंसत्वारोपे श्लेषबलान्मनसि सरोविशेषारोपस्य
हेतुत्वात्परम्परितरूपकम् । एवमग्रेऽपि । वैरिकमलायाः संकोच एव कमलानामसंकोच-
स्तेन दीप्त्युते सूर्य । दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गाया मार्गणमन्वेषणं तेन नीललोहित शिव ।
समितां सङ्ग्रामाणां स्वीकार एव समिधां स्वीकारस्तेन बह्वे । सत्ये प्रीतिरेव सत्यां दक्षकन्यायाः
मप्रीतिस्तद्विधाने कुशल एव दक्षप्रजापतिरूप । विजयः परपराभव एव विजयोऽर्जुनस्तस्या-
ग्भावः प्राक्सत्त्वमग्रजत्वं च तेन भीम भीषण भीमसेन चेति ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

१. ‘आलानमिति । जय एव कुञ्जरो हस्ती तस्यालानं बन्धनस्तम्भ इति । मुजे आलान-
त्वारोपे जये कुञ्जरत्वारोपो हेतुः । एवमग्रेऽपि । विपद्रूपसमुद्रस्य पाषाणसेतुः । तदुत्तारणक्ष-
मत्वात् । करवालः खड्ग एव चण्डमहाः सूर्यस्तस्य पूर्वाद्रिरुदयाचलः । लीला सुखत्वापस्तत्रो-
पधानं शिरोनिधानं तूलपटः । सङ्ग्राम एवामृतसागरः । वीराणां वैरिणां वा वनितास्तासां
नैवव्यपदः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

सङ्ग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजनराजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥'

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यकुञ्जरत्वा(द्या)रोपे सति भुजे आलानत्वाद्या-
रोपो युज्यते । इदमुदाहृतभेदद्वयं परम्परितमालारूपम् । अमालारूपमपि
तद्द्रष्टव्यम् । तत्र श्लिष्टवाचके यथा—

‘अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगन्नयः ।

स्तूयते देव सद्दंशमुक्त्तरत्नं न कैर्भवान् ॥’

अत्र वंशोऽन्ववाय एव वंशो वेणुरिति । भेदभाजि यथा—

‘निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।

प्रथम इह भवान्स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवह्लिकन्दः ॥’

अत्र लोकशब्दाद्भिन्नेन वह्लिपदेनारोप्यमाणमुक्तम् । परम्परिते चारोप्यारो-
पविषयानेकत्वेऽपि नालंकारानेकत्वम् । संभूय वैचित्र्यप्रकर्षाधायकत्वात् । एवं
मालारशनयोरपि द्रष्टव्यम् । यद्यपि रशनारूपकमपि रूपकं संभवति । यथा—

‘किसलयकैरलंतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।

नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥’

तस्य सरःप्रभृतेर्मनःप्रभृतौ व्यञ्जनयैवारोपोऽन्यत्र तु खङ्गलतादावार्थिक इति विशेषा-
च्छेषाङ्गकमेवैतदिष्टम् । वेणुरिति त्यनन्तरं श्लिष्टमिति शेषः । नालंकारानेकत्व-
मिति । न रूपकालंकारानेकत्वमित्यर्थः । अलंकारस्य चमत्कृतिजनकरूपत्वात्-
स्याश्च चमत्काररूपकार्यैक्येनैक्यादित्यर्थः । परम्परितेति च सावयवोपलक्षणम् ।
न्यायसाम्यात् । ननु सापेक्षानेकस्थलेऽलंकारभेदाभावेऽपि निरपेक्षानेकरूपकमा-
लायां कथं नालंकारभेद इति चेत्, सत्यम् । जातावनपेक्षत्वेऽपि चमत्कृतिविशेष-
जनने सापेक्षत्वादेकत्वम् । लोकेऽपि मालारशनादीनामेकालंकारत्वमुक्तहेतुकमेव
प्रसिद्धम् । रशनेति । पूर्वपूर्वमारोप्यमाणानामुत्तरत्रारोपविषयत्वरूपमित्यर्थः । यथा

१. ‘अलौकिकेति । अलौकिकस्य महस्योत्सवस्यालोको दर्शनं तेन प्रकाशितं जगन्नयं
येनेति राजपक्षे । मुक्तामणिपक्षे तु—महालोको महादीप्तिः । सद्दंशो महाकुलमेव महावेणुस्तत्र
मुक्त्तरत्नम् । वंशोद्भवमुक्ताया बहुमुख्यत्वाद्बलत्वोक्तिः । भवान्कैर्न स्तूयत इत्यन्वयः ।
‘स्तूयसे’ इत्यपवादः । ‘युष्मद्युपपदे’ इत्यत्रार्थग्रहणाभावात् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. निरवधीति । स प्रथम आद्यः कूर्ममूर्तिर्भवान् जयतीति विष्णुं प्रति भक्तोक्तिः । यस्य स्थितं
स्थितिर्निरवधि कालपरिच्छेदशून्यम् । सर्वाधःस्थितत्वादाश्रयशून्यं च । अत एवानिवर्तितः
कौतुकस्याश्रयस्य प्रपञ्चो विस्तारो येन तत् । कीदृशः कूर्ममूर्तिः । चतुर्दशलोकरूपा या
वह्लिस्तस्याः कन्दः’ । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘किसलयेति । मदनः कामिनां मनो
जयतीत्यन्वयः । कैः तत्राह—किसलयेत्यादि । लतानां पल्लवरूपैः कैः करकमलैर्मुखेन्दुभिरि-
त्युभयत्रापि योषितामन्वयः । अत्र पूर्वमारोप्यमाणस्य करादेरुत्तरत्रारोपविषयत्वादृशनारू-
पकम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

इत्यादि । तथापि न तादृशवैचित्र्यवदिति न पृथग्लक्षितम् ।

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

प्रकृतमुपमेयं निषिध्य असत्यतया व्यवस्थाप्य अन्यदप्रकृतमुपमानं यत्साध्यते सत्यतया व्यवस्थाप्यते सा अपह्नुतिः । सा च शाब्दी आर्थी चेति द्वेधा । तत्राद्या यथा—

‘अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये

कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।

अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे

रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥’

किसलयेष्वारोप्यमाणानां करणां कमलारोपविषयत्वं कमलानां च मुखारोपविषयत्वमिति । अत्र करकमलैरिति मुखेन्दुभिरिति च योषिताविल्यनेनान्वेतीति ज्ञेयम् । न तादृशेति । यथोपमायां भणितिरिवेत्यादौ राजसंबन्धितया वर्णनीयानां भणित्यादीनामुपमानोपमेयतया ग्रन्थनं प्रकृतोत्कर्षपर्यवसायितया वैचित्र्यहेतुस्तथा नेत्यर्थः । अथात्र शाब्दबोधप्रकारः कथ्यते—तत्र प्राचां मते विषयिवाचकपदेन विषयवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितस्याभेदेन विषयेऽन्वयान्मुखं चन्द्र इत्यादौ चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमित्यादिधीः । मुखचन्द्र इति विशेषणसमासे तु मुखामिन्नं चन्द्रवृत्तिगुणवदिति साधारणगुणमात्रपुरस्कारेण तद्वति विषयपदस्य लक्षणेति मुख्यमते त्वाह्लादकं मुखमिति वाक्ये विशेषणसमासे तु मुखामिन्नमाह्लादकमिति कान्त्या मुखं चन्द्र इत्यत्राभेदस्तृतीयार्थः तस्य चन्द्रवृत्तिगुणे पदार्थैकदेशेऽन्वयः तेन कान्त्यभिन्नचन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति बोधः । लक्षणां विनैवोपमानोपमेययोः समानविभक्तिकपदोपस्थितयोराहार्याभेदबोधवादिनां नव्यानां मते तु मुखं चन्द्र इत्यादौ चन्द्रामिन्नं मुखमिति बोधः । मुखचन्द्र इति विशेषणसमासे तु मुखस्य विशेषणत्वात्तदभेदस्य चन्द्रेऽन्वयाद्यपि मुखरूपकमापद्यते न पुनश्चन्द्ररूपकं चन्द्राभेदस्य मुखेऽनवगमात् तथापि खनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वसंसर्गेण चन्द्रे मुखान्वयस्वीकाराच्चन्द्राभेदरूपकोपपत्तिः । स्वप्रतिप्रयोगिकाभेद एव विशेषणस्य संसर्गो न तु स्वानुयोगिक इति नियमे मानाभावादिति वदन्ति । एतन्मते कान्त्या मुखं चन्द्र इत्यादौ कथं बोध इति चेदत्राहुः—चन्द्राभिन्नमुखादेः कविप्रतिभाकल्पितत्वेन कान्त्यादिगुणानां तत्र प्रयोजकत्वात्कान्त्यादियोजकं चन्द्राभिन्नं मुखमिति बोधः । प्रयोज्यत्वस्य तृतीयार्थत्वादिति । इति रूपकम् ॥ ६ ॥ असत्यतयेति । यथाश्रुते ‘षिखा धूमस्येयं परिभमति रोमावलिबपुः’ इत्यादावव्याप्तेः । संदेहालंकारव्यावृत्त्यर्थं सत्यतयेति । अन्य-

१. ‘चार्थी’ ख-भा. २. ‘अवाप्त इति । परिणतरुचः पूर्णकान्तेः शशाङ्कस्य तत्त्वेन परास्मिन्तस्य वपुषि प्रागल्भ्यं प्रकटतां प्राप्तोऽयं कलङ्को नैव विलसतीत्यपह्नुतिः । तर्हि किं कारणं—अमुष्य चन्द्रस्य विगलदमृतप्रवाहशीतले वरसि गाढं रतिश्रान्ता इयं रजनीरूपा रमणी शेते इति मन्य इति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र कलङ्को नैवायमिति शाब्दोऽपह्नवः । अर्थस्तु बह्वीभिर्भङ्गीभिरालोच्यते । तत्कचित्कपटार्थशब्दोपादानात् । यथा—

‘वत सखि कियदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशोऽस्मिन् रागिलोके तथा हि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोदृङ्कितं कालकूटम् ॥’

अत्र च्छलशब्दबलाच्च सभृङ्गाणि सहकाराणि अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीयते । कचित्परिणामादिशब्दवशात् । यथा—

‘अमुष्मिन् छावण्यामृतसरसि नूनं मृगदशः
स्मरः शर्वशुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिबपुः ॥’

अत्र धूमशिखा रोमावलिबपुः परिणमतीति परिणामशब्दार्थवशाच्चेयं रोमावलिः किं तु धूमशिखेति प्रतीयते । एवं भङ्गवन्तरैरप्युद्धम् । यथा ‘इदं ते केनोक्तं’ इत्यादौ ।

श्लेषः स वाक्य एकस्मिन्यत्रानेकार्थता भवेत् ॥ १० ॥

परिवृत्तिसहानामेव शब्दानामेकवृत्तगतफलद्वयन्यायेन यत्रानेकार्थप्रतिपादकता सोऽर्थश्लेषः । यथा—

त्साध्यत इत्येतावदुक्तौ रूपकातिव्याप्तेः प्रकृतमित्युक्तम् । तन्मात्रोक्तौ च निषेधालंकारे वक्ष्यमाणेऽतिव्याप्तिरत उभयोपादानम् । ‘न पद्मं मुखमेवेदं’ इत्यादावप्रकृतस्य निषेधो न तु प्रकृतस्य । तथा समारोपोऽप्यप्रकृतस्य नेति तद्युदासः । दण्डी तु— ‘अपहृतिरपहृत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् । न पक्षेषुः स्मरस्तस्य सदृशं पत्रिणामिति ॥’ इत्यपहृतिलक्षणं सोदाहरणं ब्रुवन्नुपमानोपमेयानेयमपहृतौ नाङ्गीचके । इत्यपहृतिः । श्लेषः स इति । अत्रार्थश्लेषस्यैवार्थालंकारत्वेन लक्ष्यत्वाच्छब्दश्लेषव्यावृत्त्यर्थमाह—परिवृत्तीति । ‘योऽसकृत्परगोत्राणामित्यादौ तु गोत्रादिशब्दानां परिहृ-

१. ‘वतेति । वत खेदे । अस्मिन्मादृशे रागिलोके अनुरक्तजने कियदपरिमितमेतदैरम् । अस्तीति शेषः । पश्येति तथाहीत्यनन्तरं योज्यम् । उपवनेषु सहकारा आत्रास्तोषूद्भासिनो भृङ्गा भ्रमरास्तब्बाजेन प्रतिवाणमनेन स्मरेण कालकूटमुदृङ्कितं प्रकाशितम् । लापितमिति यावत् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अमुष्मिन्निति । शर्वेण हरेण शुष्टो दग्धः स्मरो छावण्यरूपांमृतसरोवरभूते मृगदृशोऽस्मिन्महति जघनप्रदेशे नूनं निपतितः । यस्य कामस्याङ्गान्येवाङ्गारास्तोषां प्रशमस्य निर्वाणतायाः पिशुना सञ्चिका इयं धूमस्य शिखा नाभिकुहरे रोमावलिमूर्तिः परिणमति । नेयं रोमावलिः किं तु धूमशिखैवेयं तदाकारेण परिणमेत्यर्थमन्याया अपहृतेरुदाहरणद्वयं दर्शितम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुस्तेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः ।
रचयति तथा स्वैराचारप्रवर्तनखण्डनं
वत वत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ॥’

अत्र विभाकरनामा राजविशेषो मार्तेण्डश्रेत्युभयार्थान्युदयमयते इत्यादीनि वाक्यानि । न चायं द्वितीयार्थस्य ध्वनिरेवेति शङ्कनीयम् । संयोगादीनामभावेनाभिधाया अनियन्त्रणाद्वयोरपि वाच्यत्वात् ।

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः

परमप्रकृतम् । भेदकानि विशेषणानि । श्लिष्टान्यनेकार्थानि । तेन प्रकृतार्थ-विशेषणवाचिमात्रशब्दस्य श्लेषमहिम्ना यत्र प्रकृतार्थकेन वाक्येनाप्रकृतार्थवचनं सा समासोक्तिः संक्षेपेणार्थद्वयोक्तिः । मात्रग्रहणाद्यत्र विशेष्यपदस्यापि श्लिष्टत्वं तद्युदासः । तस्य श्लेषत्वात् । उदाहरणम्—

‘लहिऊण तुज्ज बाहुप्फंसं तीए स को वि उल्लासो ।

जअलच्छी तुह विरहे ण हुज्जला दुब्बला णं सा ॥’

अत्र विशेष्यवाचिनो जयलक्ष्मीशब्दस्य परमप्रकृतार्थकत्वं नास्ति । श्लिष्टत्वं चोपलक्षणम् । औपम्यगर्भादीनामपि संभवात् । यथा ‘विलिखति कुचौ’ इत्यादाविति प्राचीनः पन्थाः । अत्र नव्याः—परोक्तिरिति परशब्देन सामान्यतः प्रकृतमप्रकृतं वा विवक्षितम् । तेन यत्राप्राकरणिकविशेषणसामर्थ्यात्प्राकरणिकमुच्यते तदपि संगृह्यते । तत्रापि वैचित्र्याविशेषात् अन्यत्रान्तर्भावाच्च । यथा ‘संप्राप्तसकलाङ्ग-’ इत्यादि । अत्र ह्यप्रकृतस्य भृङ्गस्य विशेषणसामर्थ्यात्प्रकृतस्यासत्पुरुषस्य प्रतीतिरित्याहुः । तत्र युक्तम् । अप्रस्तुतप्रशंसयैव तत्सं-

त्यसहत्वाच्चार्थश्लेष इति भावः । लहिऊणेति । ‘लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः । जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलज्वला दुर्बला ननु सा ॥’ औपम्येति । आदिपदेन साधारणविशेषणसारूप्यसंग्रहः । तत्र साधारणविशेषणवशाद्यथा—‘विलिखति कुचावुच्चैर्गाढं करोति कचग्रहं लिखति ललिते वक्त्रे पत्रावलीमसमञ्जसम् । क्षितिप खदिरः श्रोणीविम्बादिकर्षति चांशुकं मरुभुवि हठान्नदयन्तीनां तवा-

१. ‘उदयमयति । विभाकरनामा राजविशेषः सूर्यश्च । उदयमुदयाचलं समृद्धिः च । अयते प्राप्नोति । दिशां मालिन्यमन्धकारस्तत्तदिगगतदुष्टसामन्ताद्युपद्रवश्च । दिग्गतजनानां दारिद्रेण कुपेयतेत्यन्ये । निद्रया मुद्रा मुद्रणं चक्षुषः निद्रामुद्रा निद्रासदृशी अवस्था आलस्यरूपा च । निधनं नाशम् । क्रिया अग्निहोत्रायाः पक्षद्वयेऽपि । स्वैराचारप्रवर्तनमभिसारादि विधिनिषेधातिक्रमश्च । तत्खण्डनं निवृत्तिं रचयति । इषांतिशयाद्गतवतेति द्विरुक्तिः । तेजःपुञ्जो रश्मिसमूहः कान्तिसमूहश्चेति शेषालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘लहिऊणेति । अत्र बाहुस्पर्शलाभप्रयुक्तोल्लासादिसाधारणविशेषणबलाज्जयलक्ष्मीवृत्तान्तो नायिकावृत्तान्तरूपतया गम्यत इति समासोक्तिरलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

महात् । 'येनास्याभ्युदितेन' इतिवत् । वृत्तौ चाप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणे । तत्र समासोक्तिपदं श्लिष्टविशेषणत्वमात्रपरम् ।

निदर्शना ।

अभवन्वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ११ ॥

यथाश्रुतमात्रेणासंभवी वस्तुसंबन्धो यत्रोपमां कल्पयित्वा पर्यवस्यति सैका निदर्शना । इष्टान्तकरणरूपकनिदर्शनरूपत्वात् । सा च द्विधा—अवान्तरवाच्यभेदे तदभेदे च । तयोराद्या यथा—

‘कं सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥’

रिमृगीदृशाम् ॥’ अत्र कुचविलेखनकचग्रहादिविशेषणानां शब्दश्लेषं विना स्वत एव साधारण्याच्चायकवृत्तान्तस्फूर्तिरिति समासोक्तिः । औपम्यगर्भविशेषणायथा—‘दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी । केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेषणा ॥’ अत्र नायिकाविशेषणत्वस्य दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेल्याद्युपमितसमासेन सिद्धौ दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैरिति समासान्तराश्रयणेन ललनावृत्तान्तस्य समासोक्तिः । सारूप्याद्यथा—‘पुरा यत्र स्रोतः—’ इत्युत्तररामचरितनाटके प्रसङ्गात्कालान्तरे पुनर्दण्डकं गतवतो रामस्यैवमुक्तिः । अत्र वनसारूप्यात्कुटुम्बिषु धनसंतानादिसमृद्ध्यसमृद्धिविपर्ययसं प्राप्तस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्तस्य प्रतीतेः समासोक्तिः । इयं चाप्यध्यक्षितैरेवोक्ता नान्यैरिति संक्षेपः । अस्यां च समासोक्तौ प्रकृतवृत्तान्तोऽभिधायैव प्रतीयते, अप्रस्तुतवृत्तान्तस्तु व्यञ्जनया । प्रकरणेनाभिधाया नियमनात् । तस्य च ताटस्थ्येन प्रतीतावसंबन्धार्थकत्वप्रसङ्गाच्चमत्कारानुपपत्तेश्च । प्रकृते समारोपो न त्वप्रकृतनायकादेः प्रकृते राजादारोपः । प्रमाणाभावात् । आरोपद्वयकल्पनागौरवाच्चेति प्राञ्चः । अप्रस्तुतस्य नायिकादेर्वृत्तान्तविशेषणत्वमवश्यं वाच्यम् । केवलवृत्तान्तस्य चारुत्वाभावात् । एवं चावश्यं व्यञ्जनयोपस्थितस्याभेदेन प्रकृतविशेषणत्वमेव युक्तं न तु वृत्तान्ते भेदेन । एवमप्रकृतवृत्तान्तस्यापि प्रकृतवृत्तान्त एव भेदेनारोप इति युक्तम् । वृत्तान्तद्वयस्यैकत्र द्वयमिति रीत्या बोधस्याननुभवपराहतत्वात् । तस्मादप्रकृतवृत्तान्ताभिन्नतयाध्यवसितः प्रकृतवृत्तान्तः स्वविशेष्ये तद्विशेष्याभिन्नतयावगते भासत इति तु नव्याः । एवं च प्रकृतोदाहरणे नायकीयबाहुस्पर्शलाभप्रयुक्तोल्लासवती जयलक्ष्मीरित्याद्यपक्षे बोधः । द्वितीये तु राजनायकबाहुस्पर्शलाभप्रयुक्तोल्लासवती जयलक्ष्मीनायिकेतीति संक्षेपः । अत्र च बाहुस्पर्शेति साधारणं विशेषणं उल्लास इति श्लिष्ट इति ज्ञेयम् । विशेषणसामर्थ्यान्निन्दागमकविशेषणसामर्थ्यात् । समासोक्तिपदमिति । तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यं

१. ‘संयोगः’ ग. २. ‘कं सूर्येति । स्पष्टम् । अत्रोडुपेन सागरतरणवन्मदीयमत्यासूर्यवंशवर्णनमसंभावितमित्युपमायां पर्यवसानान्निदर्शनालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्राहं सागरं तितीर्षुरस्त्रीत्यस्यासंबद्धार्थकतया उड्डुपेन सागरतरणवन्मदी-
यमत्या सूर्यवंशवर्णनमसंभावितमित्युपमायाः कल्पनम् ।

अन्त्या यथा—

‘उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधानि याति चास्त्रम् ।

वहति गिरिरथं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥’

अत्रान्यलीलोद्ग्रहनस्यान्येनासंभवाद्धारणेन्द्रलीलासदृशीं लीलामित्युपमायां
पर्यवसानम् । एवं च ‘पूर्वोदाहरणे वाक्यार्थ उपमाक्षेपकः इह तु पदार्थमात्रम्’
इति व्याख्यानमनादेयम् । अत्रापि लीलापदार्थमात्रस्यानाक्षेपकत्वात् । एषा
मालारूपापि दृश्यते । यथा—

‘दोभ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजंग-

मादातुमिच्छति करे हरिणाङ्गबिम्बम् ।

मेरुं लिखतिपति ध्रुवमत्र देव

यस्ते गुणान्नादितुमुद्यममादधाति ॥’

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सा परा ।

यत्र क्रिययैव स्वस्य स्वहेतोश्चान्वयो हेतुहेतुमन्नावरूपः ख्याप्यते सा परा
निदर्शना । यथा—

‘उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति भुवन् ।

शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चास्माकमरुतधुतः पतत्यधः ॥’

चेति ग्रन्थे वक्ष्यमाणमित्यर्थः । इति समासोक्तिः । वस्तुसंबन्ध इति । वस्तुनोः
पूर्वार्धापरार्धयोरित्यर्थः । संबन्धोऽन्वयः । अत्रोदाहरणयोः प्रथमे उड्डुपेन सागरतर-
णरूपमुपमानमप्रसिद्धं द्वितीये तु वारणेन्द्रलीलारूपं तत्प्रसिद्धमित्यपि भेदो द्रष्टव्यः ।
लीलापदार्थमात्रस्येति । किं तु तद्ग्रहनरूपवाक्यार्थस्येत्यर्थः । क्रिययैवेत्येव-

१. ‘उदयतीति । माघे रैवतकवर्णनम् । वितता विस्तृता ऊर्ध्वा रश्मय एव रज्जवो
यस्य तादृशे अहिमरुचौ सूर्य उदयति सति हिमधानि चन्द्रे चास्तं याति सति अयं रैवत-
कगिरिरुभयतो विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितस्य वारणेन्द्रस्य गजश्रेष्ठस्य लीलां शोभां वहतीत्य-
न्वयः । अत्रान्यलीलाया अन्यत्रारोपो लीलासदृशीं लीलामित्युपमां गमयति । तत्र चन्द्र-
सूर्ययोर्घण्टयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तत्समर्थनाय च रश्मिषु रज्जुत्वारोप इति बोध्यम् ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘दोभ्यामिति । तरङ्गवतीभुजंगः समुद्रः । लिखतिपति लघुपि-
तुमिच्छति । दोभ्यां सागरतरणादिवस्वदुणभाषणमशक्यमित्यनेकोपमाकल्पनान्मालारूपेयं
निदर्शना ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘उन्नतमिति । दृषत्कणः पाषाणकणः । चारुणा
मन्देनापि मारुतेन धुतः कम्पितोऽधः पतति । किं कुर्वन् । यो लघुः स उन्नतं पदमवाप्य
हेत्येव पतेदिति भुवन्स्वदृष्टान्तेन कथयन् । उन्नतं पदमुत्कर्ष उच्चस्थलं च । लघुरल्पबुद्धि-
रल्पपरिमाणश्च । पतनमुत्कर्षानिरपसंयोगश्च ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र पतेत्पदप्रतिपाद्यस्य पातस्य कार्यस्य लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिरूपस्य कारणस्य च तथा संबन्धः पततिपदप्रतिपाद्यया पातक्रियया प्रतिपाद्यते । तथा च लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिः पाते हेतुर्यथा दृष्टत्कणस्येति दृष्टान्तपर्यवसानाग्नि-दर्शनात्वमिति ।

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥ १२ ॥

प्रशंसा वर्णनम् । सैव अप्रस्तुतप्रशंसैवेत्यर्थः । प्रस्तुताश्रया प्रकृतप्रतिपत्ति-हेतुः । एतच्चालंकारत्वबीजमतिप्रसक्तमिति निवारयति । अप्रकरणिकेन प्राकर-णिकाक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा प्राकरणिकेनाप्राकरणिकाक्षेपः समासोक्तिरिति विवेकः । तां विभजते—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ १३ ॥

सेत्यनुवर्तते । कार्यादिपञ्चके प्रस्तुते तदन्यस्य कारणादिपञ्चकस्याप्रस्तुतस्य वर्णनमिति सा पञ्चधेत्यर्थः । तत्र कार्ये प्रस्तुते कारणस्य वर्णनं यथा—

‘याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्धरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्यया सूचितः ॥’

अत्र प्रस्थानार्थिकं निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणस्य प्रियाया भाविमरणो-त्साहस्य वचनम् । किंशब्दः प्रश्नार्थ इति न कारणप्रस्तावः ।

कारेण शब्दव्यवच्छेदः । ब्रुवन्पततीति पातक्रियाया एव हेतुहेतुमद्भावगमकत्व-स्योक्तेः । तच्च दृष्टान्तविधयैवेत्याह—तथा चेति । इति निदर्शनाप्रकरणम् । अप्रस्तुतप्रशंसेति । अप्रस्तुतप्रशंसापदवाच्यैवेत्यर्थः । एतच्चेति । अन्यवृत्ता-न्तस्यान्यवृत्तान्ताक्षेपकत्वरूपमित्यर्थः । अतिप्रसक्तमिति । समासोक्तावपि सत्त्वादित्यर्थः । आक्षेपेणैवेत्येवकारेणाभिधाय्यवच्छेदः । ननु प्रकरणसहायस्य योगस्य

१. ‘तुल्यस्यैव’ ख. २. ‘याता इति । याताः प्रसिताः किं पुनर्न मिलन्ति अपि तु मिलन्त्येवेति काकुः । मत्कृते मदर्थम् । अतिकाश्यदर्शनादनिष्टाशङ्कया सबाष्पत्वम् । मदीया गमनानिच्छा ज्ञातेति लज्जया मन्धरा स्तम्भा तारका कनीनिका यस्य तेन । तथा निपतत् पीतमशकुनभयात्संहतमश्रु येन तादृशेन चक्षुषा । हसितेनेति । एवं किलास्माभिप्रायो यदि-यं मदिरहेऽपि प्राणान्धारयिष्यतीति प्रहासरूपेणेत्यर्थः । भाविन्यावश्यके मरणे उत्साहः । स च वियोगदुःखशान्तिवाञ्छयेति श्रेयम् । इयं च प्रस्थाननिवृत्तिरूपे कार्ये प्रस्तुते कारणोक्तिरूपा अप्रस्तुतप्रशंसा ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

कारणप्रस्तावे कार्यवचनं यथा—

‘राजन्राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूर्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यबलभावेकैकमाभाषते ॥’

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः प्रपलाय्य गता इति शत्रु-
पलायने कारणे प्रस्तुते तस्याभाषणविशेषरूपं कार्यमुक्तम् ।

सामान्ये प्रस्तुते विशेषवचनं यथा—

‘एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्त्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोद्गीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥’

अत्र जडानामस्थल एव ममत्वसंभावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते पुरुष-
विशेषस्य स ममत्वविशेषोऽभिहितः । विशेषे प्रस्तुते सामान्यवचनं यथा—

‘सुहृद्ब्रूवाप्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान्स नीतिमान्सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥’

अत्र श्रीकृष्णं प्रति शत्रुं निहत्य नरकासुरवधूनां दुःखं यदि शमयसि तदा त्वमेव
श्लाघ्य इति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमुक्तम् । तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः
प्रकाराः विशेषणविशेष्यवाचिनां सर्वेषामपि श्लिष्टत्वस्य, विशेषणमात्रवाचिनो
वा श्लिष्टत्वस्य, श्लेषाभावेऽपि सादृश्यमात्रस्यैव वा प्रकृताक्षेपहेतुत्वात् । आद्यो
यथा—

१. ‘राजन्निति । राज्ञः शत्रुभूतस्य शुकस्तवारिभवने शून्यायां बलमौ भित्तौ चित्रस्या-
नवलोक्यैकैकं प्रतीत्यमाभाषते इत्यन्वयः । कीदृक् । तत्राह—राजन्नित्यादि । कुब्जे इति
तादृश्या भोजिकायाः संबोधनम् । कुमारसहितैः सचिवैरद्यापि किं न भुज्यत इति काकुः ।
अत्र शत्रुपलायने कारणे प्रस्तुते तत्कार्यवचनरूपा ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘एत-
दिति । कस्यचिन्मूर्खस्य वृत्तान्तं कुतश्चिदाकर्ण्य विस्मयेन भाषमाणं कंचित्प्रति कस्यचिदु-
क्तिरियम् । मुखादित्यनन्तरं श्रुतमिति शेषः । तस्य मुखाद्भुतमेतत्कियत् । अल्पमित्यर्थः ।
अपाये वा पञ्चमी । मुखादपगतमित्यर्थः । किं तदित्याह—स जडो मूर्खः कमलिनीपत्रे
स्थितं वारिणः कणं बिन्दुं मुक्तामणिरित्यमंस्तेति यत् । अस्मादन्यदपि शृणु । शनैरादीय-
माने गृह्यमाणे कणे अङ्गुल्यग्रस्य लघुक्रिययात्पचेष्टया प्रविलयिनि विलीने सति मम मुक्ता-
मणिः कुत्रोद्गीय गत इत्यनुदिनमन्तःशोकैः न निद्रातीति । अत्र जडसामान्यप्रस्तावे तदि-
श्लेषाभिधानरूपा ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘सुहृदिति । श्रीकृष्णेन नरकासुरे इते
तत्सुहृदं प्रति तन्मन्त्रिण इत्युक्तिः । प्रतिघातनं प्रतिक्रिया । भाजनं पात्रम् । अत्र विशेषे
प्रस्तुते सामान्याभिधानरूपा ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि

यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।

अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं

केनापि इकप्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥’

अत्र पुंस्त्वादित्यादिविशेषणानां पुरुषोत्तमेनेति विशेष्यस्य च श्लेषात्सत्त्वपुरुष-
प्रतिपत्तिः । न च श्लेष एवायम् । ‘अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसी’ति
न्यायात्प्राग्विष्णूपस्थितौ सत्पुरुषस्याक्षेपेणैवोपस्थितेः । श्लेषसत्त्वेऽप्यप्रस्तुतस्य
प्रथमोपस्थित्यैवाप्रस्तुतप्रशंसात्वात् । द्वितीयो यथा—

‘येनैस्यभ्युदितेन चन्द्र गमितः क्लान्ति रवौ तत्र ते

युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।

क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-

गस्त्वेवं जडधामता तु भवतो यद्योन्नि विस्फूर्जसे ॥’

अत्र विशेष्यवाचिचन्द्रपदं न श्लिष्टम् । तृतीयो यथा—

‘आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।

क्षारीकृतं च वडवाद्दहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥’

अत्र श्लेषाभावेऽपि सादृश्यमात्रेणासत्पुरुषाक्षेपः । यथा वा मम—

‘कौटिल्यं नयने निवारयतरां शीघ्रां गतिं शील्य

व्यक्तार्थां कुरु भारती विहसितेऽप्यौदत्यमायोजय ।

प्रावल्यादाक्षेपानुपयोग इत्यत आह—श्लेषसत्त्वेऽपीति । तथा चोभयत्राभिधा-
व्यापारसत्त्वेऽपि रूढ्यर्थस्याप्रस्तुतस्यापि प्रथमावगतिमात्रेणाप्रस्तुतप्रशंसात्कारत्व-
मित्यर्थः । वस्तुतस्त्वत्राप्रकृतदृष्टान्तेनाप्रकृतावबोधनं मुख्यं कवेस्तात्पर्यविषयः ।
श्लेषस्तु तदुपयोगितया गुण इति प्रधानेनैव व्यपदेशो युक्त इति ज्ञेयम् । कौटिल्य-

१. ‘पुंस्त्वादिति । प्रणयने इति सप्तमी । पुरुषोत्तमेन विष्णुना दैत्यमोहने स्त्रीरूप-
तापत्या वाराहमूर्त्या पातालप्रवेशरूपाधोगमनेन बलिप्रणयने प्रार्थने वामनताप्राप्त्या च
सुवनरक्षणदेवंप्रकारेणापि विश्वोद्धरणं कर्तव्यमिति दिव्यार्गः प्रकटित इत्यप्रस्तुतस्योप-
मानभूतस्य विष्णोरभिधानात्तत्तुल्यप्रकृतपुरुषश्रेष्ठप्रतीतिः । तत्र च पुंस्त्वात्प्रचलनं पुरुषा-
धेहानिः । अधोयानं स्वपदग्रंशः । अमहत्त्वं गौरवहानिः । विश्वं सर्वजनमित्यर्थो बोध्यः ।
‘प्रणयनेनापूर्वोत्कर्षप्राप्त्या महान् त्रिविक्रमतया महाकाय उच्चपदस्यश्लेथः ।’ इति चण्डी-
दासः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘न्यायेन’ क. ३. ‘येनेति । क्लान्ति गमितः प्राप्ति-
तोऽसीत्यन्वयः । क्लान्तिनिष्प्रभता । तत्र रवौ विषये । पादो रश्मिश्चरणश्च । पुनस्ति-
त्त्वर्थः । एतत्पादग्रहणम् । मनागीषत् । जडधामता शीतलप्रभता पक्षे भावप्राधान्यान्मूर्ख-
त्वात्पदता । विस्फूर्जसे सगर्वमुदधीत्यर्थः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘विस्फूर्जनम्’ ख.
५. ‘आदायेति । मुखं वदनं नदीसंगमस्थानं च । दुरर्णवेन दुष्टेर्णाणवेन । वडवाद्दहने
वडवानले । पातालमेव कुक्षिकुहरमिति विग्रहः । अत्रापव्ययकारिपुरुषप्रतीतिः । इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. ६. अयं श्लोक उदाहरणचन्द्रिकायां न व्याख्यातः.

कुग्रामप्रमदाविलासरसिकः कान्तस्त्वयासादितो
नायं नन्दिनि नागरीजनसमाचारैः समाकृष्यते ॥'

इयं च त्रिधा—कचिद्वाच्यार्थं प्रतीयमानार्थानध्यारोपमात्रेण । कचित्प्रती-
यमानार्थानध्यारोपेण । कचित्त्वशभेदेन तदध्यारोपानारोपाभ्याम् ।

तत्राद्या यथा—

‘अब्धेरर्णःस्वर्गितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्रमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥’

अत्र पुरुषेऽप्येतेऽर्था अबाधिता एवेति नेह प्रतीयमानार्थानध्यारोपः । द्वितीया
यथा—

‘कैस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥’

अत्र वाच्यशाखोटके संबोध्यत्वोच्चारयितृत्वादिकमनुपपन्नमिति प्रतीयमा-
नाध्यारोपः । तृतीया यथा—

मिति । नन्दिनीति सख्या नायिकायाः संबोधनम् । निवारणप्रयत्नातिशयबोधनाय
तरामिति । शीलयाभ्यस । अभ्यासं विना नैसर्गिकमन्दगतेर्निवर्तनासंभवात् । स्पष्टार्था
कुरु । वदेत्यर्थः । यत्नातिशयसूचनाय कुर्वित्युक्तम् । अत्र हेतुरुत्तरार्धम् । समाचारा
व्यवहाराः । समाकृष्यते वशीक्रियते । अत्रैव दृष्टान्तेन मूर्खप्रभुसंगतः कविरुपदि-
श्यते । अत्र पुरुषेऽपीति । अब्धाविति शेषः । प्रतीयमानस्य गम्यमानस्यार्थस्य

१. अब्धेरिति । अर्णो जलं तेन स्वर्गित आच्छादितो भुवनाभोगस्य पातालरूपः कुक्षिये-
नेति विग्रहः । पोत उपायः साधनं येषां तादृशाः पुरुषाः । यदीत्यर्थे आहो इत्यव्ययम् । कथ-
मपीत्यस्य कल्प इति व्यवहितेनान्वयः । अवटो गर्तः । कुहरं तस्यैव गम्भीरप्रदेशः । तदवलो-
कनेऽपि को नाम कथमपि कल्पः समर्थः स्यादित्यर्थः । लङ्घनस्य कैव कथेत्यपिशब्दार्थः । अत्र
प्रभोः पूर्णत्वमेव वरं न रिक्तत्वमिति तुल्यप्रतीतिः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'समुद्रे'
ग. ३. कस्त्वमिति । शाखोटकं भूतावासवृक्षविशेषं प्रति कस्यचित्प्रश्नः । कथयामीत्यादि
तत्प्रतिवचनम् । वैराग्येत्यादि पुनः पूर्वस्य प्रश्नः । वक्षि वदसि । साध्विति पुनस्तरोर्वचनम् ।
कस्मादिति पुनः पूर्वस्य प्रश्नः । इदं वैराग्यम् । कथ्यत इत्यारभ्य पुनः शाखोटकोक्तिः ।
वामेन वामपार्श्वेन लक्षितः प्रतिकूलाचरणेन च । सर्वात्मना छायापसेवनादिना ।
शाखोटकच्छायानाश्रयणे भूतावासत्वं हेतुः । मार्गो रथ्या सदाचारश्चेति । अत्र प्रतीयमान-
पुरुषाभ्यारोपेण शाखोटकस्य संबोध्यत्वादिसंगतिः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिक्षाकर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् भूयसोक्तेन वा ।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद्धारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः ॥’

अत्र हस्तिनो रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं मदश्च वाच्यस्य भ्रमरस्य सेवना-
भावहेतुत्वेन वाच्यानि न च तद्देतवः । मदस्तु प्रत्युत सेवने हेतुरिति तदंशे
प्रतीयमानपुरुषाधारोपापेक्षा । कर्णचापलं तु भ्रमरस्यासेवने हेतुरेवेति तदंशे
नाधारोप इति ।

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य समेन यत् ।
प्रकृतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १४ ॥
कार्यकारणयोश्चैव पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा

प्रकृतस्योपमेयस्य समेनोपमानेन निगीर्याध्यवसानं द्रवीयसी बुद्धिः सैका-
तिशयोक्तिः । यच्च तदेव वस्त्वन्यत्वेन विविक्ताकारवस्त्वन्तरत्वेनाध्यवसीयते
सा द्वितीया । यच्च चेच्छब्देन यदिशब्देन वा यद्यर्थोक्तौ कल्पनमर्थादसंभवि-
नोऽर्थस्य सा तृतीया । यच्च कार्यकारणयोः प्रसिद्धस्य पौर्वापर्यस्य विपर्ययो
वैपरीत्यं कारणस्य शीघ्रकारिता प्रतीतये सा चतुर्थीति चतस्रोऽतिशयोक्तयः ।
तत्राद्या यथा—

‘कमलमनम्भसि कमले कुवलये च तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥’

पुरुषविशेषस्य नाधारोप इत्यर्थः । वाच्यानीति । ‘नपुंसकमनपुंसकेन’ इत्येक-
शेषः । इत्यप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणम् ॥ ११ ॥ समेनेति समभिव्याहारात्प्रकृतपदेनो-
पमेयं व्याचष्टे—उपमेयस्येति । उपमानेन निगीर्य पृथगनिर्दिश्याध्यवसानं स्वरूपेण
निश्चयः । स च द्रवीयसीत्यनेनोक्तः । अर्थादिति । कल्पनपदसामर्थ्यादित्यर्थः ।

१. ‘सोऽपूर्व इति । रसनाविपर्ययोऽग्निशापात्करिणां जिह्वापरिवृत्तिः अन्यत्र पूर्वविपरीता-
भिधानम् । कर्णयोश्चापलं निरन्तरचालनं परवचनप्रतार्यत्वं च । मदः करिणां प्रसिद्धो
गर्वश्च । तेन विस्मृता स्वपरयोर्दिग् मार्गः आप्तानाप्तविभागश्च यया तादृशी दृष्टिः ।
वारणो गजो वारकश्च । अन्तर्मध्ये शून्यः सरन्ध्रो धनरहितश्च । करः शुण्डा हस्तश्च । ग्रह
आग्रहः । अत्र प्रतीयमानपुरुषाधारोपेण मदरसनाविपर्यययोर्भ्रमरस्य गजासेवने हेतुत्वसं-
गतिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘कमलमिति । अनम्भस्यनुदके । सुकुमारा मृद्री
चासौ सुभगा सुन्दरी । अत्र कमलकुवलयकनकलतिकापदैर्मुखनेत्रकामिनीनां कमलत्वादि-
नाध्यवसानादतिशयोक्तिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र मुखादि कमलादित्वेनाध्यवसितम् । यथा वा मम—

‘कलशे परममहत्त्वं तिमिरस्तोमस्य सोमसहवासः ।

वियति च शैवलवल्ली शिव शिव कुसुमेषुसर्गसौभाग्यम् ॥’

द्वितीया यथा—

‘अण्णं लडहत्तणअं अण्णा विअ का वि वत्तणच्छाभा ।

सामा सामण्णपभावइणो रेह च्चिअ ण होई ॥’

स्पष्टम् । तृतीया यथा—

‘राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।

तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवामुयात् ॥’

चतुर्थी यथा—

‘हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।

चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता ॥’

प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १५ ॥

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

एकस्य सामान्यस्य साधारणधर्मस्य वाक्यद्वये उपमानोपमेयवाक्ययोर्व्यत्र द्विरवस्थितिः । अर्थाच्छब्दभेदेन । अभिन्नपदस्य दुष्टत्वात् । सा प्रतिवस्तूपमा ।

तेन आयुरेवेदमित्यादौ नातिशयोक्तिरित्याशयः । कलश इति । अत्र कलशत्वेन स्तनयोरध्यवसानं, तिमिरसंघत्वेन केशपाशस्य, आकाशत्वेन मध्यस्य, वल्लीत्वेन रोमावल्या इति ज्ञेयम् । अण्णं इति । ‘अन्यत्सौकुमार्यमन्यैव कापि वर्तनच्छाया । श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न भवति ॥’ वर्तनं गमनोपवेशनभाषणादिव्यवहारः । छाया शोभा । सामान्यः सर्वजनसाधारणः । रेखा चित्रलेखनजातिरिव मनुष्यनिर्माणजातिः । मालतीनाम काचिन्नायिका । इत्यतिशयोक्तिप्रकरणम् ॥ १२ ॥ अभिन्नस्येति । कथितस्येत्यर्थः । प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमासाधारणधर्मो यत्रेति

१. अयं श्लोक उदाहरणचन्द्रिकायां न व्याख्यातः. २. ‘अण्णमिति । लडहशब्दः सौकुमार्यं देशी । वर्तते जीवतीति वर्तनं शरीरम् । तस्य छाया कान्तिः । श्यामा षोडशवर्णा स्त्री । सामान्यः सर्वसाधारणः । रेखैवेति । निर्माणपरिपाटी रेखामात्रेणापि नास्तीति भावः । इयमन्यत्ववर्णनरूपातिशयोक्तिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘राकायामिति । राका पूर्णचन्द्रा पूर्णिमा । साम्यमेव परामवोऽपकर्षः । एषा यद्यर्थातिशयोक्तिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘हृदयमिति । मालतीनाम्नी काचिन्नायिका । अधिष्ठितमाक्रान्तम् । चरमं पश्चादलोचनविषयं तद्वोचरतां प्राप्तवता त्वया-धिष्ठितमित्यनुषङ्गः । इयं कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपेति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ५. ‘अभिन्नस्य’ ख.

वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् । अत्र 'द्वि' 'द्वये' इत्यनेकोपलक्षके । माला-
नुरोधात् । सा च द्विधा—अमालारूपा मालारूपा च ।

तत्राद्या यथा—

‘देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा ।

न खलु परिभोगयोग्यं देवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥’

अत्र परिवारपदत्वपरिभोगयोग्यत्वयोरनर्थान्तरत्वादुदाहरणयोग्यत्वमित्येके ।
‘कथं भजति’ ‘न खलु’ इत्यनयोरेकार्थतया तथात्वमित्यपरे ।

अन्या यथा—

‘यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।

लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥’

अत्र किमद्भुतमित्यादिभिरद्भुताभावस्य वाक्यचतुष्टयेऽप्युपादानान्मालात्वम् ।
चतुर्थवाक्यं चोपमेयवाचि ।

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥ १६ ॥

एतेषामुपमानोपमेयसाधर्म्याणां सर्वेषां प्रतिबिम्बनं दृष्टान्तः । दृष्टोऽन्तो
लिख्य उपमानिर्वाहकोऽत्रालंकार इति व्युत्पत्तेः । स च द्विधा—साधर्म्यवैध-
र्म्यरूपाभ्याम् । तत्र साधर्म्येण यथा—

‘त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।

आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥’

व्युत्पत्तेः । वाक्यद्वय इत्यस्याभिप्रायमाह—वस्तुन इति । वाक्यार्थो हि वाक्यार्थ
प्रत्येवोपमानम् । अतो वाक्यद्वये साधनधर्मोक्तिरित्यर्थः । अत्रेति । परिवारः
पदमाश्रयो यस्य यथेष्टविनियोगयोग्यत्वस्य तत् । एवं परिभोगो भूषणादिविनियोग-
स्तयोग्यमित्यर्थैकत्वमित्यर्थः । अथवानौचित्यस्यैकस्य धर्मस्योपादानादुदाहरणत्वमिति
मतान्तरमाह—कथमिति । एवं च भिन्नशब्दोपात्तैकधर्मके वाक्यार्थयोरार्थिक-
मौपम्यं प्रतिवस्तूपमेति लक्षणं बोध्यम् । अत्र च दृष्टान्तालंकारे व्याप्तिवारणायार्थ
विशेषणम् । ‘दिवि भाति यथा भानुस्तथा त्वं भ्राजसे भुवि’ इति वाच्यवाक्यार्थोपमा-
वारणायार्थमिति । ‘आननं मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम् । भ्रमङ्गमरसंभारं
स्मरामि सरसीरुहम् ॥’ इत्यादौ स्मरणालंकारवारणाय वाक्यार्थैत्युक्तमिति संक्षेपः ।
इति प्रतिवस्तूपमाप्रकरणम् ॥ १३ ॥ **प्रतिबिम्बनमिति ।** बिम्बप्रतिबिम्बभावे-

१. ‘देवीभावमिति । देवीभावं देवीत्वम् । ‘देवी कृताभिषेकायान्’ इत्यमरः । गमिता
प्रापिता । परिवारः साधारणकलत्रम् । पदं स्थानं शब्दो वा । परिभोगो भूषणार्थमुपादानम् ।
देवतरूपेणाङ्कितं चिह्नितम् । उल्लिखितदेवताकारमित्यर्थः । अत्र द्वयोर्वाक्यार्थयोरनौचित्यरूप
एक एव साधारणधर्मः कथं न खल्विति भिन्नशब्दोपात्त इति प्रतिवस्तूपमालंकारः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘यदीति । सप्तमे व्याख्यातम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘त्वयीति । निर्वाति शान्त्यति । अत्र मनःकुमुदयोर्विकासनिर्वाणयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन
दृष्टान्तालंकारः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र साधर्म्यस्यापि प्रतिबिम्ब एवेति प्रतिवस्तूपमाभेदः । वैधर्म्येण यथा—

‘तवाहवे साहसकर्मशर्मणः पाणिं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।

भटाः परेषां विशरारुतामगुर्वधस्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ॥’

वैधर्म्यं विपर्यये साधर्म्यपर्यवसानमिति दृष्टान्तालंकारत्वम् ।

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ १७ ॥

प्रकृताप्रकृतात्मनामर्थादुपमानोपमेयभूतानां धर्मिणां धर्मस्य क्रियादेः सकृद्वृत्तिरेकवारमेवोपादानं यत्तदेकम् । एकस्यस्यैव सर्ववाक्यदीपकत्वेन प्रदीपसाम्यात् । कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिरेव द्वितीयं दीपकम् । इतिशब्दः प्रकारे । तेनोक्तप्रकारद्वयवदीपकमित्यर्थः । आद्यं यथा—

‘किवैणाणं धणं णाभाणं फणमणी केसराइं सीहाणं ।

कुलवालिभाणं थणभा कुत्तो छिप्पन्ति अमुभाणम् ॥’

अत्र छिप्पन्तीति सकृदुपात्तम् । कुलपालिकानां स्तना उपमेयाः । अन्यं यथा—

नावस्थानमित्यर्थः । प्रतिवस्तूपमातो भेदकमाह—अत्रेति । यथा निर्वाति विकसतीति । निर्वाणविकसनयोर्भेदोऽपि सादृश्याद्विम्बप्रतिबिम्बरूपता । प्रतिवस्तूपमायां तु शुद्धसमानधर्म एवेति भेदः । न च यथा हिमांशोरालोके कुमुदं विकसति तथा त्वयि दृष्टे तस्या मनः प्रसीदतीत्युपमां विना पूर्वोत्तरार्धयोरसंबन्धाभिदर्शनात्वमाशङ्कनीयम् । निदर्शनायां समानधर्मानुपादानेनासंभवमात्रप्रयुक्तत्वादुपकल्पनाया इह तु विम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मवशेनेति भेदात् । विपर्यय इति । वाते तु नेति विपर्यय इत्यर्थः । इति दृष्टान्तप्रकरणम् ॥ १४ ॥ अर्थादिति । प्रकृताप्रकृतधर्मैक्ये प्रकृतिसामर्थ्यादित्यर्थः । प्रदीपसाम्यादिति । तथा च दीप इवेतीवाथैकम् । सैवेति व्याचष्टे—सकृद्वृत्तिरेवेति । किवणाणं इति । ‘कृपणानां धनं नागानां फणामणिः केसराणि सिंहाणाम् । कुलपालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥’ स्पर्शाक्षमलं धर्मः सकृदुपात्त उपमाकल्पकः । चन्द्र इव मुखं मनोज्ञ-

२. ‘तवेति । साहसकर्मणा शर्मं सुखमस्येति विग्रहः । कृपाणान्तिकं खड्गसमीपम् । आनिनीषतो नेतुमिच्छतो न तु नीतवतः । तवाहवे रणे परेषां शस्त्राणां भयं योद्धारो विशरारुतां विशीर्णतामगुः प्रापुः । विशरारुतामहिसकतामित्यन्ये । हि यतः । अवाते वातशून्ये देशे इति वैधर्म्यदृष्टान्तः । वाते तु न दधतीति व्यतिरेके साधर्म्यं पर्यवसानात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘किवणाणमिति । केसराणि स्कन्धलोमानि कुलपालिकानां कुलवधूनाम् । अमृतानामिति सकलषष्ठयन्तविशेषणम् । अत्र वपर्यत्वेन प्रकृतानां कुलवधूस्तनानां तदुपमानत्वेनाप्रकृतानामन्येषां च कुतः संस्पृश्यन्त इति सकृद्वर्णोपादानादीपकालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘स्विद्यति कूणति वेहति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।

अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥’

अत्र वधूरिति कारकस्य सकृद्वृत्तिः ।

मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

गुणावहमुपकारकम् । यथा—

‘सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते

संप्राप्ते परिपन्थियोधनिवहे सांमुख्यमासादितम् ।

कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं

तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥’

स्पष्टम् । मालोपमादीनां बहूपमानसंबन्धाच्चापरो विशेष इति न ते लक्षिताः । इदं तु पृथग्लक्षितम् । उत्तरोत्तरमुपकार्योपकारकतया परस्परसंसर्गेण मालाभावमापन्नानां सकृद्धर्मनिर्देशरूपत्वेनाधिकविशेषानुपवेशादिति ।

मित्यादावुपमावारणीयोपमाकल्पकत्वं धर्मविशेषणं बोध्यम् । स्विद्यतीति । खेदः सात्विको भावः । कू(क)णत्वाल्लिङ्गनोद्यते प्रिये मृदुशब्दविशेषं करोति । वेहत्यङ्गं संकोचयति । विचलति परिच्युत्य शेते । निमिषति मृषा नेत्रे मुद्रयति । इच्छति न तु करोतीत्यर्थः । अत्र यद्यपि सर्वक्रियाणां प्रकृतत्वमेव न वा तासामुपमानोपमेयत्वावगमः । तदभ्युपगमे वा तुल्ययोगितैवोचिता न तु दीपकं तथाप्येतद्भिन्नमेव पूर्वस्मादीपकाद्विवक्षितम् । उभयानुगतमन्यतरत्वं चैकं लक्षणमिति तात्पर्यम् । केचित्तु—प्रकृताप्रकृतानां सकृद्धर्मोक्तिर्दीपकमित्येव लक्षणम् । क्रियाणां प्रकृताप्रकृतानां यत्रैककारकान्वयस्तत्राप्येतल्लक्षणान्तर्गतत्वमेव । यथा—‘वसु दातुं यशो धातुं विधातु-मरिमर्दनम् । त्रातुं च मादृशान् राजजतीव निपुणो भवान् ॥’ अत्र वसुदानस्वत्राण-रूपयोः प्रकृतयोः क्रिययोररिमर्दनयशआधानयोश्चाप्रकृतयोरेकस्य नृपरूपकारकस्यान्वय इति पूर्वलक्षणाक्रान्तत्वेन दीपकान्तरमङ्गीकर्तव्यम् । स्विद्यतीत्यादौ सर्वक्रियाणां प्रकृतत्वे तु तुल्ययोगितेत्याहुः । सङ्ग्रामेति । संप्राप्त इत्यादिपाठान्तरकल्पनं सप्तमोक्तादोषवारणाय । अत्र कोदण्डस्य प्रक्षेपणाख्यशरोपकारहेतुत्वं शराणां चारिशिरसो भूमण्डलप्राप्तिरूपोपकारहेतुत्वं शिरसश्चोत्तमस्वामिलाभरूपभूमण्डलोपकारहेतुत्वं भूमण्डलेन कीर्तिमासादयता नृपोपकारकरणं नृपेण च कीर्तेलोक-

१. ‘स्विद्यतीति । नवोदा वधूः शयने तल्पे स्वेदं भजते । कूणति संकोचमालम्बते । सवितर्कं बीक्षत इति चण्डीदासः । वेहति परिच्युत्य शेते । विचलति विशेषतश्चञ्चलां भवति । निमिषति निद्राव्याजेन नेत्रे मुद्रयति । अन्तर्नन्दति हृष्यति । नवोदात्वेन नास्त्यतो हर्षाप्रकाशनात् । अतएव चुम्बितुमिच्छति न तु चुम्बतीत्यनेकास्तु क्रियास्तु वधूरूपकर्तृकारकस्य सकृद्वृत्तिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘सङ्ग्रामेति । सप्तमे व्याख्यातम् । अत्र कोदण्डादिभिः पूर्वपूर्वरुत्तरोत्तरेषामासादनेन लोकत्रयव्यापिकीर्तिलाभानुकूल्यरूपोपकारसंपादनमालादीपकम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १८ ॥

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा । धर्म इत्यनन्तरं यदुपादीयत इति शेषः । सकृत्पदोपादानाद्यत्र प्रतिस्त्वं भिक्षा धर्मा एकस्यैव वा सर्वत्रोपादानं तत्र नातिप्रसङ्गः । तत्र प्राकरणिकानामेव यथा—

‘पाण्डुक्षामं वदनं सरसं हृदयं तवालसं च वपुः ।

भावेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥’

अत्र प्रकृतानां विरहिणीवदनादीनामेव धर्मत्वेनावेदनाख्यो धर्म उपात्तः । न तूपमानरोगधर्मतया । अप्राकरणिकानामेव यथा—

‘कुमुदकमलनीलनीरजालिलितविलासजुषोर्दशोः पुरः का ।

अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥’

अत्र कामिन्या वर्णनीयत्वादप्राकरणिकानां कुमुदादीनामेव धर्मतया पूर्वार्धे कापदव्यङ्ग्योऽभिक्षेप उत्तरार्धे प्रतिहतत्वं चोपात्तम् ।

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेको विशेषेणातिरेक आधिक्यम् । स एवेति व्यतिरेकः । कश्चित्तु—“यत्रोपमेयादुपमानस्य उपमानादुपमेयस्य वा आधिक्यं स व्यतिरेक इति लक्षणम् । कथमन्यथा—

त्रयव्यापनाख्योपकारजन(न)मित्यवगन्तव्यम् । इति दीपकप्रकरणम् ॥ १५ ॥ नियतानामिति । प्राकरणिकाप्राकरणिकोभयावृत्तिधर्मस्य सकृदनेकान्वयित्वं तुल्ययोगितेत्यर्थः । प्रतिस्त्वं प्रत्येकम् । यथा सुखं विकसितस्मितमित्यादौ । एकस्यैव वेति । यथा—‘दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव । तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ॥’ इत्यादावित्यर्थः । रसः शृङ्गारोऽक्षरसश्च । क्षेत्रियोऽचिकित्स्यो राज्यक्षमाख्यः । न तूपमानेति । विप्रलम्भेऽपि (उप)मानभूतरोगधर्मतयेर्थः । इति तुल्ययोगिताप्रकरणम् ॥ १६ ॥ विशेषेणेति । तेन सुखमिव चन्द्र इति प्रतीपे उपमानाकरणप्रयुक्तस्याधिक्यस्य गम्यत्वे विशेषतस्तद्दोषकशब्दाभावाच्चातिव्याप्तिः । स एवेति । न तूपमेयादुपमानस्य व्यतिरेकोऽपीत्यर्थः । एतदेव दूषयितुमुपन्यस्यति—कश्चित्त्विति । अत्रानुपादानेति । श्लेषस्थलेऽनुपादानत्रयमित्यर्थः । साम्यस्य श्रोतव्ये आर्थत्वे आक्षि-

१. ‘पाण्डुवृत्ति’ । सप्तमे व्याख्यातम् । अत्र प्रकृतानामेव वनादीनामावेदनाख्य एको धर्म इति तुल्ययोगितालंकारः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘कुमुदेति । नीलं च तन्नीरजं च तेषामालिः पङ्क्तिरिति विग्रहः । का । कः पदार्थ इत्यर्थः । आननस्येत्यत्र पुर इत्यनुषङ्गः । एकपदे युगपद । अत्र कामिनीनयनाननोपमानत्वेनाप्रकृतानामेव कुमुदादीनां पूर्वार्धे कापदबोले आक्षेपः उत्तरार्धे प्रतिहतत्वं चैको धर्म उक्त इत्यपरो मेदः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते नितराम् ।

विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥’

“ इत्यादिसंग्रहः । अत्र ह्युपमानभूतस्य शशिन उत्कर्षः । क्षैण्येऽपि पुनर्वृद्धेः”
इत्याह तन्न युक्तम् । अर्थेयं हि तस्योपमानता । तदाधिक्यं चोपमेये यौवन
पुत्रात्र विवक्षितम् । तस्मादुपमानस्योत्कर्षं व्यतिरेक इति रिक्तं वचः । एवं
विभजते—

हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १९ ॥

शब्दार्थाम्यामथाक्षिप्ते श्लेषे तद्वज्रिरष्ट सः ।

व्यतिरेकस्य द्वौ हेतू । उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तमुपमानगतमपकर्षनिमित्तं च ।
तयोर्द्वयोरप्युपादानमित्येकः प्रकारः । अनुपादाने तु त्रयो भेदाः । प्रथमस्यैव
द्वितीयस्यैव उभयोरपि वा हेत्वोरनुपादानात् । तदेवं चत्वारो भेदाः । ते च
प्रत्येकं त्रिधा । साधर्म्यस्य कचिदिवादिना शब्दशक्तेः प्रतिपादनात् । कचित्तु-
स्यादिशब्देनार्थशक्त्या । कचिदुभयाभावेऽप्याक्षेपेणेति द्वादशभेदाः । ते च
प्रत्येकमष्टिष्टिष्टशब्द इति चतुर्विंशतिभेदः स इत्यर्थः । तत्राष्टिष्टभेदेषु
हेत्वोरुक्तौ शाब्दे साम्ये यथा—

‘असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।

अन्यतुच्छजनस्यैव न सयोरस्य महामतेः ॥’

अत्रोपमाने तुच्छत्वमुपमेये महावृत्तित्वं च हेतू । इवशब्दसत्त्वाच्च शाब्द-
मौपम्यम् । अत्रैव तुच्छत्वमात्रस्य महावृत्तित्वमात्रस्य वा द्वयोरपि वा क्रमे-
णानुपादाने हेत्वनुपादानभेदत्रयेऽपि शाब्दौपम्यभेदत्रयं द्रष्टव्यम् । हेतुद्व-
योपादान एवार्थसाम्ये यथा—

‘असिमात्रसहायोऽयं प्रभूतारिपराभवे ।

नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महावृत्तिः ॥’

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यर्थमौपम्यम् । अत्र पूर्ववदनुपादानभेदत्रयं द्रष्टव्यम् ।
हेत्वोरुक्तावेवाक्षिप्ते साम्ये यथा—

‘इयं सुनयना दासीकृततामरसञ्चया ।

आननेनाकलङ्केन निन्दतीन्दुं कलङ्किनम् ॥’

१. क्षीण इति । विरमेत्यस्य मानादिति शेषः । यातं गतं यौवनं त्वित्यन्वयः ।
अनिवर्ति अपरावृत्तिशीलम् । अत्र यौवनस्यास्थिरतायानुपमानाच्चन्द्रादाधिक्यमिति व्यतिरे-
कालंकारः । २. ‘असीति । प्रभूता बहवश्च तेऽरयश्च तेषां
पराभवे सति । सयो गर्वः । ३. ‘इयमिति । दासीकृता ताम-
रसस्य ताम्रकाञ्चनस्य श्रीर्येनेत्याननविशेषणम् । ‘स्मृतं तामरसं पद्मताम्रकाञ्चनयोरपि’ इति
विश्वः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्राकलङ्कित्वकलङ्कित्वे हेतु समुपात्तौ । इवादीनां तुल्यादीनां चाभावादा-
क्षिसमौपम्यम् । अत्रैव हेतुनुपादाने भेदत्रयं पूर्ववद्द्रष्टव्यम् । न चाक्षिसभेद
उपमायां शङ्कनीयः । जयत्यादिशब्दस्यावश्यकतया व्यतिरेकेण विषयापहा-
रात् । अथ श्लिष्टभेदेषु हेत्वोरुक्तौ शाब्दमौपम्यं यथा—

‘जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः ।

अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥’

अत्र श्लिष्टो गुणशब्दः । तदर्थस्यातिगाढत्वभङ्गुरत्वे च हेतु समुपात्ते ।
इवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम् । अत्रैव पूर्ववदनुपादाने भेदत्रयं द्रष्टव्यम् ।
तत्रैवार्थे साम्ये यथा—

‘अखण्डमण्डलः श्रीमान्पश्यैष पृथिवीपतिः ।

न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥’

अत्र कलाशब्दः श्लिष्टः । कलावैकल्यतदभावौ हेतु शब्दोपात्तौ । तुल्यार्थे
वतिरित्यर्थमौपम्यम् । अत्रानुपादानत्रयं चिन्त्यम् । अयमेव मालारूपो यथा—

‘हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।

रविवन्न चापि दुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥’

पूर्ववत् । तत्रैवाक्षिते साम्ये यथा—

‘नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।

भास्वतानेन भूपेन भास्वनेष विनिर्जितः ॥’

अत्र भास्वतेति प्रतापेति च श्लिष्टं पूर्वाधोपात्तं हेतुद्वयम् । इवादेस्तुल्या-
दिशब्दानां चाभावादाक्षिसैवोपमा । अत्रैव पूर्ववदनुपादाने भेदत्रयं द्रष्टव्यम् ।
निर्जितजयत्यादिशब्दाभावेऽपि श्लिष्टविशेषणेनौपम्याक्षेपादप्ययं भेदः संभवति ।
यथा—

‘स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुविम्बं

विम्बप्रभाधरमकृत्रिमगन्धहृद्यम् ।

१. जितेन्द्रियतयेति अब्जवत्कमलस्येव । गुणाः पाण्डित्यादयस्तन्तवश्च । १. इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अखण्डेति । मण्डलं राष्ट्रं विम्बं च । श्रीः संपत् शोभा च । कला कौशलं
चन्द्रषोडशांशश्च । जातु कदाचित् । १. इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. हरवदिति । हे विभो, हरव-
द्विषमदृष्टिः कदाचिन्नासीदित्यापन्वयः । विषमदृष्टिस्त्रिलोचनः सर्वाननुकूलदृष्टिश्च । विधूतः क्षितो
विततो वृषोऽसुरविशेषो धर्मश्च । करो राजग्राहधनं किरणश्च । तापिता उद्वेजिता संतापिता
च । भूर्भूमिस्तद्गतजनश्च अयं मालारूपो व्यतिरेकः । १. इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘नित्योदि-
तेति । प्रतापः पराक्रमः प्रकृष्टतापश्च । भास्वता दीप्तिमता । भास्वान् सूर्यः । १. इत्युदाहरणच-
न्द्रिकासंक्षेपः. ५. ‘स्वच्छेति । आननपक्षे स्वच्छस्वरूपतास्यगुणेन समुल्लसितं पूर्णमिन्दुविम्बमिति
रूपकम् । विम्बप्रभोऽधरो यत्र तादृशम् । मधुपक्षे स्वच्छात्मना गुणेन समुल्लसितं प्रतिवि-
म्बितमिन्दुविम्बं यत्र तादृशम् । आननपक्षेऽप्ययमेवार्थः इत्यन्ये । विम्बप्रभामाधारकम् ।
और्णमधुनो रक्तत्वात् । यत्र नेत्रयोम् । १. इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र

तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥'

स्पष्टम् । श्लिष्टोक्तियोग्यपदस्य पृथगुपादानेऽप्येवंजातीयका भेदाः संभवन्ति तेऽनयैव दिशा द्रष्टव्याः ।

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥ २० ॥

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

वक्तुमिष्टस्य प्राकरणिकत्वाद्वचनाहंस्य यो निषेधः स आक्षेपः । निषेधो निषेध इवेत्यर्थः । शब्दगत्या निषेधेऽप्यर्थगत्या विधेरेव प्रतिपत्तेः । तत्प्रयोजनमाह—विशेषाभिधित्सयेति । वक्ष्यमाणविषयेऽशक्यवक्तव्यत्वमुक्तविषयेऽतिप्रसिद्धत्वं चेति विशेषः । विभजते—वक्ष्यमाणेति । तत्र वक्ष्यमाणविषयो यथा—

‘ए एहि किंपि कीँवि कएण णिक्खि व भणामि अलमहवा ।

अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम् ॥’

अत्र विरहजनितदुर्दशातिशयो वक्ष्यमाणो निषिद्धः । उक्तविषयो यथा—

‘ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः

कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।

सत्त्वे सति श्लेघे कथमुभयानुपादानम् । वैधर्म्यानुक्तौ श्लेषस्य निरालम्बनत्वापत्तेरित्याशयः । पृथगुपादानेऽपीति । उपमानोपमेययोर्विशेषणत्वेन पृथगुपादानेऽपीत्यर्थः । यथा—‘अमृतममृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् । सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन्नरसान्तरविज्ञानो वदतु यदिहान्यत्त्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥’ इत्यादौ । अत्र द्वितीयोऽमृतशब्दोऽतिमधुरार्थः । नान्यथा किं त्वतिमधुराणि । अत्रोपमानभूतेष्वमृतादिषूपमेये चाधरेऽतिमधुरत्वं पृथगुपात्तम् । प्रियादशनच्छदादन्यत्त्वादु स्यादिति भङ्ग्या तस्यातिस्वादुत्वप्रत्ययात् । इति व्यतिरेकप्रकरणम् ॥ १७ ॥ निषेध इवेति । निषेधाभास इत्यर्थः । ए एहीति । ‘अये एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप भणाम्यलमथवा । अविचा-

१. ‘ए एहीति । ए इत्यव्ययं सानुनयसंबोधने । एहि आगच्छ । ‘एक्खि’ इति पाठे इदानीमपीत्यर्थः । अथवेति पूर्वाक्षेपे । अलम् । न भणिष्यामीत्यर्थः । खेदातिशयात्पुनरुक्तिः । अलं व्यर्थमिति वा । अविचारितेति । स्वभावमनालोच्यानुरागवर्धनपरेत्यर्थः । अत्र विरहदुर्दशातिशयो वक्ष्यमाणो वक्तुमशक्यतया निषिद्ध इत्याक्षेपालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ज्योत्स्नेति । शीतांशुकान्तद्रवश्चन्द्रकान्तद्रवः । मृणालस्य वलयानि कङ्कणानि । अन्तर्मानसं मानसान्धन्तरे । प्रभवता प्रकर्षेण स्थितवता त्वया हेतुभूतेन ज्योत्स्नादयस्तस्या नायिकायाः स्फुलिङ्गोत्करस्वायिकणसमूहस्य व्यापारो दाहोत्पादनं तस्यै तदर्थं भवन्ति । आः इति प्रकोपेऽव्ययम् । हन्त विधादे । अनेनोक्तेन किम् । न ब्रूमहे । अतिप्रसिद्धत्वादित्याशयः । अयमुक्तविषयो निषेधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अन्तर्मानसमास्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर-
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥'

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ २१ ॥

वैयाकरणमते क्रियैव हेतुरिति क्रियेत्युक्तम् । वस्तुतस्तु कारणप्रतिषेधे
कार्यवचनं विभावना । न च विरोधः । स्वाभाविकत्वस्य कारणान्तरस्य वा
विभावनात् । उदाहरणम्—

'कुसुमितलताभिरहताप्यधत्त रुजमलिकुलैरदद्यापि ।

परिवर्तते स नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यधूर्णत सा ॥'

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

अखण्डेषु मिलितेषु प्रसिद्धकारणेषूक्तेषु कार्याभाववचनं विशेषोक्तिः । अत्रा-
प्यप्रसिद्धे कार्याभावहेतौ पर्यवसानाद्विरोधाभावः । सा च त्रिधा—अनुक्त-
निमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च । तत्राद्या यथा—

'निद्रानिवृत्ताबुदिते दुरत्ने सखीजने द्वारपदं परासे ।

श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥'

रितकार्यारम्भकारिणी त्रियतां न भणिये ॥' निषेधाभासवद्विध्याभासोऽप्यलंकारो-
ऽन्यैरुक्तः । यथा—'गच्छ गच्छसि चेतकान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः । ममापि
जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥' इत्यादौ । इत्याक्षेपप्रकरणम् ॥ १८ ॥
क्रियैवेति । द्रव्यगुणादेरप्यनभिव्यक्तस्याहेतुत्वादभिव्यक्तरूपक्रियायाः सर्वत्रोपे-
क्षेति । क्रियैव हेतुरित्याशयः । आत्मादेरपि हेतुत्वादाह—**वस्तुतस्त्विति ।**
तथा च क्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या क्रियाशब्द उक्त इति भावः । स्वाभाविकत्वस्य
स्वभावविशेषजन्यत्वस्य । कुसुमितेत्यादौ सौकुमार्यातिशयरूपस्वभावजन्यत्वविभाव-
नम् । 'पुष्पोद्गमैराभरणप्रयोगं प्रारभिरे वामदृशां युवानः । ततो विना कार्मुकक-
मैसिद्धिं पुष्पायुधस्याभवदस्त्रमोक्षः ॥' इत्यादौ कारणान्तरं पुष्पाभरणमनुरागोद्दीपकं
बोध्यम् । इति विभावनाप्रकरणम् ॥ १९ ॥ केचिदिहोक्तमुक्तनिमित्तमेदद्वयमाहुस्त-
न्मते उदाहृतपथेऽनुक्तनिमित्तता द्वितीयोदाहरणे तूक्तनिमित्ततेति द्रष्टव्यम् । अचि-

१. 'कुसुमितेति । कुसुमानि संजातानि यासां ताः कुसुमिताः । रुजं पीढामधत्त धृत-
वती । परिवर्तते स पराश्रित्य वर्तते स । नलिनीयुक्ताभिलहरीभिः । नलिनीपरम्पराभिर्वा ।
नलिनीति नायिकाख्ये । अलोलिताप्यचालितापि । अत्राघातादिरूपकारणाभावेऽपि पीडादि-
रूपतत्कार्यकथनाद्विभावनालंकारः । सौकुमार्यातिशयस्याप्रसिद्धस्य हेतोर्विभावनात् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'निद्रेति । दुरत्ने सूर्ये । भुजंग उपनायकः । अत्र सूर्योदया-
दिकारणसत्त्वेऽप्यालिङ्गनपरित्यागरूपकार्याभावोक्तेर्विशेषोक्तिः । सा च तन्निमित्तस्यानु-
रागप्रतिशयस्यानुक्तेरनुक्तनिमित्ता । रतश्रमादक्षमत्वं निमित्तमिति चण्डीदासः ।' इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्रानुरागातिशयो निमित्तं चलनाभावे । स च विशिष्य वक्तुं शक्यत्वेऽपि नोक्त इत्यनुक्तनिमित्तेयम् । उक्तनिमित्ता यथा—

‘कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने जने ।

नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥’

‘अत्र कर्पूरदाहमात्र उपमानं न तु शक्तिमत्त्वेऽपि’ इति भास्करः । शक्तिमत्त्व इति परमार्थः । ईषद्गन्धस्य तस्य सौरभाद्यतिशयात् ।

‘भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः ।

निजां यदग्लोषदशामपेक्ष्य संप्रत्यनेनाधिकवीर्यताजि ॥’

इत्यादि नैषधदर्शनात् ।

अत्रावारवीर्यत्वं शक्तिमत्त्वे कार्याभावरूपे हेतुरुक्तः । अचिन्त्यनिमित्ता यथा—

‘सै एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हतं बलम् ॥’

अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणस्य हेतुर्विशिष्य वक्तुं न शक्यत इत्यचिन्त्यनिमित्तेयम् ।

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ २२ ॥

न्यनिमित्ततो वैलक्षण्यमाह—स च विशिष्येति । दाहमात्र इति । यथा कर्पूरं निरवशेषं दह्यते तथेत्येतावन्मात्रं विवक्षितं न तु तस्य शक्तिमत्त्वम् । अप्रसिद्धेरित्यर्थः । भ्रूभ्यां भ्रूवरूपेण भवता । घनश्वात् सारो दृढस्तत्ता कर्पूरता च । अग्लोषदशामदाहदशाम् । संप्रति दग्धदशायाम् । अत्राचिन्त्यत्वचिन्त्यत्वयोरनुक्तनिमित्तस्यैव भेदरूपत्वाद्भेदद्वयमेव प्राचीनैर्नवीनैश्च कैश्चिदुक्तं तदयुक्तम् । अनुक्तनिमित्तायां निद्रेत्यादौ चिन्त्यस्य निमित्तस्यानुरागातिशयत्वेन विशिष्य ज्ञानमचिन्त्यत्वमिति द्रष्टव्यम् । तद्यथा—‘ण हु रुवं ण अ ऋद्धी णेअ कुलं ण अ गुणा ण विष्णाणम् । एमे अ तह वि कस्स वि कोवि जणो बल्लहो होइ ॥’ ‘न खलु रूपं न च ऋद्धिर्नैव कुलं न च गुणा न विज्ञानम् । एवमेव तथापि कस्यचित्कोऽपि जनो बल्लभो भवति ॥’ इति संस्कृतम् । अत्र रूपाद्यभावेऽपि बल्लभत्वस्य निमित्तमचिन्त्यमित्यूह्यम् । इति विशेषोक्तिप्रकरणम् ॥ २० ॥ यथासंख्यमिति । अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रयित्रीत्यादाविवात्रापि क्रमप्रक्रमभङ्गदोषात्तदभावरूपं यथासंख्यं नामा-

१. ‘कर्पूर इवेति । शक्तिप्राणस्य मनसश्चाकर्षकता । कर्पूरस्यापीषद्गन्धस्य सौरभातिशया-
दृष्टान्तत्वम् । तथा च श्रीहर्षः—‘भ्रूभ्यां प्रियाया-’ (इत्यादि पद्यम्) इयं चावार्यवीर्यत्व-
रूपोक्तनिमित्ता ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. नैषधीयकाव्ये सप्तमसर्गे २५ तमः श्लोकः.
३. ‘स एक इति । त्रीणि जगन्ति भुवनानि । अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्य-
मित्यचिन्त्यनिमित्ततेति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

यथा—

‘एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्ण-
श्रौयौष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥’

स्वष्टम् ।

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥ २३ ॥

सामान्यं यद्विशेषेण समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः ।
द्वयोरपि प्रत्येकं समर्थनहेतुः । साधर्म्यं वैधर्म्यं चेति चतुःप्रकारोऽयमित्यर्थः ।
तत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनं साधर्म्येण यथा—

‘निजैदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिञ्जुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥’

सामान्येन विशेषसमर्थनं साधर्म्येण यथा—‘सुसितवसना—’ इत्यादि ।

विशेषेण सामान्यसमर्थनं वैधर्म्येण यथा—

‘गुणानामेव दौरात्म्याद्दुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥’

अत्र धुर्यं इत्यादिसाधारण्यात्सामान्यम् । गौर्गलिरिति विशेषः । वैधर्म्यं च
स्फुटम् । वैधर्म्येण विशेषस्य सामान्येन समर्थनं यथा—

लंकार इति नव्याः । इति यथासंख्यालंकारप्रकरणम् ॥ २१ ॥ विशेषो वा सा-
मान्येनेति । दृष्टान्तप्रतिवस्तूपमयोस्तु विशेषेण विशेषस्य समर्थनमिति ततो भेदः ।
काव्यलिङ्गे तु न सामान्यविशेषभाव इति तन्निरासः । इत्यर्थान्तरन्यासप्रकरणम् ॥

१. ‘एक इति । हे देव, एकस्त्वं द्विषां विदुषां मृगीदृशां च चेतसि त्रिधा त्रिभिः
प्रकारैर्वससि अत्र विषये चित्रमाश्चर्यमित्यन्वयः । किं कुर्वन् । शौर्यस्य प्रतापस्योष्मणा
विनयेन लीलया विलासेन च यथासंख्यं तापं संमदस्य हर्षस्य रसं रतिं च पुष्णन् । इति
प्रकारत्रयप्रदर्शनम् । सोऽयं यथासंख्यालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘निजेति ।
आवृतमाक्रान्तम् । एवकारोऽप्यर्थः । सुन्दरमपीत्यर्थः । अयं विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽ-
र्थान्तरन्यासः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘सुसितेति । व्याख्यातं सप्तमे । अत्र क
नासि शुभप्रद इति सामान्येन पूर्वोक्तविशेषसमर्थनरूपः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
४. ‘गुणानामिति । दौरात्म्यादपराधात् । दुरि अनन्यसाध्यकार्यभारे । धुर्यस्तदहनक्षमः ।
संजातः किणो वर्षणनिष्ठं यस्य स तथा पञ्चात्रन्समासेनातादृशः स्कन्धो यस्य सः । गलिः
कुस्तिगतलो गोर्बलीवर्दः । गले बलादासजितं युगं यः पातयति स गलिरिति केचित् । अत्र
वैधर्म्येण सामान्यसमर्थनम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषां यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।

त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्पट्टैव हि ये क्षयं गताः ॥’

सामान्यविशेषभाव उपपादनीयः ।

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुगत्या विरोधाभावेऽपि यद्वयोर्विरुद्धयोरिवाभिधानं स विरोधः । एनं विभजते—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः ॥ २४ ॥

क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

जात्याद्यैरिति गुणक्रियाद्रव्यैः । त्रिभिरिति गुणक्रियाद्रव्यैः । द्वाभ्यामिति क्रियाद्रव्याभ्याम् । यद्यपि गुणानामपि जात्या विरोधः संभवत्येव तथापि जातेर्गुणविरोध एव प्रविष्टत्वाच्चिभिरित्युक्तम् । एवं क्रिया द्वाभ्यामित्यपि दृष्टव्यम् । तदयमर्थः—जातिनिरूपितो भेदश्चतुर्धा । गुणनिरूपितस्तु पूर्वभेदभिन्नस्त्रिधा । एवमग्रेऽपि । तत्र जात्या जातेर्विरोधो यथा—

‘अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयोऽदि दवदहनराशिः ।

सुभग कुरङ्गदण्डोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगविपाते ॥’

अत्र नलिनीत्वकिसलयत्वादजातीनां दहनत्वजात्या विरोधः । वियोगातिशयेन गौणत्वात्तदाभासता । एवमग्रेऽप्युक्तम् । जातेर्गुणेन यथा—

॥ २२ ॥ वस्तुगत्या विरोधस्य दोषत्वादविरोधेऽपीत्युक्तम् । तद्व्याचष्टे—वस्तुगत्येति । अभिनवेति । ननु जालोर्द्रव्ययोश्च न विरोधालंकारो भवितुमर्हति रूपकान्तत्वात् । अन्यथा मुखं चन्द्र इत्यादावपि विरोधालंकारप्रसङ्गात् । न च निर्वकाशः रूपकं गुणादौ सावकाशस्य विरोधस्य बाधकमिति वाच्यम् । तथा सति मृणालवलयोऽदिदवदहनराशिरित्यादाविष्टस्य विरोधालंकारस्यासिद्धिप्रसङ्गादिति चेत्, अद्धा । परं तु यत्र यस्य चमत्कारे प्राधान्यं स तत्रालंकार इत्युच्यते । एवं च मुखं चन्द्र इत्यादौ विद्यमानोऽपि विरोधो न चमत्कारितया विवक्षितः अपि तु चन्द्रामेद एवेति रूपकमेव । दवदहनराशिरित्यादौ तु विरहिण्यायवस्थाया अद्भुतत्वविवक्षावशाद्विरोध एवेति व्यवस्था । न च रूपके विरोधाविवक्षायामपि विरोधे

१. ‘अहो इति । कश्चिदापन्नं सुहृदं प्रति तदवस्थोचितमप्रियं वक्तुकामः खेदातिशयात्स्वजीवितं निन्दति । हि विषादे । यद्यस्मादेवंविधस्याप्रियस्य कदाप्यनुक्त्वात् । अहो इत्याश्चर्ये । त एव जगति धन्या इति संबन्धः । पराभव आपत्तिः । अत्र वैधर्म्येण विशेषसमर्थनम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अभिनवेति । हे सुभग, विधिवशतो दैववशतो वियोग एव प्रविर्बज्रं तस्य पाते सति नूतननलिन्यादिकं दावानलराशिरूपम् । भवतीति शेषपूर्णेनान्वयः । अत्र नलिनीत्वादजातीनां दहनत्वजात्या विरोधस्य विरहोदीपकतया दहनत्वोपचारेण परिहारात्तदाभासोऽलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘गिरयोऽप्यनुव्रतियुजो मरुदप्यच(ब)लोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः ।

विश्वंभराप्यतिलधुनैरनाथ तवान्तिके नियतम् ॥’

अत्र गिरित्वादिजातीनामनुव्रतत्वादिगुणैर्विरोधः । वर्णनीयातिशयविवक्षया तु परिहारः । विश्वंभरेति तु न जात्युदाहरणम् । जातेः क्रियया यथा—

‘येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां संप्राप्य धाराधर-

स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं परामोति च ।

तेषां संगरसङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते

पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥’

अत्र धाराधरत्वजातेरनुरागस्नेहपरासिक्रियाभ्यां विरोधः । लौहित्यचैक्यव्या-
र्थकत्वाद्विरोधः । एवमग्रेऽप्यविरोध उद्घः । तीक्ष्णत्वस्यानुरागेण विरोध इत्य-
पव्याख्यानम् । अनुदाहरणत्वप्रसङ्गात् । जातेर्द्रव्येण यथा—

स्वानुगुण्येनाभेदस्य विवक्षितत्वादूपकापत्तिरिति शङ्क्यम् । विरोधविवक्षाविरहवैशि-
ष्ट्यस्वरूपकलक्षणे निवेशेनादोषात् । अभेदस्य विरोधाङ्गत्वेन प्राधान्येन विरोधस्यैव
व्यपदेशौचित्याद्वा । एवं च मुखं चन्द्र इत्यादावपि विरोधविवक्षायां स एवालंकार
इत्यवचेयम् । गिरय इति । अनुव्रतिरल्पोचता । अचलत्वमल्पवेगत्वम् । अग-
म्भीरा अल्पगम्भीराः । नवो ह्यल्पार्थत्वात् । तथा चोक्तम्—‘तत्सादृश्यं तदल्पत्वं
तदन्यत्वं विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थः षट् प्रकीर्तिताः ॥’ इति । तत्सा-
दृश्यम्—अब्राह्मण इति । तदल्पत्वम्—अनुदरा कन्येति । तदन्यत्वम्—अषट्ः पट
इति । विरोधित्वम्—अमुरा इति । अप्राशस्त्यम्—अप्रशस्तो ब्राह्मणोऽब्राह्मण
इति । अभावः—भूतले षटो नास्तीति । तेन जातिगुणविरोधोदाहरणत्वसंगतिरि-
त्याहुः । वस्तुतस्त्वभावस्यापि जातिक्रियाद्रव्यातिरिक्तत्वेन गुणान्तर्भाव एवेति ग्रन्थ-
कृद्वक्ष्यति । अतिलघुत्वमपकृष्टगुरुत्वम् । तस्य च विश्वंभराद्रव्येण विरोधः । प्रकृते
तु तस्य नोदाहरणत्वम् । व्यक्त्यभेदेन विश्वंभरात्वस्य जातित्वाभावादित्याह—
विश्वंभरेति । अनुदाहरणत्वेति । तीक्ष्णत्वस्य जातित्वाभावादिति भावः ।

१. ‘गिरय इति । अनुव्रतिरुच्चत्वाभावः । अवलो बलशून्यः । अत्र गिरित्वादिजाती-
नामुच्चत्वाभावादिभिर्गुणैर्विरोधः । राजगतौत्रत्याद्यतिशयविवक्षया तत्परिहारः । एवम-
ग्रिमोदाहरणेऽपि विरोधतत्परिहाराबूझनीयो । यत्त्वभावस्य गुणत्वाभावादल्पार्थे नञ् इति
व्याख्यानं तदनुक्तम् । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति नये जातिक्रियाद्रव्यातिरिक्तस्यैव
गुणपदेनोपादानात् । अन्यथाभावादिविरोधस्यासंग्रहेण विभागन्यूनत्वापत्तेरिति १ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘येषामिति । कण्ठपरिग्रहे या प्रणयिता प्रणयशीलता ताम् ।
धाराधरः स्नहः । तीक्ष्णस्तीक्ष्णधारः परुषश्च । अनुरज्यतेऽनुरक्तो भवति लोहितश्च । स्नेहं
प्रीतिं चैक्यं च । परामोति प्राप्नोति । संगरस्य युद्धस्य सङ्गे सक्तं मनो येषां ते । पटलैः
समूहैः । प्रसाधनविधिर्भूषाविधिः । कौतुकमिति क्रियाविशेषणम् । एतत्कौतुकमिति वा १
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘सृजति च महदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।

अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥’

अत्र शफरत्वजातेर्जनार्दनेन द्रव्येण विरोधः । गुणस्य गुणेन यथा—

‘सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ।

द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥’

कठिनत्वसुकुमारत्वयोर्विरोधः । गुणस्य क्रियया यथा—

‘पेलैवमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम् ।

परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत्प्रमोदयति ॥’

अत्र पेलवपरुषत्वयोर्गुणयोर्दाहप्रमोदक्रियाभ्यां विरोधः । यथा वा मन्त्रातुः
श्रीहर्षस्य—

‘सर्वतः पुरत एव दृश्यते पात्रतां न पुनरेति चक्षुषोः ।

हृद्गतोऽपि भुजयोर्न भाजनं कोऽयमालि वनमालिनः क्रमः ॥’

अत्र दर्शनगमनक्रिययोर्गमनाभावभुजभाजनत्वाभावाभ्याम् । उक्तत्रयाति-
रिक्तस्यैव गुणशब्देन विवक्षणात् । ‘गिरयः—’ इत्यादि तथैवोदाहृतम् । गुणस्य
द्रव्येण यथा—

‘क्रौञ्चाद्रिरुहामदृषद्दोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।

अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥’

अत्राम्भोजदलाभिजातत्वस्य गुणस्य क्रौञ्चाद्रिणा द्रव्येण विरोधः । क्रियायाः
क्रियया यथा—

जनार्दनस्य मत्स्यशरीरपरिग्रह आगमसिद्ध इति विरोधः । शराभिघाततैक्ष्ण्यातिशय-
विवलनौपचारिकत्वं (?) च नवाम्भोजदलसौकुमार्यस्य विवक्षितत्वात्परिहार्यः । जडी-
करणतापक्रिययोः कालभेदेन वा क्रियाया जलनिधिना विरोधस्तपःप्रभावत्वातिशयेन
परिह्रियते । एवं कालिन्दीपदस्य श्यामत्वेनौपचारिकतया विरोधपरिहार इति दिक् ।
इति विरोधप्रकरणम् ॥ २३ ॥ वर्णस्वभावोक्तिः प्रथममरुणच्छाया इत्यादौ बोध्या ।

१. ‘सृजतीति । अवति रक्षति । हेळया अनायासेन । सोऽपि जनार्दनोऽवसरवशाच्छ-
फरः । जात इति शेषः । अत्र शफरत्वजातेर्जनार्दनेन द्रव्येण विरोधः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः. २. ‘सततमिति । घटना संपादनं तेन कठिनाः कराः । भवति त्वयि सति सरोजव-
त्सुकुमाराः । जाता इति शेषः । अत्र कठिनत्वसुकुमारत्वयोर्गुणयोः परस्परं विरोधः ।’ इत्यु-
दाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘पेलवमिति । पेलवं कोमलम् । सतत्त्वतत्त्वशब्दौ पर्यायौ । मल-
यजं चन्दनम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘पतदुदाहरणमुदाहरणचन्द्रिकायां न
व्याख्यातम्. ५. ‘क्रौञ्चेति । उद्यमैरुद्धटैर्वृषद्भिः पाषाणैर्दो यस्य मार्गणानां बाणानामनर्ग-
लेऽविच्छिन्ने शास्ते तीक्ष्णे पतने सति नवाम्भोजदलवदभिजातः कोमलोऽभूत्स भार्गवः परशुरा-
मोऽपूर्वः सर्गः सृष्टिर्यस्य यत्कर्मको यत्कर्तृको वेति सत्यमित्यन्वयः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च तनुते ॥’

अत्र जडयति च तापं च तनुते इति क्रिययोर्विरोधः । क्रियाया द्रव्येण यथा—

‘अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति

श्रितोऽस्माभिस्तृष्णाकवलितमनोभिर्जलनिधिः ।

इदं को जानीते निजकरपुटीकोटरगतं

क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥’

अत्र पानक्रियायाः कर्मीभूतेन जलनिधिना विरोधः । यद्यपि जलनिधीनां बहुत्वेन न द्रव्यविरोधोदाहरणत्वमुचितं तथाप्येकलवणान्मुधिपरतया समर्थनीयम् । द्रव्यस्य द्रव्येण यथा—

‘सैमदमतङ्गजमदजलनिष्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।

क्षितितिलक त्वयि तटजुषि शंकरचूडापगापि कालिन्दी ॥’

अत्र गङ्गायमुनयोर्विरोधः ।

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ २५ ॥

स्वत्वं च स्वमात्राश्रितत्वम् । न तु स्वाश्रितत्वमात्रम् । अतो न साधारण्यमवर्णनेऽतिव्याप्तिः । रूपशब्देन वर्णः संस्थानं चोच्यते । उदाहरणम्—

‘पेश्वादङ्गी प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-

रासज्यामुग्रकण्ठो मुखमुरसि सटा धूलिधूम्रा विधूय ।

१. ‘परीति । चतुर्थे व्याख्यातम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अयमिति । वारां जलानां निलयः स्थानमिति हेतोस्तृष्णाक्रान्तमनोभिरस्माभिर्जलनिधिः श्रित आश्रितः । मुनिरगस्त्य एनं समुद्रं क्षणादासमन्तात्पास्यति इदं को जानीते इत्यन्वयः । कीदृशम् । निजा करपुटी करसंपुटं तदेव कोटरं बिलं तद्रतम् । ताम्यन्तो ग्लायन्तस्तिमयो मत्स्या मकराश्च यत्र । तादृशम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘समदेति । हे क्षितितिलक, त्वयि तटजुषि सीरगते सति शंकरस्य चूडा मस्तकं तद्रता आपगा नदी गङ्गापि कालिन्दी यमुना भवति । कुतस्तत्राह—समदेत्यादि । मतङ्गजाः करिणः तेषां मदजलनिष्यन्द एव तरङ्गिणी नदी तत्परिष्वङ्गात्संबन्धात् । मदजलस्य श्यामवर्णत्वं प्रसिद्धम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘पश्चादिति । शयनादुत्थितस्तुरंगोऽयः क्षमां भूमिं क्षुरेण विलिखति । उत्किरतीत्यन्वयः । अनवरतं चलत्प्रोयो नासिका तुण्डं च यस्य सः । किं कृत्वेत्यत्राह—पश्चादित्यादि । अङ्गी चरणौ । त्रिकस्य पृष्ठवंशापरभागस्य नल्या नम्रतया विततं विस्तृतमङ्गं द्राघयित्वा दीर्घीकृत्य । आमुग्रो वक्रः कण्ठो यस्य तादृशः । मुखमुरसि आसज्येति संबन्धः । सटाः स्कन्धकेशावलिः । ‘पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्’ इत्यमरः । ‘प्रोथोऽध्वगोऽध्वगोणायाम्’ इति विश्वः । अत्राश्रयातिवर्णनास्त्वभावोक्तिरलंकारः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

घासप्रासाभिलाषादनवरत्तचलप्रोथतुण्डस्तुरंगो

मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्षमां क्षुरेण ॥'

अत्राश्वमात्रगतयोः क्रियासंस्थानयोर्वर्णनम् ।

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

मुखे निन्दावगतौ यास्तुतौ पर्यवसानं स्तुतेर्वा मुखेऽवगमो निन्दायां पर्य-
वसानं तद्व्याजस्तुतिर्वाच्यमित्यर्थः । कथमुभयोरनेनाभिधानमिति चेत्, आद्यस्य
व्याजेन स्तुतिरिति ग्रहणात् अन्यस्य तु व्याजरूपा स्तुतिरिति । तत्राद्या
यथा—

‘हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परो

लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते ।

यस्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याभितायाः श्रियः

प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥’

स्पष्टम् । अन्त्या यथा—

‘हे^२ हेलाजितबोधिसत्त्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे

नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।

तृण्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-

भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥’

अत्रोपकारवैमुख्ये पर्यवसानम् ।

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥ २६ ॥

शब्दशक्त्या एकार्थाभिधायकं पदं यत्सहार्थान्वयबलादनेकार्थाभिधायकं सा

पश्चादित्युदाहरणेऽङ्घ्रिप्रसारणादिक्रियाप्रयुक्तं संस्थानं बोध्यम् । इति स्वभावोक्तिः

॥ २४ ॥ रूढिरिति । एतद्व्याचष्टे—पर्यवसानमिति । इति व्याजस्तुतिः

॥ २५ ॥ शब्दशक्त्येति । विशेषणपदस्य समानविभक्तिकनामार्थान्वयबोधक-

त्वसामर्थ्येन क्रियापदस्य च प्रथमान्तोपस्थाप्यानवयबोधकत्वसामर्थ्येन चेत्यर्थः ।

एकार्थेति । उक्तैकार्थान्वयगमकमित्यर्थः । सहार्थेति । समानकालीनैकधर्मवत्त्व-

१. ‘हित्वेति । हे राजन्, त्वां हित्वा परोऽन्य उपरोधेनानुरोधेन बन्ध्यं शून्यं मनो येषां
तादृशानां मौलिः श्रेष्ठो नास्तीति मन्ये । तथा रमां लक्ष्मीमन्तरेण विनान्यत्र लज्जाया
वर्जनमभावो न संदृश्यत इत्यन्वयः । कथम् । तत्राह—य इत्यादि । यो भवान्मुखशतैरु-
पायशतैरेत्यागलेत्यर्थः । त्यागकृतमवमाननं प्राप्यापीति संबन्धः । इयं निन्दापूर्विका व्याज-
स्तुतिः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘हे इति । हेलाया जिता बोधिसत्त्वा बौद्धा येन
सः । अतिकारुणिकेत्यर्थः । तोयधे समुद्र । परोऽन्यः । तृण्यतां पान्थजनानामुपकारस्य
घटनायां संपादने वैमुख्येन पराङ्मुखत्वेन लब्धं यदयशस्तद्भारस्य प्रोद्वहनेन मरोदेशस्य
कृपया साहायकं करोषीति स्तुतिपूर्विकेयं व्याजस्तुतिर्निन्दापर्यवसायिनी ॥’ इत्युदाहरण-
चन्द्रिकासंक्षेपः. ।

सहोक्तिः । 'चैत्रमैत्रौ गच्छतः' इत्यादौ तु शब्दशक्त्यैवोभयाभिधानम् ।
यथा—

‘सह दिवहणिसाहं दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलपुहिं बाहधारा गलन्ति ।
तुह सुहभ विओपु तीअ उव्विगिरीए
सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा ॥’

अत्र दीर्घत्वादीनां श्वासादिभिरन्वयः साक्षादेव शाब्दः । दिवसादिभिस्तु
सहान्वयबलात् ।

विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

सन्न शोभनो न नेतरो नाशोभन इत्यर्थः । तेन केनचिद्विना कस्यचिद-
शोभनत्वं शोभनत्वं वा प्रतिपाद्यते सा विनोक्तिः । तत्राशोभनत्वं यथा—

‘अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥’

शोभनत्वं यथा—

‘मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।
अमृतघुतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥’

अत्र मृगलोचनया दुष्टसुहृद्विशेषं च विना नरेन्द्रसूनोर्विचित्रव्यवहारप्रग-
ल्भत्वचन्द्रसुन्दराशयत्वस्वरूपं शोभनत्वमुक्तम् ।

रूपसाहित्यान्वयबलादित्यर्थः । अनेकार्थेति । अनेकार्थोचितस्वार्थबोधकमित्यर्थः ।
एतच्चोदाहरणे स्पष्टीकरिष्यते । सहेति । ‘सह दिवसनिशाभिर्दार्घ्याः श्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति । तव सुभग वियोगे तस्या उद्वेगशीलायाः सह च
तनुलतया दुर्बला जीविताशा ॥’ अत्र यथा ‘पुत्रेण सहागतः पिता’ इत्यत्र पुत्रवृत्ति-
धर्मसमानकालीनधर्मवान्पिता । आगत इत्यागमनस्य पितर्येव शाब्दोऽन्वयः । पुत्रे
तु सहायसाहित्यबलादागमनबोधः । आगमनरूपधर्मस्यैवागतपदसमभिव्याहारेण धर्म-
त्वेन बोधात् । (विरोधात्) । एवमिहापि श्वासदण्डेषु दीर्घत्वान्वयः शाब्दः विशेषतो

१. ‘सह गच्छतः’ ग. २. ‘सहेति दूला नायकं प्रतीयमुक्तिः । श्वासानां घनप्रचुरतया
दण्डत्वेन रूपणम् । काश्यान्मणिकङ्कणगलनम् । आशाया दुर्बलत्वं क्रादाचित्कत्वम् ।
अत्र सहोक्तिरलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘अरुचिरिति । अरुचिर्दीप्तिशून्यः ।
शशिना विना सापि निशापि महदुत्कटं तमोऽन्धकार इति रूपकम् । उभयेन चन्द्रनि-
शाभ्याम् । स्फुरितं विलसितम् । चकास्ति शोभते ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘मृगेति ।
नरेन्द्रसूनु राजपुत्रो विचित्रेषु व्यवहारेषु या प्रतिभायाः स्फूर्तेः प्रभा प्रकाशत्वेन प्रगल्भः ।
मृगनयनासक्तस्तु नैवंभूत इत्यर्थः । अनेन दुष्टप्रकृतिना । अमृतघुतिश्चन्द्रस्तद्रसुन्दरः ।
अत्र आशयोऽन्तःकरणं यस्य । उदाहरणद्वये विनोक्तिरलंकारः । पूर्वत्रान्येन विना
अशोभनत्वमिह तु शोभनत्वमिति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥ २७ ॥

परिवृत्तिरिति लक्ष्यालंकारनिर्देशः । पूर्वाचार्याणां तथैवोद्देशदर्शनात् । अतो न लक्ष्यलक्षणसंदेहः । समासमैरिति विभागः । विनिमयो हि केनचिद्वस्तुना दत्तेन कस्यचिदादानम् । तच्च कचित्समेन समस्य । कचिदसमेनासमस्य । अन्यमपि द्विधा—कचिद्व्युत्तमेनोत्तमस्य । कचिदुत्तमेन न्यूनस्येति त्रिविधेयमित्यर्थः । समासमत्वं चोपादेयत्वानुपादेयत्वाभ्याम् । तत्राद्यद्वयं यथा—

‘लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं

मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम् ।

लतास्त्वध्वन्यानामहह दशमादाय सहसा

ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥’

अत्र प्रथमार्धे लास्येनोपादेयतया समस्यामोदस्य, द्वितीयार्धे उपादेयतया उत्तमया दशा आधिष्याधीनामतादृशतया न्यूनानां विनिमयः । अन्या यथा—

‘नानाविधप्रहरणैर्नृप संप्रहारे स्त्रीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान् ।

दृष्टारिवीरविसरेण वसुंधरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥’

अत्रोत्तमया वसुंधरया न्यूनानां प्रहाराणां विनिमयः ।

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।

तद्भाविनः

दिवसनिशादौ साहित्यप्रतीत्या आर्य इति लक्षणसंगतिः । दीर्घादिपदं तु दिवसादा... धर्मत्वेन दीर्घत्वादिवोदे तात्पर्यप्राहकतया हेतुरिति बोध्यम् । इति सहोक्तिप्रकरणम् ॥ २६ ॥ विनोक्तिरित्यादि स्पष्टम् । इति विनोक्तिप्रकरणम् ॥ २७ ॥ न्युनेनोत्तमस्येति । न्युनेन दत्तेनोत्तमस्यादानमित्यर्थः । एवमुत्तमेन दत्तेन न्यूनस्योपादानमित्यर्थो ज्ञेयः । अत्र समेन समस्येत्यस्यानुपादेयत्वेन समत्वविवक्षायां चतुर्थोऽपि भेदः कैश्चिदुदाहृतः । यथा—‘अस्थिमालामयीं दत्त्वा मुण्डमालामयीं तनुम् । गृह्णता त्वत्पुरस्थानां को लाभः स्मरशासन ॥’ इति । एवं दानाद्यभावेऽपि धर्मि-धर्मभावव्यत्यासे वा विपर्ययाख्योऽलंकार उक्तः । यथा—‘काचो मणिर्मणिः

१. ‘लतानामिति । अयं मरुदायुर्लतानामसममनुपममामोदं परिमलं श्रयतीत्यन्वयः । मतं मनोरमं लास्यं नृत्यं दत्त्वा अर्थाल्लताभ्यः । अध्वन्यानां पान्यानाम् । अहह खेदे । आधिर्मेनपीडा । व्याधिः प्रसिद्धः । भ्रमिर्दिग्भ्रमणदर्शको विकारः । रुदितं रोदनम् । मोहो निश्चेष्टता । एषां व्यतिकरं समूहम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘नानेति । हे नृप, संप्रहारे युद्धे प्रहरणैरायुधैर्दारुणशब्दयुक्तान्प्रहारान्स्त्रीकृत्य दर्पयुक्तेनारिसमूहेनेयं वसुधा वितीर्णा दत्ता । अर्थायुभ्यम् । कीदृक् । निर्विप्रलम्भो वियोगशून्यः परिरम्भस्यालिङ्गनस्य । स्वस्वामिभाससंबन्धस्येति यावत् । विधिर्यस्यास्तादृशी । अत्रोदाहरणद्वयेऽपि यथायोगमुत्तममध्यमाधमानां विनिमयोक्ते परिवृत्तिरलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

भूतभाविन इति द्वन्द्वः, न कर्मधारय इत्यविरोधः । भूता भाविनो भावा
यत्प्रत्यक्षा इव क्रियन्ते प्रत्यक्षतयाभिधीयन्ते तद्भाविक्त्वम् । भावः कवेरभिप्रायो
निश्चयादिप्रतीतिविषयकोऽग्रास्तीति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । उदाहरणम्—

‘आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।

भाविभूषणसंभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥’

अत्र पूर्वार्धे भूतस्याञ्जनस्य उत्तरार्धे भाविनो भूषणसंभारस्य प्रत्यक्षतया-
भिधानम् ।

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ २८ ॥

अत्र विवक्षितविवेकेन हेतुवचनं काव्यलिङ्गमिति लक्षणम् । वाक्यपदार्थ-
तेति विभागः । वाक्यार्थता पदार्थता चेत्यर्थः । तत्र वाक्यार्थता यथा—

‘वैपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा

पुरारे नैवाहं क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।

नमन्मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिमा-

न्महेश क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥’

अत्र पुरा क्वचिदपि नाहं भवन्तं प्रणतवान् । अग्रेऽप्यहमतनुरिति मानित्यवान्त-
रवाक्ययोरर्थोऽनमनमपराधे हेतुः । अनेकपदार्थता यथा—

काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः । सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणि-
र्मणिः ॥’ अत्र काचस्य धर्मित्वं मणेरधर्मत्वमुक्त्वा अनन्तरं मणेरधर्मित्वं काचस्य
धर्मत्वमुक्तमिति धर्मभावविपर्यासः । धर्मस्यासौ यथा—‘यस्य न सविधे दयिता’—
इति पद्ये । अत्र हि पूर्वार्धे तुहिनदीधितौ दवदहन्त्वमुत्तरार्धे तु दवदहने तुहिनदी-
धितत्वमिति विपर्यासः । न तु धर्मधर्मि विपर्यासः । तस्य यथास्थितत्वेनैव विवक्ष-
णात् । दयितविरहोपाधिना परस्परधर्मविपर्यासस्यैव च विवक्षणादित्यवधेयम् । इति
परिवृत्तिप्रकरणम् ॥ २८ ॥ अविरोध इति । भूतानां भाविकस्याप्रतीतेरित्यर्थः ।
निश्चयादीति । अज्जनादेः पूर्वकालीनसत्तानिश्चयसूचनेऽभिप्राय इत्यर्थः । आदि-
नाजनादिकं विनापि तत्कृतशोभासत्त्वादिकं गृह्यते । इति भाविकप्रकरणम् ॥ २९ ॥
अनमनमपराध इति । अपराधोऽत्र दुरितं विवक्षितम् । तत्रानमनस्य हेतुत्वम् ।

१. ‘आसिदिति । भावी भूषणानां संभारः समूहो यत्र तथाभूताम् । अत्र भूतभावि-
नोरञ्जनभूषणसंभारयोः प्रत्यक्षतयाभिधानाद्भाविक्वं नामालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।
२. ‘वपुरिति । हे पुरारे शिव, पुरा पूर्वसिन् क्वचिदपि जन्मनि प्रायो भवन्तमहं न प्रण-
तवान् । इदं वपुषः प्रादुर्भावादनुमितम् । प्रणामे सति मुक्तिलाभेन तदसंभवात् । अत-
एवाह—संप्रति नमन्मुक्तः । अतनुः शरीरशून्योऽहमग्रेऽप्यनतिमान् नतिरहितः । तत्त-
स्मात्पूर्वापरकालीनानमनादिदमपराधद्वयं प्रत्यवायरूपं क्षन्तव्यमित्यपराधहेतोर्वाक्यार्थभूत-
स्यानमनस्योपादीनात्काव्यलिङ्गालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

‘प्रणयिसखीसलीलपरिहासरताधिगतै-

लंलितशिरीषपुष्पहननैरपि तान्यति यत् ।

वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः

पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥’

अत्र शस्त्रोपक्षेपो भुजपाते हेतुः । न चायं वाक्यार्थः । शस्त्रमुपक्षिपत
पृतावन्मात्रस्यावाक्यार्थत्वात् । तत्र वपुषि वधाय शस्त्रमुपक्षिपत इत्यस्यापि
न वाक्यत्वम् । विशेषणत्वादिति तदर्थस्यापि हेतुत्वे न वाक्यार्थस्य हेतुत्व-
मिति । एकपदार्थता यथा—

‘भस्मोद्धूलन भद्रमन्तु भवते रुद्राक्षमाले शुभं

हा सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालंकृतिम् ।

अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-

लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ॥

अत्र महामोहत्वे सुखालोकोच्छेदिता हेतुः । तच्च समासादेकपदार्थ एव ।
अर्थान्तरन्यासे तटस्थतयोपनिबद्धस्य हेतुत्वे पर्यवसानम् । इह तु साक्षादेव
हेतुविभक्त्यादिना हेतुतयोपनिबद्ध इति ततो भेदः ।

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।

अपराधस्य क्षमणं च तत्फलानुत्पादनं तच्चाशनं वेति नानुपपत्तिः । तदिति चानम-
नद्वयजन्यं दुरितद्वयपरामर्शकम् । न त्वनमनद्वयस्य । हेतुत्वस्य शाब्दत्वेऽलंकारत्वस्या-
निष्टत्वात् । विशेषणत्वादिति । तत्रेति षष्ठ्यन्तार्थे विशेषणत्वादित्यर्थः । अर्था-
न्तरन्यास इति । अत्रेदं विचार्यम्—काव्यलिङ्गेऽपि सुखालोकोच्छेदितेत्युक्तोदाह-
रणेऽन्यत्र च बहुशो हेतुविभक्तितच्छब्दादिहेतुवाचकपदाभावात्कथं काव्यलिङ्गता ।
अर्थान्तरन्यासे निजदोषावृत्तमनसामित्यादावतिसुन्दरस्य विपरीतत्वेन भाने तादृश-
जनवृत्तित्वेन साक्षात्पित्तोपहतत्वं हेतुर्नोच्यते किंतु शङ्कपीततादर्शनगतत्वेनेति ताट-
स्थ्यम् । काव्यलिङ्गे तु मोक्षरूपे पक्षे साक्षादेव सुखालोकोच्छेदित्वमुच्यते इति भेद
इत्युच्यते । तथापि हेतुविभक्त्यादिनेत्यसंगतमेव । उक्तोदाहरणे तदभावात् । प्रत्युत
पञ्चम्या हेत्वभिधाने ‘अलमतिचपलत्वात्’, ‘प्रजानां विनयाधानात्’ इत्यादौ काव्य-

१. ‘प्रणयितीति । मालतीमाधवे मालतीं हन्तुमुद्यतमधोरघण्टं कापालिकं प्रति माधवस्योक्तिः ।
तत्र तस्मिन्वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतस्तव क्षिरसि अकाण्डेऽनवसरे यमदण्ड इवैष मद्भुजः पतत्वि-
त्यन्वयः । तत्किम् । यद्वपुः प्रणयिनीनां सखीनां ये सलीलं परिहासरसास्तैरधिगतैः प्राप्तैर्ललि-
तशिरीषपुष्पताडनैरपि तान्यति ग्लायति । अत्र भुजपाते शस्त्रमुपक्षिपत इत्यनेकपदार्थो हेतुः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘भस्मेति । गिरिसुताकान्तस्य शिवस्यालयः प्रासादस्तदलं-
कारभूतां सोपानपङ्क्तिं शोचामीत्यर्थः । ‘अभितः—’ इत्यादिना हाशब्दयोगे द्वितीया । युष्माकं
या सपर्यां पूजा तत्सुखस्यालोकः प्रकाशस्तदुच्छेदके निधीयामहे । वयमिति शेषः । अत्र महा-
मोहत्वे सुखालोकोच्छेदकत्वं समस्तपदार्थो हेतुरिति ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

वाच्यवाचकभिन्नेनावगमनव्यापारेणार्थाद्वाच्यस्यैव यदभिधानं तत्पर्यायो-
क्तम् । पर्यायेण भङ्गान्तरेणाभिधानात् । ध्वनेस्तु न वाच्य एवार्थो विषय इति
ततो भेदः । उदाहरणम्—

‘यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्जिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥’

अत्रैक एवार्थं ऐरावतशक्रौ मदमानविमुक्तौ जाताविति व्यञ्जनया मदमा-
नाभ्यां तयोरधिकरणयोर्निवासप्रीतिरुज्जितेत्यभिधया च प्रतिपाद्यते । तेन च
यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम् । न च प्रतिपन्नस्यैव प्रतिपत्तिरफलेति किं व्यापारद्व-
येनेति वाच्यम् । यतो यथा व्यङ्ग्यं तथा नोच्यते । प्रकारयोर्भेदात् । एकरूप
एव वस्तुनि प्रकारभेद एव कथं स्यादिति चेत् यथा शुक्ले गवि चलति निर्वि-
कल्पकसविकल्पकयोः एक एव ह्यर्थस्ताभ्यां विषयीक्रियते । न पुनर्यथा निर्विक-
ल्पकविषयस्तथैव सविकल्पकेनापि विषयीक्रियते । भिन्नत्वसंसृष्टत्वाविषयकं
निर्विकल्पकं भिन्नत्वसंसृष्टत्वेप्रकारकं तु सविकल्पकमिति ।

उदात्तं वस्तुनः संपत्

लिङ्गस्यानिष्टत्वात् । तस्मात्साक्षात्परम्परया वा यत्र कारकहेतुरर्थतोऽवगम्यते तत्का-
व्यलिङ्गम् । उक्तार्थदृढप्रत्ययाय यत्रार्थान्तरन्यसनं तत्रार्थान्तरन्यासः । किञ्चिदर्थज्ञा-
पकतया हेतुकथनमनुमानमित्येव व्यवस्था युक्ता । तथा हि काव्यलिङ्गोदाहरणे-
ष्वनमनस्यापराधे कारकहेतुत्वमेव । तथा भुजपाते शस्त्रोपक्षेपस्य, मुक्तैर्मादरूपत्वे
आलोकोच्छेदस्यापि कारणत्वं योगक्षेमसाधारणं विवक्षितम् । एवं निजदोषेत्यादौ
दोषस्य भ्रमं प्रति कारकहेतुत्वोक्तेः पूर्वार्धे काव्यलिङ्गम् । तस्य तु दृढप्रत्ययार्थमुत्तरार्धे
विशेषसहचारोपन्यासः । न तु विशेषरूपोऽर्थः । सामान्यार्थे कारकहेतुरिति न
काव्यलिङ्गतेति । अनुमाने तु ज्ञापकहेतूपन्यासः । अस्मादिदं गम्यत इति । तेन यत्र
ज्ञापकहेतुनानुमितिः कवितात्पर्यविषया तत्रानुमानालंकार इति दिक् । इति काव्य-
लिङ्गम् ॥ ३० ॥ अर्थादिति । पर्यायोक्तपदसामर्थ्यादित्यर्थः । यथा निर्विक-
ल्पकविषय इति । निर्विकल्पकविषयो यथा केवलस्तथा सविकल्पकेन न विष-
यीक्रियत इत्यर्थः । तथा चैकप्रकारत्वाभावेऽयं दृष्टान्त इति ज्ञेयम् । भिन्नप्रकारत्वे
तु निर्विकल्पके प्रकाराभावादसंगतिः स्यादिति । अत एव निर्विकल्पकसविकल्पक-
प्रकारभावमेवाह—भिन्नत्वेति । भिन्नत्वं विशेषणगम्या अतथावृत्तिः । वृत्तौ चाभि-
न्नासंसृष्टत्वेनैलकारप्रस्थो बोध्यः । केचित्तु निर्विकल्पकेऽपि यत्किञ्चिदिदमिति किञ्चि-

१. ‘यमिति । यं रावणं प्रेक्ष्य मदेनैरावणस्येन्द्रगजस्य मुखे मानेन च हरेरिन्द्रस्य हृदये
चिरेण रूढां रुद्धिं प्राप्तापि निवासप्रीतिरुज्जिता त्यक्ता । इत्येवमैरावतेन्द्रौ मदमानशून्यौ
जातावित्यर्थस्य व्यङ्ग्यस्यैव भङ्गान्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तमलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिका-
संक्षेपः. २. ‘भिन्नत्वं’ क.

संपत्समृद्धियोगः । न तु तस्यैवातिशयः । उदाहरणम्—

‘मुक्ताः केलिविसृजहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः

प्रातः प्राङ्गणसीमि मन्थरचलद्वाकाङ्गिलाक्षारुणाः ।

दूराद्वाडिमवीजशक्तिधियः कर्षन्ति केलीशुकाः

यद्विद्वज्जवनेषु भोजनूपतेस्तद्दानलीलासितम् ॥’

अत्र विद्वज्जवनस्य मुक्तादिभूतसमृद्धियोगः ।

महतां चोपलक्षणम् ॥ २९ ॥

महतां यदुपलक्षणमङ्गभावः अर्थाद्वर्णनीये तदप्युदात्तमित्यर्थः । उदाहरणम्—

‘तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।

निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥’

अत्रैतादृशो महान्रामो दण्डकाया वर्णनीयाया अङ्गम् । नन्वत्र रामगत उत्साहातिशय एव चमत्कारनिदानं तस्य प्रधानत्वाद्विच्छित्यन्तराभावाच्च किंविषयोऽयमलंकारव्यपदेश इति वाच्यम् । नह्यत्र वीरो रसः प्रधानम् । तस्येहाङ्गत्वात् ।

तत्सिद्धिहेतावेकसिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।

समुच्चयोऽसौ

तत्सिद्धिहेतौ तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य साधके । समाधायतुल्यकक्षयोः कारणयोरुपादानमत्र तु तुल्यकक्षयोरिति विशेषः । उदाहरणम्—

‘दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽस्युत्सुकं

माणं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।

त्वेन वस्तु भासत इति यथाश्रुतोपपत्तिमाहुः । इति पर्यायोक्तप्रकरणम् ॥ ३१ ॥ न तु तस्यैवेति । बदरामलकाभ्रदाडिमामिल्यादौ पर्यायालंकारभेदेऽतिप्रसङ्गादिति भावः । उपलक्षणमिति भावप्रधानमित्याशयेत्ताह—अङ्गभाव इति । वर्णनीयाया इति तस्याः प्राधान्यसूचनायोक्तम् । इत्युदात्तप्रकरणम् ॥ ३१ ॥ समाधाविति ।

१. ‘मुक्ता इति । विदुषां भवनेषु केलौ विसृज्याच्छिन्नसूत्राद्वारागलिताः संमार्जनीभिर्हृता अपसारिता अङ्गणसीमि मन्थरं मन्दं चलन्तीनां बालानां वनितानां चरणलाक्षया अरुणा आरक्ता मुक्ताः कर्मभूताः दूराद्वाडिमवीजेषु शक्तिता धीर्येषां ते केलीशुकाः कर्तृभूताः कर्षन्ति यत्तद्भोजनूपतेर्दानलीलायितमित्यन्वयः । अत्रोक्तसमृद्धिवर्णनादुदात्तालंकारः ॥’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘तदिदमिति । यस्मिन्नरण्ये निवसन्नामो बाहुमात्रसङ्घातो रक्षसां क्षयं चकार तदिदमरण्यमिति महतः श्रीरामस्मरणयोक्तर्षकतया तदङ्गभावाद्भूपर उदात्तभेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘दुर्वारा इति । मार्गणाः शराः । मन्मथमुद्वेकालो वसन्तः । स एव कृतान्तोऽक्षमः क्षमाशून्यः । अथवा कृतान्तो

स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत्कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥'

अत्र स्मरमार्गेणा एव विरहासहत्वं कुर्वन्ति । सतोऽधिकं प्रियतमदूरस्थित्या-
द्युपात्तम् । एष एवोक्तलक्षणः समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्य-
तीति यत्केनचित्पृथग्लक्षितास्तदयुक्तम् । यथाहि—

‘कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मितिः श्रुतिशालिनी

भुजबलमलं स्त्रीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।

प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो

व्रजति सुतरां दर्पं राजंस्त एव तवाङ्कुशाः ॥’

अत्र कुलादीनां समीचीनानामेव योगः । दुर्वारा इत्याद्युक्तोदाहरणे स्मरमा-
र्गेणादीनामसमीचीनानाम् ।

‘शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी

सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।

‘समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः’ इति लक्षणात्समुचीयमानमपि कारणा-

यमोऽक्षमः । अकाले प्राणानपहर्तुं समर्थ इत्यर्थः । चतुरा विरहविनोदने कुशलाः । इत्थं
सति शठो मर्मभेदी विरहः कथं नु सोढव्य इत्यर्थः । अत्र दुर्वारत्वेनाशोभनानां तादृशैरेव
प्रियतमादिभिर्विरहासहत्वरूपकार्यं समुच्चय इति स एवालंकारः । नववयःप्रभृतीनां
शोभनत्वेऽपि विरहोदीपकत्वेनात्राशोभनत्वं बोध्यम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘कुलमिति । भद्रा शोभना । मूर्तिराकृतिः । छतिः शास्त्रश्रवणं वेदो वा । अलं
पर्याप्तम् । स्त्रीता वितृता । प्रकृत्या सुभगाः शोभनाः । अयं दृश्यमानो जनः । अमीभिः
कुलादिभिः सुतरां गर्वं व्रजति । तव त्वङ्कुशाः । विनयहेतव इत्यर्थः । अत्र दर्पाख्ये
कार्ये शोभनानामेव समुच्चयः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. शशीति । स्वाकृतेः शोभना-
कृतेः । दुर्गतो दरिद्रः । अत्र शशिनः स्वतः शोभनस्यापि दिवसधूसरत्वादशोभनत्वेन
शोभनाशोभनरूपस्य तादृशैरेव कामिनीप्रभृतिभिः समुच्चयः । तदुक्तं वृत्तिकृता—शशिति
धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति । सदसद्योग इत्यस्य सदसद्रूपाणामनेकेषां योग इत्यर्थः न तु
सतोऽसता योग इति । तथा सति सहचराभिन्नत्वरूपार्थदोषेणालंकारत्वासंभवात् । अत एव
नृपाङ्गणगतः खल इत्यत्र नृपाङ्गणगतत्वेन शोभनत्वं खलत्वेन चाशोभनत्वमिति समर्थनेऽपि
सहचरभिन्नत्वात्तदंशमुपेक्ष्यैवालंकारोदाहरणता प्रामाणिकैरुक्ता । एवं विशेष्यस्य शोभनत्वं
विशेषणस्य त्वशोभनत्वमिति प्रकान्तम् । इह त्वन्यथेति प्रक्रमभङ्गोऽप्यत्र ज्ञेयः । ननु
दुर्वारा इत्यसद्योगप्रसक्तिः । अत एवोदाहरणेऽपि कथं न सद्योग इति चेदत्रोच्यते । इह
शोभनस्य सतोऽशोभनत्वमिति विवक्षा । तत्र त्वशोभनमेवैतदिति विवक्षितं न तु शोभन-
त्वमपीति न सदसद्योगप्रसक्तिः । अत एवात्र मनसि शल्यानीत्युपसंख्यतम् । सुन्दरत्वेनान्तः
प्रविष्टानामपि व्ययाहेतुत्वात् । तत्र तु सर्वथा दुष्टत्वाभिप्रायेण कथं सोढव्य इति निरवयम् ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो

नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥'

अत्र सदसतोयोगः । दुर्जनस्यासत्त्वात् शश्यादीनां सत्त्वात् । एवञ्चिन्त्यम् ।
पूर्वं दूरस्थित्यादिविशेषणेन, धूसरत्वादिनात्राप्यसम्यक्त्वमिति ।

समुच्चयान्तरमाह—

स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रिया ॥ ३० ॥

अत्र गुणाः क्रियाश्चेति विग्रहे संख्याविशेषस्याविवक्षणात् विशेषविवक्षाविरहेण
च सजातीयवद्विजातीयस्यापि यौगपद्यस्य लाभात् गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च
युगपद्भवतः स त्रिरूपः समुच्चयः । तत्र गुणयोर्यौगपद्यं यथा—

‘विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।

प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ॥’

अत्र विमलत्वमलिनत्वयोः । क्रिययोर्यथा—

‘अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥’

अत्रोपगतो भवितव्यं चेति क्रिययोः । गुणक्रिययोर्यथा—

न्तरं सौकुमार्यमात्रोपयोगि न त्वितरकारणतुल्यकक्षमित्यर्थः । चिन्त्यत्वे हेतुमाह—
पूर्वमिति । दुर्वारा इत्युदाहरण इत्यर्थः । विशेषणे नासम्यक्त्वमित्यन्वयः । तत्रापि
हि प्रयतमस्य सत्त्वमेव दूरस्थितिविशेषणेन परमसत्त्वम् । इहापि स्वतःसुन्दरस्य
शशिना दिवसधूसरत्वेनेत्यस्योग एवेत्यर्थः । आदिपदेन गलितयौवनत्वादिरिग्रहः ।
वस्तुतस्त्वत्र सदसद्योगपदे न द्वन्द्वः किं तु कर्मधारयः । संक्षासावसंक्ष सदसञ्चि-
(दि)ति । तादृशानामनेकेषामेकार्थजनने समुच्चय इत्यर्थः । एवमपि दुर्वाराः
शशीत्यनयोः कथं भेद इति चेत्, इत्थम्—दुर्वारा इत्यत्र विरहासहिष्णुतया प्रिय-
तमादीनां सतामप्यसत्त्वेन विवक्षा । इह तु शोभनस्य सतो धूसरत्वादिना अशोभ-
नत्वमपीति विवक्षा । अत एव पूर्वं कथं (नु) सोढव्य इत्युपसंहारो दुष्टत्वाभि-
प्रायेण, अत्र तु मनसि सप्त शल्यानीत्युपसंहृतं सुन्दरत्वेनान्तःप्रविष्टानामपि व्यथा-
हेतुत्वादित्यनवयम् । ननु गुणक्रिया इति बहुवचनाद्गुणाः क्रियाश्चेति विग्रहे बहूनां
गुणानां यौगपद्यमेव लभ्यते । एवं बहूनां क्रियाणामेव तल्लभ्यते । न तु द्वयोर्युग-
योर्द्वयोश्च क्रिययोस्तथा द्वयोर्युगक्रिययोरतस्तल्लभोपायमाह—अत्रेति । सत्यम् ।

१. ‘विदलितेति । विदलितं खण्डितं सकलानामरीणां कुलं येन तद्वलं सैन्यम् । प्रखलाः
प्रकृष्टखलाः । अत्र विमलत्वमलिनत्वयोर्युगयोस्तुल्यकालातरूपः समुच्चयश्चकारद्वयगम्यः ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘अयमिति । विक्रमोर्वशीये पुरुरवसो वचनम् । तया प्रियया
उर्वश्या । एकपदे एककाले । भवितव्यमिति संबन्धः । निरातपत्वेनातपराहित्येन रम्यैरहोभि-
र्दिवसैः कर्तुमिः । अत्रोपगमभवनयोः क्रिययोः समुच्चयः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

‘कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्चि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र तेषां वपुषि प्रस्फुटमाददां कटाक्षैः ॥’

अत्र कलुषत्वपतनयोरुगुणक्रिययोः । अत्र कश्चिद्वैयधिकरण्य एव समुच्चय इत्याह तन्न युक्तम् । ‘धुनौति चासि तनुतै च कीर्तिम्’ इत्यादौ सामानाधिकरण्येऽपि दर्शनात् । केचित्तु सामानाधिकरण्य एवायमित्याहुस्तदपि न सम्यक् । ‘कृपाणपाणिश्च भवान्रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये’ इत्यादौ वैयधिकरण्येऽपि तद्दर्शनात् ।

एवं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः

एकत्वेन विवक्षितं वस्तु यत्र क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स एकः पर्यायः । अत्र क्रमेणेति समुच्चयव्यावर्तनाय । प्रयोजकानिर्देशतन्निर्देशौ भवतिकरोत्यर्थौ न तु स्वाभाविकत्वास्वाभाविकत्वे । वृषलक्ष्मणः कण्ठे कालकूटवास-स्वाभाविकत्वेन भवतीत्यत्रानुदाहरणत्वापत्तेः । तत्राद्यो यथा—

‘नैन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।

बहुत्वविवक्षायामुक्तदोषः स्यात् । न चेह संख्याविशेषविवक्षा । एवं सजातीययौगपद्यस्यापि । एवं च गुणयोः क्रिययोश्च यौगपद्यस्येव गुणक्रिययोर्यौगपद्यस्यापि त्याभादुक्तार्थलाभो निरवय इत्यर्थः । अन्ये तु गुणाश्च क्रियाश्चेति द्वन्द्वे बहूनामेव समुच्चयः स्यादतो गुणौ च क्रिये चेति द्वन्द्वोत्तरं गुणक्रियाश्च गुणक्रिये चेति गुण-क्रिया इत्येकशेषाद्वयोर्द्वयोरेव समुच्चय इति त्रिविधः समुच्चयोऽयमित्याहुः । एतन्मते द्विवचनान्तेनोत्सर्गतः समासाभावात्तत्कल्पनकेशः । द्वयोरेव समुच्चय इत्यप्ययुक्तम् । ‘प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिनं बभूव नभः । रक्तं च पथिकहृदयं कपोलपाली मृगीदृशः पाण्डुः ॥’ इत्यादौ बहूनामपि गुणानां समुच्चयस्येष्टत्वात् । तथा—‘उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण । मुदितं च सकलललनाचूडामणिंशासनेन मदनेन ॥’ इत्यादौ बहूनां क्रियाणां समुच्चयस्यासंग्रहप्रसङ्गात् । अतः स यथोक्त एव प्रकारः समीचीन इति संक्षेपः । इति समुच्चयप्रकरणम् ॥ ३३ ॥ मत्तान्तरमि-
शसायाह—प्रयोजकेति । तं इति । ‘तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाशरणे हृदयेमेक-

१. ‘कलुषमिति । तव चक्षुः प्रकृत्वा श्वेतकमलसङ्घातान्ति अहितेषु शत्रुषु कलुषं कोपेत्कारणं च । तेषां शत्रूणां वपुष्यापदां कटाक्षैः कर्दुभिः पतितं चेति कलुषत्वपतनयो-
रुगुणक्रिययोः समुच्चयः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘नन्विति । हे कालकूट विप,
उत्तरोत्तरं विशिष्टमुत्कृष्टं पदं वस्त्रं तादृशीभमाश्रयस्थितित्वाव केनोपदिष्टेत्यन्वयः । तदेव
वक्ष्येयमि—प्रागिति । हृदयेऽभ्यन्तरे । अर्बुस इति शेषः । कथामन्तरम् । वृषलक्ष्मणो हरस्य ।
अनुभा पुनरिति संबन्धः । अत्रैकस्मैव कालकूटस्य क्रमेणानेकत्र स्थितिः ।’ इत्युदाहर-
णचन्द्रिकासंक्षेपः ।

प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥'

अत्र कालकूटस्य वस्तुत एकस्यानेकत्र वासे प्रयोजकं किञ्चिदपि नोक्तम् । न केवलमयं वास्तविक एकत्वे किं त्वारोपितेऽपि । यथा—

‘बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्निव पूर्वमदृश्यते ।

अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि दृश्यते ॥’

अत्र प्रयोजकानिर्देशः स्फुट एव । रागपदार्थस्य त्वोष्ठे लौहित्यात्मकतया हृदये तु स्नेहाद्यात्मकत्वेन भेदेऽप्यभेदकत्वस्याध्यवसानाज्ञैकत्वविवक्षाविरोधः । द्वितीयो यथा—

‘तं ताण सिरिसहोभररअणाहरणम्मि हिअभमेकरसम् ।

विम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेण ॥’

अत्र कुसुमबाणेनेति प्रयोजकनिर्देशः ।

अन्यस्ततोऽन्यथा ।

अनेकमेकस्मिन्क्रमेण यद्भवति क्रियते वा सोऽन्यः पर्याय इत्यर्थः । पूर्वव-
ज्जाख्येयम् । तत्र भवत्यर्थे यथा—

‘मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहौ प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।

अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव ॥’

अत्रैकस्मिन्खलवचसि क्रमेणामृतव्यञ्जने विषकथने च न प्रयोजकनिर्देशः । करोत्यर्थे यथा—

‘तेद्वेहं नतमिच्छि मन्दिरमिदं लब्धावकाशां दिवः

सा धेलुजैरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।

सम् । विम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥’ इति संस्कृतम् । तेषामिति ।
दैत्यानामित्यर्थः । पूर्ववदिति । भवति क्रियत इत्येतदित्यर्थः । इति पर्यायप्रक-

१. ‘बिम्बोष्ठ एवेति । बिम्बसदृश ओष्ठो बिम्बोष्ठः । ‘ओत्वोष्ठयोः’ इति पररूपम् । ओष्ठे रागो लौहित्यं हृदये तु स्नेहः । अत्र रूपेणामेदाध्यवसायादेको रागपदार्थः क्रमेणानेकत्रोक्तः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘तं ताणेति । श्रीसहोदररत्नं कौस्तुभ आभरणं यस्य तस्मिन् श्रीविष्णो । एकरसमेकतानम् । ‘तत्तेषां पातालवासिनामसुराणां’मिति चण्डीदासः । हृदयं कुसुमबाणेन प्रियाणां कान्तानां बिम्बसदृशेऽधरे विनिवेशितमित्यनेकत्र स्थितौ प्रयोजकनिर्देशाद्भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘मधुरिमेति । मधुरिम्णा रुचिरं खलानां वचनं प्रथमं पृथुवहुलममृतं व्यनक्ति प्रकाशयति । अथ विचारानन्तरं तदेव खलवचनं मोहहेतुमन्तर्गतं हालहलाख्यं विषं कथयति । अहो आश्चर्यम् । अत्रैकस्मिन्खलवचने क्रमेणामृतविषयोः स्थितिरिति पूर्वविपरीतः पर्यायः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘तदिति । अयं द्विजो दिवसैः कर्तुमिरियंतीं भूमिं समृद्धिर्सीमां समारोपित इत्याश्चर्यम् । तदेव

स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥'

अत्रैकस्मिन्दिजे तद्वेहतन्मन्दिराद्यैरनेकैः दिवसैरिति प्रयोजकनिर्देशः । न
चेयं परिवृत्तिः । हानोपादानयोरविवक्षितत्वात् ।

अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः ॥ ३१ ॥

पक्षे संबन्धः सपक्षवृत्तित्वं विपक्षवृत्तित्वं चेति रूपत्रयवान्हेतुः साधनम् ।
व्यापकत्वाभिमतस्य पक्षेऽयोगव्यवच्छेदो व्यापकसंबन्धपर्यवसन्नः साध्यम् ।
तदुभयवचनमनुमानालंकारः । यथा—

‘यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां सरः ॥’

अत्र पूर्वार्धे साधनस्य उत्तरार्धे साध्यस्य वचनम् । प्रयोगश्चैवम्—एताश्च-
क्रीकृतचापं सदा पुरोधावदञ्चितशरत्वादिविशिष्टमनोभवाः सततनिपतन्मर्मभे-

रणम् ॥ ३४ ॥ पक्षे संबन्ध इति । पक्षधर्मतेत्यर्थः । सपक्षवृत्तित्वेनान्यथा
व्याप्तिप्रदर्शनं विपक्षवृत्तित्वेन व्यभिचारविरहप्रदर्शनम् । अयोगव्यवच्छेदोऽवश्यं
संबन्धः । व्याप्यस्य व्यापकं विनानुपपत्तेः । एतच्च हेतुप्रेक्षाव्यावृत्त्यर्थमुक्तम् । तत्र
योगस्याप्यनुत्कटतया भानादिति । एता इति स्त्रियः पक्षभूता निर्दिष्टाः । चक्री-
कृतचापं यथा स्यात्तथा सदा पुरो धावञ्चिते धनुषि योजिते शरे प्रेङ्खन् चपलः
करो यस्य सः । क्रोधनः क्रोधशीलः । शासनमाज्ञा तद्धारको मनोभवो यासां तथा-
भूता इति साध्यम् । सततं निपतन्तो मर्मभेदिनो बाणा यत्र तादृशं लसद्भ्रूव्यापारो
यत्र तादृशं स्थानं युवजनरूपं यासां तत्त्वादिति हेतुः । स्वस्थाननियतनिपतन्मर्मभे-
दिबाणफलसद्भ्रूव्यापाराश्रयत्वादिति यावत् । तत्रैवेत्यनेन बाणनिपतनस्य भ्रूव्यापार-

दर्शयति—तद्वेहमिति । तत्पूर्वं दृष्टम् । नताः खर्वा भित्तयो यस्य तत् । दिवोऽन्तरिक्षात् ।
जरती जीर्णा । घनाभा मेघतुल्याः । घटाः श्रेणयः । कलं मधुरस्वरम् । अत्रैकस्मिन्दिजे
तद्वेहमन्दिरादीनामनेकेषां क्रमेण स्थितौ दिवसैरिति प्रयोजकनिर्देश इति भेदः ।’ इत्यु-
दाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘तन्मन्दिरादीनामनेकेषां’ श. २. ‘यत्रैता इति । यत्र जने एताः कामिन्यः
लहरीवच्चलाचलक्षपला दृशो यासां ताः । अमी अनुभूयमानाः । मार्गणाः शराः ।
यथसात् । तत्तसात् । सर आसां कामिनीनामग्रत एव सदा मण्डलीकृतचापं यथा
स्यात्तथा धावतीति सत्यम् । कीटक् सरः । अञ्चिते योजिते शरे प्रेङ्खन् चपलः करो
यस्य सः शासनमाज्ञा तद्धारकः । अत्र पूर्वार्धोक्तहेतुना अग्रतस्तादृशमदनधावनस्य
साध्यस्य साधनादनुमानालंकारः । प्रयोगस्तु—एताः पुरोधावत्तथाविधमदना मर्मभेदि-
बाणपातव्याप्यभ्रूव्यापारकत्वादिति बोध्यः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

दिवाणकलसद्बुध्यापारकस्थानत्वादिति । नन्वत्र पूर्वं साधनवत्साध्यस्यापि वचनं संभवति । यथा—‘मधु तिष्ठति वाचि योषितां’ इत्यादि । तत्कथं सामान्यत एतदुक्तं न तु विशेषत इति चेत्, साध्यस्य पूर्वभागे तादृशवैचित्र्याभावादिति ।

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

साकूतैः साभिप्रायैः । उक्तिरर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

‘महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।

न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितम् ॥’

अत्र महौजस्वादिविशेषणानि परानभिभवनीयत्वाद्यभिप्रायकाणि । न च वाच्यम्—अपुष्टार्थत्वस्य दोषत्वाभिधानादर्थसिद्धं पुष्टार्थत्वमिति दोषाभावमात्रतया कुतोऽलंकारमध्ये पठितोऽयमिति । एकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामुक्तोदाहरणवदुपादाने वैचित्र्यमपि ह्यनुभवसिद्धं न तु दोषाभावमात्रमिति संप्रदायः । वयं त्वालोचयामः—तादृशैकविशेषणोपन्यासेऽप्यलंकारत्वमुचितम् । अपुष्टार्थत्वविरहस्य निर्विशेषणतयाप्युपपत्तेरनुभवसिद्धत्वाभावाद्वैचित्र्यस्य चानुभवसिद्धत्वात् । यथा—‘शुद्धे सद्गनि पल्लविन्युपवने’ इत्यादौ ।

व्याजोक्तिश्छन्नोद्भिन्नरूपवस्तुनिगूहनम् ॥ ३२ ॥

उद्भिन्नत्वमस्फुटस्य प्रकाशः ।^१ तथा चास्फुटमपि वस्तुस्वरूपं कथंचिद्व्यक्तमथ केनापि यदपह्न्यते सा व्याजोक्तिः । न चेयमपह्नुतिः । प्रकृताप्रकृतयोः साम्ये तत्स्वीकारात् । अत्र तु तदभावात् । न च प्रथमं गूढस्थानन्तरं प्रकाशस्यापह्नव इति सामग्रीभेदादेवापह्नुतिभेद इति वाच्यम् । एवंविधे विषये साम्यसंभवेऽप-

स्थाननियतत्वोक्तेः । अत एव शासनधर इत्युक्तम् । यथेति । ‘मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम् । अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥’ इति पद्यम् । विशेषत इति । उक्तप्रकारद्वयवर्तयेत्यर्थः । इत्यनुमान-प्रकरणम् ॥ ३५ ॥ संप्रदायपदसूचितमस्वरसं प्रकाशयन्स्वयं समाधत्ते—वयं त्विति । अनुभवसिद्धत्वाभावादिति । पुष्टार्थत्वमेति शेषः । इष्टापत्तिमाशङ्काह—वैचित्र्यस्य चेति । ‘शुद्धे सद्गनि पल्लविन्युपवने वाप्यां नवाम्भोरुहि क्रीडादौ च सशाद्वले विवलितप्रीवैर्विमुक्ता दृशः ।’ इत्यादावित्यर्थः । तथा च दोषाभावरूपस्यापि पुष्टार्थत्वस्य चमत्कृतिविशेषजनकत्वरूपमलंकारत्वमुपधेयसंकरेऽप्युपाधेरसंकराजिर्वाधमिति भावः । इति परिकरप्रकरणम् ॥ ३६ ॥ साम्यसंभव

१. ‘महौजस इति । धनुर्भृतो धनुर्भरा भटास्तस्य दुर्वोधनस्य प्रियाण्यसुभिः प्राणैः समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्तीत्यन्वयः । अत्र महौजःशालित्वेनानाक्रमणीयत्वं मानधनत्वेन शुद्धे पलायनाभावः धनपूजितत्वेनोपेक्षाराहित्यं सद्गमे लब्धकीर्तित्वेनोत्साहः प्रतापशालित्वं च असंहतत्वेन सहायानपेक्षत्वं अमेदवृत्तित्वेन प्रयोजनैकपरत्वं च व्यज्यत इत्युक्तविशेषणानां साभिप्रायत्वात्परिकरालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

हुतेरेवोपगमात् । ननु यत्रापहवार्थं सादृश्योपक्षेपः सा व्याजोक्तिः सादृश्यार्थ-
मेव तु यत्रापहवोपक्षेपः सापह्नविरिति चेत्, न । तत्रोभयत्राप्यपह्नवोपग-
मात् । यदाहुः—

‘साम्यापह्नवो यत्र सा विज्ञेया त्वपह्नवः ।

अपह्नवाय सादृश्यं यस्मिन्नेवाप्यपह्नवः ॥’ इति ॥

उदाहरणम्—

‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-

द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।

हा शैलं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान्ससितं

शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवतादः शिवः ॥’

अत्र पुलकवेपथू सार्विकैकरूपतया प्रसृतौ शैल्यकारणतया प्रकाशनादपल-
पितस्वरूपाविति व्याजोक्तिं प्रकाशयतः । वयं तु—पुलकवेपथूभ्यां सार्विकाभ्यां
प्रकाशिता गूढावगतिस्तयोः शैल्यकारणताप्रकाशनेनापह्नवेति व्याजोक्तिरियम् ।

किञ्चित्पृष्ठमपृष्ठं च कथितं यत्प्रकल्पते ।

तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा मता ॥ ३३ ॥

इति । (कुवलयानन्दे पद्यमिदम् ।) यथा ‘सीत्कारं विक्षयति’ इत्यादौ गुप्तस्य
नायकस्य सीत्कारेत्याद्युक्त्या व्यक्तस्य नहीत्यादिनापह्नवेऽप्यपह्नविरित्यर्थः । न-
न्विति । उक्तोदाहरणे साम्यसत्त्वेऽपि तस्याङ्गत्वेनापह्नवप्राधान्याभावाद्वाजोक्ति-
रेव अपह्नवप्राधान्ये त्वपह्नविरिति व्यवस्थेत्यर्थः । यदाहुरिति । उद्भटादिमतानु-
सारिण इत्यर्थः । उभयत्रेति । अपह्नवप्राधान्येऽङ्गत्वे च सति साम्य इत्यर्थः ।
तथा च सीत्कारमित्यादावप्यपह्नविरित्यर्थः । प्रकृताप्रकृतसाम्याभावे तु व्याजोक्तिरिति
व्यवस्थेत्यर्थः । तथैवोदाहरति—शैलेति । अत्र वृत्तौ शृङ्गारानुभावत्वेनाभिव्य-
क्तयोः कम्परोमाञ्चयोः शैल्यजन्यत्वप्रतिपादनेनापह्नवो व्याख्यातः । तत्र कम्परो-
माञ्चयोः पूर्वगूढत्वाभावाद्द्विजेत्यस्यासंगतेः स्वयमुदाहरणं संगमयति—वयं
त्विति । ‘गूढा रतिः’ इत्येव पाठः । ‘अवगतिः’ इति त्वपपाठः । एवं च पूर्व
गूढस्यानुभावाभिव्यक्तस्य रतिभावस्यान्यप्रयुक्तत्वकथनेनापह्नविरिति लक्षणसंगतिः ।
इति व्याजोक्तिप्रकरणम् ॥ ३७ ॥ परिसंख्येति । परिशब्दो वर्जनार्थः । संख्या

१. ‘शैलेति । शिवो वो युष्मानवताद्रक्षतु । कीदृशः । शैलेन्द्रेण हिमवता प्रतिपाद्यमाना
दीयमाना या गिरिजा तद्वस्तस्योपगूढमाश्लेषः । भावे क्तः । तेनोल्लसद्ग्री रोमाञ्चादिभिर्विसं-
स्थुलो व्यग्रश्चासावखिलस्य विधिव्यासङ्गस्य भङ्गेनाकुलः । ततश्च सार्विकभावगोपनाय तुहि-
नाचलस्य करयोर्हा शैलमित्यूचिवान् । हेति विसये । शैलान्तःपुरं च मातृणां ब्राह्म्यादीनां
मण्डलं समूहश्च गणाश्च तैरिति विग्रहः । ससितं दृष्टः । अत्र सार्विकभावस्य रोमाञ्चा-
देरिवक्तरस्यशैनिमित्तकत्वेन गोपनाभ्याजोक्तिरलङ्कारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तादृक्तुल्यम् । व्यपोहाय व्यवच्छेदाय । यत्किञ्चित्कथितं सस्त्वतुल्यस्यान्यस्य व्यवच्छेदाय यत्कल्पते सा परिसंख्या मतेति लक्षणम् । अन्यस्य कथनमन्यव्यपोहाय कथं कल्पत इति चेत् । प्रमाणान्तरेणावगतस्यैव वस्तुनः पुनःशब्देन प्रतिपादनस्य प्रयोजनान्तराभावात् । पृष्ठमपृष्ठं चेति तु विभागः । कथनं हि किञ्चित्प्रश्नपूर्वकं किञ्चिच्चातत्पूर्वकमिति द्वैविध्यमित्यर्थः । ते च द्वे अपि विधे व्यवच्छेद्यस्य प्रतीयमानत्ववाच्यत्वाभ्यां प्रत्येकं द्विविधे । तत्र प्रश्नपूर्वके कथने व्यवच्छेद्यस्य प्रतीयमानता यथा—

‘किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः

किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।

किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा

यदासक्त्या चेतो निरवधिविमुक्त्यै प्रभवति ॥’

अत्रान्यनदीसविधादिव्यवच्छेद्यं प्रतीयमानम् । तत्रैव वाच्यं व्यवच्छेद्यं यथा—

‘किं^२ भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।

किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥’

स्पष्टम् । अप्रश्नपूर्वके कथने व्यवच्छेद्यं प्रतीयमानं यथा—

‘कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।

काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥’

अप्रश्नपूर्वक एव कथने व्यवच्छेद्यं वाच्यं यथा—

‘भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।

चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥’

श्लेषेणाप्येषा संभवति—यथा—‘चित्रेषु वर्णसंकराः’ ‘खलसंयोगः शालिषु’ इत्यादि ।

यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात्

१. ‘किमिति । आसेव्यं सेवनीयम् । द्युसरितो गङ्गायाः । सविधं तीरम् । अनवधमुत्तमम् । येषु द्युसरित्सविधादिश्वासत्तया । निरवधिर्या विमुक्तिः सायुज्यरूपा तदर्थम् । अत्र सेव्यत्वेनावगतस्य गङ्गासविधादेः पुनः कीर्तनमितरपरिसंख्यामिति सैवालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. किमिति । अत्र लोके । आर्यैश्चरितमाचरितम् । सुकृतं पुण्यकर्म दोषो व्यभिचारादिः । धिषणा बुद्धिः । अभिमतोत्तरदानादाह—जानातीत्यादि । अत्र व्यवच्छेद्यं वाच्यमिति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘कौटिल्यमिति । कौटिल्यं कपटं कुञ्जितत्वं च । रागः पक्षपातो रक्तिमा च । काठिन्यं निर्दयत्वं दृढता च । तरलत्वमविचार्यकार्यकारित्वं चपलता च । अत्र हृदयादौ नेति व्यवच्छेदः प्रतीयते । प्रश्नाभावात्पूर्वसांज्ञेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. भक्तिरिति । भक्तिरासक्तिः । भवे शिवे । व्यसनं रुचिः । युवतिरेव कामास्त्रमिति विग्रहः । अत्र व्यवच्छेद्यं वाच्यमिति विशेषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

यथोत्तरमिति वीप्सायां यथाशब्दः । तेनोत्तरोत्तरं प्रतीत्यर्थः । उदाहरणम्—
 'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
 गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते गुणानुरागप्रभवा हि संपदः ॥'

नन्वत्र कार्यकारणभावालंकृतिप्रपञ्चनप्रसङ्गेन हेत्वलंकारोऽपि लक्षणाहः ।
 उक्तश्चायं भट्टोज्जटेन—'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' इति । तल्लिं
 न लक्षित इति चेत्, आयुर्धृतमित्यादिरूपस्यास्य वैचित्र्याभावेनालंकारत्वस्यैवा-
 भावात् । नन्वेवम्—

'अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।

रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥'

इत्यादौ प्राचां काव्यरूपताभिधानं विरुध्येत अलंकाराभावादिति चेत्, न ।
 कोमलानुप्रासेनैव तत्संभवात् । तल्लिं हेत्वलंकारो नास्त्येव । क एवमाह ।
 कीदृशसुखसाविति चेत्, पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गमेवेति ।

क्रियया तु परस्परम् ॥ ३४ ॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्

वस्तुनोः परस्परं जन्यजनकभावोऽसंभवी । तस्य तं प्रत्येव पौर्वापर्ययोर्द्वयो-
 रसंभवादित्यत उक्तं क्रिययेति । एकक्रियाजननद्वारेणेत्यर्थः । अविशिष्टं वस्तु
 तावदजातकल्पम् । तेन वैशिष्ट्यप्रयोजनक्रियाजनके जनकत्वोपचारः । तथा च
 मिथस्तादृशैकक्रियाजनकत्वमन्योन्यालंकार इति सारम् । उदाहरणम्—

'हंसाणं सरोहिं' सारी सारिजह अह सराण हंसेहिं ।

अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवरि गरुअन्ति ॥'

अत्र श्रीसारणेन सरोहंसयोर्मिथो जनकता ।

बुद्धिः । तेन वर्जनबुद्धिरित्यन्वयार्था संज्ञा । इति परिसंख्याप्रकरणम् ॥ ३८ ॥ हेतु-
 मतेति । हेतुमता कार्येण सहाभेदहेतोरभिधानमित्यन्वयः । इति कारणमालाप्रक-
 रणम् ॥ ३९ ॥ अविशिष्टं शोभारहितम् । निष्कृष्टं लक्षणमाह—तथा चेति ।
 परस्परं वैशिष्ट्यजनकैकक्रियाजनकत्वमित्यर्थः । हंसाणं इति । 'हंसानां सरोभिः
 श्रीः सार्यते(सारीक्रियते)थ सरसां हंसैः । अन्योन्यमेवैते आत्मानं केवलं शुद्ध-
 वन्ति ॥' इति । सार्यते प्रसार्यते । उत्कृष्टा क्रियत इति यावत् । इत्यन्योन्यालंकारः

१. 'जितेन्द्रियत्वमिति । सप्तमे व्याख्यातम् । पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति हेतुत्वात्कारण-
 मालालंकारः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. 'अविरलेति । अविरलं निरन्तरं कमलानां
 विकासरूप इत्यर्थः । आयुर्धृतमिति वत्कार्यकारणयोरभेदेनाभिधानम् । एवमग्रेऽपि । अयं
 च हेत्वलंकार इति भट्टोज्जटमतम् ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. 'हंसाणं इति । श्रीः
 कोमा । सारीकरणं श्रुतासंपादनम् । अत्र सरोहंसयोः परस्परं शोभासारीकरणरूपोपकारज-
 नकभावान्योन्यं नामालंकारः ।' इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥ ३५ ॥

असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

यत्रोत्तरश्रवणमात्रेणानुपात्तमपि प्रश्नवाक्यं परिकल्प्यते तदेकमुत्तरम् । प्रश्ने सति लोकातिक्रान्तगोचरतयासंभाव्यं यदसकृत्प्रतिवचनं तत्पुनरपरम् । अत्र प्रश्नोत्तरयोः सकृदुपादानं न चमत्करोतीत्यसकृदित्युक्तम् । असंभाव्यं तु चमत्कारित्वमिति मान्याः । अप्रसिद्धत्वमिति तु वयम् । तच्च प्रमाणान्तरागोचरविषयत्वात् । अत एव प्रश्नपरिसंख्यातो भेदः । तत्र हि लोकसिद्धविषयस्योत्तरस्य प्रयोजनान्तराभावेनान्यव्यपोहे तात्पर्यम् । अत्र तु निगूढविषयतया वाच्य एव तात्पर्यविश्रामः । तत्राद्यं यथा—

‘वाणिअबहस्तिदन्ता कुत्तो अम्हाण वग्गकित्ती अ ।

जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसप्पते सोह्मा ॥’

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी मूल्येन ताः प्रयच्छेति केतुवचनमनेनोत्तरवाक्येनानुमीयते । सूत्रे च प्रश्नपदं पूर्ववाक्यमात्रपरमिति प्रश्नाभावेऽप्यदोषः । यद्वा हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तयस्तव सन्तीति प्रश्नवाक्यमिहोन्नेयम् । न च वाच्यमिदं काव्यलिङ्गविशेष एव उत्तरस्य प्रश्नं प्रति हेतुत्वादिति । उत्तरस्य तदनुत्पादकत्वात् काव्यलिङ्गस्य तदात्मकत्वात् । तर्हि ज्ञापकतयानुमानमेवेति चेत्, न । एकधर्मिगतत्वेन साध्यसाधननिर्देशो हि तत् । न चात्र तथा । तस्मादलंकारान्तरमेवोत्तरम् । द्वितीयं यथा—

‘कां विसमा देवगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।

किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥’

॥ ४० ॥ अत्रेति । द्वितीयभेद इत्यर्थः । वाणिपति । ‘वाणिजकहस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च । यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिसर्पते क्षुधा ॥’ इति । उत्तरं कारकहेतुत्वेनाभिमतं ज्ञापकहेतुत्वेन वा । नाद्य इत्याह—उत्तरस्येति । किमतो यथेवं तत्राह—काव्येति । सदात्मकत्वात्कारकरूपहेतुत्वात् । तस्मादिति । अर्थादनुमानेऽपि साधननिर्देशादित्यर्थः । का इति । ‘का विषमा दैव-

१. ‘वाणिपति । एषा हि केतारं वाणिजं प्रति जरब्धाधस्योक्तिः । कृत्तयश्चर्माणि । लुलिता अलका यत्र तादृशं मुखं यस्या इति विग्रहः । तथा च पुत्रस्य स्वकान्तायामासक्ततया हस्तिव्याघ्रहननपाटवाभावादसद्रूपहे दन्तकृत्तिविरह इति भावः । अत्रोत्तररूपेणोत्तरेण त्वद्रूपहे हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तयः सन्तीति केतुः प्रश्नोन्नयनादुत्तरालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘का इति । अत्र चमत्कृतस्य लोकाप्रसिद्धस्यासकृदुक्तिर्द्वितीयो भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र द्वैवगत्यादेवैषम्यादि लोकप्रसिद्धमेव प्रकाश्यते । 'किमासेष्यं पुंसां' इत्यादि प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यवच्छेदे तात्पर्यम् । अत्र तु वाच्य एवेति ततो भेदः ।

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यसौ प्रकाश्यते ॥ ३६ ॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपीति आकारादिङ्गिताद्वा । सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः । तत्र रूपादेरन्यथा-
स्वमाकारः । ततो यथा—

‘वेक्रस्यन्दिस्वेदविन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या पाणौ सित्वा खड्गलेखां लिलेख ॥’

अत्र कण्ठकुङ्कुमभेदलक्षणेनाकारेण लक्षितं पुरुषायितं सख्या सखीहस्ते खड्गलेखालेखनेन वैदग्ध्यदभिव्यञ्जितम् । पुंसामेव पाणौ कृपाणस्य योग्यत्वाद् । चेष्टाविशेष इङ्गितम् । तेन यथा—

‘संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र नेत्रोत्साहरूपेणेङ्गितेन लक्षितः कामिनः संकेतकालाभिलाषः कामिन्या निशासूचकेन पद्मसमीलनेन लीलया प्रकाशितः ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥ ३७ ॥

परावधिरिति परः पर्यन्तभागो गद्यस्य पद्यस्य वा अवधिरुत्कर्षसीमा यस्य ।

गतिः किं लब्धं यजनो गुणग्राही । किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत्खलो लोकः ॥’
अत्र पूर्वं सामान्यत उत्तममपि उदाहरणगतत्वेन विशेषतः पुनराह—अत्रेति । एवं च लोकातिक्रान्तगोचरतयेत्यस्य वृत्तिग्रन्थस्य प्रमाणान्तराविषयागोचरतयेत्येवार्थः न तु लोकोत्तरचमत्कारितयेति । प्रश्नपरिसंख्यायामपि तत्सत्त्वेन भेदानुपपत्तेरिति । इत्युत्तरालंकारः ॥ ४१ ॥ कुङ्कुमेति । कुङ्कुमेन भेदो मिश्रणम् । इति सूक्ष्मम्

१. वक्रेति । कण्ठे स्थितं कुङ्कुमं वक्रात्स्यन्दिभिर्गलङ्गिः स्वेदविन्दूनां प्रबन्धैः पङ्क्तिमिभिर्भ्रं संभिन्नं दृष्ट्वा कापि वयस्या सखी सित्वा हसित्वा तन्व्याः पुंस्त्वं पुरुषायितं व्यञ्जयन्ती सखी पाणौ खड्गलेखां लिखितवती । पुंसामेव पाणौ तस्मै उन्वितत्वाद् । अत्रा-
कारेण लक्षितं मुमुक्षुवेषतया सूक्ष्मं पुरुषायितं पाणौ खड्गलेखनेन प्रकाशितमिति सूक्ष्मा-
लंकारः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘संकेतेति । विटं जारम् । संकेतकाले मनो यस्य ।
तं जिह्वासुमित्यर्थः । अत एव हसन्त्यां नेत्राभ्यामर्पितं सुलितमाकृतं रहस्यं येन तादृशं
ज्ञात्वा विदग्धया नायिकया लीलासंबन्धिपद्मं निमीलितमित्यन्वयः । अत्र नेत्रेङ्गितेन
लक्षितः सूक्ष्मोऽभिप्रायः । कामिन्या निशासूचकेन पद्मनिमीलनेन प्रकाशितः । इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तेन पर्यन्तभागो यत्र सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः । धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षविश्रान्तेः ।
उदाहरणम्—

‘राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥’

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्वर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥ ३८ ॥

अत्रात्यन्तमिति देशभेदस्यैवोपकारकं न तु पृथगपि विवक्षितार्थम् । युगप-
दिति स्वरूपनिर्वचनम् । तेन कार्यकारणभूतयोर्धर्मयोर्यत्र भिन्नदेशतया संप्रति-
पादनं सा असंगतिः । हेतुफलयोरभिधूमाद्योरिव प्रसिद्धायाः समानदेशत्वरू-
पायाः संगतेः परित्यागात् । तथा प्रतिपादनं च कारणान्तरेभ्यो वैलक्षण्यात् ।
उदाहरणम्—

‘जैस्सेभ वणो तस्सेभ वेअणा भणइ तं जणो अलिअम् ।
दन्तक्खअं कवोले वड्डुएँ वेअणा सवत्तीणम् ॥’

स्पष्टम् । नन्वयं विरोधालंकार एव । हेतुफलयोर्वैयधिकरण्यस्य विरोधरूप-
त्वादिति चेत्, न । वैयधिकरण्यं ह्यसंगतिः । न च सैव विरोधः । किं तु तद्वो-
धिका । वैयधिकरण्येन तयोर्विरोधप्रतिभासनात् । नन्वेवमपि प्रतीयमानो
विरोध एवालंकारोऽस्तु न तु तद्वोधिकासंगतिरपि साक्षात् । न च वाच्यं समा-

॥ ४२ ॥ सारश्च ॥ ४३ ॥ अत्रात्यन्तमितीति । देशभेदस्यात्यन्तिकत्वं चम-
त्कारोत्कर्षकतयोपकारकत्वेनोक्तमित्यर्थः । स्वरूपेति । द्वयोः कथनस्यान्यथा योगा-
दिति भावः । संज्ञाया अन्वयतां दर्शयति—हेतुफलयोरिति । वृत्तिस्थं केना-
प्यतिशयेनेति व्याचष्टे—तथेति । जस्सेति । ‘यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति
तज्जनोऽलीकम् । दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ॥’ अत्र शरीरमानस-
योर्वेदनयोरेकलाभ्यवसायो मूलम् । ननु व्यधिकरणत्वेन नियतयोः सामानाधिकर-
ण्यवत्समानाधिकरणत्वेन नियतयोर्वैयधिकरण्यस्यापि विरुद्धत्वाद्विरुद्धालंकार एवेति
शङ्कते—नन्विति । असंगतेर्विरोधाद्भेदाच्च विरोधरूपतेत्यापाततः समाधत्ते—
वैयधिकरण्यं हीति । विरोधस्फूर्तिं विना चमत्काराभावात्स एवालंकारः समु-
चित इति । पुनराशङ्कते—नन्वेवमपीति । असंगतिविरोधयोर्भेदेऽपीत्यर्थः ।
सिद्धान्त्यभिमतं व्यवस्थां प्रमाणाभावेन दूषयितुं शङ्कते—न चेति । समानाधि-

१. ‘राज्ये इति । सौधं सुधाग्रहम् । अनङ्गसर्वस्वमिति रूपकम् । अत्र पूर्वपूर्वापेक्षयो-
स्तोत्तरस्तोत्कर्षश्चरमस्य सर्वोत्कृष्टत्वपर्यवसन्नः सारालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘जस्सेभ इति । अत्र वेदनादन्तक्षतयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्यरूपासंगतिरलंकारः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

नाधिकरण एव विरोधो विरोधालंकारनिर्वाहको न तु व्यधिकरणोऽपीति । लक्षणे सामान्यत एव विरोधस्योक्तत्वादिति । भैवम् । सामान्येनोक्तस्यापि विशेष एव पर्यवसानात् । अपवादविनिर्मुक्त एव देशे उत्सर्गः प्रवर्तते । विरोधालंकारस्य चासंगत्यलंकारोऽपवादक इति । व्यधिकरणविरोधस्यापवादाक्रान्ततया तद्विज्ञ-विरोधे विरोधालंकार इति । अत एव तथैवोदाहृतम् ।

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

इष्टात्कारणादन्येन कारणेनोपकृतः कर्ता यदल्लेखेन कार्यं करोति स समाधिः । सम्यगाधिः समाधिरिति व्युत्पत्तेः । उदाहरणम्—

‘मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं धनगर्जितम् ॥’

तयोस्तुन्यकक्षताविरहान्न समुच्चयालंकारान्तर्भावः ।

समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ॥ ३९ ॥

योग्यता आनुरूप्यम् । संभावितः सर्वसंमतः । तेनेदमनयोः समुचितमिति योग्यतया संबन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समं नामालंकारः । योग्यता च प्रकर्षनिकर्षाभ्याम् । तत्र प्रकर्षेण यथा—

‘धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी

रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य ।

जातं दैवात्सदृशमनयोः संगतं यत्तदेत-

च्छृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥’

करण एव एकाधिकरणप्रतीयमान एव । व्यधिकरणः भिन्नाधिकरणः प्रतीयमानः । तथा च सामानाधिकरण्यकृतविरोधभाने विरोधालंकारः । समानाधिकरणयोर्भिन्ना-धिकरणत्वनिबन्धनविरोधभाने त्वसंगतिरिति व्यवस्थेत्यर्थः । व्यधिकरणेति । व्यधिकरणत्वप्रयुक्तस्येत्यर्थः । तथैव सामानाधिकरण्येनैव । उदाहृतं विरोधालंकार इति शेषः । इत्यसंगतिः ॥ ४४ ॥ सम्यगाधिरिति । सम्यगाधानकरणमित्यर्थः ।

१. ‘मानमिति । दिष्ट्या भाग्येन । उदीर्णमुद्रतम् । अत्र धनगर्जितरूपकारणान्तरयोगेन मानापगमरूपकार्यस्य सुकरत्वात्समाधिरलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘धातुरिति । शिल्पं कौशलं तदतिशयस्य निकषस्थानं परीक्षास्थलमिति मृगाक्षीविशेषणम् । रूपे रूपविषये दत्तपत्र इति विजयायेत्यादिः । संगतमिति भावे क्तः । समागम इत्यर्थः । दैवादित्यस्य वोपनत-मित्यनेनान्वयः । अत्रोचितयोगवर्णनात्समालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

निकर्षेण यथा—

‘चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो देवादुचितरचनासंविधाता विधाता ।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥’

क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥ ४० ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एव विषमो मतः ॥ ४१ ॥

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यत्कचिद्योगो घटनां नोपैति किं त्वनुपपद्यमानतयैव
प्रतीयते स एको विषमः । यच्च क्वचित्कार्यमारभमाणः कर्ता बलवत्कारणान्तरेण
विष्टम्भात्क्रियाफलं नाप्नोति प्रत्युतानिष्टं विषयमासादयेत्स द्वितीयः । यत्र क्रिया-
फलत्वाभेदोऽपि कार्यकारणयोर्युगौ क्रिये वा विरुद्धे भवतस्तौ तृतीयचतुर्थौ विषमौ ।
सर्वत्र समताया विपर्ययात् । तत्र प्रथमो यथा—

‘शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना ।
अयं क्व च कुक्कुलाग्निदुःसहो मलयानिलः ॥’

द्वितीयो यथा—

‘सिंहिकैासुतसंनस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र नमन्यः सिंहिकासुतः ॥’

अत्र त्राणरूपफलाभावेऽन्येन ग्रासरूपोऽनर्थः । तृतीयो यथा—

इति समाधिः ॥ ४५ ॥ सममिति । स्पष्टम् । इति समम् ॥ ४६ ॥ विष्टम्भा-
दिति । प्रतिबन्धादित्यर्थः । कुक्षिशरीरयोरवयवावयविनोर्वैधर्म्यं पानकर्तृत्वपानक-
र्मत्वरूपं पानपदार्थभेदेऽप्यभेदोपचारेण बोध्यम् । इति विषमालंकारप्रकरणम्

१. ‘विवमिति । अत्र चित्रवतशब्दयोर्वीप्सा विस्मयातिशयद्योतनाय । परिणतं
पक्वम् । स्फीतिः समृद्धिः । एतस्याः फलसमृद्धेः कवलनकला भक्षणचातुरी तत्र कोविदः
पण्डितः । अत्र द्वयोरपि निकृष्टतपोचितयोर्योग इति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘शिरीषेति । शिरीषात् शिरीषपुष्पात् । कुक्कुलाग्निः कुम्भकाररचितो घटादिपचनाग्निः ।
अत्र कश्चिदोक्तं द्वयोरत्यन्तवैलक्षण्यं विषमालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘सिंहिकेति । सिंहिका सिंही राहुमाता च । तत्सुतः सिंहो राहुश्च जग्रसे कवलित-
वान् । अत्रेष्टसाधने प्रवृत्तस्य विपरीतानर्थप्राप्तिरूपो विषमभेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
४. ‘साश्रयग्रासरूपः’ ग.

‘सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्विलोकाभरणं प्रसूते ॥’

चतुर्थो यथा—

‘आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥’

अत्रानन्ददानशरीरतापनक्रिये विरुद्धे । सूत्रे विभाग उपलक्षणपरः । तेन संबन्धिनोरानुरूप्याभावात्मकस्य विषमस्यान्येऽपि भेदा भवन्ति । तत्रावयवावयविनोर्वैषम्ये यथा—

‘विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दशा ॥’

एवमन्यत्राप्यूहम् ।

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।

आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥ ४२ ॥

वर्णनीयोत्कर्षापेक्षया यन्महत्याश्रिते विषये तदपेक्षया तनुरप्याश्रयो मही-
यान्स्यात् महीयस्तया वर्ण्यते महत्याश्रये वा विषये आधेय एव तथा वर्ण्यते
तदुभयमधिकालंकारः । तत्रार्थं यथा—

‘अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥’

॥ ४३ ॥ वर्णनीयेति । वर्णनीयोत्कर्षविवक्षयेत्यर्थः । एतच्च महतीत्यत्रेव तनुर-
पीत्यत्राप्यन्वेति । विषये प्रतिपाद्ये । महत्याश्रये इत्यत्रापि वर्णनीयेत्यादेरन्वयः ।
आधेय एव तनुरपि तथा महीयस्तया वर्ण्यते इत्यर्थः । इत्यधिकप्रकरणम् ॥ ४८ ॥

१. ‘सद्यः इति । तमालवल्लीला कृपाणलेखा यस्य राज्ञः करस्पर्शमवाप्य सद्यः...’
स्फालं रणे रणे प्रतिसङ्ग्रामं शरदिन्दुवत्पाण्डु शुभ्रं यशः प्रसूते एतच्चित्रमित्यन्वयः ।
अत्र कार्यकारणयोर्विरुद्धगुणत्वरूपो विषमः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘आनन्देति’
अमन्दमनस्पर्म् । अत्र कार्यकारणयोरानन्ददानतापनक्रिये विरुद्धे इति चतुर्थो विषमः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘विपुलेति । सागरे शेते इति सागरशयस्तद्विशस्य विष्णो-
र्विपुलेन विस्तृतेन कुक्षिणा युगक्षये भुवनानि पपिरे पीतानि । स पुनः । सौपीत्यर्थः ।
एकतमया कयाचित्रगरकामिन्या मदेन विभ्रमो विलासो यस्यां सा चासावसकला अस्-
पूर्णा च तथाभूतयैकया दशा पपे सादरमवलोकित एव । पीत इत्यभेदाध्यवसानम् ।
अत्रावयवावयविनोः पानकर्तृकर्मतारूपं वैषम्यमित्याचनन्तमेदोऽयं सुषीभिरुद्गीतयः ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘अहो इति । मातीति अवकाशं लभत इत्यर्थः । अत्र कवि-
विश्रवावधेन महती यशोराशेरपेयास्तनुरपि त्रिभुवनरूप आधारी महत्त्वेनोक्त इत्यधिकम-
लंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्राश्रयस्य भुवनत्रितयस्य महत्तया वर्णनम् । द्वितीयं यथा—

‘युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥’

अत्राधेयभूताया मुदो महीयस्त्वं विवक्षितम् ।

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।

या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ ४३ ॥

अपकारिणमपि विपक्षं साक्षादपकर्तुमक्षमेण केनापि तदीयस्य तिरस्करणं तमेवोत्कर्षयितुं तैदुच्यते प्रत्यनीकम् । प्रतिनिधितुल्यत्वात् । यथानीकेऽभियो-
ज्येऽशक्तेन तत्प्रतिनिधिभूतः कश्चिन्निगूढमभियुज्यते तथेहापि प्रतियोगिनि
विजेयेऽशक्तेन तदीयोऽन्यो विजीयत इत्यर्थः । तदीयत्वं च साक्षात्संबन्धेन
परम्परासंबन्धेन चेति द्विविधमेतत् । तत्राद्यं यथा—

‘त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर भवत्यनुरक्ता ।

पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां ताडयत्यनुशयादिव कामः ॥’

अत्र कामिन्याः कामिनश्च साक्षादेव स्वस्वामिभावः संबन्धः । द्वितीयं यथा—

‘यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।

कान्तवक्रसदृशकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते ॥’

अत्र यत्पदार्थेन मुखस्यावयवावयविभावः संबन्धस्तेन चन्द्रस्य सादृश्यलक्षण
इति परम्परासंबन्धः ।

उत्कर्षयितुमित्यनन्तरं यदिति शेषः । कथं तत्प्रत्यनीकमुच्यते तत्राह—अनी-
केति । प्रत्यनीकशब्देन सैन्यप्रतिनिधिरुच्यते । तत्साम्याच्च प्रकृतार्थे प्रयोग इत्यर्थः ।
साम्यमेवोपपादयति—यथेति । तत्प्रतिनिधिभूतस्तन्मित्रादिः सैन्यभयाजिगूढमभि-

१. ‘युगान्तेति । युगान्तकाले प्रतिसंहृत आत्मा स्वात्मभूतः प्रपञ्चो येन तस्य
कैटभद्विषः श्रीविष्णोर्यस्यां तनौ जगन्ति भुवनानि सविकासं सावकाशमासत उपविशन्ति-
स्य तत्र तस्यां तनौ तपोधनस्य नारदस्याभ्यागमसंभवा मुदः प्रीतयो न ममुर्नावकाशं
प्राप्तवत्य इत्यन्वयः । अत्राधेयानां मुदा महत्त्वोक्तिरित्यपरो भेदः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
२. ‘यदुच्यते तत्प्रत्यनीकम्’ ख. ३. ‘त्वमिति । अनुशयाद्देशात् । ‘भवेदनुशयो द्रेषे’
इति विश्वः । अत्र स्वशत्रुं नायकं जेतुमशक्तेन कामेन तत्प्रतिनिधित्वेन तदीयकामिनीपी-
डनात्प्रत्यनीकालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘यसेति । यस्य श्रीकृष्णस्य ।
कायस्य निग्रहो बधस्तेन गृहीतः स्वीकृतो विग्रहो वैरं येन सः । कान्तेत्यत्र यसेत्यनु-
ज्यते । कृती वैरनिर्यातने कुशलः । अत्र श्रीकृष्णचन्द्रयोः परम्परया संबन्धित्वमिति
विशेषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।

निजेनागन्तुकेनापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ ४४ ॥

निजं स्वाभाविकं लक्ष्म निगूहनीयसाधारणं चिह्नं तद्वारेण केनचिद्वस्तुना बलवत्तया यत्किंचिद्वस्तु वस्तुगत्यैव तिरोधीयते तन्मीलितालंकारः । तच्च द्विधा—लक्ष्मणः क्वचित्स्वाभाविकत्वात्क्वचिदागन्तुकत्वाच्चेत्यर्थः । तत्र स्वाभावि-
केन लक्ष्मणा मीलितं यथा—

‘अपाङ्गतरले दशौ मधुरवक्त्रवर्णां गिरो

विलासभरमन्धरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।

इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशां स्वतो लीलया

तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥’

अत्र दृक्तरलादि अङ्गस्य स्वाभाविकं लिङ्गं समानं च तिरोधेयेन मदेन ।
तत्राप्येतदुपलम्भात् । आगन्तुकेन लक्ष्मणा यथा—

‘ये^१ कंदरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-

स्वत्पातशक्तिधियो विवशा द्विषस्ते ।

अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं

तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥’

अत्र कम्पपुलके अङ्गस्य लिङ्गे हिमाद्रिकंदरनिवाससामर्थ्याधिगतशीतरूप-
कारणस्यागन्तुकत्वेन तत्कार्यभूतयोस्तयोरप्यागन्तुकत्वं भयैः समानता च ।
तेष्वपि तयोरुपलम्भात् ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।

विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥ ४५ ॥

स्थापनं विधिः । अपोहो निषेधः । यथापूर्वमिति वीप्सायामव्ययीभावः ।

युज्यते । पीड्यत इत्यर्थः । इति प्रत्यनीकप्रकरणम् ॥ ४६ ॥ वस्तुगत्यैवेति ।
एतच्चापहृत्तिसाम्यालंकारव्यावृत्त्यर्थम् । तत्र वस्तुतस्तिरोधानाभावात् । इति मीलित-

१. ‘अपाङ्गेति । अपाङ्गतरलो ययोस्ते इति विग्रहः । मधुराश्च ते वक्त्रा वक्त्रोक्तिसमर्पका
वर्णा यासु ता गिर उक्तयः । इति प्रकारेण मृगदृशामङ्गके लीलया कर्त्र्या स्वतः स्वभावतः
स्फुरितम् । तत्तस्मादत्र कृतं पदं स्थानं येन तादृशोऽपि मदस्य मधुपानजन्यस्योदयो
न लक्ष्यत इत्यन्वयः । अत्र मदसाधारणैरङ्गस्य स्वाभाविकैरपाङ्गतरलत्वादिचिह्नैर्भेदस्य
गोपनान्मीलितालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘य इति । ते तव ये द्विषस्वत्पाते
त्वदागमने शक्तिता धीर्येषां तादृशाः सन्तो हिमाद्रेः कंदरासु निवसन्ति उद्वहरोमाञ्चं
कम्पसहितमङ्गमुद्वहतामपि तेषां भयानां बुधः पण्डितोऽपि नाभिज्ञ इत्यन्वयः । अत्र रोमाञ्चक-
मयोरप्यगन्तुकयोर्मयशीतसाधारणचिह्नयोर्भेदतिरोधायकत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

तेन पूर्वं पूर्वं वस्तु प्रति उत्तरस्य वस्तुनो यत्र विशेषणतया बाहुल्येन विधिर्यत्र वा तथा निषेधः सा द्विषैकावली । विशेषणतया विधिरित्यस्य विधेर्विशेषणत्वमित्यर्थः । एवं विशेषणतया निषेधोऽपि । कश्चित्तु 'पूर्वकालविशेषणतया स्थितं वस्तु परं विशेष्यं कृत्वा यत्र स्थाप्यतेऽपोह्यते वा सैकावलीति सूत्रार्थः' इत्याह । तत्तु पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुन इत्यादिप्रकाशविरुद्धम् । तत्र विधौ यथा—

‘पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपरिष्कृताङ्गयः ।

रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥’

अत्र पुराणामङ्गनास्तासामङ्गविशेषणक्रियामुखेन रूपं तस्य विलासास्त्रेषाम-
स्त्रत्वमिति क्रमेण विशेषणतया विधिः । निषेधे यथा—

‘नै तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥’

अत्र जले पङ्कजस्य तत्र षट्पदानां तत्र गुञ्जितस्य तत्रापि मनोहारिताया
विशेषणतया निषेधः ।

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।

सरणं

प्रकरणम् ॥ ५० ॥ बाहुल्येनेति । सकृत्तथोक्तौ चमत्काराभावात् । तथा बाहुल्ये
तद्विशेषणतयेति । उत्तरोत्तरस्य विधिः संबन्धबोधनम् । तथा निषेधोऽभावबोधनम् ।
तत्र विशेषणतयेति तृतीयायाः प्रकारार्थत्वे विशेषणत्वप्रकारेण विधिर्निषेधो वेत्यर्थः
स्यात् । न चासौ संभवति । प्रकारत्वे प्रकारेण बोधस्योदाहरणेष्वभावात् । अत
उपलक्षणे तृतीयेति विशेषणभूतयोर्विधिनिषेधयोरवगतिरित्याशयः । कश्चित्त्विति ।
परमनन्तरं विशेष्यं कृत्वा यत्र स्थाप्यते अर्थाद्विशेषणेन स्वधर्मविशिष्टमुपपाद्यत
इत्यर्थः । अथवा अपोह्यते स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकनिषेधबुद्धिविषयीक्रियत
इत्यर्थः । अत्रोदाहरणम्—‘स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी हितं न तद्यत्र परानप-
क्रिया । परे च ते ये श्रितसाधुभावाः सा साधुता यत्र चकास्ति केशवः ॥’ अत्र
तच्छब्दार्थे विशेषणं पण्डितः पश्चात्स्वहितार्थदर्शित्वं प्रति विशेष्यस्तेन विशेषणेन
पण्डितत्वेनोपपाद्यते । द्वितीयमेदस्य तु ‘न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं’ इति वक्ष्य-
माणम् । अत्र हि सुचार्विलादिविशेषणेन स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकजलत्वनि-
षेधबुद्धिरिति । अत्र पुराणि यस्यामित्युदाहरणावाप्तिः सूत्राक्षराननुसारतश्चेति दोषः
स्फुट एव । दोषान्तरमप्याह—प्रकाशेति । इत्येकावलीप्रकरणम् ॥ ५१ ॥

१. ‘पुराणीति । यस्यां दिशि । रूपेण परिष्कृतं भूषितमङ्गं यासां ताः । विलासाः
कुसुमायुधस्यास्त्रमिति रूपकम् । अत्र पूर्वपूर्वसंबन्धिन्युत्तरोत्तरविधानरूपैकावल्यलंकारः ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘नेति । न लीनः षट्पदो भ्रमरो यत्र तत् । कलं कलस्वरयुतं
यथा स्यात् । अत्र तादृशनिषेधरूपैकावली ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

अत्रार्थस्य स्मृतिः स्मरणालंकार इति लक्षणम् । यथानुभवमिति स्मृत्याकार-
दर्शनम् । दृष्टे तत्सदृश इति तद्वेतुसंस्कारोद्बोधे हेतुनिर्देशः । अदृष्टादेरप्युपल-
क्षणात् । यद्वा अन्यादृशस्मृतेश्चास्त्वाभावेनालंकारत्वाभावाच्चवच्छेदकतया लक्ष-
णान्तर्गतमेवैतत् । तदयं वाक्यार्थः—केनचिदाकारेण नियतो यदाकदाचि-
त्केनचित्प्रमाणेनानुभूतः स कालान्तरे संस्कारोद्बोधहेतौ तत्समानधर्मदर्शने
सति यदनुभूतेन प्रकारेण स्मर्यते तत्स्मरणालंकारः । स द्विधा—एतज्जन्मनि
जन्मान्तरे वानुभूतस्य स्मृतेः क्रमेणोदाहरणे ।

‘निर्झनाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहुरैः सुरनार्यैः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥’
‘करजुभगहिभजसोभायणमुहविणिवेसिआहरडडस्त ।
संभरिअपञ्चअण्णस्स णमह कण्हस्स रोमञ्चम् ॥’

स्पष्टम् ।

भ्रान्तिमानन्यसंविच्चतुल्यदर्शने ॥ ४६ ॥

अत्राप्यन्यसंविदिति लक्षणम् । तत्तुल्यदर्शने इति हेतुनिर्देशः । अन्येति
पदार्थं परामृशता तदित्यनेनाप्राकरणिकं निर्दिश्यते । तथा च तेन तुल्यमर्थादिह
प्राकरणिकं लभ्यते । तेन प्राकरणिकस्याप्राकरणिकतुल्यस्य दर्शने सति यदप्राकर-
णिकत्वेन ज्ञानं स भ्रान्तिमानित्यर्थः । न च रूपके निगीर्याध्यवसानरूपायाम-
तिशयोक्तौ चातिव्याप्तिः । तत्र वस्तुतो भ्रमाभावेऽप्यध्यवसानमात्रस्वीकारात् ।
इह स्वयानुगमेन संज्ञाप्रवृत्तेर्भ्रमोपगमस्य स्पष्टमेवोपगमात् । उदाहरणम्—

‘कैपाले मार्जारः पय इति करालेडि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति ।

अन्यादृशेति । सादृश्यामूलकेत्यर्थः । ‘स तथेति प्रतिज्ञाय विमुञ्च्य कथमप्युमाम् ।
ऋषीज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥’ इत्यादौ हि न स्मृतेश्चास्त्वमिति नालं-
कारत्वम् । करजुपति । ‘करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥’ इति स्मृतिप्रकरणम् ॥ ५२ ॥ तत्र
वस्तुत इति । अनाहार्यतयेत्यर्थः । अध्यवसानमात्रेति । मात्रेत्यनाहार्यत्व-
व्यवच्छेदः । अर्थानुगमेनेति । अर्थस्थानाहार्य एवोत्सर्गसिद्धोऽत्र संज्ञाघटक इति

१. ‘निर्झेति । चलदृशां गम्भीरानाभिकुहरेषु लहरीभिर्जलकीडायां यदम्भः प्लावितं
संज्ञारितं तद्भवैः कुहुरैः कुहुरैः सुरनार्यैः स्मारिताः सुरतसंबन्धिकण्ठरुतानां स्मा-
रिता इति कर्मणि षष्ठी । अत्र सदृशदर्शनजन्यं स्मरणमलंकारः । २. इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘करेति । सप्तयोर्द्वयमिति विग्रहः । पाञ्चजन्यः श्रीकृष्णशङ्खः । ‘अत्र जन्मान्तरानु-
भूतस्मरणमिति भेदः । ४. इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ५. ‘कैपाल इति । सर्वत्रेति शब्दोत्तरं बुद्धेति

रतान्ते तल्पस्थान्हरति वर्णिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥'

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धना ॥ ४७ ॥

अस्य प्रयोजनं निर्वाहयितुमुपमेय एवालमित्यप्रयोजकतयोपमानं यदाक्षिप्यते
यच्चोपमानतया प्रसिद्धस्योपमेये तस्माद्विशेषविवक्षया अनादरार्थमुपमेयभावः
कल्प्यते तदुभयरूपं प्रतीपम् । उपमेयस्योपमाने प्रतिकूलवर्तित्वात् । तत्रार्थः
यथा—

‘लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वैधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्षमाभृतः ॥’

अत्र यथासंख्यसत्त्वेऽपि आक्षेप एव चमत्कारीत्याक्षेपोदाहरणता । द्वितीये
तु कचिदुपमित्यनिष्पत्त्या तिरस्कारः, कचित्तु निष्पन्ना सैव तद्देतुः । क्रमेणोदा-
हरणम्—

‘एँ एहि दाव सुन्दरि कण्ठं दाऊण सुणसु पभणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोभरि चन्दो उभमिज्जिह्व जणेण ॥’

अत्र मुखोपमानस्य शशिनः स्वल्पगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्तिर्वैभणिज्जमिति पदेन
द्योत्यते । सैव च तिरस्कारहेतुः ।

भावः । यत्र भ्रमादिशब्देनेतिशब्दादिना वा भ्रमोपनिबन्धस्तत्र भ्रान्तिमानलंकार
इति नातिप्रसङ्ग इत्यप्याहुः । इति भ्रान्तिप्रकरणम् ॥ ५३ ॥ प्रतीपपदप्रवृत्तिनिमित्त-
माह—उपमेयस्येति । ए एहीति । ‘अये एहि तावत्सुन्दरि कण्ठं दत्त्वा शृणुष्व
वचनीयम् । तव मुखेन कृशोदरि चन्द्र उपमीयते जनेन ॥’ इति । सैव चेति ।

शेषो बोध्यः । कपाले स्थितानिति शेषः । लेढि आस्वादयति । तरूणां छिद्रेषु प्रोतान्प्र-
विष्टान् । संकलयति गृह्णाति । रतान्ते हरतीति संबन्धः । प्रभया मत्तस्तदतिशयशाली ।
अत्र सङ्घट्टशब्देनजन्या भ्रान्तिरलंकारः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

१. ‘लावण्येति । ओको गृहम् । गरिमा गौरवम् । त्यागिनां दावृणामग्रेसरेऽग्रगण्ये ।
अवनीभरे क्षमः समर्थो भुजो यस्यैवंभूते त्वयि वैधसा निष्पादिते सति । किं किमर्थ-
मित्यर्थः । पूषा सूर्यः । चिन्तारत्नं चिन्तामणिः । मुधैव ध्यैव । कुलक्षमाभृतः कुलपर्वताः ।
अत्रोपमानाक्षेपरूपं प्रतीपमलंकारः । यथासंख्यसत्त्वेऽप्याक्षेपप्राधान्यात्तदुदाहरणत्वम् ।
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘ए एहीति । वचनीयं निन्दितम् । अत्रोपमानस्योपमेयत्वकल्प-
नमपरं प्रतीपम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनेयुगलेन किं वहसि भद्रे ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥’

अत्र नलिनानां लोचनोपमेयीकरणमेवानादरहेतुः । उपमेयस्य न्यूनगुणत्व-
स्थितेः । अनयैव रीत्या तदपि प्रतीपं द्रष्टव्यं यत्सामान्यगुणयोगाभावेनोपमान-
त्वाननुभवेऽप्यर्थस्योपमानत्वकल्पना । कथमिति चेत् । उपमानतिरस्कारस्यालं-
कारताबीजत्वात् । तच्च द्विधा संभवति । उपमानत्वेनैव प्रसिद्धस्योपमेयत्वक-
ल्पनया असदृशत्वेन प्रसिद्धस्योपमानत्वकल्पनया वा । सूत्रं चोपलक्षणतया
योज्यम् । उदाहरणम्—

‘अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल मा स्म तात दृष्यः ।
ननु सन्ति भवांदृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥’

अत्र हालाहलस्य खलवचनोपमानत्वमसंभाव्यमानमेवोपनिबद्धं तिरस्कारहेतुः ।

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।

ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥ ४८ ॥

अतादृशत्वेऽपि विवक्षितगुणसाम्यस्य प्रस्तुतस्यान्येनाप्रस्तुतेन गुणसाम्यविव-
क्षया ऐकात्म्यं बध्यते तत्सामान्यम् । समानगुणयोगात् । तत्रापरित्यक्तनिजगुण-
स्येत्यपि विशेषणं विवक्षितम् । अन्यथा तद्गुणालंकारेऽतिव्याप्तेः । बध्यत इत्यस्य
प्रत्यायनमात्रमर्थो न तु शाब्दं प्रतिपादनम् । उदाहरणे ‘अविभाव्यतां गताः’
इत्यादावैकात्म्यस्याशाब्दत्वात् । उदाहरणम्—

व्यतिरेके तूपमिति निष्पत्तिरस्तीति वैलक्षण्यमिति भावः । न्यूनगुणत्वेति । वस्तु-
तस्तूपमाने साधारणधर्मसंबन्धोऽनूद्यते उपमेये तु विधीयते । तेन प्रसिद्धसादृश्य-
तयोपमानस्याधिक्यं साध्यसादृश्यतया चोपमेयस्य न्यूनत्वं बोध्यम् । सामान्य-
गुणयोगाभावेनेति । खभिन्न इति शेषः । इति प्रतीपप्रकरणम् ॥ ५४ ॥ ऐका-
त्म्यमिति । अभेद इत्यर्थः । मीलितेऽग्रहणमेव अत्र तु भिन्नत्वेनाग्रहणमिति
भेदः । तद्गुणेति । यद्यपि तद्गुणालंकारेऽन्यगुणग्रहणमात्रं न तु धर्मिणोरभेदोप-
निबन्धः प्रतीतिर्वा । ‘विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन—’ इत्यादावरुणस्य सूर्याश्वानां चाभेद-
कथनात्तत्प्रतीत्योरभावात् तथापि तद्गुणविषयताया इह निरासे तात्पर्यं बोध्यम् ।
तद्गुणालंकारे सति तल्लक्षणस्यात्रातिव्याप्तेरिति च ग्रन्थार्थः । इति सामान्यप्रकरणम्

१. ‘गर्वमिति । असंवाह्यं संबहनायोग्यम् । अपरिमितमिति यावत् । भद्रे शोभने ।
पूर्वत्र वचनीयत्वोक्त्या उपमितेरपर्यवसानमिह तु निष्पन्ना सा तिरस्कारहेतुरिति भेदः ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘अहमेवेति । तातेति सानुकम्पसंबोधने । ‘तातोऽनुकम्प्ये जनके’
इति विश्वः । मा स्म दृष्यः गर्वं मा कृपाः । अत्र निरुपमत्वेन गर्वायमाणस्योपमानताक-
स्पर्शरूपं प्रतीपम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

‘मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषणाः

सिततरदन्तपद्मकृतवक्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।

शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः

प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥’

अत्राभिसारिकाचन्द्रिकयोरेकात्मत्वप्रतीतिः । कचिदप्रस्तुताप्रस्तुतयोरुत्तरकालीनविवेकादिना तदुल्लेखनम् । यथा—

‘वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।

भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन्कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥’

अत्र भृङ्गपातानन्तरं भेदप्रत्ययो न तु पूर्वमेव प्रतीतिः । ननु भृङ्गपातेन भेदप्रत्ययात्कथमेकात्मत्वप्रतीतिरिति चेत् । अत्रे तथात्वेऽपि प्राथमिकाभेदप्रत्ययस्यानिरासात्तस्य वृत्तत्वात् ।

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।

एकात्मा युगपद्भूतिरेकस्यानेकगोचरा ॥ ४९ ॥

अन्यत्रप्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।

तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधो मतः ॥ ५० ॥

स एष त्रिधा । तत्र प्रसिद्धमाधारं विनाधेयस्य विशिष्टावस्थितिर्यद्भिधीयते स एको विशेषः । तत्र प्रसिद्धमित्यनेनेदमुक्तं यदत्र वास्तवमाधारत्वं न विवक्षितं किं तु कविप्रसिद्धिमात्रप्रसिद्धमिति । अत एव तथैवोदाहरणम्—

‘दिवंमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥’

॥ ५५ ॥ सेति । ‘सा वसति तव हृदये सैवाक्ष्णोः सा च वचनेषु । अस्मादृशीनां

१. ‘मलयजेति । मलयजं चन्द्रनम् । सिततरं दन्तपत्रं दन्तनिमित्तं तादृक् । तेन कृता वक्त्रे रुग्दीप्तिर्यासां ताः । विस्तृतं धाम तेजो यस्य तस्मिन् । धरां पृथ्वीं धवलयति सति । अविभाव्यतामलक्ष्यताम् । अत्र प्रस्तुताप्रस्तुतयोरभिसारिकाचन्द्रिकयोर्वैवक्षिकगुणसाम्येनैकात्मतावर्णनात्सामान्यमलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अत्र प्रस्तुताप्रस्तुतयोरभिसारिका’ ख. ३. ‘वेत्रत्वचेति । वेत्रत्वचः पीतवर्णतयोपमानता । कर्णाग्रतः कर्णाग्रात् । गण्डतले आगतानीति नीलवर्णकेशांनिध्यप्रयुक्ताभिव्यक्तिवारणाय । भृङ्गा भ्रमराः । कोऽवेदयिष्यदज्ञास्यत् । भृङ्गपातेन लक्षितानीत्यर्थः । अत्रोत्तरकाले विवेकेन पूर्वमेकात्मताप्रतीत्युपयनादुदाहरणत्वम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘दिवंमपीति । दिवं स्वर्गम् । आकल्पं कल्पपर्यन्तम् । अनल्पेति गिरां विशेषणम् । येषां गिरो जगन्ति रमयन्तीति संबन्धः । अत्र कविरूपप्रसिद्धाधारं विनाधेयभूतानां गिरामवस्थितिवर्णनादेको विशेषालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

अत्र कविरूपं प्रसिद्धमाधारं विना गिरां विशिष्टावस्थितिरुक्ता । एकस्य वस्तुनो युगपद्या एकास्मा अनेकवृत्तिः स द्वितीयो विशेषः । एकास्मेत्येकेन स्वभावेनेत्यर्थः । एतच्च विशेषणं 'एकस्मिन्ना वससि—' इत्यादि यथासंख्यग्यावर्तनाय । युगपदिति पर्यायनिवारणाय । उदाहरणम्—

‘सा वसद् तुङ्ग हिमप स चिभ अष्ठीसु सा अ वअणेसु ।

अम्हारिसाण सुन्दर ओभासो णत्थि पावानम् ॥’

स्पष्टम् । रभसेनान्यत्कार्यं कुर्वतः कर्तुर्यदशक्यस्यान्यस्यापि कार्यस्य तथैव करणं स तृतीयो विशेषः । अत्र तथैवेति तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः । एतच्च ‘धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्’ इत्यादि समुच्चयग्यावर्तनाय । उदाहरणम्—

‘स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापञ्ज्वलनं त्वां सृजतानवद्यविद्यम् ।

विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥’

अत्रान्यस्य करणं शब्दम् । कश्चित् व्यङ्ग्यम् । यथा—

‘गृहिणी सखिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥’

अत्र किं न मे हृतमिति सखिवासर्वहरणरूपकार्यकरणं व्यज्यते । नन्वाधारं विना वास्तवस्याधेयस्य व्यवस्थितिरनुपपन्नैव एवमन्ययोरप्यनुपपत्तिरिति चेत्, न । अतिशयोक्तिमालम्ब्य तथाभिधानात् । सर्वत्रैवंविधे विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणायिता । तां विना प्रायशोऽलंकारत्वाभावात् । अत एवाहुः (यदाहुः)—

‘सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यतोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥’ इति ।

सुन्दर अवकाशो नास्ति पापानाम् ॥’ इति । रभसेनेति । एतच्चैकेनैव यत्नेन कार्यद्वयं करिष्यामीत्यभिसंधिव्यावृत्त्यर्थम् । स्फुरदित्यादौ यथासंख्यसत्त्वेऽपि विशेषालंकारस्यैव चमत्कारे प्राधान्यात्तदुदाहरणत्वम् । यदाहुरिति । काव्यादर्शकृतो

१. ‘सैति । चोऽवधारणे । सैवेत्यर्थः । अत्रैकस्याः कामिन्या एकरूपेण युगपदनेकत्र स्थितिवर्णनादपरो भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । २. ‘स्फुरदिति । हे राजन्, त्वां सृजता विधिना भुवि नवो मनोमवादिः ससृज इति सत्यमित्यन्वयः । एतदेवोपपादयितुं यथाक्रमं विशिनष्टि—स्फुरदित्यादि । अत्रैकं कार्यं कुर्वता तेनैव यत्नेनाशक्यकार्यान्तरकरणचतुर्वीयो भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । ३. ‘गृहिणीति । इन्दुमतीं शोचतोऽजस्येयमुक्तिः । मिथो रहसि । ललिते कामकलाविधौ विषये । प्रियभूता शिष्या । ‘मिथोऽन्योन्यं रहसि’ इत्यमरः । अत्र सखिवासर्वहरणरूपकार्यान्तरकरणं व्यङ्ग्यमिति भेदः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

विभाष्यत इति विशिष्टो भाष्यते । चमत्कारविशेषविषयः क्रियत इत्यर्थः ।

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ ५१ ॥

अत्युत्कृष्टगुणस्याप्रस्तुतस्य योगात्तद्गुणसंपदुपरागात्स्वकीयं रूपं तिरस्कृत्य प्रस्तुतं वस्तु यत्तदनुकारमेवासादयति स तद्गुणो भण्यते । तस्याप्रस्तुतस्य गुणोऽत्रेति व्युत्पत्तेः । मीलिते वस्त्वन्तरेणाच्छादितस्य तस्यैव वस्तुनः प्रतीतिः । अत्र त्वनाच्छादितस्वरूपस्यैव वस्त्वन्तरगुणापत्तिरिति ततो भेदः । उदाहरणम्—

‘विभिन्नवर्णां गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।

रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचिं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥’

अत्र तद्गुणद्वयम् । रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रकृष्टगुणत्वात्तद्रूपतया प्रतीतेः । एतेन यत्केनचिद्वाख्यातम् ‘स्वगुणत्यागानन्तरं पुनस्तत्प्राप्तिस्तद्गुणः’ इति, तदनादेयम् । तस्याप्रस्तुतस्य गुणोऽत्रास्तीति व्युत्पत्तिकथनप्रकाशविरोधात् । तत्र गुणद्वयकथनेन च तद्गुणद्वयव्युत्पादनात् । ‘आत्ते सीमन्तरत्ने—’ इत्यादौ वक्ष्यमाणे संकरोदाहरणे तद्गुणत्वाभावप्रसङ्गाच्च । नहि तत्र त्यक्तस्य स्वकीयरूपस्यावाप्तिः ।

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः ।

तदिति प्रकृतेत्यर्थः । अस्याप्रस्तुतस्य । अत्युज्ज्वलगुणयोगेऽपि यदि न्यूनगुणोऽप्रकृतः प्रकृतस्य गुणं नानुहरति तदा अतद्गुणः । उदाहरणम्—

‘धवलोऽसि जहवि सुन्दर तहवि तुष्ट मज्जत रज्जिर्धं हिमभम् ।

रागभरिण वि हिमण सुहभ णिदित्तो ण रत्तोऽसि ॥’

अत्रातिरक्ते मनसि घृतस्याप्यरक्तत्ववचनादुत्तरार्धमेवोदाहरणम् । तत्र प्रकृतं हृदयं संबोध्यस्त्वप्रकृतः । स्वहृदयवृत्तान्तनिवेदनस्यैव विवक्षितत्वात् । एवं

दण्ड्युपाध्याया इत्यर्थः । इति विशेषप्रकरणम् ॥ स्वमुत्सृज्य गुणमिति । स्पष्टम् । इति तद्गुणः ॥ ५७ ॥ स्व(तद्)रूपाननुहारश्चेदिति । धवलोऽसीति । ‘धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रज्जितं हृदयम् । रागभरितेऽपि

१. ‘विभिन्नेति । माघे रैवतकवर्णनम् । गरुडस्याग्रजेनारुणेन विभिन्नवर्णाः सूर्यस्य रथ्या अथा यत्र रैवतकगिरौ वंशाङ्कुरवन्नीलै रत्नैः परितः स्फुरन्त्या रुचा कान्त्या स्वां रुचिं नीलश्रुतिमानिन्यिरे आनीता इत्यन्वयः । गरुडाग्रजेन परितः स्फुरन्त्या रुचा विभिन्नवर्णा इति वा । अत्राश्वानां स्त्रीयगुणत्यागेनाप्रस्तुतारुणगुणानुहरणवर्णनात्तद्गुणालंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘धवल इति । धवलो निर्मलः श्वेतश्च । रागो लौहित्यमनु-रागश्च । धवलपदस्य वृषभपरत्वमपि केचिदाहुः । अत्रोत्तरार्धेऽप्रस्तुतेन गायकेन निवेदनी-यवृत्तान्ततया प्रकृतस्य हृदयस्य गुणाननुहरणादतद्गुणोऽलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

चात्र सूत्रे तत्पदेन प्रकृतमिवाप्रकृतमप्युच्यते । तथास्येत्यनेनाप्रकृतमिव प्रकृत-
मप्युपस्थाप्यते । सामान्यमुखप्रवृत्तत्वात् । तथाचाप्रस्तुतेन प्रस्तुतरूपाननुहर-
णवत्प्रस्तुतेनाप्रस्तुतरूपाननुहारोऽन्यः प्रकारः । यथा—

‘गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।

राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥’

अत्रान्यापदेशपक्षे राजहंसस्याप्राकरणीकत्वं प्राकरणीकसत्पुरुषोपमानतयोप-
पादनीयम् । वाच्यमात्रविश्रान्तौ तु न काचिदनुपपत्तिः ।

यद्यथा साधितं केनान्यपरेण तदन्यथा ॥ ५२ ॥

तथैव तद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

यथा येनोपायेन तथा तेनोपायेनेत्यर्थः । तथा च केनापि कर्त्रा यद्वस्तु
येनोपायेन यथा साधितं तदन्येन कर्त्रा जिगीषुतया तद्वस्तु तेनैवोपायेन ततो-
ऽन्यथा चेत्साध्यते स व्याघात इत्यर्थः । प्रथमसाधितस्य वस्तुनो व्याहृतिहेतु-
त्वात् । उदाहरणम्—

‘इशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति इशैव याः ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥’

अत्र इशैव दाहो जीवनं च ।

एवं शुद्धालंकारा दर्शिताः । अस्ति पुनः कश्चिद्विषयो, यत्राङ्गदादिसंबद्धपद्म-
रागप्रमुखमणिमेलकवत्प्रोक्तानामलंकाराणां संवलन एव चमत्कारः । तस्मा-
त्तोऽप्यलंकारः । तत्र द्वयी गतिः । परस्परमनपेक्ष्य व्यवस्थितेस्तद्भावाच्च ।
तत्र प्रथमा संसृष्टिरुच्यते द्वितीया तु संकरः । स च त्रिधेति प्रकारचतुष्टयं
लक्षयति—

सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥ ५३ ॥

भेदः स्वरूपतो विषयतो वा परस्परमनपेक्षत्वम् । यद्वा विषयभेदे सति

‘इदमे सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥’ इति । इत्यतद्गुणप्रकरणम् ॥ ५४ ॥ यद्यथा
साधितमिति । स्पष्टम् । इति व्याघातप्रकरणम् ॥ ५५ ॥ इति शुद्धालंकारप्रक-
रणानि । विषय इति । काव्यविशेष इत्यर्थः । विषयत इति । विषयोऽलंकार-
प्रतिपादक आश्रयो वाशब्दः । एकवाचकानुप्रवेशेन संकरे स्पष्टोल्लसदित्यादौ रूप-
कानुप्रासयोर्विषयैक्येऽपि परस्परापेक्षाविरहादतिप्रसङ्गतादवस्थादाह—यद्वेति ।

१. ‘गाङ्गमिति । यमुमासंबन्धि यामुनम् । अम्बु जलम् । न चीयते न वर्धते । नापचीयते
चापक्षीयते । अत्र प्रस्तुतेन हंसेनाप्रस्तुतगुणाननुहरणाद्भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. ‘इवेति । विरूपाक्षः शिवः । अत्र हरेण इशा दग्धस्य कामस्य हरजिगीषुभिः कामिनीभिर्दाह-
हेतुभूतया इशैव तद्विपरीतजीवनसंपादनाव्याघातोऽलंकारः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

परस्परानपेक्षत्वम् । स्थितिर्व्यवस्थितिः । एतेषामनन्तरमेवोक्तानामलंकाराणां भेदेन यत्स्थितिः सा संसृष्टिरिष्टा । संकरभेदास्तु नैवम् । अङ्गाङ्गिभावे स्वरूपतः सापेक्षत्वात् । अनिश्रये व्यवस्थितेरेवाभावात् । व्यवस्थिते विषयतः परापेक्षत्वाद्विषयाभेदाच्च । सेयं शब्दालंकारमात्रस्यार्थालंकारमात्रस्य शब्दार्थालंकारयोर्वेति त्रिप्रकाराः । तत्राद्या यथा—

‘वदनसौरभलोभपरिभ्रमङ्गमरसंभ्रमसंभृतशोभया ।

वनिताया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोऽलदशान्यया ॥’

अत्रानुप्रासयमकयोः परस्परमनपेक्ष्य व्यवस्थितिः । द्वितीया यथा—

‘लिम्पतीव तमोऽङ्गानि किरतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥’

अत्रोत्प्रेक्षोपमे परस्परमनपेक्ष्य व्यवस्थिते संसृष्टिं प्रयोजयतः । अन्त्या यथा—

‘सो^३ णत्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाभणम् ।

तरुणाण हिअल्लडिं परिसप्पन्ति णिवारेइ ॥’

अत्रानुप्रासरूपके शब्दार्थालंकारौ । नन्वनयोः शब्दार्थरूपाश्रयभेदेन कथमेकार्थसमवायलक्षणा संसृष्टिरिति चेत्, एकवाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।

तेषामेवालंकाराणां चारुत्वार्थं स्वरूपनिष्पत्तये वान्यापेक्षणादात्मन्यनासादितस्वतन्त्रभावानां परस्परमनुप्राह्यानुप्राहकत्वं स तु संकरः । संकीर्यमाणस्वरूपत्वात् । उदाहरणम्—

एवं च तत्र विषयभेदाभावाच्चातिव्याप्तिरिति भावः । सो णत्थीति । ‘स नास्त्यत्र ग्रामे य एतां स्फुरल्लावण्याम् । तरुणानां हृदयलुण्ठनं परिसर्पन्तीं निवारयति ॥’ अत्र पूर्वार्थेऽनुप्रासः उत्तरार्थे हृदयलुण्ठनमिति रूपकम् । इति संसृष्टिः ॥ ६० ॥ चारुत्वार्थमिति । चमत्कृतिजनकत्वं ह्युपमादेरलंकारत्वम् । अतो विशेषणांशे विशेष्यांशे वान्यापेक्षेति भावः । संकीर्यमाणेति । परस्परसापेक्षेत्यर्थः ।

१. ‘वदनेति । माधे ऋतुवर्णने पद्यमिदम् । अन्यया कयापि वनिताया चलितया कलस्वरो मेखलायाः काञ्चयाः कलकलः कोलाहलो विदधे । किंभूतया । वदनसौरभलोभेन परिभ्रमतां भ्रमराणां संभ्रमेण त्वराविशेषेण संभृता समृद्धा शोभा यस्याः सा । अलका लोला यस्यां तादृशी दृग्यस्यास्तथाभूतयेति । अत्रानुप्रासयमकयोः परस्परनिरपेक्षयोर्योगात्संसृष्टिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘लिम्पतीति । व्याख्यातं प्राक् । अत्रोत्प्रेक्षोपमयोः संसृष्टिः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘सो णत्थीति । हृदयलुण्ठनमिति रूपकम् । आयुर्धृतमिति वत् । पूर्वार्थे त्वनुप्रासः । एवं च शब्दार्थालंकारयोः संसृष्टिरिष्टम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘आत्ते सीमन्तरले मरकतिनि इते हेमताटङ्कयुग्मे
 लुसायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
 शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदशामिस्वरीणामरण्ये
 राजन्गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥’

अत्र बिम्बोष्ठकान्त्या शोणमिति तद्गुणमपेक्ष्य गुञ्जाफलानां स्रज इति
 भ्रान्तिमानात्मानं लभते । तद्गुणोऽप्यत्र न स्वातन्त्र्येण चमत्कारविशेषं करोति
 किं तु भ्रान्तिमदपेक्षयैवेति परस्परमनुग्राहानुग्राहकभावः । अत्र द्वयोरलंकारयोः
 संकरः । बहूनामपि यथा—

‘जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
 वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
 परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाङ्किततले
 शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥’

अत्र जटाभाभिर्भाभिरिति पितृवन इव व्योम्नीति चोपमा । कलङ्काक्षवलय-
 येति तारापरिकरकपालेति च रूपकम् । वियोगिव्यापत्तेरिवेत्युत्प्रेक्षा । वैराग्य-
 विशद इति श्लेषः । चत्वारोऽप्येते परस्परमङ्गाङ्गिभावेन प्रतीयन्ते । तत्रोत्प्रेक्षा
 श्लेषाङ्गम् । तद्वशादेव वैराग्यविशद इत्यत्र द्वितीयार्थानुसंधानात् । श्लेषश्च
 रूपकोपमयोरङ्गम् । तद्वशादवगतनिर्वेदमहिम्नैव जटाया अक्षवलयधारणस्य च
 संगतेः । तारापरिकरकपालेति रूपकं पितृवन इवेत्युपमाया अङ्गम् । तद्वीजं
 हि सादृश्यम् । न च श्मशाने व्योम्ना सह तत्साहजिकं किं तु रूपितकपाला-

१. ‘आत्त इति । हे राजन्, अरण्ये इस्वरीणां भयादितस्ततो गमनशीलानां त्वदरि-
 स्त्रीणां सीमन्तरले शिरोभूषणे आत्ते गृहीते मरकतमणिशालिनि कर्णभरणे हृते मेख-
 लायां लुसायामाच्छिन्नायां मणिघटिते तुलाकोटियुग्मे नूपुरयुगले झटिति गृहीते च सति
 बिम्बसदृशोष्ठकान्त्या शोणमारक्तं मुक्ताहारं गुञ्जाफलानां स्रज इति बुद्ध्या शबरा व्याधा
 नैव हरन्तीत्यन्वयः । अत्र बिम्बोष्ठकान्त्या शोणमिति तद्गुणालंकारस्य गुञ्जाफलभ्रान्त्यलंका-
 राङ्गत्वात्तयोरङ्गाङ्गिभावलक्षणः संकरः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘जटेति । शशी’
 पितृवने श्मशान इव व्योम्न्याकाशे चरति संचरतीत्यन्वयः । कीदृशः । जटाभाभिर्जटास-
 दृशीभिर्भाभिः किरणैरुपलक्षितः । करे धृतं कलङ्क एवाक्षवलयं रुद्राक्षवलयं येन सः ।
 करो रश्मिः पाणिश्च । वियोक्तुं शीलं येषां ते वियोगिनो विषया विरहिणश्च । तेषां व्या-
 पत्तेर्नाशादिव कलितं स्वीकृतं यद्वैराग्यं प्रसिद्धं विगतरक्तिमत्त्वं च तेन विशदः पाण्डुरः
 शुद्धचित्तश्च । भस्मेवापाण्डुर्भस्मना आपाण्डुश्च । कीदृशे व्योम्नि । परिप्रेङ्खन् चपलो
 यस्तापराणां समूहः स एव कपालानि तैरङ्कितं त्रिङ्कितं तलं यस्य तादृशे । तलपदं स्वरू-
 पार्थक्यम् । ‘अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्’ इत्यमरः । अत्रोपमारूपकोत्प्रेक्षाश्लेषाणामङ्गाङ्गिभावः
 शशीभिरुपनीयः । महाभ्रतितृत्तान्तस्य चन्द्रवृत्तान्ते समारोपात्समासोक्तिः प्रधानभूतेति
 शेषम् । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

श्रयत्वेनैवेति । सर्वत्र चाङ्गिनां चारुवार्यमङ्गापेक्षा पूर्ववद्बह्विधा । सर्वेषां चैषां पार्यन्तिकचारुत्वहेतुरङ्गिभूता च समासोक्तिः । चन्द्रगतत्वेन महाव्रतवृत्तान्तप्रतीतिः । सा च व्यक्तैवेति प्रकाशकृता नोक्तैवधेयम् । ननु कलङ्काक्षवलयेति कथमेकान्ततो रूपकमुच्यते । उपमाया अपि संभवेन संदेहसंकरौचित्यादिति चेत्, न । रूपकपरिग्रहे करघृतत्वमेव साधकं प्रमाणमतः संदेहस्याभावात्कथमस्य साधकत्वमिति चेत्, इत्थम्—करघृतत्वरूपविशेषणस्याक्षवलय एव सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः, न तु कलङ्के, अतः प्राधान्येनाक्षवलयप्रतीतिरेवोद्दिष्टा । सा च रूपकपरिग्रहेणैव संभवति । तत्र तिरोहितकलङ्करूपमक्षवलयत्वमेव मुख्यतयावगम्यते । नन्वेवमपि विशेषणमिदमसम्भवेन । चन्द्रपक्षे किरणेन कलङ्कधारणस्याभावात् मूल्यैव तेन तद्धारणादिति चेत्, न । श्लेषच्छायाया हि कलङ्कस्याप्रधानस्य करधारणमसदेव प्रत्यासन्नतयोपचर्य योज्यते । तथा सत्युपमापरिग्रहे को दोष इति चेत्, कलङ्कोऽक्षवलयमिवेत्युपमायां कलङ्कस्य प्रधानत्वेन प्रतीतिः । न चास्य करघृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात् । मुख्यविषयोपचारापेक्षया चामुख्योपचार एव श्रेयानिति रूपकमेवाश्रीयते । शब्दालंकारयोरप्येष संकरो दृश्यत इति प्राञ्जः । उदाहरन्ति च—

‘राजति तटीयमभिहतदानवरासातिपातिसारावनदा ।

गजता च यूथमविरतदानवरा सातिपाति सारा वनदा ॥’ इति ।

तत्र यद्यपि यमकानुलोमविलोमचित्रभेदयोर्न स्फुटं परस्परापेक्षित्वं तथापि यमकनिर्वाहप्रवृत्तस्य कवेरपृथक्प्रयत्ननिर्वृत्ततयानुलोमविलोमस्योत्पत्तौ यमकापेक्षा यमकस्य तु चारुतातिशये तदपेक्षता । तदाश्रयेणातिदुष्करतयातिशयेन विदग्धमनोनुरञ्जकत्वादिति तेषामाशयः । वस्तुतस्तु यमकनिर्वाह एव कविप्रवृत्तिरिति निश्चायकं नास्ति । अस्तु वा तथा । तथापि यमकं न चित्रहेतुः । किं तु तत्प्रयत्नः । तस्मादेकाश्रयानुप्रवेशेनैवायं संकरो न त्वनुप्रासानुप्राहकतयैवेत्युक्तम् ।

एकान्तत इति । निश्चित इत्यर्थः । अमुख्योपचार एवेति । गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायादिति भावः । तदाश्रयेणेति । अनुलोमविलोमाश्रयेणेत्यर्थः । न चित्रहेतुरिति । नानुलोमविलोमरूपशब्दालंकारहेतुरित्यर्थः । किं त्विति । यमकप्रय-

१. ‘मुख्यतो’ क. २. ‘राजतीति । इयं तटी स्थली राजतीत्यन्वयः । किंभूता । अभिहतोऽभिघातं प्राप्तो दानवानां रासः सिंहनादो यस्यां सा । अतिपाती वेगवान् सारावः सशब्दो नदो यस्यां सा तथाभूता । एवं सा प्रसिद्धा गजता गजसमूहश्च यूथं कुलमतिशयेन पाति रक्षति । कीदृशी । अविरतेन दानेन मदजलेन वरा श्रेष्ठा । सारा स्थिरा वनदा वनखण्डिका । अत्र यमकानुलोमविलोमयोः संकरः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः । ३. ‘मुन्दरतया’ क.

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनित्यः ॥ ५४ ॥

न्यायः साधकं प्रमाणसत्तादोषः प्रतिकूलसत्ता । ग्रहो व्यवस्थितिः । यत्र द्वयोर्बहुनां बालंकाराणामेकत्र योग्यत्वेऽपि विरोधान्नैकदा व्यवस्थितिः, न चैकैत-
स्य परिग्रहे साधकं तदितरपरिग्रहे बाधकं येन तदेव व्यवतिष्ठेत् सोऽप्यनित्य-
रूपो द्वितीयः संकरः । सूत्रस्थचकारेण संकरस्यैवाक्षेपात् । उदाहरणम्—

‘जह गम्भीरो जह रअणणिवभरो जह अ णिम्मलच्छाओ ।

ता किं विहिणा एसो सुरसवाणीओ जलणिही ण किओ ॥’

अत्र किं समुदे प्रस्तुते श्लिष्टविशेषणमहिम्नाप्रस्तुतपुरुषविशेषप्रतीतेरियं समा-
सोक्तिः किं बाधेरप्रस्तुतात्प्रस्तुतस्य पुरुषविशेषस्य तत्समानगुणतया प्रतिपत्ते-
रप्रस्तुतप्रशंसेति संदेहः । एकस्यैकदा प्रस्तुताप्रस्तुतोभयरूपत्वाभावादनयोर्यु-
गपदसंभवात्, न्यायदोषयोरसंभवाच्च । अयं द्वयोः संकरः । बहूनां यथा—

‘नैनानानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।

अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदं तमः ॥’

अत्र किं कामोद्दीपकः कालो वर्तत इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम्,
किं वा एतदित्यस्य बिम्बपरामर्शकतया वदनस्येन्दुबिम्बेनाध्यवसानादतिश-
योक्तिः, अथ वा एतदिति वक्रं निर्दिश्येन्दुबिम्बरूपणवशाद्रूपकम्, अथवा
प्रसीदतीत्यस्योभयत्रान्वयविवक्षायामेकतरस्य प्रकृतत्वाद्दीपकम् । द्वयोरपि प्रकृ-
तत्वेऽप्रकृतत्वे वा तुल्ययोगिता किं वा प्रदोषवर्णने चन्द्रबिम्बस्य प्रकृतत्वे
विशेषणसाम्यादाननप्रतीतौ समासोक्तिः आहोस्विन्मुखनैर्मस्यवर्णनप्रस्तावाच्च-
न्द्रस्याप्रस्तुतत्वेनाप्रस्तुतप्रशंसेति संदेहः । न्यायदोषयोरभावात् । यत्र तु तयो-
रन्वतरस्यावतारस्तत्रैकतरनिश्चयाच्च संशयस्तत्र ‘सौभाग्यं वितनोति वक्रशशि-
नो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः’ इत्यत्र मुख्यत्वेन प्रतीयमाना हसितद्युतिर्वक्र एवानुकूल्यं

न्नादि तदुत्पत्तिरिति नोत्पत्तौ यमकापेक्षेत्यर्थः । ‘साधकप्रमाणसत्ता’ इति पाठः ।
‘साधकप्रमाणता’ इत्यपपाठ एव । एवं ‘प्रतिकूलसत्ता’ इत्येव पाठ इति ज्ञेयम् ।
समुच्चयेनेति वृत्तिप्रथं व्याचष्टे—सूत्रस्थचकारेणेति । जह इति । ‘यथा
गम्भीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः । तत्किं विधिनैष सुरसवानीयो-

१. ‘साधकं प्रमाणम्, दोषः प्रतिकूलता’ ख. २. ‘एकतरपरिग्रहस्य’ क. ३. ‘क्षेप-
णात्’ क. ४. ‘रत्ननिर्भरो रत्नपूर्णः । अत्र समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसयोः संदेहरूपः संकरः ।
एकसाधकापरबाधकप्रमाणाभावात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ५. ‘एकदैकस्य’ ख.
६. ‘नयनेति । नयनानामानन्ददानशीलमेतदिन्द्रोर्बिम्बं प्रसीदति प्रकटीभवति । नि-
श्चया आशा दिशो येनेति तमसो विशेषणम् । अविशीर्णं न नष्टम् । अत्र रूपकातिशयो-
क्त्यादीनां बहूनां संदेह इति भेदः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ७. ‘किं वा’ क.

भजते । तत्रैव मुख्यतस्तत्संभवात् । वक्रस्य प्राधान्येन स्थितिरुपमायामेवेत्युप-
मासाधिका शशिनि तु नानुकूला । मुख्यतस्तत्र हासद्युतेरभावात् । नापि प्रति-
कूला । गौणत्वेनाप्युपपत्तेरिति । न रूपकं प्रति साधिका बाधिका वा 'वक्रेन्दौ
तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्ज्वलते' इत्यत्रापरत्वमिन्दावनुगुणम् । मुखरु-
पेन्दौ सति किमपरेणेन्दुनेति प्रतीतेः । तथाप्रतीतिश्च रूपकेण विना नेति
रूपकं प्रति साधकतां प्रतिपद्यते न पुनर्वक्रस्य प्रतिकूलम् । इन्दुसमानगुणे वक्रे
सति किमपर इन्दुरुदित इति प्रतीतावत्रात्यन्तासंगत्यभावात् । अतो नोपमा-
बाधकम् । 'राजनारायणं लक्ष्मीस्वामालिङ्गति निर्भरम्' इत्यत्रालिङ्गनमुपमायां
बाधकम् । स्वामिसदृशं प्रति प्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यानौचित्यात् । न तु रूपके
साधकम् । 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बि-
कायाः' इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितमम्बुजे प्रतिकूलम् । तत्रासंभवात् । अतो रूपके
बाधकम् । नन्वेतदुपमासाधकमपि भवति । पादेऽनुकूलत्वात् । तत्कथं रूपक-
बाधकतामात्रत्वमस्योच्यते न तूपमासाधकत्वमपीति । एवमन्यत्रापि यदेकत्रानु-
कूलं तद्वाहुल्येन परत्र प्रतिकूलम्, यच्चैकत्र प्रतिकूलं तत्तत्र एवान्यत्रानुकूलम् ।
अन्यथा तत्त्वस्यैवासंभवादिति चेत्, सत्यम् । किं तु यस्य यथास्वमुत्कटं प्रती-
यते तत्र तस्य तथास्वव्यपदेशः । अत्र तु विध्युपमर्दिबाधकं साधकापेक्षयोत्क-
टत्वेन प्रतीयत इति तेनैव व्यपदेशो युक्तः । तदेतदुक्तं विध्युपमर्दिबाधकस्य
तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेरिति । अन्ये तु तदन्यथा व्याचक्षते—विधीयतेऽने-
नेति विधिः साधकं तदुपमर्दि तस्माद्वलीयः । एतदुक्तं भवति—मञ्जीरशिञ्जि-
तस्य पादे संभवमात्रेण न तावदुपमासाधकत्वं निर्वहति यावदम्बुजे तद्विरहो
न निश्चीयते । तथा च तद्वाचकस्यैव प्राथमिकत्वाच्चतन्मुखेनैव व्यपदेशः । एवम-
न्यत्रापि साधकबाधकसत्त्वं सुधीभिः परिभावेनीयम् ।

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।

व्यवस्थितं च

विषयः पदम् । तेनैकत्र पदे यदुभौ शब्दार्थालंकारौ स्फुटं व्यवस्थितौ भवतः
सोऽप्यपरः संकरः । उदाहरणम्—

'जलनिधिर्न कृतः ॥' इति संस्कृतम् । न पुनर्वक्रस्य प्रतिकूलमित्यत्रापरत्वमित्यस्या-
नुषङ्गः । न तु रूपके साधकमिति । उपमाबाधकमुखेन साधकत्वं तूपमाबाध-
कत्वं एव पर्यवस्यतीति भावः । विध्युपमर्दीति । स्वविरोधिकोऽप्युपमर्दाल्यर्थः ।
साधकापेक्षयेति । साधकं हि यथोपमायां तथा रूपकेऽपि किञ्चिद्भवेदिति

‘स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यविम्ब-

विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।

छिष्टाष्टदिग्दलकलोपमुखावतार-

बद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥’

अत्र पादत्रये प्रत्येकं रूपकानुप्रासौ प्रविष्टौ । शब्दार्थालङ्कृतीति प्रायोवादः । शब्दालङ्कारयोरप्येतद्दर्शनात् । यथा—‘कलकलोऽलकलोलहशान्यया’ इत्यादावनुप्रासयमकयोः ।

तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥ ५५ ॥

तस्मादनुप्रासानुप्राहकतया संदेहेनैकपदप्रतिपाद्यतया व्यवस्थितत्वाच्च त्रिप्रकारोऽयं संकरः कथितः । प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् । सेदानामनन्तत्वात् ।

इति प्रतिपादिताः शब्दार्थतदुभयगतत्वेन त्रिविधा अलङ्काराः । ननु त्रिविधानामप्येषां काव्यशोभातिशयहेतुत्वस्य तुल्यत्वेऽपि कुत एष प्रतिनियमः यत्कश्चिच्छब्दस्य कश्चिदर्थस्य कश्चिच्छब्दार्थयोरिति चेत्, उक्तमत्र प्रागेव । दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वव्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः । निमित्तान्तराभावात् । ततश्च योऽलङ्कारः शब्दार्थयोर्मध्ये यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कार इति व्यवस्थाप्यते । शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं चैतदेव यच्छब्दपरिवृत्त्यसहत्वम् । नन्वेवं यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयभावाभावानुविधायित्वेनोभयालङ्कारस्तथार्थशब्दहेतुकार्यान्तरन्यासप्रभृतयोऽप्यु-

शङ्कया नेतरव्यवच्छेदसिद्धिः बाधकेन तु सद्यस्तत्सिद्धिरिति तदेव बलवदित्याशयः । अन्ये त्विति मतमुक्तार्थम् । एकपदप्रतिपाद्यतयेति । एकपदाश्रितत्वेन गम्यमानतयेत्यर्थः । यथाश्रुते शब्दालङ्कारे पदप्रतिपाद्यत्वस्यासंभवात् । प्रकारान्तरेणेति । तत्तदलङ्कारगतत्वेनेत्यर्थः । नन्वेवमिति । योऽलङ्कारः इत्याद्युचरीत्या शब्दार्थालङ्कारत्वव्यवस्थानुपगम इत्यर्थः । तनुवपुरित्यादिपुनरुक्तवदाभासे तनुशब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वाच्छब्दान्वयव्यतिरेकौ वपुःशब्दस्य परिवृत्तिसहत्या चार्थान्वयव्यतिरेकावित्युभयालङ्कारत्वम् । तथा विद्वन्मानसेत्यादि परम्परितरूपके मानसपदस्य

१. ‘स्पष्टेति । अथोऽनन्तरं दिवसरूपमरविन्दं कमलं संचुकोचं संकोचं प्रासवदित्यन्वयः । कीदृशम् । स्पष्टमुलसन्तः किरणा एव केसराणि यस्यास्तथाभूता सूर्यविम्बमेव विस्तीर्णा कर्णिका वरादौ यस्य तत् । तथा छिष्टाः प्रकाशाभावेन परस्परं मिलिता अष्ट दिश एव दलानां कलापः समूहस्तत्र सुखेनावतारो यस्य स चासौ बद्धान्धकारश्च स एव मधुपावलिर्नैव तादृशम् । अत्र रूपकानुप्रासयोरैकपदानुप्रवेशरूपः संकरः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकाखण्डेपः । २. ‘कलापमुखावतार’ इति हरविजयस्यः पाठः. तत्र ‘उपावतारः प्रदोषः’ इति टीका. ३. त्रिप्रकारकः क. ४. ‘शक्यते’ क.

अयालंकारा भवेयुरिति चेत्, न । इष्टापत्तेः । एवं तर्हि कथमुभयालंकारप्रस्ता-
वमुल्लङ्घयार्थमात्रालंकारप्रस्तावे पठिता इति चेत्, तत्रार्थवैविध्यस्य प्रकटतया
प्रतिभासात् । अथ योऽलंकारो यदाश्रितः स तदीय इत्येव किं न विभाग इति
चेत्, तथा कल्पनायामप्यन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ । तद्व्यतिरेकेण
विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात् । तस्मादलंकाराणामन्वयव्यतिरेकनिबन्धन
एव परस्परं भेद इत्येव ज्ञायः ।

नन्वलंकाराणां दोषाः प्राचीनैरभिहितास्ते किं न सन्त्येव आहोस्त्रिसंभक्ति-
नोऽप्युपेक्षिताः । आद्येऽनुभवविरोधः, अन्ये न्यूनतेत्यत आह—

एषां दोषा यथायोगं संभवन्तोऽपि केचन ।

उक्तेष्वन्तः पतन्तीति न पृथक्प्रतिपादिताः ॥ ५६ ॥

तथा हि अनुप्रासस्य तावन्नयो दोषः, प्रसिद्धभावो वैफल्यं वृत्तिविरोधश्च ।
ते च यथाक्रमं प्रसिद्धिविरोधापुष्टार्थत्वप्रतिकूलवर्णस्वेभ्यो नातिरिच्यन्ते । तत्त्व-
भावत्वात् । तत्र प्रसिद्धभावो यथा—

‘चक्री चक्रारपङ्क्तिं हरिरपि च हरीन्धूर्जटिर्धूर्ध्वजाग्रा-

नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबरान्नं कुबेरः ।

रंहः सङ्गः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य

स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनो वः ॥’

छिद्यतया परिवृत्त्यसहत्वाद्दंसादिपदानां च तत्सहत्वादुभयालंकारता । एवं क्षणदा
सा च क्षणदा इत्यर्थान्तरन्यासेऽपि श्लेषमूलकतया शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधानम्,
उत्तरार्थे त्वर्थस्येत्युभयालंकारत्वं स्यादित्यर्थः । नेति । इदमनिष्टापादनं नेत्यर्थः ।
अलंकारसर्वस्वकारमतमाशङ्कते—अथेति । दूषयति—तथेति । तथा हि कचि-
द्भये पथे वा गद्यपद्यान्तरनिरूपितोपमायां शब्दाश्रितत्वेन शब्दालंकारत्वापत्तिः । न
चेष्टापत्तिः । अपसिद्धान्तदोषात् । एवमलंकारान्तराणामपि शब्दगतत्वसंभवात्तत्रा-
प्यतिप्रसन्नो ज्ञेयः । विशिष्टस्येति । उक्तविषयव्यावृत्तस्येत्यर्थः । अलंकाराणा-
मिति । शब्दार्थालंकाराणामित्यर्थः । इति संकरप्रकरणम् ॥ ६१ ॥ चक्रीति ।

१. ‘चेत् उच्यते’ ख. २. ‘चक्रीति । सोऽहिमरुचेः सूर्यस्य स्यन्दनो रथो बोऽवताद्-
क्षतु । स कः । जगतामुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य चक्रारपङ्क्तिं चक्रगतानामराणां कीलानां
पङ्क्तिं चक्री विष्णुरन्वहं प्रतिदिनं प्रीत्या प्रसन्नः सन्स्तौति । एवमग्रेऽपि कर्तृकर्मभावेना-
न्वयो बोध्यः. ३. हरिरिन्द्रः । हरीन्श्वान् । धूर्ध्वमुखं तद्रतान्ध्वजाग्रान् । ‘धूः स्त्री क्रीवे
यानमुखम्’ इत्यमरः । अक्षं चक्रम् । नक्षत्रनाथश्चन्द्रः । अरुणं सारथिम् । कूबरान्नं युगं-
भरान्नम् । रंहो वेगं सुराणां सङ्ग इत्यन्वयः । अत्र चक्रयादीनां कर्तृकर्मणां नियततया निब-
द्धस्य स्तव्यस्तावकभावस्येतिहासादिषु प्रसिद्धभावोऽनुप्रासदोषः’ इत्यादाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः-

अत्र चक्रिप्रभृतीनां कर्तृणां चकारपङ्क्यादीनां प्रति नियमेन स्तुतिरनुप्रासानु-
 नुरोधेनैव निबद्धा न पुनरितिहासादिषु तथा प्रसिद्धेति प्रसिध्यभावः । सोऽयं
 प्रसिद्धिविरोध एव । वैफल्यं यथा—

‘भेग तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
 यदि सल्लीलोह्लापिनि गच्छसि तर्हि त्वदीयं मे ॥’

यथा वा ।

‘अनणु रणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
 परिसरणमरणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥’

अत्र वाच्यस्यार्थस्य विविच्यमानं न किञ्चिच्चारुत्वं प्रतीयत इत्यपुष्टार्थत्वमेवा-
 नुप्रासस्य वैफल्यमुच्यते । वृत्तिविरोधो यथा—‘अकुण्डोत्कण्ठया—’ इत्यादि ।
 अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाढम्बरो गुणविवेचनप्रस्तावोक्तरीत्या विरुद्ध इति प्रतिकूल-
 वर्णतैव वृत्तिविरोध इत्युच्यते ।

यमकस्य तु पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वमेव । कविभिस्तथाप्रयोगात् ।
 यथा—

अत्र स्तोत्रस्तुत्युपन्यासे न किञ्चिदनौचित्यम् । अन्यत्र कवेरनुप्रासकुतूहलभङ्गादि-
 त्याह—अत्रेति । चक्री कर्ता चकारपङ्क्तिमेव कर्मभूतां स्तौति नान्यत्र इत्येवंरूपेण
 स्तुतिरनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणाद्यनुरोधान्नाप्यर्थौचित्यादतः प्रसिद्धिविरोधो
 दोष इत्यर्थः । द्वितीयमुदाहरति—भणेति । अत्र यदनुप्रासस्य वैफल्यं तदर्थस्या-
 परिपोषे तिष्ठति । तादृगनुप्रासप्रसाधितवाचकनिवेशेऽपि वाच्यस्य तद्वारा वाक्यार्थो-
 भूतपरस्य वाच्यत्वासिद्धिरित्याह—अत्र वाच्यस्येति । तृतीयमुदाहरति—अकु-
 ण्ठेति । अत्रोपनागरिकां विमुच्य परुषाया अङ्गीकाराद्यो वृत्तिविरोधः स वर्णप्राति-
 कूल्यान्नातिरिच्यत इत्याह—शृङ्गारे इति । यमकविषयं दोषं दोषप्रयुक्तत्वेऽन्तर्भाव-

१. ‘भणेति पद्यद्वयात्मकं युग्मम् । हे तरुणि, यदि रमणस्य मन्दिरं गच्छसि तत्तदा
 त्वदीयं परिसरणं गमनं मे ममाकारणं निमित्तं विना रणरणकमुत्कण्ठां किं कुतः कुरुते
 तद्वरणं वदेत्यन्वयः । रमणमन्दिरं रतिमन्दिरमिति वार्थः । आनन्दस्यन्दी सुन्दरो य इन्दुः
 स एव मुखं यस्यास्तथाभूते । सतीर्लीला उल्लासयितुं शीलं यस्याः । ‘उल्लापिनि’ इति
 पाठः सतीर्लीलाभिरुहयितुं शीलं यस्या इत्यर्थः । अरुणौ रक्तौ चरणौ यस्यास्तथाभूते ।
 कीदृक्परिसरणम् । अनणु अनल्पम् । रणन्ती मेखला यत्र तत् । अविरतं शिञ्जानं शब्दा-
 यमनं मञ्जु सुन्दरं मञ्जीरं नूपुरं यत्र तादृशम् । अत्रार्थस्याचमत्कृतत्वाद्वैफल्यमनुप्रासदोषः ।
 शृङ्गारवर्णनचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘अकुण्ठेति । सप्तमे व्याख्यातम् । अत्र माधुर्यव्यञ्जकवृत्ति-
 विरोधोऽनुप्रासदोषः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

‘भुजंगमस्येव मणिः सदम्भा आहावकीर्णेव नदी सदम्भाः ।

दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रमुखे सदम्भाः ॥’

उपमायां तु यौ न्यूनाधिकोपमानत्वे दोषौ तत्रोपमाने उपमेयापेक्षया जातिगतं प्रमाणगतं वा यन्न्यूनत्वमधिकता वा तदनुचितार्थम् । धर्मगते न्यूनत्वादधिकत्वे यथाक्रमं न्यूनपदत्वाधिकपदत्वे । तत्र जातिगतं न्यूनत्वं यथा—‘चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्’ । अत्र चण्डालत्वजातेन्यूनतया दुष्कर्मकारित्वव्यक्तेरनुचितार्थत्वम् ।

प्रमाणगतं यथा—‘वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति’ इति । जातिगतमधिकत्वं यथा—

‘अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।

युगादौ भगवान्छष्टा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥’

ब्रह्मणः कल्पभेदेन भेदाद्ब्रह्मत्वं जातिः । प्रमाणगतमधिकत्वं यथा—

‘पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।

वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपतिसंनिभः ॥’

एषु चण्डालादिभिरुपमानैरुपमेयभूता अर्था अत्यन्तमेव कदर्थिताः । निन्दोपहासप्रतीतेरित्यनुचितार्थता । धर्मगतं न्यूनत्वं यथा—

‘सं मुनिर्लाञ्छितो मौज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।

व्यराजन्नीलजीमूतभागशिष्ट इवांशुमान् ॥’

अत्रोपमेयमौज्यस्थानीयस्तद्विलक्षणो धर्मो न केनापि पदेन प्रतिपादितः । न चाक्षेपादिनापि स्पष्टं प्रतीयते । अविनाभावाद्यभावादिति न्यूनपदत्वमेवैतत् । धर्मगतमधिकत्वं यथा—

‘संपीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।

शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥’

१. ‘भुजंगमेति । सदम्भा दम्भयुक्ताः खलाः स्वीयां दुरन्ततां परिणामदुष्टतां निश्चितवतोऽपि जन्तोश्चेतः प्रमुखे आपाततः कर्षन्तीत्यन्वयः । ‘प्रसभं’ इति वा पाठः । क इव । सद्विद्यमानमम्भस्तेजोविशेषो यत्र तादृशो भुजंगमस्य मणिरिव । तथा आहैरवकीर्णो व्याप्ता सत्समीचीनमम्भ उदकं यस्यास्तथाभूता नदीवैत्युपमाद्वयम् । अत्र यमकस्य पादत्रयमात्रगतत्वं दोषः । तथा कविमिरप्रयुक्तत्वात् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘न्यूनाधिकत्वे’ ख.
३. ‘अयमिति । पद्ममेवासनं तत्रासीन उपविष्टो युगादौ प्रजा विनिर्मित्सुनिर्मातुमिच्छुर्भगवान्छष्टा ब्रह्मेवेति जाल्या उपमानमधिकम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ४. ‘पातालमिति । कालिन्दीपातो यमुनाप्रवाहः । अत्र परिमाणत उपमानाधिक्यम्’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
५. ‘सं मुनिरिति । मौज्या लाञ्छितश्चिह्नितः कृष्णाजिनरूपं पटं वहन् सं मुनिर्नारदो नीलेन जीमूतभारेण मेघखण्डेनास्त्रिष्टोऽंशुमानिव व्यराजदित्यन्वयः । अत्र मौज्यस्थानीयस्तद्विलक्षणो धर्मो नोक्त इति धर्मेन्यूनता दोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ६. ‘स इति । पीतवर्णवासो बलं यस्य, प्रगृहीतं शार्ङ्गं धनुर्धेनं स श्रीकृष्णो मनोज्ञं सुन्दरं च तज्जीमं वपुराप

अत्रोपमेये शङ्खायनिर्देशादुपमाने तत्तुल्यस्य शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते
इत्यधिकपदत्वमेवैतत् ।

भिन्नलिङ्गत्वभिन्नवचनत्वे अप्युपमादोषौ नोक्तदोषातिरेकिणौ । तथा हि
लिङ्गवचनयोर्भेदे यद्यप्युपमानोपमेययोः साधारणधर्मवाचकं पदमन्यतरवैदित-
लिङ्गं कुर्यात्, तदेकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः कथमुपमानिर्वाहः । अथ
प्रतीयमानं साधर्म्यमाश्रित्येयं स्यात्, तथाप्युपात्तधर्मविशिष्टस्यैवोपमानत्वमुप-
मेयत्वं वा प्रतीयेत । न च तथा प्रस्तुतम् । अतः प्रक्रान्तस्याभावाद्भग्नप्रक्रमत्व-
मेव दोषः । यथा—‘चिन्तारत्नमिव च्युतोऽस्ति करतो धिञ्छान्दभाग्यस्य मे ।’
अत्र च्युत इत्युपमेयमात्रेणान्वीयते । पुंलिङ्गत्वात् । वचनभेदे यथा—‘सक्तवो
भक्षिता देव शुद्धाः कुलवधूरिव’ । अत्र शुद्धा इत्युपमेयमात्रेणान्वीयते । लिङ्ग-
भेदोऽत्र विद्यमानोऽप्यप्रधानम् । उपमानस्य बहुत्वे लिङ्गभेदेऽप्युभयान्वयसंभ-
वात् । यत्र तु लिङ्गवचनयोर्भेदेऽपि सामान्याभिधायिपदमुपात्तरूपभेदं नापद्यते
किं तूपात्तेनैव रूपेणोभयत्रान्वेति तत्र दोषत्वमेव नास्ति । उभयत्राप्यस्यानुगम-
योग्यस्वभावत्वात् । तत्र लिङ्गभेदे यथा—‘गुणैरनघैः प्रथितो रत्नैरिव महा-
र्णवः’ । अत्र लिङ्गभेदेऽपि विशेषणान्वयस्याविशेषादोषत्वाभावः । वचनभेदे
यथा—

‘तद्वेषो ददशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।

दधते स परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥’

यति—यमकस्य त्विति । उदाहरति—यथेति । अथ प्रतीयमानेति । इवा-
दिबोध्यनेत्यर्थः । तथापीति । इवादिबोधेनोपमानिर्वाहेऽपीत्यर्थः । एवमुपात्तधर्म-
विशिष्टत्वमुपमानोपमेययोरन्यतरस्य भवेत्, तथा च प्रक्रमभङ्ग इत्याह—न च
तथेति । अन्यतरस्य सविशेषणत्वं प्रक्रान्तविरुद्धमित्यर्थः । पुंलिङ्गत्वादिति ।
पुंस्त्वान्वितत्वादित्यर्थः । तथा चोपमाने चिन्तारत्ने बाधेनान्वयादिति भावः । न
चेवशब्देनोपमाने साधारणधर्मबोधे बाधकाभाव इति शङ्कनीयम् । उपात्तधर्मस्यैव
तेन बोधनस्य व्युत्पत्तेः । तस्य च पुंस्त्वान्वितस्योपमाने बाधस्योक्तत्वात् । लिङ्गभेद
इति । सक्तशब्दस्य पुंलिङ्गत्वादित्यर्थः । लिङ्गभेदेऽपीति । पुंस्त्वस्यैव स्त्रीत्वस्यापि
प्रतीतौ यथायोगमन्वयसंभव इत्यर्थः । उभयत्रापीति । विशेषाभावेन लिङ्गा-

प्राप । क इव । शतहृदा विधुत् इन्द्रायुधमिन्द्रधनुश्च तद्वान् निशायां शशिना संसृज्य-
मानो मेघ इव । अत्रोपमेये शङ्खस्यानुकेस्तत्स्थानीयस्य चन्द्रस्योपमाने ग्रहणमधिकमिति
धर्माधिक्यदोषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. ‘अतिरिक्तं’ ख. २. ‘उचित’ ख. ३. ‘चिन्तारत्नमित्यादिपञ्चखण्डानि स्पष्टा-
यन्ति । तत्राश्रये क्रमेण लिङ्गवचनभेदो दोषः । अन्ये लिङ्गभेदस्यादोषत्वम् ।’ इत्युदा-
हरणचन्द्रिकासंक्षेपः. ३. ‘पुंलिङ्ग’ ख. ४. ‘रूपभेदरूपं’ ख. ५. ‘स्वरूपेण’ ख. ७. ‘एक-
वचनं’ ख. ८. ‘तद्वेष इति । तस्याः प्रकृतनामिकायां वेषो भूषणान्तरादिधारणपरिपटी

अत्र वचनभेदेऽपि मधुरताभूत इत्यस्योभयान्वयाविशेषाच्च दोषत्वम् । एवं कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि भग्नप्रक्रम एव दोषः । तथाप्रतीतेरस्खलितरूपतया विश्रान्त्यभावात् । तत्र कालभेदे यथा—

‘अतिथिं नाम काकुत्स्थापुत्रमाप कुमुद्वती ।

पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥’

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोतीति प्रकृतं न तु तमापेति कालभेदे प्रक्रमभेद एव । पुरुषभेदे यथा—

‘प्रैत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।

विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवाळविटपप्रभवा लतेव ॥’

अत्र लता विभ्राजत इति प्रस्तुतं न तु सा विभ्राजस इति तस्मात्पुरुषभेदः । संबोध्यनिष्ठस्य भ्राजनस्यासंबोध्यविषयतया अप्रतीतेः ।

विधिभेदो यथा—‘गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्तिः’ इत्यादावप्रवृत्तप्रवर्तनात्मनो विधेर्भेदः । यतो गङ्गा प्रवहतीति विवक्षितं न तु सा प्रवहत्विति । एवं विधस्यान्यस्वार्थस्योपमानगतस्यासंभवाद्विध्यादिभेदो द्रष्टव्यः । ननूदाहृतेषु कथं दृष्टता । भिन्नकालसंभिन्नाद्धर्मादतिरिक्तमुपात्तं प्रतीतं वा कंचित्साधारणं धर्ममुपादायोपमापर्यवसाने पश्चाद्विभ्राजालादिसंभिन्नधर्मान्वयात् । तथा हि विभ्राजस इत्यत्र विविक्तमूर्तत्वादिना लतानायिकयोरुपमापर्यवसाने पश्चाद्विभ्राजस इत्यस्य नायिकामात्रान्वयेऽपि को दोषः । अथ यत्रोपात्तेनैव धर्मेणोपमानिर्वाहः

विवक्षणादिति । वचनभेदेऽपीति । प्रथमैकवचनतद्बहुवचनयोरदन्तहलन्तत्वाभ्यां भेदेऽपीत्यर्थः । अतिथिं नामेति । अत्र यथा चेतना प्रसादं प्राप्नोति तथा सा पुत्रमापेति कालभेददोषः । विध्यादीत्यादिपदार्थमाह—एवंविधस्येति ।

तदीया विभ्रमा विलासा इव परां शोभां दधते सः । कीदृशः । अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः । विभ्रमपक्षे सदृक्शब्दस्य बहुवचनम् । मधुरताभूतः पूर्णः । पक्षे मधुरतां विभ्रतीति तथाभूताः । दधत इत्यप्येकवचनबहुवचनसाधारणमतो नात्र वचनभेदो दोषः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

१. ‘अतिथिमिति । काकुत्स्थाद्राक्षः कुमुद्वती तत्पत्नी अतिथिं नाम पुत्रमाप प्राप्तवती । का कस्मात्कमिव । पश्चिमाचरमाथामिन्या निशाया यामाचेतना चैतन्यं प्रसादमुद्रोधमिवेत्यर्थः । अत्र यथाचेतना प्रसादं प्राप्नोति तथा सा पुत्रमापेति कालभेददोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

२. ‘प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रमचिरकृतं मज्जनं खानमासेचनं च तेन विशेषतो विविक्ता शुद्धा मूर्तिः शरीरं यस्याः सा । कौसुम्भेन रागेण रुचिरः स्फुरन्नंशुकस्यान्तः प्रान्तो यस्यास्तादृशी । पक्षे कुसुम्भमेव कौसुम्भं पुष्पम् । स्वार्थेऽप्यप्रत्ययः । तद्द्रागो लौहित्यं तेन रुचिरा चासौ स्फुरन्तिरंशुभिः पुष्पधूलिभिः कान्ता रमणीया । मकरकेतनं काममर्चयन्ती त्वं बालाः प्रवालाः पल्लवा यस्य तादृशो विटपः शाखा प्रभव उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा लतेव विभ्राजसे शोभसे इत्यन्वयः । अत्र लता विभ्राजते त्वं विभ्राजसे इति प्रथममध्यमरूपपुरुषभेदः । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

स च भेदः कालभेदासंभिन्न एव तत्र का गतिः । यथा—‘युधिष्ठिर इवायं सत्यवादी’ इति । युधिष्ठिरो हि सत्यमवादीत्, न तु वदतीति चेत्, उच्यते । तत्रापि सत्यवादीति प्रतीतधर्मेणैवोपमित्यव्याघातः । न च तथा सति सत्यवाद्यं सत्यं वदतीति पर्याप्तौ सत्यं वदतीति पुनरुक्तमिति वाच्यम् । ‘रैपोषं पुष्पाति’ इत्याद्यनुप्रयोगवददोषत्वात् । रैपोषमित्यत्रार्थव्ययेन पोषणस्येवात्राप्याजानिकसत्यवादित्वस्य प्रतीतेरिति । सत्यमात्थ । किं तु स्थितेष्वनुप्रयोगेषु क्वचित् तथा पुनरुक्तिमात्रसमर्थनं न तु सर्वथैव तन्निरवद्यम् । प्रस्तुतस्य रसादेः प्रतीतिस्खलनात् । न च तदसिद्धम् । सहृदयसंवेद्यत्वात् । किं च उपात्तमनादृत्य प्रतीतेनोपमा इति तुच्छम् । उपात्तक्रियैव तद्विवक्षणात् । असादृश्यासंभवावप्युपमादूषणे अनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः । यथा ‘ग्रंशामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्’ । अत्र काव्यस्य शशिनाथानां च रश्मिभिः साधर्म्यं न कापि प्रसिद्धमिति तत्रोपमानिबन्धनमनुचितार्थमिति ।

‘निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।

जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥’

अत्रापि ज्वलदम्बुधारायाः सूर्यमण्डलाग्निपतनमसंभवीति तन्निरन्धनमनौचित्यं पुष्पाति ।

उत्प्रेक्षायामपि ध्रुवेवादय एव शब्दा व्यक्तमुत्सहन्ते, न तु यथाशब्दोऽपि । केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं समर्थत्वात् । अत उत्प्रेक्षायां यथाशब्दोपादानेऽवाचकत्वमेव । यथा—

अन्यस्य प्रार्थनाद्यर्थस्येत्यर्थः । ‘इन्द्रस्येव श्रियो वृद्धिस्तव संप्रार्थ्यते जनैः’ इत्यादौ प्रार्थ्यमानताविशिष्टा श्रीवृद्धिर्नोपमानमिति द्रष्टव्यम् । केचित्तु विधीयमानधर्माधर्मान्तरमेवोपमाने गङ्गायां स्यादत आह—एवंजातीयकस्येति । तथा च तदसंभव इति व्याचख्युः । उपात्तधर्मस्यैवेवादिना बोधनं प्रक्रमभङ्गं चानादृत्य शङ्कते—नन्विति । रैपोषमित्यनुप्रयोगेऽपि कथं पुनरुक्तताया अदोषत्वं तत्राह—अर्थव्ययेनेति । पोषणसामान्ये धनव्ययकृतपोषणाभेदबोधार्थतया नानुप्रयोगे पौनरुक्त्यदोषः । एवं सत्यवदसामान्यस्य स्वाभाविकयुधिष्ठिरसंबन्धिसत्यवदनरूपताबोधरूपप्रयोजनसत्त्वाच्च पुनरुक्तदोष इत्यर्थः । असंभवमुदाहरति—निपेतुरिति । दृशो वारिधारा उपमानतया नोपपद्यन्त इत्यनुचितार्थत्वदोष इत्याह—अत्रापीति । उत्प्रेक्षादोषमप्यवाचकत्वेऽन्तर्भावयति—उत्प्रेक्षायामपीति । केवलस्येति । प्रायःपदाद्यसमभिव्याहृतस्येत्यर्थः । उत्प्रेक्षादोषमुदाहरति—यथेति । ‘नारीलोचनचानुर्यशङ्कासंकु-

१. ‘व्यत्ययेन’ ख. २. ‘ग्रंशामि’ क ख ग. ३. ‘निपेतुरिति । धनुर्मण्डलमध्यगतस्य तस्य आस्यादिव दीप्ताः शरा निपेतुः । दिनार्धभाजः परिवेषशालिनोऽर्कात्सूर्याज्ज्वल्यमाना इव वारिधारा इत्युपमानाप्रसिद्धिदोषः ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंज्ञेः.

‘उद्ययौ दीर्घिकागर्भान्सुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्यशङ्कासंकुचितं यथा ॥’

निर्विषयत्वमप्युत्प्रेक्षादूषणमनुचितार्थमेव । यत्तात्त्विकरूपाभावाद्भिरूपाख्य-
प्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तद्रूपं हि तत् । यथा—

‘दिवौकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुब्धेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥’

अत्र तमसस्त्रास एवासंभवी । तमसोऽचेतनत्वात् । तत्कथं तत्प्रयुक्तमद्विणा
तत्परित्राणम् । उप्रेक्षितत्रासवत्तया प्रतीतस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति
व्यर्थ एव तत्समर्थनाय यत्नः । यत्तु समासोक्तौ साधारणविशेषणबलादेवोपमा-
नप्रतीतौ प्रयोजनाभावेन तदुपादानवैयर्थ्यं तदपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तता वा दोषः ।
यथा—

‘स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥’

अत्र सदृशविशेषणबलेन लिङ्गविशेषपरिग्रहाच्च तिग्मरुचेर्नायकतया ककुभां
तु नायिकात्वेन व्यक्तिः । तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि तत् एव प्रतिनायिकात्वेन
भविष्यतीति दयितयेत्यपुष्टार्थम् । अर्थतः प्रतीतस्योपादाने यदि पुनरुक्ति-
स्तदार्थपुनरुक्तत्वं दोषः । नन्वस्यापुष्टत्वे श्लेषोपमा निर्विषया स्यादिति चेत्,
‘स हि तस्या विषयो यत्रोपमानोपादानं विना श्लिष्टेष्वपि विशेषणेषु न स्फुटा
प्रतिपत्तिः । यथा—

‘चितं ध्रुवम्’ इति युक्तः पाठः । निरुपाख्येति । असदित्यर्थः । स्पृशति तिग्मरु-
चाविति । अत्र समासोक्तौ श्लिष्टविशेषणबलालिङ्गबलेन च तिग्मरुचेर्नायकतया
ककुभां च नायिकात्वेनाभिव्यक्तिवदिनश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेनाभिव्यक्तिसंभा-
वानादयितयेत्यपुष्टार्थम् । श्लेषोपमेति । श्लेषमूलिकोपमेत्यर्थः । स्वयं चेति ।

१. ‘उद्ययाविति । दीर्घिका वापी तन्मध्यान्सुकुलरूपं मेचकोत्पलं नीलोत्पलमुद्गतम् ।
नारीलोचनचातुर्यस्य शङ्का भयं तेन संकुचितमिवेत्युत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्यावाचकत्वदोषः ।’
इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘दिवौकरादिति । यो गिरिर्दिवा दिवसे दिवाकरात्सूर्याङ्गीतमत
एव गुहासु लीनमन्धकारं रक्षति । अर्थान्तरं न्यस्यति—नूनं निश्चितं क्षुब्धेऽपि शरणं
प्राप्ते उच्चैःशिरसां महतामतीव ममत्वम् । भवतीति शेषः । अत्रोत्प्रेक्षाविषयस्य तमसो
भयस्यालीकतया तन्मूलस्यार्थान्तरन्यासस्य निर्विषयत्वं दोषः’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.
३. ‘त्राण’ ख. ४. ‘कदाचित्’ ख. ५. ‘समर्थनायां’ ख. ६. ‘स्पृशतीति ।’ तिग्मरुचौ
‘सूर्ये ककुभो दिशः करैः स्पृशति सति विजृम्भिततापया विवृद्धतापया दयितयेव दिनश्रिया
ग्रीष्मदिनशोभया अतनुर्दार्ढ्यं मानपरिग्रहो यस्यास्तथाभूतया स्थितमित्यन्वयः । किंभू-
तया । चिरयापि चिरकालीनयापि रुचिरया मनोरमया । करा रश्मयो हस्ताश्च । तापं
उष्णता खेदश्च । मानोऽभिमानः, मानं परिमाणं च । अत्र समासोक्तौ श्लिष्टविशेषणबला-

‘स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वरविराजिनी ।
प्रभातसंध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥’

अत्र प्रभातसंध्याया अनुपादानेन स्फुटा प्रतीतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसायामप्युपमेयस्योपादानवैयर्थ्यं यत्तदपुष्टार्थत्वमेव दोषः । तत्राप्युपमेयमनयैव रीत्यावगन्तव्यं न पुनः शब्दप्रयोगेण दुष्टतां नेयम् । यथा—

‘आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायानपुरो वार्यते
मध्ये वारिषि वावसंस्तुणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिवसामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥’

अत्राचेतसः प्रभोरुपमेयस्याप्रस्तुतनिष्ठसामान्यद्वारेण संभवादयुक्तमेव शब्देन कथनमित्यपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तता वेति ।

तदेतेऽलंकारदोषा यथासंभवमन्येऽप्येवंजातीयकाः प्रोक्तजाल्यन्तर्भाविता इति पृथग् प्रतिपादानमर्हन्तीति कल्याणमास्ताम् ।

संपूर्णं काव्यलक्षणम् ।

अत्र तु प्रभातसंध्याया अनुक्तौ न स्फुटा प्रतीतिरित्यदोषः । अनयैवेति । छिष्ट-
साधारणादिविशेषणसामर्थ्येनेत्यर्थः । आहूतेषु विहंगमेष्विति । अत्र तादृशं
सामान्यं धिगित्येतावतैवाविवेकिप्रभोरवगतिसंभवात्पुनस्तदुक्तिर्युक्त्यपुष्टार्थत्वमप्र-
स्तुतप्रशंसायां दोषः । उपसंहरति—तदेत इति । प्रोक्तजाल्यन्तर्भाविता उक्तदो-
षसामान्यधर्मातिक्रान्ताः । एवं च पृथक्प्रतिपादने पुनरुक्ततादोषात्तदभावो गुण-
एवेति तात्पर्यम् ॥

‘अत्राचेतसः प्रभोरुपमेयस्याप्रस्तुतनिष्ठसामान्यद्वारेण संभवादयुक्तमेव शब्देन कथनमित्यपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तता वेति । तदेतेऽलंकारदोषा यथासंभवमन्येऽप्येवंजातीयकाः प्रोक्तजाल्यन्तर्भाविता इति पृथग् प्रतिपादानमर्हन्तीति कल्याणमास्ताम् ।’ इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

२. स्वयं वेति । नवमे व्याख्यातम् । अत्र तु प्रभातसंध्याया अनुक्तौ न स्फुटा प्रती-
तिरित्यदोषः । ‘इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः. २. ‘आहूतेष्विति । विहायसा गच्छन्तीति विहंगमाः
पक्षिणः । तेष्वहूतेषु पुरोऽग्रे आवागच्छन् मशको न वार्यते । तस्यापि विहंगमत्वात् ।
मध्येवारिषि वारिवैयर्थ्ये । वावसंस्तुति मशको रूपम् । निवसन्नित्यर्थः । तादृशस्तुणमणि-
धत्ता मणीनां रुचं भवेत् । दृष्टाकर्षको मणिविशेषस्तुणमणिरिति केचित् । अत्रमणिरित्यन्ये ।
खद्योतोऽपि तेजस्विनामपि मध्ये प्रचलितुं गन्तुं न कम्पते न विभेति । अतोऽचेतनं
विभेदकत्वेन अत एवानामृष्टमनास्थेभित् तत्त्वान्तरं स्वरूपतारतम्यं ज्ञेयं इव । सामान्यं सामान्यं
विहंगमादिरूपं धिक् । कमिव । तादृशं प्रभुमिवेति । अत्र तादृशं सामान्यं धिगित्येतावतै-
वाविवेकिनः प्रभोरवगतिसंभवात् पुनस्तदुक्तिर्युक्त्यपुष्टार्थत्वमप्रस्तुतप्रशंसायां दोषः । एवम-
न्येऽप्येवंविधा यथासंभवमलंकारदोषा उत्तरीया पूर्वोक्तदोषेभ्यश्चान्नर्भवन्तीति । पूर्णमिदमुदाह-
रणमिति । इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः.

ज्येष्ठे सर्वगुणैः कनीयसि वयोमात्रेण पात्रे धियां
 गात्रेण स्मरगर्वस्वर्षणपरे निष्ठा प्रतिष्ठाश्रये ।
 श्रीहर्षे त्रिदिवं गते मयि मनोहीने च कः शोधये-
 दन्नाशुद्धमहो महत्सु विधिना भारोऽयमारोपितः ॥

परिशीलयन्तु सन्तो मनसा संतोषशीलेन ।
 ईममद्भुतं प्रदीपं प्रकाशमपि यः प्रकाशयति ॥
 दीपिकाद्वितयं कन्ये प्रदीपद्वितयं सुतौ ।
 स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य गोविन्दः शर्म विन्दति ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दविरचिते काव्यप्रदीपेऽर्थालंकारनिर्णयो नाम
 दशम उल्लासः ।

काव्यप्रकाशगम्भीरभावबोधो न चान्यतः ।
 इति प्रदीपगम्भीरभावार्थबोधोतनं कृतम् ॥
 अनेन प्रीयतां देवो नृसिंहो रमया युतः ।
 कुलदैवतमस्माकं सर्वभूतात्मना स्थितः ॥

इति श्रीमत्पद्माक्षप्रमाणाभिज्ञतत्सदुपाख्यश्रीविठ्ठलसूरिसूनु रामभट्टात्मजवैद्य-
 नाथरचितायां प्रदीपव्याख्यायां प्रभाख्यायां दशम उल्लासः ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

Figure 1. Schematic representation of the experimental design. The subjects were divided into two groups: the control group and the experimental group. The control group was divided into two subgroups: the control group and the control group. The experimental group was divided into two subgroups: the experimental group and the experimental group.

1. 2. 3.

...and the

[illegible]

Figure 1. The effect of the concentration of the *Ag* ions on the *Ag* ion adsorption capacity of the *Ag*-*Ag* complexed chitosan. The concentration of the *Ag* ions was 0.01, 0.05, 0.1, 0.5, 1, 5, 10, 50, 100, 500, and 1000 mg/L. The concentration of the *Ag*-*Ag* complexed chitosan was 0.1 g/L. The pH was 5.0. The temperature was 25 °C. The adsorption time was 24 h.

काव्यप्रदीपस्योदाहरणानुक्रमणी ।

| | | | |
|-----------------------------|-----|-----------------------------|---------|
| अइपिहुलं जलकुम्भं ... | ४९ | अन्यास्ता गुणरत्न ... | २१० |
| अकलिततपस्तेजोवार्य ... | २३० | अपसारय घनसारं ... | २७५ |
| अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्ण ... | २०४ | अपाङ्गतरले दशौ ... | ३८० |
| अखण्डमण्डलः श्रीमान् ... | ३४८ | अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं ... | १९३ |
| अण्णं लडहत्तणअं अण्णा ... | ३४२ | अपूर्वमधुरामोद ... | २५० |
| अतन्द्रचन्द्राभरणा ... | १०९ | अप्राकृतस्य चरितानि ... | १२१ |
| अतिथिं नाम काकुत्स्थात् ... | ३९९ | अब्धेरणः स्थणितभुवना ... | ३४० |
| अतिपेलवमतिपरिमित ... | २०२ | अभिनवनलिनीकिसलय ... | ३५३ |
| अतिविततगगनसरणि ... | २३२ | अमितः समितः प्राप्तैः ... | ९९ |
| अत्ता एत्थ णिमज्झ ... | ५५ | असुं कनकवर्णाभं ... | १२१ |
| अत्यायतैर्विनयकारिभि ... | ३११ | अमुष्मिँल्लावण्यामृतसर ... | ३३३ |
| अत्युच्चाः परितः स्फुर ... | १३६ | अमृतममृतं कः संदेहो ... | २०९ |
| अत्रासीत्फणिपाश ... | १३४ | अयं पद्मासनासीनः ... | ३९७ |
| अत्रिलोचनसंभूत ... | १८१ | अयं मार्तण्डः किं स खलु ... | ३२५ |
| अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठ ... | १४३ | अयं वारामेको निलय ... | ३५६ |
| अद्यापि स्तनशैल ... | २२३ | अयं स रशनोत्कर्षा | १३५।२७१ |
| अधिकरतलतल्पं ... | २१२ | अयं सर्वाणि शास्त्राणि ... | २९६ |
| अनङ्गमङ्गलगृहा ... | १७१ | अयमेकपदे तया नियोगः ... | ३६५ |
| अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं ... | २८४ | अरातिविकमालोक ... | ३१७ |
| अनन्तमहिम्नव्याप्ति ... | २९३ | अरिवधदेहशरीरः ... | ३०६ |
| अननुरणन्मणिमेखल ... | ३९६ | अरुचिर्निशया विना शशी ... | ३५८ |
| अनन्यसदृशं बाह्योः ... | २४० | अरे रामाहस्ताभरण ... | २४८ |
| अनयेनेव राज्यश्रीः ... | ३१९ | अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि ... | २४४ |
| अनवरतकनकवितरण ... | ३१९ | अलंकारः शङ्काकरनर ... | २९५ |
| अनुकूलौ निषेवेते ... | ७५ | अलं स्थित्वा श्मशाने ... | १२१ |
| अनुरागवती संध्या ... | ३०२ | अलमतिचपलत्वा ... | २०० |
| अन्त्रप्रोतबृहत् ... | २५३ | अलससिरोमणिधुत्ता ... | १०२ |
| अन्यत्र यूयं कुसुमाव ... | ५३ | अलौकिकमहालोक ... | ३३१ |
| अन्यत्र व्रजतीति का ... | ८० | अवेन्ध्यकोपस्य विहन्तु ... | १७५ |

१. वीरचरिते. २. रघुवंशे. ३. बालरामायणे. ४. देवीशतके (आनन्दवर्धनाचार्यप्रणीते). ५. रुद्रालंकारे. ६. वीरचरिते. ७. कुट्टनीमते. ८. वीरचरिते. ९. भारते शान्तिपर्वणि. १०. भल्लटशतके. ११. महाभारते द्रोणपर्वणि. १२. वीरचरिते. १३. भारते शान्तिपर्वणि. १४. विष्णुचरिते प्राप्यते. १५. किरातार्जुनीये.

| | | | |
|------------------------------|-----|--|-----|
| अवाप्तः प्रागल्भ्यं परि ... | ३३२ | आनन्दसिन्धुरति ... | १८३ |
| अवितथमनोरथपथ ... | ३१२ | आलानं जयकुञ्जरस्य ... | ३३० |
| अविरलकमलविलासः ... | ३७२ | आलिङ्गितस्तत्रभवान् ... | १७९ |
| अविरलकरवालकम्पनैः ... | १३७ | आलोक्य कोमलकपोल ... | २६३ |
| अष्टाङ्गयोगपरिशीलन ... | २४० | आसीदञ्जनमन्त्रेति ... | ३६० |
| असिमात्रसहायस्य ... | ३४७ | आहूतापि पदं ददाति ... | २७० |
| असिमात्रसहायोऽयं ... | ३४७ | आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको | ४०२ |
| असितभुजगमीषणासि ... | ३१५ | ईर्तः स दैत्यः प्राप्तश्रीः ... | ४६ |
| असोढा तत्कालोलस ... | १३७ | इदमनुचितमक्रमश्च ... | २१२ |
| असौ मरुच्चुम्बितचारु ... | १९६ | इदं ते केनोक्तं कथय ... | २३८ |
| अस्त्रज्वालावलीढप्रति ... | २३६ | इन्दुः किं क कलङ्कः ... | ३२६ |
| अस्याः कर्णवतंसेन ... | २४९ | इयं सुनयना दासीकृत ... | ३४७ |
| अस्याः सर्गविधौ प्रजापति ... | ३२६ | उ ^३ अ णिच्चलणिष्फन्दा ... | १९ |
| अहमेव गुरुः सुदारुणानां ... | ३८४ | उ ^३ कम्पिनीभयपरि ... | १९४ |
| अहो केनेदृशी बुद्धिः ... | २८७ | उ ^३ क्त्योक्तस्य कृत्ति ... | ८३ |
| अहो विशालं भूपाल ... | ३७८ | उत्तानोच्छ्रनमण्डक ... | २५६ |
| अहो हि मे बह्वपराद्ध ... | ३५३ | उ ^३ क्तुल्लकमलकेसर ... | १७५ |
| अहौ वा हारे वा कुसुम ... | ९० | उ ^३ त्सिक्तस्य तपःपराक्रम ... | ९५ |
| आकृष्टकरवालोऽसौ ... | ३१३ | उ ^३ दयति विततोर्ध्वरदिम ... | ३३६ |
| आकुस्य पाणिमशुचि ... | ८० | उदयमयते दिङ्मालिन्यं ... | ३३४ |
| आगत्य संप्रति वियोग ... | १४० | उदेति सविता ताम्रः ... | २२७ |
| आज्ञा शकषिखामणि ... | २४५ | उद्देशोऽयं सरसकदली ... | ५२ |
| आत्मारामा विहित ... | २५७ | उद्यतस्य परं हन्तुं ... | २४९ |
| आत्ते सीमन्तरत्ने ... | ३९० | उद्ययौ दीर्घिकागर्भात् ... | ४०१ |
| आदाय चापमचलं ... | ३०२ | उद्यतं पदमवाप्य यो ... | ३३६ |
| आदाय वारि परितः ... | ३३९ | उज्जिद्रकोकनदरेण ... | १३४ |
| आदावञ्जनपुञ्जलिप्त ... | २०१ | उन्मेषं यो मम न सहते ... | ३२३ |
| आदित्योऽयं स्थितो ... | १२१ | उपकृतं बहु नाम किमुच्यते ... | ५८ |
| आधूतसखेदकरोत्पलाया ... | ५९ | उपपरिसरं गोदावर्याः ... | २३९ |
| आनन्दममन्दमिमं ... | ३७८ | उर्व्यसावत्र तर्वाली ... | २०८ |

१. रुद्रटालंकारः. २. वेणीसंहारनाटके. ३. विक्रमोर्वश्याम्. ४. श्रीमदुत्पलराज-
देवस्येलौचित्यविचारचर्चयाम्; भर्तृहरेर्वैराग्यशतकेऽपि लभ्यते. ५. बालरामायणे.
६. वेणीसंहारे. ७. महाभारते शान्तिपर्वणि. ८. रुद्रटालंकारः. ९. प्रवीपकर्तुरेव.
१०. भर्तृशतके. ११. कुमारसंभवे. १२. गाथासप्तशत्याम्. १३. रत्नावल्याम्.
१४. मालतीमाधवे. १५. नागानन्दे. १६. महावीरचरिते. १७. शिशुपालवधे.

| | | | |
|------------------------------|-----|------------------------------|-------|
| उल्लास्य कालकरवाल ... | ९८ | कस्त्वं भोः कथयामि ... | ३४० |
| ए एहि किंवि कीएवि ... | ३४९ | कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्य ... | २०३ |
| ए एहि दाव सुन्दरि ... | ३८३ | कस्स व ण होइ रोसो ... | १६० |
| एकस्त्रिधा वससि चेतसि ... | ३५२ | कौचित्कीर्णा रजोभिः ... | २२९ |
| एकस्मिन्शयने विपक्षरमणी ... | ९५ | कौतर्य केवला नीतिः ... | १९४ |
| एको राशिर्द्विधा स्थाप्य ... | १३० | काराविऊण खउरं ... | २३६ |
| एतत्तस्य मुखात्क्रियत् ... | ३३८ | का विसमा देव्वगई ... | ३७३ |
| एतन्मन्दविपकतिन्दुक ... | १७२ | किं भूषणं सुदृढमत्र ... | ३७१ |
| एद्वहेत्यणिआ ... | ४६ | किं मूढे परिखिद्यसे ... | ७९ |
| एषोऽहमद्रितनया ... | १२१ | किं लोमेन विलङ्घितः ... | १९९ |
| एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ ... | २७२ | किमासेव्यं पुंसां सविध ... | ३७१ |
| ओष्णिहं दोब्बल्लं ... | ४९ | किमिति न पश्यसि ... | २२४ |
| ओल्लोळयरअरअण ... | १०८ | किमुच्यतेऽस्य भूपाल ... | २०३ |
| औत्सुक्येन कृतत्वर ... | २६७ | किर्येदम्बु भवेद्वसुंधरा ... | ७९ |
| कः कः कुत्र न धुर्धुरा ... | २१३ | किवणाणं धणं णाआणं ... | ३४४ |
| कण्ठकोणविनिविष्टमीश ... | ९१ | किसेल्लयकरैल्लतानां ... | ३३१ |
| कथमवनिप दपों यञ्जि ... | १६० | कीटानुविद्धरत्नादि ... | ११ |
| कैपाले मार्जारः पय ... | ३८२ | कुमुदकमलनीलनीर ... | ३४६ |
| कमलमनम्भसि कमले ... | ३४१ | कुरञ्जीवाज्ञानि स्तिमित ... | ३२८ |
| कमलेव मतिर्मतिरिव ... | ३२३ | कुलममलिनं भद्रा ... | ३६४ |
| करजुअगहिअजसोआ ... | ३८२ | कुविन्दस्त्वं तावत्पट ... | १८८ |
| करवाल इवाचारः ... | ३१४ | कुसुमितलताभिरहता ... | ३५० |
| करवालकरालदोः ... | १९७ | कृतं च गर्वाभिमुखं ... | १२८ |
| करिहस्तेन संबाधे ... | २५६ | कृतमनुमतं दृष्टं वा ... | ८१२३६ |
| कर्पूर इव दग्धोऽपि ... | ३५१ | कृपाणपाणिश्च ... | ३६६ |
| कर्पूरधूलिधवल ... | २६४ | कृष्णो वैरिविमर्दने हरि ... | २८८ |
| कैलशे परममहत्त्वं ... | ३४२ | केसेसु बलामोडिअ ... | १०५ |
| कल्लवं च तवाहितेष्व ... | ३६६ | कैलासस्य प्रथमशिखरे ... | १०५ |
| कैलोलवेल्लितदृष्टपुरुष ... | २४४ | कैलासालयभाललोचन ... | १३५ |
| कैवीनां संतापो भ्रमण ... | ३०२ | | |

१. अमरशतके. २. भल्लशतके. ३. रत्नावल्याम्. ४. काश्मीरिकश्रीमदुत्पला-
चार्यप्रणीतपरमेश्वरस्तोत्रावली त्रयोदशे स्तोत्रे. ५. भासकवेः सुभाषितावल्यादिषु.
६. बालरामायणे. ७. प्रदीपकर्तुरेव. ८. भल्लशतके. ९. प्रदीपकर्तुरेव. १०. शिशु-
पालवधे. ११. रघुवंशे. १२. प्रदीपकर्तुरेव. १३. रुद्रालंकारे. १४. प्रदीपकर्तुरेव.
१५. रुद्रालंकारे. १६. वैष्णोसंहारे. १७. प्रदीपकर्तुरेव.

| | | | |
|------------------------------|-----|------------------------------|---------|
| कौटिल्यं कचनिचये... | ३७१ | प्रौमतर्णं तरण्या... | १४ |
| कौटिल्यं नयने निवारण... | ३३९ | १५ श्रीवामज्ञाभिरामं... | ८३ |
| कामन्यः क्षतकोमल... | २७२ | चकासत्यज्ञानारामाः... | ३०६ |
| क्रेह्वारः स्मरकामुकस्य... | २१४ | चकितहरिणलोलोचना... | ३११ |
| क्रोधं प्रभो संहर संहरेति... | २६६ | चैकोरीपाण्डित्यं... | ३८ |
| क्रौञ्चाद्रिरुहामदपट्टो... | ३५५ | चैकी चकारपङ्क्तिं... | ३९५ |
| कै सूर्यप्रभवो वंशः... | ३३५ | चैत्वारो वयमृत्विजः... | २२० |
| कौकार्यं शशलक्ष्मणः क च... | ९६ | चैन्द्रं गता पद्मगुणाञ्च... | २५२ |
| क्षणदासावक्षणदा... | ११५ | चरणत्रपरित्राण... | २५१ |
| क्षिप्तो हस्तावलग्नः... | २७३ | चौपाचार्यस्त्रिपुरविजयी... | २०२।२१९ |
| क्षीणः क्षीणोऽपि शशी... | ३४७ | चित्तं चिहुद्विदं ण दुष्ट... | २७६ |
| क्षुद्राः संत्रासमेते... | ८२ | चित्रं चित्रं बत बत... | ३७७ |
| खलववहारा दीसन्ति... | १११ | चित्रं महानेष बताव... | ८४ |
| गच्छाम्यच्युत दर्शनेन... | १४२ | चिन्तयन्ती जगत्सूतिं... | ११४ |
| गर्वमसंवाह्यमिमं... | ३८४ | चिरकालपरिप्राप्तिं... | १८४ |
| गात्रमम्बु सितमम्बु... | ३८८ | छणपाहुणिआ देअर... | १३१ |
| गाढकान्तदशनक्षत... | १०४ | जं पणिहरं तीरइ... | २०९ |
| गाढालिङ्गणरहसु... | १०६ | जैगति जयिनस्ते ते... | २३५ |
| गाढालिङ्गणवामनीकृत... | २५९ | जह्वाकाण्डोरुनालो... | १७६।२२० |
| गाम्भीर्यगरिमा तस्य... | ३१२ | जटाभामिर्भामिः कर... | ३९० |
| गामारि अम्हि गामे... | १२४ | जैनस्थाने भ्रान्तं... | १३९ |
| गौहन्तां महिषा निपान... | २२९ | जलं जलधरे क्षारं... | १७६ |
| गिरयोऽप्यनुव्रतियुजो... | ३५४ | जस्स रणन्तेउरए... | ३२८ |
| गुणानामेव दौरात्म्यात्... | ३५२ | जस्सेअ वणो तस्सेअ... | ३७५ |
| गुरुअणपरवस पिअ किं... | ५४ | जह गहिरो जह रअं... | ३९२ |
| गुरुपरतन्त्रतया बत... | २८७ | जा ठेरं व हसन्ती... | १०६ |
| गृहिणी सचिवः सखी... | ३८६ | जाने कोपपराङ्मुखी प्रिय... | ९२ |
| गृहीतं येनासीः परि... | २३७ | जितेन्द्रियतया सम्यक्... | ३४८ |
| गोरपि यद्वाहनतां... | १८६ | | |

१. रुद्रालंकारे. २. प्रदीपकर्तुरेव. ३. कुमारसंभवे. ४. रघुवंशे. ५. विक्रमो-
 वंश्याम्. ६. अमरुशतके. ७. रुद्रालंकारे. ८. रुद्रालंकारे. ९. अमरुशतके.
 १०. शाकुन्तले. ११. रघुवंशे. १२. वेणीसंहारे. १३. रुद्रालंकारे. १४. शाकु-
 न्तले. १५. प्रदीपकर्तुरेव. १६. सूर्यशतके. १७. वेणीसंहारे. १८. कुमारसंभवे.
 १९. बालरामायणे. २०. कर्पूरमञ्जर्याम्. २१. विष्णुपुराणे. २२. मालतीमाधवे.
 २३. भट्टवाचस्पतेः; क्षेमेन्द्रस्य कविकण्ठाभरणे.

| | | | |
|---------------------------|------------|--------------------------------------|------------|
| जितेन्द्रियत्वं विनयस्य | २६११३७२ | तस्याधिमात्रोपायस्य | ... १९० |
| जुगोपात्मानमत्रस्तो | ... १८४ | तैद्वभूतरसप्रसाद | ... १४२ |
| जे लङ्कागिरिमेहलासु | ... १०७ | ताणं गुणगगहणं | ... १२५ |
| जोझाएँ महुरसेण | ... १२० | तामनज्ञजयमज्ञल | ... २६३ |
| ज्याबन्धनिःस्पन्द | ... २५० | ताम्बूलभृतगल्लोऽयं | ... १९१ |
| ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला | ... ३२७ | तैला जाअन्ति गुणा | ... ५८१२६१ |
| ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम | ... ३४९ | तिग्मरुचिरप्रतापो | ... ९९ |
| ज्योत्स्नेव नयनानन्दः | ... ३१९ | तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभाव | ... २५९ |
| दुण्डुजन्त मरीहसि | ... ३१६ | तीर्थान्तरेषु स्नानेन | ... १७४ |
| णवपुष्णिमामिअङ्कस्स | ... ११८ | तुह वल्लहस्स गोसम्मि | ... ११६ |
| णिहुअरमणम्मि | ... २६५ | ते दृष्टिमात्रपतिता | ... १६७ |
| णोल्लेह अणोल्लमणा | ... ५२ | तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति | ... १८९ |
| तइथा मह गण्डत्यल | ... ५१ | ते ^{१३} हिमालयमामङ्ग्य | ... २२७ |
| तैतः कुमुदनाथेन | ... ३१५ | १ ^४ त्वं मुग्धाक्षि विनैव | ... ७६ |
| तत उदित उदारहार | ... २०७ | त्वं विनिर्जितमनोभव | ... ३७९ |
| ततोऽरुणपरिस्पन्द | ... २८९ | त्वमेवंसौन्दर्या स च | ... २१६ |
| तंताण सिरिसहोअर | ... ३६७ | त्वमेव देव पाताल | ... ३०० |
| तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि | ... ५०१२५० | त्वयि दृष्ट एव तस्या | ... ३४३ |
| तदप्राप्तिमहादुःख | ... ११४ | त्वामस्मि वच्मि विदुषां | ... ५८ |
| तदिदमरण्यं यस्मिन् | ... ३६३ | त्वामालिख्य प्रणयकुपितां | ... ७९ |
| तद्वच्छ सिद्धौ कुरु देव | ... २०० | दन्तक्षतानि करजैश्च | ... २७१ |
| तद्वेहं नतभित्ति मन्दिर | ... ३६७ | दर्पान्धगन्धगजकुम्भ | ... १०३ |
| तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः | ... ३९८ | दिव्यमप्युपयातानां | ... ३८५ |
| तनुवपुरजघन्योऽसौ | ... ३०७ | दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु | ... ४०१ |
| तपस्त्रिभिर्या सुचिरेण | ... १७४ | दीधीह्वेवीह्समः कश्चित् | ... २५३ |
| तरुणिमनि कलयति | ... १२९ | दुर्वाराः स्मरमार्गणाः | ... ३६३ |
| तरुणिमनि कृतावलोकना | ... ३१७ | दूरादुत्सुकमागते | ... ७२१२६८ |
| तवाहवे साहसकर्मशर्मण | ... ३४४ | दृशा दग्धं मनसिजं | ... ३८८ |
| तस्याः सान्द्रविलेपनस्तन | ... ९४ | देवीर्भावं गमिता परि | ... ३४३ |

१. रघुवंशे. २. कर्पूरमजर्याम्. ३. महाभारते द्रोणपर्वणि. ४. आनन्दवर्धनाचार्यस्य विषमबाणलीलायाम्. ५. वेणीसंहारे. ६. विष्णुपुराणे. ७. रुद्रटालंकारे. ८. कुमारसंभवे. ९. अमरुशतके. १०. प्रदीपकर्तुरेव. ११. आनन्दवर्धनाचार्यस्य विषमबाणलीलायाम्. १२. विक्रमोर्वशीये. १३. कुमारसंभवे. १४. अमरुशतके. १५. मेघदूते. १६. रुद्रटालंकारे. १७. कुमारसंभवे. १८. अमरुशतके. १९. विद्धशालभञ्जिकायाम्. २०. रत्नावल्याम्.

| | | | |
|-------------------------------|-----|-------------------------------|---------|
| वेधैः सोऽयमराति ... | २०५ | निर्वाणदानसंभार ... | ९९ |
| दैवादहमद्य तथा ... | ६४ | निर्वाणवैरदहनाः ... | २५७ |
| द्वोभ्यां तितीर्षति तरङ्ग ... | ३३६ | निर्वातपद्मोदरसोदराभ्यां ... | २५१ |
| द्वयं गतं संप्रति ... | २३० | निशितशरधिया ... | ११७ |
| द्वारोपान्तनिरन्तरे ... | ५४ | न्यकारो ह्ययमेव मे ... | १९२ |
| धन्यस्यानन्यसामान्य ... | ३१३ | पथि पथि शुक्चक्षू ... | १२३ |
| धन्यासि या कथयसि ... | १०२ | पन्थिध ण एत्थ सत्थर ... | १०० |
| धम्मिल्लस्य न कस्य ... | १९२ | पपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य ... | १८३ |
| धबलोऽसि जहवि ... | ३८७ | परापकारनिरतैः ... | २२४ |
| धातुः शिल्पातिशय ... | ३७६ | परिच्छेदातीतः सकल ... | १२७।३५६ |
| धीरो विनीतो निपुणो ... | २०६ | परिपन्थिमनोराज्य ... | ३१६ |
| धुनोति चासिं तनुते ... | ३६६ | परिमृदितमृणालीम्लान ... | ७२ |
| न केवलं भाति नितान्त ... | ३२२ | परिम्लानं पीनस्तनजघन ... | २८४ |
| नै चेह जीवितः कश्चित् ... | १२१ | परिहरति रतिं मतिं ... | २६४ |
| नै तज्जलं यच्च सुचारु ... | ३८१ | पविसन्ती घरवारं ... | ११९ |
| नै त्रस्वं यदि नाम ... | १८५ | पश्चादङ्गी प्रसार्य त्रिक ... | ३५६ |
| नैन्वाश्रयस्थितिरियं ... | ३६६ | पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे ... | १३८ |
| नयनानन्ददायीन्दोः ... | ३९२ | पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं ... | २६८।३४६ |
| नैवजलधरः संनद्धोऽयं ... | १८४ | पातालमिव नाभिस्ते ... | ३९७ |
| नाथे निशाया नियते ... | २२६ | पितृवसतिमहं ब्रजामि ... | १९० |
| नानाविधप्रहरणैर्नृप ... | ३५९ | पुंस्त्वीदपि प्रविचलेत् ... | ३३९ |
| नारीणामनुकूलमाचरति ... | २८७ | पुराणि यस्यां सवराङ्ग ... | ३८१ |
| निःशेषैर्द्युतचन्दनं ... | १२ | पृथुकार्तस्वरपात्रं ... | २५७।२९५ |
| निजदोषावृतमनसा ... | ३५२ | पेलवमपि खलवचनं ... | ३५५ |
| नित्योदितप्रतापेन ... | ३४८ | पौरं सुतीयति जनं सम ... | ३१५ |
| निद्रानिद्रतावुदिते दुरले ... | ३५० | प्रेणयभङ्गपराङ्मुख ... | २२२ |
| निपेतुरास्यादिव तस्य ... | ४०० | प्रेणयिसखीसलीलपरि ... | ३६१ |
| निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः ... | ३८२ | प्रेत्यग्रमज्जनविशेष ... | ३९९ |
| निरवधि च निराश्रयं ... | ३११ | | |

१. वेणीसंहारे. २. रुद्रालंकारे. ३. कुमारसंभवे. ४. विज्जकायाः शार्ङ्ग-
धरपद्धतौ. ५. महाभारते शान्तिपर्वणि. ६. भट्टिकाव्ये. ७. वीरचरिते. ८. भल्ल-
टशतके. ९. विक्रमोर्वश्याम्. १०. धम्मरुशतके. ११. वेणीसंहारे. १२. काश्मी-
रिकश्रीनारायणभट्टप्रणीतस्तवचिन्तामणौ. १३. प्रदीपकर्तुरेव. १४. मालती-
माधवे. १५. मालतीमाधवे. १६. रत्नावल्याम्. १७. हर्षचरिते. १८. भल्लट-
शतके. १९. विक्रमोर्वश्याम्. २०. मालतीमाधवे. २१. रत्नावल्याम्.

| | | | |
|--------------------------------|-----|-----------------------------------|---------|
| प्रत्याख्यानरुचेः कृतं ... | १६१ | भुजङ्गमस्येव मणिः सदैवं ... | ३९७ |
| प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः ... | १६७ | भूपतेरुपसर्पन्ती ... | १८९ |
| प्रधनाध्वनि वीर धनु ... | १२६ | भूपालरत्न निर्देन्य ... | २३६ |
| प्रयत्नपरिवोधितस्तुति ... | २४७ | भूयो भूयः सविधनगरी ... | १२६ |
| प्रसादे वर्तस्व प्रकटय ... | २६५ | भूरेणुदिग्धाक्षवपारिजात ... | २७० |
| प्रस्थानं बलयैः कृतं ... | ७८ | भ्रमिमरतिमलस ... | १४१ |
| प्रागप्राप्तनिशुम्भ ... | २०५ | भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभू ... | ३५१ |
| प्राणेश्वरपरिष्वङ्ग ... | २५० | मतिरिव मूर्तिर्मधुरा ... | ३२० |
| प्राप्ताः श्रियः सकल ... | १४१ | मैत्राणि कौरवशतं ... | १४४ |
| प्राभ्रभ्राद्विष्णुधामा ... | १८९ | मैथुपराजिपराजित ... | २९४ |
| प्रियेण संप्रथय विपक्ष ... | २२२ | मधुरिमरुचिरं वचः ... | ३६७ |
| प्रमोदार्द्राः प्रणयस्पृशः ... | ७७ | मैथ्ये व्योम स्फुरति ... | १६ |
| प्रेयान्सोऽयमपाकृतः ... | १२२ | मैनोरागस्तीव्रं विषमिव ... | २७६ |
| प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलरय ... | २८५ | मैन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुत ... | २८५ |
| फुल्लकुरं कलमकूरणिहं ... | २५८ | मलयजरसविलिप्त ... | ३८५ |
| वत सखि कियदेतत्पश्य ... | ३३३ | मैद्युनचरणपातं ... | २१४ |
| विम्बोष्ठ एव रागस्ते ... | ३६७ | मैहदे सुरसंधं मे ... | २९६ |
| व्राह्मणातिकमत्यागो ... | १४३ | मैहाप्रलयमास्त ... | २२५ |
| भक्तिप्रह्वविलोकनप्रण ... | २९५ | मैहिला सहस्सभरिण ... | १०८ |
| भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं ... | ३७१ | मैहीभृतः पुत्रवतो ... | २२७ |
| भैरण तरुणि रमणमन्दिर ... | ३९६ | मैहीजसो मानधना ... | ३६९ |
| भद्रात्मनो दुरधिरोह ... | ४६ | माए घोरोवभरणं ... | १८ |
| भैम धम्मिअ वीसद्धो ... | १६४ | मातज्ञाः किमु वलितैः ... | २५४ |
| भम्मि(मि)अवअहत्थिअ ... | २६१ | मातर्भारति वत्सवत्सल ... | १९५ |
| भस्मोद्धूलन भद्रमस्तु ... | ३६१ | माता नतानां संधटः ... | ३०४ |
| भासते प्रतिभासार ... | ३०५ | मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य ... | १५९।२३७ |
| भुक्तिमुक्तिद्वेकान्त ... | ११३ | मानमस्या निराकर्तुं ... | ३७६ |

१. वेणीसंहारे. २. चन्द्रकवेः सुभाषितावल्यादिषु. ३. अमरुशतके.
 ४. वीरचरिते. ५. भर्तृहरेर्वैराग्यशतके. ६. किरातार्जुनीये. ७. मालतीमाधवे.
 ८. कर्पूरमञ्जर्याम्. ९. वीरचरिते. १०. भागवतामृतवर्धनस्य सुभाषिता-
 वल्यादिषु. ११. रुद्रालंकारे. १२. गाथासप्तशल्याम्. १३. मालतीमाधवे.
 १४. वेणीसंहारे. १५. हरविजये. १६. प्रदीपकर्तुरेव. १७. मालतीमाधवे.
 १८. वेणीसंहारे. १९. बालरामायणे. २०. देवीशतके. २१. वेणीसंहारे.
 २२. गाथासप्तशल्याम्. २३. कुमारसंभवे. २४. किरातार्जुनीये. २५. प्रदीप-
 कर्तुरेव. २६. रुद्रालंकारे. २७. भर्तृहरेर्वैराग्यशतके.

| | | | | | |
|--------------------------------|---------|-----|--|-----|-----|
| मरारिशकरामेभ ... | ... | ३०३ | यीताः किं न मिलन्ति ... | ... | ३३७ |
| मित्रे कापि गते सरोरुह ... | ... | २७७ | यावकरसार्द्रपादप्रहार ... | ... | १७४ |
| मुखं विकसितस्मितं ... | ... | ३६ | युगान्तकालप्रतिसंहता ... | ... | ३७९ |
| मुग्धे मुग्धतयैव नेतु ... | ... | ११२ | ये कन्दरासु निवसन्ति ... | ... | ३८० |
| मुक्ताः केलिविसूत्र ... | ... | ३६३ | येन ^३ ध्वस्तमनोभवेन ... | ... | २५५ |
| मुनिर्जयति योगीन्द्रो ... | ... | ८ | ये ^{१४} नाम केचिदिह ... | ... | १९६ |
| मूर्ध्नामुद्धतकृत्ताविरल ... | ... | १८२ | येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ... | ... | ३३९ |
| मृगचक्षुषमद्राक्षं ... | ... | २५२ | येषां कण्ठपरिग्रहप्रण ... | ... | ३५४ |
| मृगलोचनया विनाविवि ... | ... | ३५८ | येषां तास्त्रिदशेभदान ... | ... | २१५ |
| मृदुपवनविभिन्नो ... | ... | १७८ | येषां दोर्बलमेव दुर्बल ... | ... | १२६ |
| मृधे निदाघघर्मांशु ... | ... | ३१५ | यो ^{१५} ऽविकल्पमिदमर्थ ... | ... | १९७ |
| यं प्रेक्ष्यं चिररूढापि ... | ... | ३६२ | यो ^{१६} ऽसकृत्परगोत्राणां ... | ... | २९७ |
| यः कौमारहरः स ... | ... | ९ | रै ^{१६} केलिहिमणिअं ... | ... | १२२ |
| यः पूयते सुरसरिन्मुख ... | ... | २०३ | रक्षाशोक कृशोदरी ... | ... | २५४ |
| यैतद्दर्जितमत्थुग्रं ... | ... | १९८ | रजनिरमणमौलेः पाद ... | ... | २९६ |
| येत्रानुलिखिताख्यमेव ... | ... | २४२ | रै ^{१६} सार रसाधार ... | ... | ३०३ |
| यत्रैता लहरीचला ... | ... | ३६८ | राईसु चन्दधवलासु ... | ... | ११६ |
| यथायं दारुणाचारः ... | ... | १७३ | राकायामकलङ्कं चेद् ... | ... | ३४२ |
| यदा त्वामहमद्राक्षं ... | ... | २५३ | राकाविभावरीकान्त ... | ... | १८० |
| यैदानतोऽयदानतो ... | ... | २९३ | राकासुधाकरमुखी ... | ... | ९४ |
| यैदि दहत्यनलोऽत्र ... | २४११३४३ | २६० | रै ^{१६} जति तटीयमभिहत ... | ... | ३९१ |
| यैद्वन्नाहितमतिर्नहु ... | ... | २२७ | राजन्विभान्ति भवतः ... | ... | २०७ |
| यैशोऽधिगन्तुं सुख ... | ... | २०० | राजनराजसुता न पाठयति ... | ... | ३३८ |
| यैश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां ... | ... | २०८ | रै ^{१६} ज्ये सारं वसुधा ... | ... | ३७५ |
| यस्मिन्पञ्चपञ्चजना ... | ... | ३७९ | राममन्मथशरेण ताडिता ... | ... | २३२ |
| यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः ... | ... | २९० | रामोऽसौ भुवनेषु विक्रम ... | ... | १२८ |
| यस्य न सविधे दयिता ... | ... | १११ | रुधिरविसरप्रसाधित ... | ... | ११३ |
| यैस्य मित्राणि मित्राणि ... | ... | १३३ | रे रे चञ्चललोचना ... | ... | १२५ |
| यस्माद्बहुकृततिरस्कृति ... | ... | | | | |

१. रुद्रालंकारे. २. अमरुशतके. ३. विक्रमोर्वीश्याम्. ४. हयग्रीववधे.
 ५. श्रीलामभट्टारिकायाः शार्ङ्गधरपद्धतौ. ६. वेणीसंहारे. ७. देवीशतके ८. किरा-
 तार्जुनीये. ९. कुमारसंभवे. १०. शिशुपालवधे. ११. अमरुशतके. १२. शिशु-
 पालवधे. १३. चन्दकस्य सुभाषितावल्यादिषु. १४. मालतीमाधवे. १५. श्री-
 मद्भुत्तलाचार्यप्रणीतपरमेश्वरस्तोत्रावलौ त्रयोदशस्तोत्रे. १६. गायसप्तशत्याम्.
 १७. रुद्रालंकारे. १८. हरविजये. १९. रुद्रालंकारे. २०. रघुवंशे.

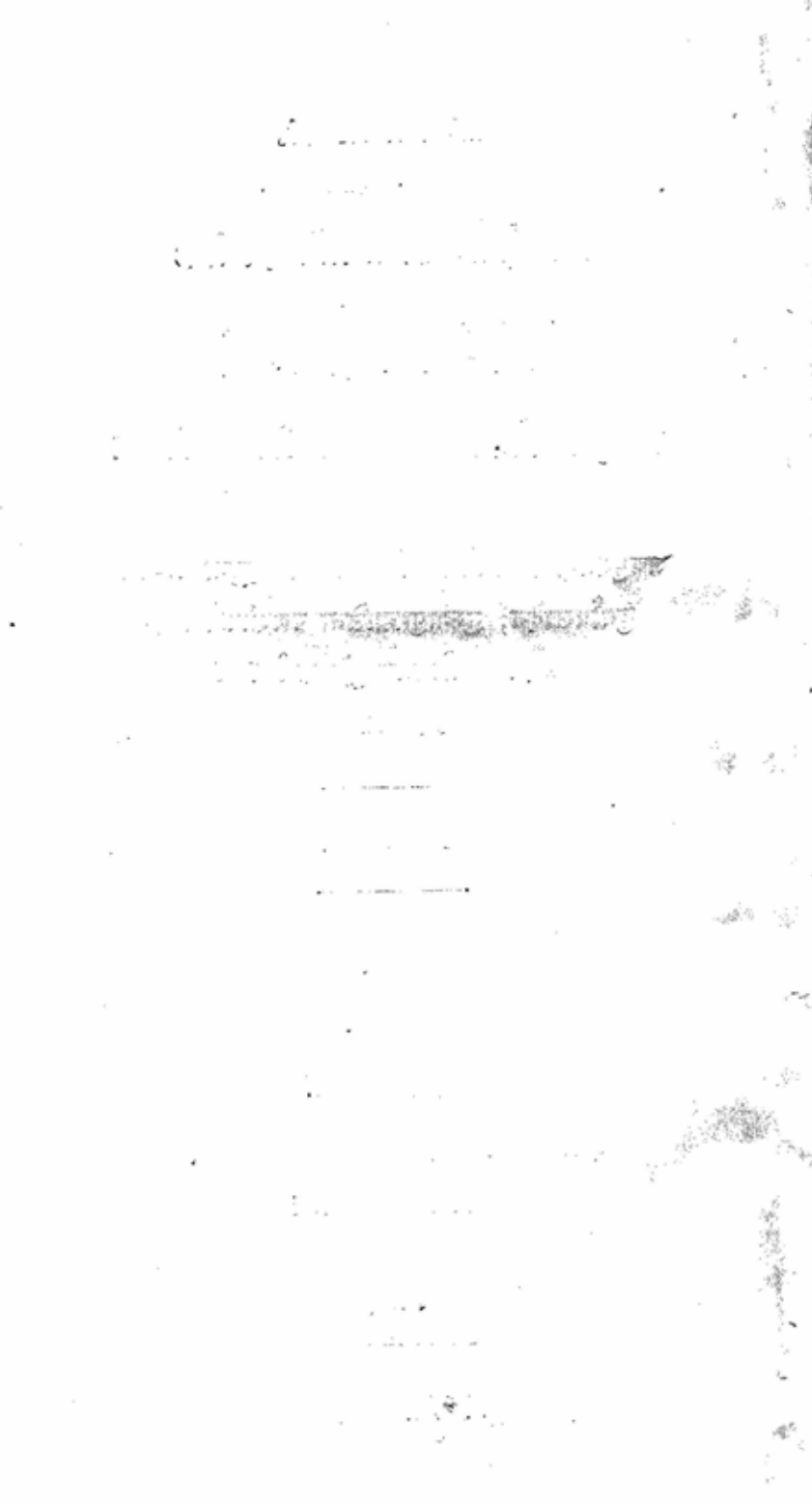
| | | | | |
|----------------------------|---------|--------------------------|---------|-----|
| कर्म रागावृताङ्ग्या | २२४।२४७ | विपद्दोऽभिभवन्त्यवि | ... | २२८ |
| कर्मः केलिकचप्रह | ... | विपुलेन सागरशयस्य | ... | ३७८ |
| कृतानामेतासामुदित | ... | विभिन्नवर्णा गरुडाप्रजेन | ... | ३८७ |
| कहिकुण तुज्ज बाहु | ... | विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः | ... | २७१ |
| कावण्यं तदसौ कान्तिः | ... | वियदलिमलिनाम्बु | ... | ७१ |
| कावण्यौकसि सप्रताप | ... | विरुद्धा अविरुद्धा वा | ... | ६३ |
| लिखन्नास्ते भूमि | ... | विवरीभरए लच्छी | ... | १६३ |
| लिम्पतीव तमोऽज्ञानि | ३२४।३८९ | विहलङ्गलं तुमं सहि | ... | ११९ |
| लीलातामरसाहतो | ... | वेगादुड्डीय गगने | ... | २०७ |
| वक्षस्यन्दिस्वेदविन्दु | ... | वेत्रत्वचा तुल्यरुचां | ... | ३८५ |
| वक्षाम्भोजं सरस्वत्यधि | ... | व्यानम्रा दयितानने | ... | २६३ |
| वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः | ... | शक्तिर्निस्त्रिशजेयं तव | ... | २३१ |
| वदनसौरभलोभपरिभ्रमत् | ... | शनिरशनिश्च तमुच्चै | ... | १०१ |
| वद वद जितः स शत्रुः | ... | शरत्कालसमुल्लासि | ... | १८० |
| वन्द्रीकृत्य नृप द्विषां | ... | शैशी दिवधूसरो | ... | ३६४ |
| वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं | ... | शिरीषादपि मृद्वङ्गी | ... | ३७७ |
| वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य | ... | शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणी | ... | २५५ |
| वख्वेददूर्यचरणैः | ... | शैल्यं वासगृहं विलोक्य | ... | ७५ |
| वाणिअअ हृत्थिदन्ता | ... | शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान | ... | ३७० |
| वाणीरकुडकुड्डीण | ... | शैयामां श्यामनिमानमा | ... | २४३ |
| वाताहारतया जगद्वि | ... | श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवा | ... | १९९ |
| वारिज्जन्तो वि पुणो | ... | श्रीपरिचयाज्जडा अपि | ... | ३८ |
| विकसितसहकार | ... | श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन | ... | २४६ |
| विदलितसकलारिकुलं | ... | षडधिकदशनाडी | ... | २५८ |
| विदीर्णाभिमुखाराति | ... | सअलकरणपरविषा | ... | ३१४ |
| विद्वन्मानसहंस वैरि | ... | स एकस्त्रीणि जयति | ... | ३५१ |
| विधाय दूरे केयूर | ... | संकेतकालमनसं | ... | ३७४ |
| विनयप्रणयैककेतनं | ... | सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन | २१७।३४५ | |
| विनायमेनोनयता | ... | संप्रहारे प्रहरणैः | ... | २६४ |
| विनिर्गतं मानदमात्म | ... | सततं सुसलासक्ता | ... | ३५५ |

१. अमरुशतके. २. मृच्छकटिके. ३. अमरुशतके. ४. शिशुपालवधे. ५. रुद्र-
 ढालंकारे. ६. कुमारसंभवे. ७. भल्लटशतके. ८. रुद्रढालंकारे. ८. रुद्रढालंकारे.
 १०. हयग्रीववधे. ११. किरातार्जुनीये. १२. शिशुपालवधे. १३. शिशुपालवधे.
 १४. भर्तृहरेर्नातिशतके. १५. सूर्यशतके. १६. अमरुशतके. १७. विद्वत्शालभञ्जि-
 कायाम्. १८. मालतीमाधवे. १९. कर्कराजस्य सदुक्तिकर्णामृते.

| | | | |
|------------------------------|-----|--------------------------------|---------|
| सर्व मनोरमा रामाः ... | २६९ | सिंहिकासुतसंज्ञस्तः ... | ३७७ |
| सैत्वारम्भरतोऽवश्य ... | २९३ | सितकरकररुचिरविभा ... | २६०।२९० |
| सदा मध्ये वासामियम ... | २३४ | सुधाकरकराकार ... | १८५ |
| सदा ज्ञात्वा निशीथिन्यां ... | २३९ | सुरालयोक्तासपरः ... | १९० |
| सद्यः करस्पर्शमवाप्य ... | ३७८ | सुब्बइ समागमिस्सदि ... | ५२ |
| सैचारीभरणोमायामाराध्य ... | २९२ | सुसितवसनालंकारायां ... | २३९ |
| स पीतवासाः ... | ३९७ | सुहृद्भूषाष्यजलप्रमार्जनं ... | ३३८ |
| समदमतज्जमदजल ... | ३५६ | सृजति च जगदिद ... | ३५५ |
| स मुनिर्लाञ्छितो ... | ३९७ | सेयं, ममाङ्गेषु सुधा ... | ६४ |
| सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिः ... | १७९ | सो णत्थि एत्थ गामे ... | ३८९ |
| सैरला बहुलारम्भ ... | ३०४ | सोऽर्थ्यष्ट वेदांस्त्रिदशा ... | १८७ |
| सैरस्वति प्रसादं मे ... | २९३ | सोऽपूर्वो रसनाविपर्यय ... | ३४१ |
| स रात्रु वो दुश्चयवनो ... | १८८ | सो मुदसामलज्जो ... | ११८ |
| सर्वैतः पुरतं एव दृश्यते ... | ३५५ | सौन्दर्यसंपत्तारुण्यं ... | २५० |
| सर्वस्वं हर सर्वस्य ... | २९७ | सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरु ... | ३२९ |
| सवासनानां नाट्यादौ ... | ४९ | स्तुमः कं वामाक्षि क्षण ... | ९३ |
| सविता विधवति विधुरपि ... | ३१६ | स्तोकेनोन्नतिमायाति ... | २९९ |
| सम्रीडा दयितानने ... | २६२ | स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त ... | १३१ |
| सशोणितैः कव्यभुजां ... | २७१ | स्पष्टोल्लसत्किरणकेसर ... | ३९४ |
| ससार साकं दर्पण ... | २९४ | स्पृशति तिग्मरुचौ ... | ४०१ |
| सैह दिवहणिसाहिं ... | ३५८ | स्फटिकाकृतिनिर्मलः ... | २१० |
| सहि णवणिहुवण ... | ११८ | स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रताप ... | ३८६ |
| सहि विरइऊण माणस्स ... | १०८ | स्वैस्तां नितम्बादव ... | १८२ |
| साकं कुरङ्गकदशा ... | १३७ | स्वर्गप्राप्तिरनेनैव ... | २७८ |
| सा दूरे च सुधासान्द्र ... | १८६ | खच्छात्मतागुणसमुल्ल ... | ३४८ |
| साधनं सुमहंयस्य ... | १७७ | खच्छन्दोच्छलदच्छ ... | १५ |
| साधु चन्द्रमसि पुष्करैः ... | १९५ | खपिति यावदयं ... | २३७ |
| सा पत्युः प्रथमेऽपराध ... | ७८ | खमेऽपि समरेशु लां ... | ३११ |
| सायं ज्ञानमुपासितं ... | ११४ | खयं च पल्लवाताम्र ... | २९८।४०२ |
| सायकसहायबाहो ... | १८८ | खियति कृणति वेल्लति ... | ३४५ |
| सा वसइ तुम्ह हिअए ... | ३८६ | | |
| साहेन्ती सहि सुहअं ... | १९ | | |

१. रुद्रतालंकारे. २. रुद्रतालंकारे. ३. रुद्रतालंकारे. ४. देवीशतके. ५. प्रदी-
पकर्तृभ्रातुः श्रीहर्षस्य. ६. रुद्रतालंकारे. ७. कर्पूरमञ्जर्याम्. ८. अमरशतके. ९. भट्टि-
कान्ये. १०. भल्लटशतके. ११. हरविजये. १२. हरविजये. १३. कुमारसंभवे.

| | | | |
|---------------------------------|-----|------------------------------|-----|
| हंसाणं सरोहिं सिरी ... | ३७२ | हा वृष हा बुध हा ... | २१ |
| हंरत्यधं संप्रति हेतुरेष्टतः... | ९१ | हैं मातस्त्वरितासि कुत्र ... | ८१ |
| हरवच विषमदृष्टिर्हरि ... | ३४८ | हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्य ... | ३५७ |
| हैरस्तु किंचित्परिवृत्त ... | १४३ | हृदयमधिष्ठितमादौ ... | ३४२ |
| हा धिक्सा किल तामसी ... | १७६ | हे हेलाजितबोधिसत्त्व ... | ३५७ |



Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

662.

Call No. SA4A/74a/D.P.

Author—Durgaprasada, P. and
Pawikar, W.L.S.

Title—The Kavya Pradipa

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book
clean and moving.